कृष्ण की आत्मकथा

लाक्षागृह

मनु शर्मा

लाक्षागृह

कृष्ण की आत्मकथा -४

लाक्षागृह

मनु शर्मा

प्रकाशक • **प्रभात प्रकाशन**
४/१९ आसफ अली रोड,
नई दिल्ली–११०००२

संस्करण • २०१५

मूल्य • तीन सौ रुपए (प्रति खंड)
दो हजार चार सौ रुपए
(आठ खंडों का सैट)

मुद्रक • नरुला प्रिंटर्स, दिल्ली

LAKSHAGRAH (Krishna Ki Atmakatha Vol. IV)
novel by Manu Sharma
Published by Prabhat Prakashan, 4/19 Asaf Ali Road, New Delhi-2

Vol. IV	Rs. 300.00	ISBN 978-93-5186-504-9
Set of Eight Vols.	Rs. 2400.00	ISBN 978-93-5186-509-4

आत्मकथ्य

मैं नियति के तेज वाहन पर सवार था। सबकुछ मुझसे पीछे छूटता जा रहा था। वृंदावन और मथुरा, राधा और कुब्जा—सबकुछ मार्ग के वृक्ष की तरह छूट गए थे। केवल उनकी स्मृतियाँ मेरे मन से लिपटी रह गई थीं। कभी-कभी वर्तमान की धूल उन्हें ऐसा घेर लेती है कि वे उनसे निकल नहीं पाती थीं। मैं अतीत से कटा हुआ केवल वर्तमान का भोक्ता रह जाता।

माना कि भविष्य कुछ नहीं है; वह वर्तमान की कल्पना है, मेरी आकांक्षाओं का चित्र है—और यह वह है, जिसे मैंने अभी तक पाया नहीं है, इसलिए मैं उसे एक आदर्श मानता हूँ। आदर्श कभी पाया नहीं जाता। जब तक मैं उसके निकट पहुँचता हूँ, हाथ मारता हूँ तब तक हाथ में आने के पहले ही झटककर और आगे चला जाता है। एक लुभावनी मरीचिका के पीछे दौड़ना भर रह जाता है।

इसलिए अतीत के अनुभव पर वर्तमान जिन सपनों को गढ़ता है, वही हमारा भविष्य है—और हम उसके पीछे भागते जाते हैं, भागते जाते हैं तथा रह जाता है छटपटाहट भरा असंतुष्ट वर्तमान। शायद यह असंतोष न रहता तो जीवन सारहीन हो जाता।

एक
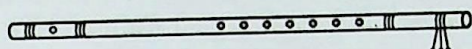
मेरे राज्याभिषेक ने एक नए विश्वास को जन्म दिया। वस्तुतः शासन करने के लिए यादव वंश शापित था। हमारे एक महान् यशस्वी पूर्वजन ययाति ने अपने सबसे बड़े पुत्र यदु को शाप दिया था कि तुम और तुम्हारे वंशज कभी भी शासन नहीं कर सकेंगे। आज तक यदु के वंशज हम यादव उन्हींका शाप ढो रहे थे। यह तो मेरे नानाजी (उग्रसेन) थे, जो यादव सरदारों को लेकर मथुरा का शासन चलाते थे। इस शाप में उनका विश्वास था; यों कहिए, इससे इतने भयभीत थे कि उन्होंने कभी भी अपना विधिवत् राज्यारोहण नहीं होने दिया। वे राजा होकर भी राजा नहीं थे। मात्र यादव सरदारों के प्रधान थे।

यही कारण था कि अपने पुत्र कंस द्वारा बंदी बनाए जाने पर भी उन्होंने कभी उसे दोषी नहीं माना और अपनी बंदी की स्थिति को उस शाप का परिणाम ही समझा। जब कंस ने स्वयं को राजा घोषित किया तो उन्होंने अपने मित्रों से कहा था कि वह भी इस शाप का फल भोगेगा।

इस संदर्भ को एक दिन मैंने रुक्मिणी से छेड़ा।

"तो क्या हम लोगों को भी यह सिंहासन छोड़ देना पड़ेगा?" वह भी थोड़ी शंकित-सी लगी। उसका सुझाव था कि अभी तो आपके गुरुजी हैं। आप उनसे क्यों नहीं इस विषय पर बातें करते।

मैंने भी यह सुझाव उचित समझा और कई लोगों की उपस्थिति में आचार्य सांदीपनि के समक्ष यह समस्या उठाई।

उन्होंने तुरंत कहा, "मुझे तो यह नहीं लगता कि यादवों को वह शाप लगा होगा।"

"पर मैं समझता हूँ कि कहीं लगे या न लगे, पर मेरे संबंध में तो अवश्य लगा।" नानाजी बोले।

"आप लोगों ने तो अपने कर्मों का फल भोगा है।" आचार्यजी ने छूटते ही कहा, "संसार के सारे शापों से तो हम मुक्त हो सकते हैं; पर जब अपने ही कर्म हमें

शापित करते हैं तब हम उनस मुक्त नहीं हो पाते।''

इस स्पष्ट वक्तव्य से थोड़ी देर के लिए गंभीर मौन छा गया।

किंतु शीघ्र ही आचार्यजी ने पुन: बोलना आरंभ किया—''रह गई यदु के शाप की बात, उसकी आप चिंता न करें; क्योंकि ययाति का दिया शाप वासना के वशीभूत रहा। वह काम-भोग के लिए अपने पुत्र का यौवन चाहता था। पुत्र के यौवन से पिता भोग करे, यह कितनी घृणित बात है! शायद इतिहास में इससे घृणित कर्म का दूसरा उदाहरण न मिले। दूसरे, यदु की तेजस्विता ने उस शाप को स्वयं स्वीकार किया; क्योंकि उसमें समाज का हित था।...यदि प्रभावकारी हुआ भी तो उसकी आयु अधिक नहीं होगी।''

इसके बाद सचमुच हम चिंतामुक्त हो गए। बड़ी शांति से दिन कटने लगे। हम अपनी सैन्य शक्ति बढ़ाते रहे। हमारा शस्त्राभ्यास भी निरंतर चलता रहा। वस्तुत: उन दिनों अच्छा धनुर्धर हुए बिना कोई योद्धा नहीं माना जाता था। अतएव मैंने धनुर्विद्या का अभ्यास जोरों से आरंभ किया। मैं चलते रथ से लक्ष्यवेध करने का अभ्यास करने लगा। गति में होते हुए लक्ष्यवेध करना बड़ा कठिन है, वह भी बाण से। चक्र से तो मैं आसानी से कर सकता था।

फिर धीरे-धीरे मैं अश्व की गति बढ़ाता रहा। पहले एक अश्व से अभ्यास शुरू किया था। फिर बढ़ाते-बढ़ाते चार अश्व की गति तक ले गया। अब मेरे इस अभ्यास को देखने के लिए भीड़ लगने लगी। इन अभ्यासों के समय रुक्मिणी बहुधा मेरे साथ होती।

मेरी स्थिति कुछ विचित्र थी। मेरे बाहर भीड़ एवं रुक्मिणी थी और मेरे भीतर अर्जुन तथा उसकी साधना की एकाग्रता थी। अर्जुन की धनुर्विद्या उन दिनों आर्यावर्त्त में पूर्णता पर पहुँच चुकी थी। उसकी बड़ी ख्याति थी। द्रुपद को बंदी बनाने के बाद तो उसकी चर्चा घर-घर में होने लगी। इस अभ्यास के मूल में तो मेरा वही आदर्श था। कभी बातों के क्रम में उसका कहा यह वाक्य मुझे सदा याद रहता—'भैया, धनुर्विद्या में मात्र पाँच प्रतिशत गुरु का ज्ञान और पंचानबे प्रतिशत अभ्यास की आवश्यकता होती है।'

'और गुरु का आशीर्वाद! इसका तो तुम्हारी गरिगत में कोई स्थान ही नहीं है।' मैंने मुसकराते हुए कहा था।

वह हँस पड़ा था। बोला, 'गुरु का आशीर्वाद तो सर्वोपरि है। उसके बिना कुछ भी संभव नहीं है।'

अर्जुन के आदर्श पर ही मेरा अभ्यास बढ़ता गया। अब तक मैं चरम गति रहकर स्थिर को लक्ष्य बनाता रहा। अब मैंने गति में रहकर गति पर प्रहार करने का

अभ्यास आरंभ किया। उड़ती चिड़ियों को निशाना बनाने लगा। शीघ्र ही मुझे सफलता भी मिलने लगी।

ज्यों ही कोई पक्षी मेरे चलते रथ से चलाए गए बाण से घायल होकर गिरता त्यों ही मेरी बगल में बैठी रुक्मिणी तालियाँ बजाकर अपनी प्रसन्नता व्यक्त करती।

मैंने उत्साह में एक बार कह दिया—''देखा तुमने मेरा कौशल!''

''तुम्हारा ही कौशल तो देखती रही हूँ।'' रुक्मिणी बोली, ''पहले तुम उड़ते पक्षियों के पंखों पर हल्दी लगाते थे, अब उन्हें घायल करते हो; या जान से ही मार डालते हो।'' इसके बाद वह मुसकराते हुए ऐसी इठलाई कि उसका व्यंग्य मेरे वक्ष में तीर की तरह चुभ गया।

उधर भैया और रेवती भाभी का गदाभ्यास भी चलता रहा। उन लोगों ने अपने कई शिष्य भी प्रशिक्षित किए। कई अभ्यासशालाओं की स्थापना भी की। ये शालाएँ केवल गदाभ्यास के लिए ही नहीं थीं वरन् सभी शस्त्रास्त्रों का अभ्यास इनमें होता था। राजधानी का पूरा वातावरण शक्ति अर्जन का केंद्र बन गया था।

बात यह थी कि आर्यावर्त्त का सारा समुद्री व्यापार हमारे पत्तन से होने लगा। हमारी संपन्नता बढ़ती गई। वैभव की तलवार शक्ति के म्यान में ही सुरक्षित रहती है, अन्यथा मौसम का मामूली उतार-चढ़ाव भी उसमें मोरचा लगा देता है। इसीलिए हमारा शक्तिसंपन्न होना नितांत आवश्यक भी था। पुण्यजन और पंचजन हमारे स्थायी शत्रु थे ही। हमारी प्रगति अब औरों की दृष्टि में भी गड़ने लगी। यादव सरदारों के छोकरों का यह प्रभुत्व हमारे मित्रों के लिए भी ईर्ष्या का कारण था। फिर भी सतर्कता, सावधानी और शक्ति-संचय के दिन हमारे लिए बड़ी शांति के थे।

अचानक एक दिन प्रात:काल हस्तिनापुर से विदुरजी का एक चर आया। उसने सूचना दी कि युधिष्ठिर का युवराज पद पर अभिषेक है। आप सादर आमंत्रित हैं।

हम लोग बड़े प्रसन्न हुए। हमने सोचा, चलो अच्छा है। फूफाजी के स्वर्गारोहण के बाद बुआ को एक सहारा तो मिलेगा। साथ ही, युधिष्ठिर के युवराज होने पर हमारी शक्ति बढ़ेगी।

हमारा चिंतन इस स्थिति से उलझा ही था कि नानाजी ने एक राजनीतिक प्रश्न चर से पूछ लिया—''यह निमंत्रण तुम किसकी ओर से लाए हो?''

''महात्मा विदुर की ओर से।''

''युवराज पद के अभिषेक का निमंत्रण महामात्य की ओर से!'' नानाजी मुसकराए।

पर चर कुछ नहीं बोला। वस्तुत: यह निमंत्रण महाराज की ओर से होना चाहिए था। हम लोगों ने समझ लिया कि भीतर-ही-भीतर कुछ खौल रहा है। और कुछ

जानने के लिए नानाजी ने चर से कई प्रश्न किए; पर वह कुछ नहीं खुला। हर प्रश्न को इधर-उधर करके टालता गया। इससे हमारी शंका को स्पष्ट समर्थन मिला।

हम लोगों ने उस चर के समक्ष अपनी कोई राय व्यक्त नहीं की। यथोचित आवभगत कर उसे बिदा किया।

इस संबंध में दूसरे ही दिन नानाजी ने हम सबसे विशद वार्त्ता की और कहा कि हस्तिनापुर से आया निमंत्रण महाराज की ओर से नहीं आया था, इसलिए न तो कन्हैया को जाना चाहिए और न बलराम को।

यद्यपि जाने की मेरी इच्छा बहुत थी। मुझे बुआ से अधिक उनके बच्चों का आकर्षण खींच रहा था। मैंने नानाजी से कहा, ''हम लोगों के न जाने पर बुआ बड़ी दुःखी होंगी।''

''तुम्हारी बुआ के दुःख का प्रश्न नहीं है, प्रश्न है राजकीय मर्यादा का।'' नानाजी बोले।

''महामात्य की ओर से भेजा गया निमंत्रण क्या महाराज का निमंत्रण नहीं हो सकता?''

''नहीं।'' नानाजी के स्वर में विश्वास अधिक था—''यदि महामात्य की इच्छा महाराज की इच्छा होती तो चर हमारे प्रश्नों के उत्तर में उतनी आनाकानी न करता।''

नानाजी का सोचना था कि धृतराष्ट्र द्वारा हम लोगों को न बुलाते देखकर विदुरजी ने स्वयं अपनी ओर से निमंत्रण भेज दिया है।

''क्या पितामह के रहते ऐसा हो सकता है?''

''क्यों? पितामह के सामने ही न दुर्योधन ने भरी भीड़ में कर्ण को तिलक लगाकर उसे अंग देश का राजा बना दिया था, केवल अर्जुन का प्रतिद्वंद्वी खड़ा करने के लिए—और सारा हस्तिनापुर देखता रह गया। क्या कर लिया पितामह ने?''

नानाजी के इस तर्क पर हम सब चुप हो गए। हमें अचानक अक्रूर चाचा की वह बात याद हो आई, जब वह हस्तिनापुर से लौटते समय वेदव्यास के आश्रम में गए थे और उन्होंने ध्यानावस्थित होकर कहा था कि अभी तो सब ठीक है, पर आनेवाला समय हस्तिनापुर के लिए ठीक नहीं है।

अब मुझे हस्तिनापुर के नीचे शांत पड़े ज्वालामुखी की धड़कन भी सुनाई पड़ने लगी।

''तो क्या द्वारका को इस समारोह में शामिल नहीं होना चाहिए?'' मैंने स्पष्ट पूछा।

नानाजी कुछ सोचने लगे। फिर बोले, ''तुम लोगों को शामिल होना तो नहीं

चाहिए; पर अपना प्रतिनिधि भेजना जरूरी है।''

अंतिम निष्कर्ष यही था। द्वारका से चाचा अक्रूर के साथ उद्धव भेजा गया। हम लोगों ने युधिष्ठिर की प्रकृति के अनुसार एक मणिजटित दंड उक्त अवसर पर उपहार देने के लिए चाचा द्वारा भिजवाया था।

युधिष्ठिर के युवराज पद पर अभिषेक में न जाने की चिंता बहुत दिनों तक सालती रही। कई महीनों के बाद भी हस्तिनापुर से न उद्धव लौटकर आया और न चाचाजी ही। चिंता तो थी ही, पर समाचार जानने की उत्सुकता उससे अधिक थी।

एक संध्या मैं धनुर्विद्या के अपने अभ्यास में था, तब पता चला कि उद्धव आया है। वह खोजकर मुझसे अभ्यास के समय ही मिला और मुसकराकर मणिजटित दंड मुझे लौटाते हुए बोला, ''इसकी आवश्यकता नहीं पड़ी।''

''क्यों?''

''क्योंकि वहाँ कोई समारोह था नहीं और न धृतराष्ट्र ने किसीको बुलाया ही था। यद्यपि राजभवन में कोई उत्साह न था, पर प्रजा बड़ी उत्साहित दिखी। उसका विचार था कि अब धर्मराज के युवराज होने से शासन धर्म का होगा। बुआजी अवश्य प्रसन्न रहीं।''

मैंने पूछा, ''आप लोग सबसे पहले किससे मिले?''

''महाराज विदुर से।'' उद्धव बोला, ''वे ही महाराज के पास ले गए और हमारा परिचय कराया।''

''तब महाराज ने क्या कहा?''

''बोले कि 'तुमने इन्हें बुला लिया। अच्छा ही किया।' स्पष्ट लगा कि भीतरी अनिच्छा पर उन्होंने एक बनावटी मुसकराहट चिपका ली है। वह मुसकराहट पूरे समारोह में चिपकी रही।''

''तुमने उनकी आँखों में झाँककर नहीं देखा?''

''मैंने अनेक बार झाँका था।'' उद्धव बोला, ''वे अंधी आँखें न तो किसीको देख पाती थीं और न उनमें कुछ दिखाई देता था, वरन् उनकी आँखों का सूनापन सारे प्रासाद पर छाया था।'' उद्धव ने विशेष रूप से बताया कि कौरव पक्ष की अनिच्छा स्पष्ट रूप से उजागर हो रही थी। दो-चार को छोड़कर कोई भी धृतराष्ट्रपुत्र आदि से अंत तक समारोह में उपस्थित नहीं था।

मेरी जिज्ञासा और बढ़ी। मैंने पूछा, ''और दुर्योधन?''

''वह तो पूरे समारोह में दिखाई नहीं दिया।''

''इसका तात्पर्य है कि युधिष्ठिर को युवराज बनाने में धृतराष्ट्र की इच्छा नहीं थी?''

"लगता तो ऐसा ही है।" उद्धव बोला, "यहाँ तक कि समारोह के उपसंहार के समय जब युवराज को प्रजा ने उपहार देना चाहा तब महाराज ने स्पष्ट मना करते हुए कहा—'उपहार नहीं, केवल आशीर्वाद दीजिए।' फिर उपहार का कार्यक्रम नहीं हुआ।"

"जब धृतराष्ट्र की इच्छा नहीं थी तब युधिष्ठिर आखिर युवराज बने कैसे?"

"पितामह के दबाव से।" उद्धव ने बताया—"हाँ, गांधारी मुझे दु:खी नहीं दिखाई दीं। जब तक कर्मकांड चलता रहा, बड़ी प्रसन्नता से अपने पति की बगल में बैठी रहीं। फिर कुंती बुआ के पास आ गईं।"

मैं तुरंत रथ में बैठाकर उद्धव को प्रासाद में ले गया; क्योंकि मेरी जिज्ञासा अब अक्रूर चाचा की खोज में थी। उन्होंने कुछ ऐसा अवश्य देखा होगा, जिसे उद्धव की आँखें देख नहीं पाई होंगी।

प्रासाद में आते ही सीधे नानाजी के कक्ष की ओर लपका। अक्रूर चाचा हमें रास्ते में ही मिल गए। अभिवादन कर उनसे कुछ विशेष जानना चाहा।

उन्होंने मुसकराते हुए कहा, "तुम्हें तो सब पता चल ही गया होगा—और जो नहीं पता चला है, उसे वैसे ही रहने दो।"

इसके बाद वे हँसते रहे और हम दोनों उनका मुँह देखने लगे।

□

दिन बीतते गए, पर हस्तिनापुर की चर्चा पुरानी न पड़ी। मेरा मस्तिष्क इस संदर्भ में कभी-कभी घंटों उलझा रहता। मुझे लगता कि हस्तिनापुर के नीचे दबा ज्वालामुखी किसी भी समय फूट सकता है। एक दिन मैंने भैया से भी इसकी चर्चा की। यों वे वहाँ की स्थिति से परिचित थे। उन्होंने मेरी बात सुनकर बड़े सहजभाव से कहा, "जहाँ सत्ता होगी वहाँ संघर्ष की संभावना तो बनी ही रहेगी।"

उनके इस उत्तर पर मैं अवाक् रह गया। मैंने दबी जबान में कहा, "सत्ता तो यहाँ भी है।"

"पर यहाँ संघर्ष नहीं होगा।"

"क्यों?"

"संघर्ष के लिए कम-से-कम दो की आवश्यकता पड़ती है—और यहाँ तो हम दोनों एक ही हैं।" इतना कहते हुए उन्होंने मुझे छाती से लगा लिया।

बात आई-गई और खत्म हो गई। जीवन दिन-रात के श्वेत-श्याम पंखों पर उड़ता रहा।

एक दिन मैं उद्यान में रुक्मिणी के साथ बैठा था। क्षण-क्षण बदलते प्रकृति परिवेश का आनंद लेता रहा। सूर्य डूबने को था। संध्या की समुद्री हवा बड़ी तेजी

से बह रही थी। अचानक एक परिचारिका ने सूचना दी कि हस्तिनापुर से कोई आया है।

"यह 'कोई' क्या होता है? स्पष्ट परिचय पूछो।" मैंने कहा और परिचारिका चली गई।

थोड़ी देर बाद मुझे सूचना मिली कि आगंतुक एक शिष्य है और वह मुझसे नहीं, भैया से मिलना चाहता है। मैंने सुन तो लिया, पर बात समझ में नहीं आई। कोई शिष्य हस्तिनापुर से सीधे यहाँ चला आए, बात रहस्यमय लगी।

मैं तुरंत उठकर उद्यान के द्वार पर पहुँचा। तब तक वह जा चुका था। परिचारिका से ज्ञात हुआ कि एक भव्य व्यक्तित्व गदा लिये था। पहले उसने आपसे मिलने की इच्छा व्यक्त की थी। फिर उसका अचानक चिंतन बदल गया। उसने कहा, "नहीं, अब मैं आचार्य बलरामजी से ही मिलूँगा।"

फिर वह अश्व पर चढ़कर राजप्रासाद के मुख्य द्वार की ओर चला गया।

मैंने अपने भाई के नाम के आगे आज पहली बार 'आचार्य' सुना था। रुक्मिणी को अंत:पुर में पहुँचाने का एक परिचारिका को आदेश देकर मैं भैया के आवास की ओर बढ़ा। मार्ग में मेरे साथ चल रहे परिचरों में से एक ने बताया कि वह आगंतुक महाराज ककुद्मिन के प्रति भी जिज्ञासाएँ कर रहा था।

"क्या पूछ रहा था?"

"यही कि आजकल कहाँ रहते हैं वे? कभी प्रासाद परिसर में आते हैं या नहीं? उनका मानसिक संतुलन अब कैसा है?"

"तब तुमने क्या कहा?" मैंने पूछा।

"मैंने उनका पता बता दिया और कह दिया कि प्रासाद में तो वे बहुधा दर्शन देते हैं।"

"तुमने उनके मानसिक संतुलन के बारे में क्या कहा?"

"कहता क्या!" परिचर बोला, "मैंने कहा कि वे मानसिक रूप से पूरे स्वस्थ हैं।"

"फिर क्या कहा आगंतुक ने?"

"उसने कहा कि मुझे तो नहीं लगता कि वे मानसिक रूप से संतुलित हैं। यदि संतुलित होते तो मेरे आचार्य के रहते वह कभी कन्हैया को सत्ता न सौंपते।" परिचर बोला।

इतना सुनते ही एक निश्चित निष्कर्ष की ओर बढ़ने के लिए मेरा सोच विवश था। मुझे लगा कि हमारे सौहार्द की स्निग्ध धरती पर कोई विषवृक्ष बोने हस्तिनापुर से आ गया है।

(१५)

विचित्र मानसिकता में मैं भैया के अतिथिकक्ष की ओर पहुँचा।

दूर से ही मुझे आवाज सुनाई पड़ी—"आप मुझे अपना शिष्य बना लीजिए। अपने आचार्यत्व की छाया में मुझे सीखने का अवसर दीजिए।"

आवाज तो मुझे पहचानी-सी लगी। पर मैं ठीक-ठीक व्यक्तित्व तक पहुँच नहीं पाया। मैं परिचरों के साथ वहाँ रुक गया।

व्यग्रता से भरी आवाज और तेज होती जा रही थी—"इस समय आर्यावर्त्त में गदायुद्ध का ऐसा कोई दूसरा पारंगत नहीं है।"

"यह तुम कहते हो; पर मैं इसे कैसे मानूँ?" निश्चय ही भैया संकोच में थे।

पर उस व्यक्ति में महायोद्धा बनने की विचित्र व्यग्रता थी। भैया ने उसे समझाया भी कि महायोद्धा बनने के लिए गदायुद्ध का नहीं, धनुर्विद्या का अभ्यास करो।

"अब मैं क्या, कोई भी धनुर्विद्या के अभ्यास में शीर्ष बिंदु पर नहीं पहुँच सकता।" वह बोला।

"क्यों?" भैया ने पूछा।

"क्योंकि वहाँ अर्जुन है।" उसने छूटते ही कहा।

स्पष्ट लगा कि वह अर्जुन के द्वेष से जल रहा है। अब मेरा सोच लगभग उसके व्यक्तित्व के निकट पहुँच चुका था। आगे बढ़ा और कक्ष में पहुँचते ही मैंने देखा कि दुर्योधन भैया का पैर पकड़े भूमि पर बैठा है।

मुझे देखते ही वह एकदम सकपकाया और हड़बड़ाकर खड़ा हो गया। प्रणाम भी उसने कुछ क्षणों बाद किया; किंतु मैंने उसे मुसकराते हुए वक्ष से लगा लिया और बड़ी आत्मीयता दिखाई। मेरी कूटनीति ऐसा करने के लिए विवश कर रही थी।

"ये मेरे शिष्य होने के लिए व्यग्र हैं।" भैया हँसते हुए बोले।

"यह तो आपका सौभाग्य है! हम सबका सौभाग्य है! द्वारका का सौभाग्य है!" मैंने उसे छाती से लगाए हुए ही कहा, "पर विद्या ग्रहण करने के लिए व्यग्रता नहीं, ललक की आवश्यकता होती है।"

"आप सदा रहस्यमय ही बोलते हैं, कन्हैया।" दुर्योधन बोला, "आपकी बात मेरी समझ में नहीं आती।"

"तुम्हारी समझ में क्या, बहुतों की समझ में नहीं आती।" भैया हँसे और हम सब उनकी हँसी में सम्मिलित हो गए।

"मेरे कहने का तात्पर्य स्पष्ट है। व्यग्रता में अभ्यास नहीं होता। विद्या ग्रहण करने के लिए द्वेषरहित प्रबल इच्छा चाहिए।" मैंने कहा।

पता नहीं क्यों, वह 'द्वेष' शब्द सुनते ही भीतर तक तिलमिला गया और एक झटके से मुझे छोड़कर हट गया।

बड़े कड़कते स्वर में बोला, ''मैं आपका मतलब समझ गया। मान लीजिए, मैं विद्वेष में ही आया हूँ; तो क्या मैं आपके भाई का शिष्य नहीं हो सकता?''

''क्यों नहीं हो सकते!''

''तो क्या मैं गदायुद्ध नहीं सीख सकता?'' उसके स्वर में वही टेढ़ापन था।

''क्यों नहीं सीख सकते!''

''तब आपने द्वेष की बात क्यों उठाई?'' उसकी आवाज पहले जैसी ही थी।

''इसलिए उठाई कि द्वेष के वश में रहकर सीखी हुई विद्या सदा संतप्त रहती है।'' मेरे स्वर में विश्वास और उभरा—''और कभी फलवती नहीं होती।''

दुर्योधन एकदम मेरा मुँह देखने लगा। उसकी आँखों से चिनगारियाँ छूट रही थीं। मैंने उन चिनगारियों को शांत करने की अपेक्षा उन्हें भभकाना ही उचित समझा और सोचा कि वे जितनी हैं, सबकी सब निकल जाएँ तो अच्छा; क्योंकि उन चिनगारियों के रूप में दुर्योधन का अहं निकल रहा था।

मैंने भैया से मुसकराते हुए कहा, ''चलिए, अब आपके हस्तिनापुर में दो शिष्य हो जाएँगे।''

''दो शिष्य!'' दुर्योधन की आँखें पुनः विस्फारित हुईं।

''हाँ, दो शिष्य। एक आप और एक भीमसेन।'' मैंने कहा।

''क्या भीमसेन ने भी आपसे गदायुद्ध की शिक्षा ली है?'' दुर्योधन ने भैया की ओर देखकर पूछा और भैया ने मुसकराते हुए गरदन हिलाई।

अब दुर्योधन के सारे अहं पर पाला पड़ गया। फुफकारता हुआ साँप हिम ढेर के नीचे आ गया। अहंकार से तनी उसकी शिराएँ एकदम ढीली पड़ गईं।

''तब तो वह आपका सारा गदा कौशल ले गया होगा?''

''कौशल कोई वस्तु नहीं होती, दुर्योधन, जिसे एक व्यक्ति ले जाएगा तो दूसरे के लिए कुछ बचेगी नहीं।'' भैया बोलते रहे—''अरे, यह विद्या है, विद्या। विद्या तो बाँटने से बढ़ती है।''

''आप बढ़ी हुई विद्या के हकदार हैं।'' अवसर मिलते ही मैंने एक वाक्य और जड़ा।

दुर्योधन भैया का शिष्य हो गया। वस्तुतः यह वह दुर्योधन नहीं था, जो भैया का शिष्य बनने आया था वरन् यह वह दुर्योधन था, जिसका अहं चूर-चूर करके धूल में मिला दिया गया था और जो शिष्य बनने योग्य हो गया था।

इसके बाद वह बराबर भैया के साथ अभ्यास करने लगा। पर उसके मन में पांडवों के प्रति विद्वेष की भावना न तो मरी और न दबी ही, वरन् अपनी पूर्ण ऊष्मा के साथ बराबर बनी रही। शायद इसीलिए वह कभी मेरे निकट न आ सका। यह

सत्य उसे सदा सालता रहा कि पांडव मेरे मित्र, सखा, भाई और सबकुछ हैं।

उद्धव ने हस्तिनापुर से लौटकर सारी स्थिति बताई। पर अभी बहुत कुछ बताने को था, जिसका संकेत चाचाजी ने किया। दुर्योधन के आने के बाद एक बार फिर युधिष्ठिर के युवराज बनने की चर्चा गरम हो उठी थी।

अक्रूर चाचा ने माताजी को बताया कि युधिष्ठिर के युवराज होने से कौरव जैसे जल उठे। उनके शकुनि मामा ने एड़ी-चोटी का जोर लगाया कि ऐसा न हो। धृतराष्ट्र भी कोई बहाना खोज रहे थे; पर पितामह, महात्मा विदुर और प्रजा का ऐसा दबाव था कि धृतराष्ट्र की एक न चली। फिर भी उन्होंने ऐसी योजना की कि चुप-चुप समारोह कर लिया जाए, आसपास के राज्य भी इस समारोह के साक्षी न बन सकें।''फिर भी अपनी ओर से जितने लोगों को विदुरजी बुला सकते थे, बुलाया ही।

सब सुनकर माँ चिंता में पड़ी। बोली, ''ऐसे आंतरिक कलह में युधिष्ठिर का युवराज पद कब तक सुरक्षित रह सकता है?''

''यही तो मैं भी सोचता हूँ।'' चाचाजी ने कहा, ''क्योंकि मुझे याद है, जब समारोह समाप्त हो गया था, पितामह चले गए थे, तब शकुनि ने सबके सामने बड़े आवेश में कहा, 'देखता हूँ, यह नाटक कब तक चलता है!' ''

माँ भी चिंतित हुई। उसे दुर्योधन का व्यवहार भी अच्छा नहीं लगा। द्वारका आए पंद्रह दिनों से अधिक हो गए; पर एक दिन भी वह माँ से मिलने नहीं आया और न पिताजी से ही मिला। हाँ, नानाजी से अवश्य मिला और मात्र औपचारिकता ही निबाही थी।

वह अतिथिभवन में ही रहता और बलराम भैया तथा रेवती भाभी से मिलता। उन्हींसे खुलकर बातें करता। यदि आते-जाते कभी मुझसे मिलता भी तो हमारा मिलन अभिवादन की सामान्य क्रिया तक ही सीमित रहता।

रेवती भाभी हस्तिनापुर की राजनीति से अपरिचित थीं। इसलिए दुर्योधन उन्हें असामान्य लगते हुए भी सहज और भलामानुष मालूम होता था। एक दिन वे मुझसे कह रही थीं कि तुम्हारे भैया का वह शिष्य अवश्य है, पर उसका आदर्श भीमसेन है। वह वैसा ही बनना चाहता है।

मैंने मन-ही-मन सोचा कि उसका विद्वेष आचार्य को भी अपना आदर्श नहीं बना पाया। अत: भाभी से पूछा, ''आखिर क्या कह रहा था?''

''वह पूछ रहा था कि क्या मेरा गदा कौशल भीम के समान है!''

''तब आपने क्या कहा?''

''मैंने कहा कि इसके लिए क्यों परेशान होते हो? एक दिन भीमसेन से तुम्हारी गदा प्रतिस्पर्धा निश्चित करा दी जाएगी। एक आचार्य के दोनों शिष्यों का मुकाबला

होगा। तब वह बोला, 'वह तो होना ही है,. आप निश्चित कराएँ या न कराएँ।' ''

धीरे-धीरे एक मास बीत गया। दुर्योधन का अभ्यास चलता रहा। भैया भी काफी रुचि लेने लगे। अपने प्रयत्न, अभ्यास और सेवाभाव से दुर्योधन ने भैया को प्रभावित भी खूब कर रखा था। उन्हें भी अपने शिष्य पर गर्व ही रहा और कई लोगों से दुर्योधन के अभ्यास एवं आचरण की प्रशंसा भी की।

दुर्योधन की प्रकृति में एक परिवर्तन और आया। अब उसकी चेष्टा मेरे निकट आने की भी थी। वह घंटों मेरे साथ बिताता। मैंने भी अपनी आत्मीयता प्रदर्शन में किसी प्रकार की कमी नहीं की। फिर भी उसे लगता कि मेरे और कन्हैया के बीच एक अदृश्य प्राचीर है, जिसे मैं तोड़ नहीं पा रहा हूँ।

अंत में, एक वह दिन भी आया, जब दुर्योधन को बिदाई दी जाने लगी। आखिर वह हस्तिनापुर का राजकुमार है, धृतराष्ट्र के पुत्रों में ज्येष्ठ।

राजकीय सम्मान के साथ सागरतट तक हम उसे पहुँचाने आए।

चलते-चलते उसने मुझसे कहा, ''आपकी कृपा है न?''

''क्यों, इसमें भी कोई संदेह है!'' मैंने मुसकराते हुए कहा। वह झेंप गया।

''संदेह तो नहीं है।'' वह झेंप मिटाते हुए बोला, ''उसकी आवश्यकता मुझे शीघ्र पड़ेगी।'' और उसका जलयान छूट गया। पर वह जलयान के बाहर खड़ा अभिवादन में अपना हाथ हिलाता रहा, हिलाता रहा—जब तक हम दोनों एक-दूसरे को देखते रहे।

मुझे बाद में पता चला कि दुर्योधन का एक मास का यह द्वारका प्रवास गदा अभ्यास के लिए उतना नहीं था, जितना हमसे संबंध प्रगाढ़ करने के लिए। भैया का शिष्य होना तो एक बहाना था। उसकी मंशा तो हस्तिनापुर के पांडवों का काँटा सदा के लिए निकाल देने की थी। इसीलिए वह पांडव मित्रों को मिलाने निकला था, जिससे कभी भी कोई बाधा न पैदा कर सकें।

जब मैंने यह बात सुनी तब भी मुझे वेदव्यास की भविष्यवाणी याद आई थी। उन्होंने कहा था—'भवितव्यता तो होकर रहेगी। तुम्हें देखना बस यह है कि नियति कौन सी भूमिका तुम्हें सौंपती है।'

□

काल के अनंत अंतरिक्ष में समय एक यायावर पक्षी की तरह उड़ता चला गया। धीरे-धीरे दो साल बीत गए। इतने ही दिनों में द्वारका की प्रतिष्ठा निखार की ओर बढ़ चली। आर्यावर्त्त का तीन-चौथाई व्यापार हमारे पत्तन से होने लगा। इसका कारण पत्तन की आधुनिकता तो थी ही, उसका एकदम पश्चिमी छोर पर होना भी था।

एक दिन अचानक सूचना मिली कि आचार्य सांदीपनि पधारे हैं और गर्गाचार्य

के यहाँ ठहरे हैं। बिना किसी पूर्व सूचना के उनका अप्रत्याशित आना और प्रासाद में न जाकर सीधे गर्गाचार्य के यहाँ जाना हम सबकी जिज्ञासा का कारण बना।

हम लोग उनकी अगवानी में गर्गाचार्य के यहाँ ही पहुँचे। हमारे साथ नानाजी, पिताजी, चाचा आदि सभी थे। सबको देखकर वह परम प्रसन्न हुए।

"हम सब आपको प्रणाम करने तो आए ही हैं, साथ ही उन अनजान भूलों के लिए क्षमा माँगने भी आए हैं, जिनके कारण आपने प्रासाद में पधारने की कृपा नहीं की।" नानाजी ने विनीतभाव से कहा।

आचार्यजी हँस पड़े—"यदि आपसे कोई भूल हुई होती तब तो मैं प्रासाद में ही आता और उस भूल की ओर निस्संकोच आपका ध्यान आकर्षित करता।...कन्हैया तो मेरी प्रकृति से अच्छी तरह परिचित है। फिर ऐसी शंका आप लोगों को हुई कैसे?" फिर उन्होंने अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए बताया—"अब मैं वानप्रस्थी हो गया हूँ।...यह तो आपको मालूम ही है कि मेरा एक ही पुत्र है—और वह भी करवीरपुर में राजकीय चाकर हो गया। अब मैंने आश्रम अपने शिष्यों को सौंप दिया है। और स्वयं पर्यटन करता हूँ। जीवन बहते पानी-सा हो गया है। अंतर यही है कि पानी एक दिशा में और वह भी ढाल की ओर बहता है; पर मेरे लिए न तो दिशा का महत्त्व है और न ढाल तथा चढ़ाव का।...वानप्रस्थी को जहाँ तक हो, प्रासाद से दूर रहना चाहिए।"

"वानप्रस्थी आचार्य प्रासाद में नहीं जाता, प्रासाद ही उसके पास चला आता है।" गर्गाचार्य बोले।

आचार्य सांदीपनि को हँसी आ गई। गर्गाचार्य के कथन पर हम लोगों के भी चेहरे खिल गए।

"पर सब जगह ऐसा नहीं होता।" आचार्य सांदीपनि ने अत्यंत गंभीर होकर कहा, "यदि हर प्रासाद वानप्रस्थी के पास आने लगे तब तो आर्यावर्त्त का कल्याण ही हो जाए।" वे थोड़ा और खुले—"जिन प्रासादों ने आचार्यों की सेवा स्वर्णखंडों पर खरीद ली है, वे किसी आचार्य को क्या समझते हैं, चाहे वह वानप्रस्थी हो या संन्यासी!"

हम लोगों की दृष्टि हस्तिनापुर चली गई और उनका लक्ष्य भी वही था। हमने समझ लिया कि आचार्य वहीं से होकर आ रहे हैं और उनके आचार्यत्व को वहाँ गहरी ठेस लगी है।

पर वे इस संदर्भ में कुछ और नहीं बोले। बात एकदम बदलते हुए कहा, "अपने मित्र गर्ग के यहाँ आने का एक कारण और भी है। एक महत्त्वपूर्ण बिंदु पर हमें इनसे राय लेनी है; क्योंकि इस बार हमारी द्वारका यात्रा सप्रयोजन है।" आचार्यजी

हँसने लगे।

''तो जो आज्ञा हो, कहें, महाराज।'' नानाजी बोले।

''कहूँगा, कहूँगा, अवश्य कहूँगा; पर आप सबसे नहीं, केवल कन्हैया से कहूँगा।'' उन्होंने मुसकराते हुए कहा।

मेरी जिज्ञासा का व्यग्र होना स्वाभाविक था। मैंने उनकी मुसकराहट में बहुत कुछ खोजने की चेष्टा की; पर कुछ खोज नहीं पाया। मैंने गर्गाचार्य की ओर देखा। वे गंभीर रूप से मौन थे।

फिर उसी दिन दोपहर को प्रासाद में उन्हें भोजन पर आमंत्रित किया गया। दोनों आचार्यों के अतिरिक्त सारा अमात्य मंडल और हमारे बड़े-बूढ़े सभी लोग आमंत्रित थे। मैंने बातों के क्रम में आचार्य सांदीपनि से कहा, ''आपके 'प्रयोजन' के प्रति मेरी जिज्ञासा है। वही मेरे लिए आज्ञा होगी और वह शिरोधार्य भी।''

''बिना वास्तविकता जाने ऐसा वचन देना घातक भी हो सकता है। इस समय तुम राजनीति के शिखर पर हो। तुम्हें ऐसी भूल नहीं करनी चाहिए।'' आचार्यजी पुनः हँसते हुए बोले।

''आपकी आज्ञा मानना घातक हो सकता है, इसकी कल्पना मैं स्वप्न में भी नहीं कर सकता।'' मैंने कहा।

''हर व्यक्ति अपने स्वार्थ एवं परिस्थिति के अनुसार इच्छा व्यक्त करता है और हो सकता है, वह तुम्हारे अनुकूल पड़े।'' आचार्य बोले।

मैं चुप रह गया। मैंने अनुभव किया कि आचार्यजी सबके सामने मुझसे वह कहना नहीं चाहते, जो उनकी इच्छा है।

मैं उसी दिन गर्गाचार्य के आवास पर उनसे मिला। मेरे साथ केवल उद्धव था; पर आचार्यजी को उसकी भी उपस्थिति बहुत अच्छी नहीं लगी। उन्होंने हमें देखते ही तुरंत अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की—''आखिर तुम उद्धव को अपने साथ ले ही आए।''

''यह मेरी छाया है, मेरे साथ रहेगा ही।''

''पर प्रकाश तक ही। अंधकार में छाया साथ नहीं रहती।''

''तब यह मुझमें विलीन हो जाएगा।'' मैंने हँसते हुए कहा, ''और अंधकार से लड़ते हुए हम दो नहीं, एक हो जाएँगे।''

आचार्यजी मेरे तर्क पर बहुत प्रभावित हुए। गर्गाचार्यजी अब भी शांत बैठे रहे; जैसे आनेवाली स्थिति उन्हें प्रिय नहीं थी।

फिर सांदीपनिजी ने बड़े सहजभाव में कहा, ''मैं तुम्हारे लिए एक विवाह का प्रस्ताव लाया हूँ।''

"विवाह का प्रस्ताव!" मैं चकित रह गया—"मेरा विवाह तो हो चुका है।...और आपने ही कराया है।"

"इससे क्या होता है! राजाओं को तो कई विवाह करने की शास्त्र अनुमति देता है।" फिर उन्होंने बड़े विस्तार से शास्त्र के इस संदर्भ की व्याख्या की—"इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि शास्त्र राजाओं को वासना में लिप्त या विलासी बनाना चाहता है। वस्तुत: राजाओं को अनेक प्रतिकूल परिस्थितियों से जूझना पड़ता है। इन परिस्थितियों को अनुकूल बनाने के लिए विवाह एक साधन होता है।"

आचार्यजी बोलते जा रहे थे—"मैं इस समय आर्यावर्त्त की यात्रा कर रहा हूँ और देख रहा हूँ कि वहाँ कैसी आग सुलग रही है। शीघ्र ही भयंकर विस्फोट की आशंका है।...और जानते हो, जब विस्फोट होगा तो कौन जलेगा, कौन बचेगा, यह कहना बड़ा मुश्किल है।"

इसी क्रम में उन्होंने बताया कि इस समय मैं पांचाल की राजधानी कांपिल्य से आ रहा हूँ।

कांपिल्य का नाम सुनते ही बात कुछ मेरे समझ में आने लगी। उन्होंने कहा, "वहाँ भी एक विषम ज्वाला लपलपा रही है। उसमें प्रतिहिंसा है, प्रतिशोध है।"

"हाँ, अर्जुन से मुझे इसका कुछ-कुछ आभास मिला था।" मैंने कहा।

"तब तो तुम बहुत कुछ जानते होगे।" आचार्यजी बोले, "द्रुपद की प्रतिहिंसा द्रोण का विनाश चाहती है। पर उसे ऐसा कोई पुत्र नहीं था, जो पिता की इच्छा पूरी कर सके। अतएव उसने पुत्र कामेष्टि यज्ञ किया। यज्ञ का प्रसाद लेने के लिए उसने अपनी पत्नी को बुलाया। पता नहीं वह ऐसे कौन से कार्य में रत थी कि बार-बार बुलाए जाने पर भी आ न सकी। निदान, द्रुपद अपने क्रोध को सँभाल नहीं पाया और यज्ञ की धधकती अग्नि में उसने अपने उस प्रसाद को फेंक दिया। परिणामत: एक पुत्र और एक पुत्री उस यज्ञकुंड से निकले, अत्यंत देदीप्यमान यज्ञ से धधकते हुए।

"द्रुपद अपनी उसी पुत्री याज्ञसेनी के लिए एक ऐसा वर खोज रहा है, जो महायोद्धा हो।"

"...और जो उसके प्रतिशोध की अग्नि को शांत कर सके।" आचार्यजी की बात के बीच में ही मैं बोल पड़ा।

"इसके लिए वह अपना सारा राज्य देने को तैयार है।"

"वह सारा राज्य क्या दे सकेंगे! आधा तो उनसे आचार्य द्रोण ने ले लिया है।"

"पर जब वह व्यक्ति द्रोण से बदला लेने में समर्थ हो जाएगा, तब तो द्रोण का भी राज्य उसे मिल जाएगा—और तब द्रुपद का अधूरा राज्य पूरा हो जाएगा।"

मेरा मन किसी भी स्थिति में आचार्यजी के इस प्रस्ताव को मानने के लिए तैयार

नहीं था। मैंने कहा, "अब मुझे किसी राज्य की आवश्यकता नहीं है।"

"अरे, तुम कैसी बात करते हो?" आचार्य एकदम भड़क उठे—"यदि तुम राज्य विजय की आकांक्षा नहीं करोगे तो चक्रवर्ती सम्राट् कैसे बनोगे?"

"यदि चक्रवर्ती सम्राट् बनने के लिए मुझे आकांक्षाओं के पीछे दौड़ लगानी पड़े तो, अत्र भवान्, मुझे ऐसा ही रहने दीजिए। मैं इस स्थिति में काफी संतुष्ट हूँ। आकांक्षाओं का दास बनने की अपेक्षा मुझे आकांक्षाओं का स्वामी बनने का आशीर्वाद दीजिए, गुरुवर!" इतना कहते हुए मैंने अपना मस्तक उनके चरणों पर रख दिया।

आचार्यजी कुछ समय के लिए शांत हो गए। अपनी बात नहीं छोड़ी और दबाव डालने का एक और प्रयत्न किया—"मैं तो चाहता था कि इस तरह पांचाल को मिलाकर तुम निष्कंटक हो जाते। फिर तुम्हारे राज्य पर किसीको आँख उठाकर देखने का साहस न होता।"

और भी बहुत सी बातें उन्होंने कहीं तथा अंत में बोले, "पांचाल को तुम्हारी धनुर्विद्या पर विश्वास है। उनका सोचना है कि पूरे आर्यावर्त्त में इस समय तुम्हीं ऐसे व्यक्ति हो, जो अर्जुन के विरुद्ध खड़े हो सकते हो।"

"तो क्या भाई के विरुद्ध ही खड़ा होना होगा?" मैं बोला, "क्या यह उपयुक्त होगा?"

"उपयुक्तता तो समयसापेक्ष होती है। जो आज उपयुक्त है, कल नहीं भी हो सकता।"

आचार्यजी ने कहा, "तुम यह भी सोचो कि द्रुपद का पागलपन इस समय कुछ भी कर सकता है। वह जरासंध से ही अपनी पुत्री का विवाह कर उससे हस्तिनापुर पर चढ़ाई करा देगा। तब तुम अर्जुन के विरुद्ध न होगे, जरासंध होगा। ऐसी स्थिति में मेरी सलाह है कि तुम द्रौपदी से विवाह कर लो। रह गई अर्जुन का विरोध न करने की बात, उसके लिए कोई दूसरा मार्ग देखा जाएगा।"

अब मैं बड़े फेर में फँसा। अपने आचार्य की अवज्ञा कैसे करूँ? इधर मन उनकी बात मानने को बिलकुल तैयार नहीं था। मैंने गर्गाचार्यजी की ओर देखा। उनके मुँह में तो जैसे जबान ही नहीं। उनके सारे व्यक्तित्व पर चिंता की ऐसी बर्फ जम गई थी कि सिर नीचा किए वे मूर्तिवत् बैठे रहे।

अंत में मैंने एक रास्ता निकाला और बोला, "इसके लिए मुझे रुक्मिणी से अनुमति लेनी पड़ेगी।" मैंने उद्धव की ओर पहली बार देखा। उसने सिर हिलाकर मेरा समर्थन किया।

"क्यों?"

"अरे, आपने ही अग्नि को साक्षी रखकर सारी प्रतिज्ञाएँ कराई थीं। क्या आप

भूल गए?'' यह ऐसा तीर था, जो एकदम लक्ष्य पर लगा। आचार्यजी इसके आगे कुछ बोल नहीं पाए।

मेरी पीठ ठोंकता मौन का वह अंतराल यद्यपि उबाऊ नहीं था।

अंत में मैंने बात को दूसरी ओर मोड़ा—''क्या ऐसी कोई स्थिति बनाई नहीं जा सकती कि द्रोण और द्रुपद में समझौता हो जाए? दोनों का अहं अपने स्थान पर रहे और टकराहट न हो।...क्योंकि प्रतिहिंसा से प्रतिहिंसा समाप्त नहीं होती। आग से आग नहीं बुझाई जा सकती।''

इस बार भी आचार्यजी चुप थे।

मैंने कहा, ''हो सकता है, मुझे हस्तिनापुर जाना पड़े। तब मैं अपने विचारों की संभावना का पता लगाऊँगा।''

''हस्तिनापुर क्यों जा रहे हो?'' आचार्यजी का सीधा प्रश्न था।

''जब से धर्मराज युवराज हुए हैं तब से मैं हस्तिनापुर नहीं गया हूँ।''

''तो अब जाना व्यर्थ है।''

''क्यों?''

''क्योंकि युधिष्ठिर अब हस्तिनापुर का युवराज नहीं रहा। उसे वारणावत भेज दिया गया है।'' आचार्यजी बोले।

यह समाचार मुझे चौंकानेवाला था। मेरे मन ने कहा, हो न हो, इसके पीछे दुर्योधन और उसके मामा शकुनि की कोई चाल हो; पर पितामह और विदुर के रहते हुए उसे अपनी चाल में सफल तो नहीं होना चाहिए।

''यह भी तो हो सकता है कि किसी योजना के अंतर्गत उसे भेजा गया हो!'' आचार्यजी ने कहा।

मैंने उनका उत्तर देना ठीक नहीं समझा, अन्यथा मैं कहता कि हर षड्यंत्र किसी-न-किसी योजना का मुखौटा लगाकर ही उपस्थित होता है।

बाद में मुझे पता चला कि अब दुर्योधन हस्तिनापुर का युवराज बना दिया गया है।

☐

आचार्य सांदीपनि कई दिनों तक द्वारका में रहे, फिर भी मेरी मंशा देखकर उन्होंने अपने प्रस्ताव पर जोर नहीं दिया। युधिष्ठिर को युवराज पद से हटाए जाने के प्रस्ताव से मुझे बड़ा आघात लगा। इसका आभास आचार्यजी को भी हो गया। इसलिए वे विवाह के संदर्भ में अब चुप ही थे।

मेरी मानसिकता उस जंगल में भटकने लगी, जिसे दावाग्नि निगलने जा रही थी। आचार्यजी द्वारा दी गई सूचना के बाद मेरी व्यग्रता ने उनसे इस विषय में अनेक

प्रश्न किए। यथा—युधिष्ठिर युवराज पद से क्यों हटे? उन्हें बलात् हटा दिया गया या स्वेच्छा से उन्होंने यह पद छोड़ दिया? फिर वारणावत जाने की क्या आवश्यकता पड़ी? इसमें पितामह और महाराज विदुर की क्या भूमिका रही? आदि-आदि।

पर आचार्यजी ने किसी भी प्रश्न का ठीक उत्तर नहीं दिया। वह लगभग हर प्रश्न को टालते गए। मुझे उनसे ऐसी आशा नहीं थी। ऐसा करना उनकी प्रकृति के अनुरूप भी नहीं था। आखिर उनके सामने ऐसी कौन सी बाध्यता थी कि वह कुछ कह न सके? क्या यह संभव है कि उन्हें पूरी जानकारी नहीं रही हो?

मेरी और मेरे परिवार की व्यग्रता का आचार्यजी के मन पर काफी दबाव था। अब द्वारका में रहना उन्हें भारी पड़ा।

शीघ्र ही उन्होंने द्वारका छोड़ने का मन बना लिया और हमें समझाते हुए बोले, ''जैसी भंवितव्यता होती है, होता वही है। इसके लिए हमें बहुत घबराना नहीं चाहिए।'' उन्होंने भविष्यवाणी भी याद दिलाई—''लगता है, हस्तिनापुर का भविष्य अपने समय से पहले उपस्थित होने वाला है।''

हम लोगों ने उनकी बातें सुन भर लीं, कोई टिप्पणी नहीं की। हमारा चुप रहना हमारे मुखर होने से उन्हें अधिक बोझिल लगा।

जब हम लोग आचार्यजी को पहुँचाने पत्तन पर पहुँचे और वे जलयान पर सवार हुए, तब वे भी मौन थे और हम लोग भी। ऐसा लगा कि महाविनाश की शोकाकुल परिस्थितियों में हम एक-दूसरे से बिदा हो रहे हैं।

मेरा सारा परिवार चिंतित था। सभी को युधिष्ठिर के वारणावंत जाने में कौरवों के किसी षड्यंत्र की आशंका लग रही थी। यहाँ तक कि रुक्मिणी ने भी कहा, ''इसमें दुर्योधन की कोई चाल लगती है।''

''तुम्हें कैसे मालूम?''

''मुझे मालूम तो कुछ नहीं है।'' रुक्मिणी बोली, ''पर मेरा मन कहता है। क्योंकि इतने दिनों तक दुर्योधन द्वारका में रहा, पर कभी उसने आँखें मिलाकर आपसे बात नहीं की। मैं बराबर यही देखती रही। वह जब भी आपके पास आता, एक प्रकार का बनावटीपन ओढ़े हुए। वह ऊपर से कुछ तथा भीतर से कुछ और लगता है।'' इस संदर्भ में उसने एक घटना सुनाई—''एक दिन प्रासाद में मेरा-उसका सामना हो गया। आसपास किसीको न देखकर उसने सीधे-सीधे मुझसे पूछा, 'आखिर तुमने क्या समझकर कृष्ण का वरण किया था?'

''मैं अवाक् रह गई। यह पहला अवसर था, जब कोई मेरे समर्पण पर प्रश्नचिह्न लगा रहा था।'' रुक्मिणी कहती गई—''उसने स्वयं कहा कि इसमें तितली का क्या दोष! दोष तो पुष्प के उस आकर्षण का है, जो अपने साथ में कितने काँटे लिये रहता

है।…वह इतना कह ही रहा था कि उधर से आप चले आए। आपको देखकर वह एकदम चुप हो गया; पर मैंने मुसकराते हुए कहा कि इसमें दोष तितली का नहीं, सारा दोष पुष्प का है।

''इसपर आपने भी मुसकराते हुए दुर्योधन को इंगित कर कहा था कि मुझे तो पुष्प भी निर्दोष ही दिखाई देता है।

''याद है आपको, उस समय दुर्योधन कैसा कटकर चला गया था?''

''हाँ, याद है।'' मैंने कहा, ''पर उस समय मैंने यह नहीं सोचा था कि वह मेरे विरुद्ध तुममें घृणा की अवतारणा करने की कुचेष्टा कर रहा था।''

''तभी मैंने समझ लिया था कि यह व्यक्ति बड़ा घातक है।'' रुक्मिणी बोली। उसने सबके सोच पर अपने सोच की मुहर लगा दी।

उसी रात भोज पर फिर यह चिंता उभरी। मेरे माता-पिता का स्पष्ट मत था कि युधिष्ठिर सरल और सीधा है। धर्म का अवतार है। उसकी सरलता का परिणाम ही उसके परिवार को भोगना पड़ेगा।

हमने उसी रात कुछ सैनिकों के साथ उद्धव को वारणावत भेजने का निश्चय किया। उसे समझाया कि तुम यथाशीघ्र वारणावत पहुँचो। पहले वह हिचकिचाया।

''अकेला मैं वहाँ जाकर क्या करूँगा?'' उसने कहा।

''तुम बहुत कुछ कर सकते हो।'' मैंने कहा, ''फिर तुम वहाँ पहुँचकर अकेले तो रहोगे नहीं। पांडव तुम्हारे साथ होंगे। तुम्हें कोई युद्ध तो करना नहीं है। केवल उन्हें विश्वास दिलाना है कि आप सब षड्यंत्र के शिकार हैं।''

''पर युधिष्ठिर मेरी बात मानेंगे नहीं। आप तो जानते ही हैं कि कभी-कभी उनकी धर्मनिष्ठा और नियति पर उनका विश्वास हठ की सीमा तक पहुँच जाता है। तब उन्हें समझाना बड़ा कठिन होता है।…आप क्या समझते हैं, युवराज पद छोड़ते समय उन्हें भीमसेन और अर्जुन ने कम समझाया होगा! पर उन दोनों की एक न चली होगी।…और वह कुंती बुआ अस्ति-नास्ति के झमेले में पड़ी होंगी—और अंत में एक निरीह गाय की तरह उधर चल पड़ी होंगी, जिधर उनके बछड़े जा रहे होंगे। मोह से बँधी हुईं। ममता से बँधी हुईं। इच्छा न होते हुए भी।…क्योंकि बुआजी की समझदारी में कोई कमी नहीं है। उनका विवेक यथार्थ के निकट बड़ी सरलता से पहुँच जाता है।''

उद्धव की सारी बातें सुनकर मैं चुप रह गया; क्योंकि उसके निष्कर्ष मेरे निष्कर्ष के समीप थे। लगता है, इस परिस्थिति पर उसने गंभीरता से सोचा था।

कुछ देर मौन रहकर मैंने उसे पुनः समझाया—''धर्मराज भले ही तुम्हारी बात न मानें; पर मेरा विश्वास है कि जब तुम मेरा नाम लेकर कहोगे तब वह कुछ सोचने

के लिए अवश्य विवश होंगे। फिर तुम्हारा काम होगा वारणावत की परिस्थिति पर सजग दृष्टि रखना, विशेषकर पुरोचन पर।''

''यह पुरोचन कौन है?'' उसने पूछा।

इस बीच मुझे जो जानकारी मिली थी, मैंने उसके आधार पर कहा, ''लगता है, तुम पूरी स्थिति नहीं जानते।'' मैंने विस्तार से बताया—''वारणावत में हर वर्ष शिव मेला लगता है। इस विशाल मेले की व्यवस्था हस्तिनापुर करता है। यह उसकी राज्य सीमा के भीतर भी है और कर्तव्य सीमा के भी। हर बार इसकी व्यवस्था एवं देख-रेख के लिए धृतराष्ट्र अधिकारियों के साथ अपने पुत्रों को भी भेजते थे; पर इस बार के लिए उन्होंने युधिष्ठिर को समझा-बुझा लिया। शेष भाई अपने बड़े भाई की आज्ञा के समक्ष विवश हो गए।···दूसरी विशेष बात यह है कि इस बार पांडवों के निवास के लिए धृतराष्ट्र ने एक विशाल भवन बनवाया है।''

''भवन तो एक दिन में बना नहीं होगा!'' उद्धव ने शंका की।

''यही तो बात है। इसीलिए शंका पैदा होती है।''

''हो सकता है, दुर्योधन की महत्त्वाकांक्षा से तंग आकर उन्होंने यह निर्णय लिया हो। पर अपने पुत्रों के कारण उनकी चलती कहाँ है?···दूर रखना उतना घातक नहीं है, जितना कौरवों के मार्ग से पांडवों को सदा के लिए हटा देना।''

उद्धव फिर सोचने लगा। उसने पिछला प्रश्न पुनः दुहराया—''यह पुरोचन कौन है?''

''वारणावत के नवनिर्मित उसी विशाल भवन का शिल्पी।'' मैंने कहा, ''और जानते हो, उसने उस भवन का नाम क्या रखा है?''

उद्धव ने नकारात्मक ढंग से सिर हिलाया।

''शिवम्! कल्याणकारी!'' मैंने कहा, ''भगवान् जाने पुरोचन के मन में किसके कल्याण की भावना है! इसका भी पता तुम्हें लगाना है। तुम्हें छाया की तरह उसके पीछे लगना होगा। ज्ञात करो कि उसकी मंशा क्या है? याद रखना, वह दुर्योधन का नितांत विश्वस्त शिल्पी है। वह उससे कुछ भी करा सकता है।''

''पर आपको इस सबका पता कैसे चला?''

''गुप्तचरों से।'' मैं मुसकराते हुए बोला, ''जानते हो उद्धव, अब मैं राजा हूँ। मेरी ये दो आँखें ही अब पर्याप्त नहीं रहीं। अब मैं हजारों आँखों से अपनी प्रजा और राज्य के बाहर भी देखता हूँ। उन आँखों के समूह का नाम ही मेरी गुप्तचर व्यवस्था है।'' इतना कहकर मैं हँसने लगा।

''तो आप मुझे भी उन्हीं गुप्तचरों में से एक बनाकर वारणावत भेजना चाहते हैं?''

"एक गुप्तचर नहीं वरन् अपनी एक आँख बनाकर भेजना चाहता हूँ।" मैंने मुसकराते हुए कहा और वह भी हँसते हुए जाने के लिए राजी हो गया।

उद्धव के चले जाने के बाद भी मुझे शांति नहीं थी। मेरा सारा परिवार उद्वेलित था। उनकी चिंता मेरे मन को और भी अशांत कर देती थी। एक रात्रि अचानक पिताजी मेरे शयनकक्ष में आ धमके। निश्चित ही वे काफी व्यग्र थे, अन्यथा बिना पूर्व सूचना वे यों ही मेरे कक्ष में न घुस आते। उनके आते ही रुक्मिणी पर्यंक से उठकर दूर हट गई। हम दोनों चकित थे, पिताजी की शालीनता ने आज उनका साथ क्यों छोड़ दिया?

वस्तुतः वह बड़े ही अशांत थे। उनके मस्तक पर प्रस्वेद चुभचुभा आए थे। आते ही वे बोल पड़े—"बेटा, मुझे लगता है, पृथा (कुंती) किसी बड़े संकट में है। मेरी तबीयत बहुत घबरा रही है। मैंने तेरी माँ से कुछ नहीं कहा। मैंने उसे अपनी घबराहट में सम्मिलित करना उचित नहीं समझा। तू ही कुछ कर, कन्हैया।"

स्पष्ट लगा कि असामान्य मानसिकता के भँवर में उनका मस्तिष्क चकरा रहा है। मैंने उन्हें अपने ही बिस्तर पर लिटा दिया। रुक्मिणी धीरे-धीरे विजन झलने लगी। मैंने उनका सिर सहलाना शुरू किया।

"अभी तक उद्धव का भी कोई समाचार नहीं आया।" पिताजी बोले।

"अरे, अभी उसको गए ही कितने दिन हुए हैं! अभी तो वह वहाँ पहुँचा होगा। अध्ययन कर रहा होगा—और कोई बात होगी तो वह स्वयं सूचना भेजेगा।"

"पर मैं इतना घबरा क्यों गया हूँ?" पिताजी ने स्वयं आत्मविश्लेषण करना आरंभ किया—"मुझे लग रहा है कि मृत्यु के घेरे में फँसी कुंती और उसका परिवार सहायता के लिए मुझे पुकार रहा है और मैं कुछ कर नहीं पा रहा हूँ।"

"आप घबराएँ नहीं। बुआजी बड़ी आस्तिक हैं। उनके पुत्रगण भी धर्म के अनुसार ही आचरण करनेवाले हैं।...ऐसे लोगों की रक्षा भगवान् करते हैं। हम सबको भी भगवान् पर भरोसा करना चाहिए।"

"भगवान् का भरोसा तो है ही। वही तो हमारे जीवन का अंतिम आधार है। पर हमें भी कुछ करना चाहिए।" इतना कहते हुए पिताजी बिस्तर से स्वयं उठ खड़े हुए और बाहर निकले। उन्हें सहारा देते हुए मैं भी उनके साथ चला।

थोड़ी दूर आगे बढ़ते ही माँ आती दिखाई दी। एकदम घबराई हुई। हमें देखते ही उसकी व्यग्रता और बढ़ी। बोली, "क्या बात है?" उसे लगा, वारणावत से कोई समाचार तो नहीं आया, जो पिता-पुत्र इतने गंभीर और टूटे लग रहे हैं।

मैंने उसे बहुत समझाया कि ऐसी कोई बात नहीं है। पर पिताजी का अब भी मौन रहना उसे भारी पड़ रहा था।

"आखिर बोलते क्यों नहीं? क्या बात है?"

"कोई बात नहीं।" अब पिताजी बोले, "नींद नहीं आ रही थी। तबीयत घबराई तो कन्हैया के पास चला आया।"

"मुझे जगा लिया होता।" अब माँ की मुद्रा बदली—"रात में तबीयत घबराई तो चले आए बेटे के कक्ष में। तुम्हारी बुद्धि तो नहीं मारी गई?"

माँ ने ऐसा कहा कि मेरे पीछे खड़ी रुक्मिणी लज्जा से पानी-पानी हो गई और घूँघट में मुँह छिपाकर मुसकराने लगी। उसे देखकर माँ के अधर भी खिल उठे।

"ज्यों-ज्यों अवस्था बढ़ती जा रही है, तुम्हारी बुद्धि को जाने क्या होता जा रहा है!"

पिताजी अब भी मौन थे। पर उस गंभीरता के सारे माहौल पर माँ के व्यंग्य की एक सलज्ज चादर चढ़ चुकी थी।

□

उस रात मुझे नींद नहीं आई। पिताजी के चले जाने के बाद मैं बहुत देर तक उनकी मानसिक स्थिति पर सोचता रहा। सामने के वातायन से तारों भरा आकाश निरंतर मैं देखता रहा। रुक्मिणी मेरी व्यग्रता को सहलाने की असफल चेष्टा करती रही—"तुम्हीं तो कहा करते थे कि हम सब नियति के खिलौने हैं। वह जैसा चाहती है, हमसे वैसा ही खेल खेलती है! फिर इतने चिंतित क्यों होते हो?"

"क्यों? खिलौने के टूट जाने पर बच्चे चिंतित नहीं होते?"

"इतने बड़े दार्शनिक होकर बच्चों का अनुकरण करते हो!"

"क्योंकि दार्शनिक की अपेक्षा बच्चों की तरह जीना आनंददायक भी है और सहज भी। दार्शनिक सबकुछ जानकर भी कुछ नहीं जानता। वह ज्ञात की गठरी सिर पर धरे अज्ञात की ओर दौड़ता है। जबकि बालक अज्ञात में ही किलकारियाँ भरता है। उसके सिर पर कोई गठरी नहीं होती।" मैंने बड़े सामान्य भाव से कहा, "सहज बालकों की तरह बनो, रुक्मिणी! तभी तुम जीवन को पूरे रस के साथ झेल सकोगी। हर खिलौने के साथ खेल सकोगी।"

इसके बाद रुक्मिणी भी कुछ सोचती हुई चुप हो गई।

रात आधी के करीब आ चुकी थी। वातायनों से ठंडी हवा का झोंका आने लगा और नींद ने मेरी व्यग्रता को धर दबाने का प्रयत्न किया। मैं सो गया।

पर व्यग्रता दबी नहीं थी। वह एक भयानक सपने में उभर आई। मैंने देखा, मैं एक अनजान जंगल में भटक गया हूँ। यह जंगल मेरे अब तक के देखे जंगलों में सबसे भयानक है। गहरे अँधेरे में घिरा हुआ। हिंसक पशुओं की चीत्कारों से भरा हुआ। कहीं मनुष्य का आभास नहीं। हाथ को हाथ नहीं सूझता। ज़ाऊँ तो

किधर जाऊँ?

मैं अपनी व्यग्रता में स्थिर था। तब तक अचानक मुझे कहीं से प्रकाश दिखाई दिया। कुछ सूझने लगा; पर यह नहीं पता चला कि यह प्रकाश कहाँ से दिखाई दे रहा है। प्रकाश बढ़ता गया और उसके साथ कुछ लोगों की चीत्कारकर भागने की आवाज भी सुनाई पड़ी—'बचाओ, बचाओ!'

आवाज तेज होती हुई मेरी ही ओर आ रही थी। मैंने देखा, अरे यह तो कुंती बुआ है और उसके साथ हैं पाँचों पांडव। जंगल में आग लग गई है। कुंती बुआ के वस्त्र जल रहे हैं। वह जलते हुए ही मुझे पकड़ना चाहती है। मैं उसके वस्त्र खींच रहा हूँ। हाथों से उसे दबाकर बुझा देना चाहता हूँ; पर मैं बुझा नहीं पा रहा हूँ। मेरे हाथ जलने लगे हैं। तब तक अचानक एक राक्षस प्रकट होता है और मेरी असफलता पर बीभत्स अट्टहास करता है। मैं एकदम घबरा जाता हूँ। अपना सुदर्शन चक्र खोजता हूँ। पर मेरे पास कहीं कोई अस्त्र नहीं है। निहत्था हूँ। इतना असहाय तो मैं कभी नहीं हुआ था। मैं खीज उठता हूँ—'घबरा मत, मैं तुझे कच्चा चबा जाऊँगा। मार डालूँगा।' बड़बड़ाता हूँ और उसी व्यग्रता में नींद खुल जाती है।

रुक्मिणी भी घबराई हुई उठ बैठती है।

"किसे मार डालने की बात कह रहे थे?" वह पूछती है।

मैं चुप था। अपनी हथेली देख रहा था।

रुक्मिणी मेरा सिर सहलाते हुए बड़े प्रेम से बोली, "क्या देख रहे हो?"

"देख रहा हूँ कि कहीं छाले तो नहीं पड़े हैं।" मेरे मुँह से अचानक निकल पड़ा। फिर मैंने स्वयं को सँभाला—"नहीं-नहीं, कुछ नहीं।"

"क्या कोई सपना देख रहे थे?"

"सोते हुए सपना नहीं देखूँगा तो और क्या देखूँगा!" मेरी आवाज में झुँझलाहट थी। रुक्मिणी ने समझ लिया कि मेरी मनःस्थिति सामान्य नहीं है।

मैंने शय्या-त्याग किया। बाहर आकर देखा। आकाश पर उषा के पूर्व की सफेदी उभरने लगी है। मेरी व्यग्रता चरम सीमा पर थी। सीधे भैया के पास पहुँचा। उन्हें बातें तो सभी मालूम थीं। मैंने अपने सपने की बात बताई। वे गंभीर हो गए।

"लगता है, अब मुझे भी हस्तिनापुर जाना होगा।" मैंने कहा, "देखूँ, आपका शिष्य किस सीमा तक नीचे उतरता है! अच्छा तो होता कि उसके आचार्य भी मेरे साथ चलते।"

'आचार्य' शब्द सुनते ही भैया भड़क उठे—"मेरे लिए आचार्यत्व का प्रयोग कर या तो तुम सामान्य आचार्यत्व पर व्यंग्य कर रहे हो या मेरा मजाक उड़ा रहे हो। वस्तुतः न तो मैं किसीका आचार्य हूँ और न मुझमें आचार्यत्व के गुण हैं। आचार्यत्व

पर शिष्य के सम्यक् विकास का दायित्व होता है। इसलिए शिष्य के पाप-पुण्य में आचार्य की भागीदारी होती है।···दुर्योधन तो मेरे पास गदायुद्ध के कुछ गुण सीखने आया था। उसकी जिज्ञासा एक शिष्य की जिज्ञासा नहीं थी। वह द्वेष का पुंज था, जो गदा विद्या के रहस्य के प्रति मात्र जिज्ञासु था। उसकी जिज्ञासा में ही मैंने शिष्य की पात्रता देखी थी। उसके व्यक्तित्व से मुझे कुछ लेना-देना नहीं था और न है।''

मुझे लगा कि भैया काफी नाराज हैं। मैंने तत्क्षण उनसे क्षमा माँगी और कहा, ''मैंने तो विनोद में कहा था और आप गंभीर हो गए।''

वे कुछ बोले नहीं और गंभीर हो सोचते रहे। कुछ देर बाद उसी मुद्रा में धीरे से बोले, ''तुमने उद्धव को तो भेजा है।''

''उसे तो मैंने वारणावत भेजा है, पांडव के सहयोग के लिए; पर मेरी इच्छा है कि मैं हस्तिनापुर जाऊँ और वहाँ की स्थिति का अध्ययन करूँ। इसीलिए आपके पास आया हूँ यह पूछने कि यदि हम दोनों साथ चलें तो कैसा होगा?''

''ठीक ही होगा।'' भैया बोले, ''पर क्या हम दोनों का एक साथ द्वारका छोड़ना उचित होगा? स्थिति निरापद नहीं है। द्वारका बहुतों की आँखों पर चढ़ी है।···और अभी जरासंध धरती पर जीवित है।''

बात मेरी समझ में आ गई।

''तो मैं श्वेतकेतु को लेता जा रहा हूँ। वैसे भी वह जाने ही वाला था। मेरे साथ ही चला चलेगा।'' मैंने कहा।

''ठीक है।'' भैया बोले, ''हो सकता है, छंदक भी तुम्हें हस्तिनापुर में ही मिले।''

''आपको पता है क्या?''

''पता तो नहीं है, पर मेरा अनुमान है।'' गंभीरता को चीरती मुसकराहट उनके अधरों पर पहली बार आई—''क्योंकि जहाँ कुनीति के दाँव चले जाते हैं, षड्यंत्र का जाल बिछने लगता है, छंदक वहीं होता है।''

मैंने अनुभव किया कि भैया अब सामान्य हैं। उनकी आज्ञा लेकर मैं चल पड़ा।

दोपहर होते-होते हस्तिनापुर चलने की सारी योजना बना ली। माताजी की आज्ञा थी कि रास्ता कुछ उलटा पड़ेगा, फिर भी मैं वारणावत होकर जाऊँ और जैसी भी स्थिति हो, सूचना भेजूँ।

यही इच्छा पिताजी की भी थी—और मैंने सहर्ष स्वीकार किया।

इस बार मेरे द्वारका छोड़ने से रुक्मिणी अधिक परेशान थी; फिर भी उसने परेशानी व्यक्त नहीं की। उसकी आकृति से व्यग्रता अवश्य टपक रही थी।

चलते समय बड़ी व्यग्रता से बोली, ''देखिए, हस्तिनापुर के भाग्य से खेलने का

खतरा मोल मत लीजिएगा।''

''क्यों?''

''जब इतने बड़े महात्मा और त्रिकालदर्शी वेदव्यासजी तटस्थ बैठे हैं तब आपका इस झमेले में पड़ना क्या उचित है?''

इस कथन में रुक्मिणी की समझदारी का कितना भाग है और कितना भाग मेरे प्रति उसके मोह का है, मैं आज तक यह गणित लगा नहीं पाया।

□

यह मेरे जीवन की सबसे अधिक चिंताग्रस्त यात्रा थी—न प्रकृति मुझे आकर्षित कर सकी और न परिवेश ही। इस बार गाँवों और जनपदों से मुँह छिपाता मेरा काफिला बढ़ता रहा; क्योंकि मुझे जल्दी पहुँचना था और गाँवों की आवभगत, स्वागत-सत्कार मेरी शीघ्रता में बाधक बनता।

मैं जंगलों से संक्षिप्त मार्ग से बढ़ता रहा—और कभी-कभी उन्हीं जंगलों में पड़ाव डालना पड़ता। ज्यों-ज्यों दारुक रथ के घोड़ों की गति तेज करता त्यों-त्यों मुझे लगता कि गंतव्य दूर भागता जा रहा है। मेरे साथ चलनेवाले सैनिक भी इस शीघ्रता से घबरा रहे थे।

संभावित समय सीमा से बहुत पहले ही हम वारणावत के निकट पहुँच गए। रात भर मशालों के सहारे चलते रहे। हम लोगों ने यहीं रुककर स्नान-ध्यान करने का मन बनाया। यहाँ से थोड़ा आगे बढ़ने पर हिंडन की धारा कृष्णी की धारा से मिलती थी। इन्हीं दो वारिधाराओं के संगम के उस पार वारणावत पड़ता था (यह स्थान आज के मेरठ से लगभग बीस किलोमीटर दूर 'वरनावा' नाम से है)।

हम स्नान-पूजन से निवृत्त होकर जलपान में लगे। सूरज पूर्व क्षितिज से झाँकने लगा। हमारे अश्व भी खोल दिए गए। लगातार चलते रहने के कारण उन्हें विश्राम की आवश्यकता थी। प्रातः का मंद समीरण हमारी थकावट झाड़ने में लगा था कि हमने पूर्व से आती एक नाव देखी। उसपर कुछ लोग सवार थे। अवश्य ही वे वारणावत के मेले से लौट रहे होंगे, हमने सोचा।

कितना विचित्र है। लोग जैसे होते हैं, हम उन्हें वैसा देख नहीं पाते वरन् हम जैसे होते हैं, वे वैसे ही दिखाई देते हैं। वस्तुतः वे यात्री मेले से लौटते लग नहीं रहे थे। एकदम शांत और चुपचाप। आपस में किसीसे बात नहीं। मेले से लौटनेवाले तो ऐसे नहीं होते। फिर सवेरे-सवेरे कोई मेले से लौटेगा क्यों? मेले से तो लोग संध्या को लौटते हैं।

ज्यों-ज्यों नाव पास आती गई, हम जल के निकट पहुँचते गए और अंत में हाथों के संकेत से हमने उन्हें अपने पास बुलाया।

"आप लोग वारणावत से आ रहे हैं?" नाव के पास आते ही मैंने पूछा।

यात्रियों में से कुछ ने 'हाँ' कर और कुछ ने केवल सिर हिलाकर हमारा समर्थन किया। इसके बाद कोई बात नहीं। एक शोकग्रस्त चुप्पी। मौन का आतंक भरा उबाऊ अंतराल।

बात मैंने ही आरंभ की—"आप लोग सवेरे-सवेरे ही मेले से चले?"

"अब वहाँ मेला कहाँ है!"

"क्यों? मेला समाप्त हो गया?"

"हाँ।"

"अरे, अभी तो उसे पंद्रह दिन और चलना चाहिए था।"

मेरे इतना कहने पर सब एक-दूसरे का मुँह देखने लगे। कोई कुछ बोला नहीं।

पर लगता है, उनमें से एक ने मुझे पहचान लिया। वह बोला, "आप··वासुदेव कृष्ण तो नहीं?"

मेरी स्वाभाविक मुसकराहट ही उसके उत्तर के लिए काफी थी।

सब हड़बड़ाकर नाव से उतरे। सबने मेरा चरण स्पर्श किया और चुपचाप एक पंक्ति में खड़े हो गए। सबकी निगाहें नीची और मुद्राएँ रहस्य से भरी हुईं।

"आप लोग इतने मौन क्यों हैं? कुछ बोलते क्यों नहीं? आखिर मेला इतनी जल्दी उठ कैसे गया?"

"अब तो आप जा ही रहे हैं, इसे स्वयं देख लीजिएगा।" उनमें से एक अत्यंत वृद्ध व्यक्ति बोला।

"क्यों, आप बता न सकेंगे?"

"यही समझ लीजिए।" इतना कहकर पुनः मेरा चरण छूना आरंभ किया।

उन्होंने मुझसे पिंड छुड़ाने में इतनी शीघ्रता की कि कहीं कुछ हमारे मुँह से निकल न जाए।

इतना आतंक, इतनी भयातुरता! बात कुछ समझ में नहीं आई।

इस स्थिति से हमारी आतुरता और बढ़ी। हम लोग यथाशीघ्र वहाँ से चल पड़े। अब संगम की ओर न जाकर हम लोगों ने थोड़ा आगे बढ़कर नदी पार की। मल्लाहों से पता चला कि यह मार्ग वारणावत नहीं जाता, पर वारणावत के पीछे घने अरण्य में चला जाता है। हम उसी पर बढ़ चले।

श्वेतकेतु ने मेरा विरोध किया—"यह हमारा गंतव्य नहीं है।"

"हमारा गंतव्य क्या है, इसे हम स्वयं नहीं जानते।" मैंने दार्शनिकों की मुद्रा में अत्यंत गंभीर होकर कहा।

वह चुप हो गया और हम आगे बढ़ते रहे।

मार्ग अरण्य में आकर समाप्त हो गया। अरण्य अत्यधिक घना था। इसमें रथ ले जाना कठिन था। अब हमारे सामने इसके सिवा कोई दूसरा रास्ता नहीं था कि रथ को उसके सारथि की देखरेख में यहीं छोड़ दें और अपने अश्वारोहियों के साथ आगे बढ़ें। फिर सोचा कि रथ को यदि यहीं छोड़ दिया जाएगा तो निकट के ग्रामवाले आकर दारुक को घेरेंगे, उससे पूछताछ करेंगे—और मैं अपनी इस यात्रा को प्रचारित करने के पक्ष में नहीं था।

मैंने दारुक से कहा, ''जहाँ तक जंगल में रथ ले चल सकते हो, चलो।''

उसने मन मारकर मेरी आज्ञा का पालन किया। न मार्ग था और न पगडंडी। वह बड़ी और घनी जंगली घास एवं वनस्पतियों पर रथ बढ़ाए चलता रहा। हमारे अश्वारोही साथी हमारे पीछे थे।

वृक्षों पर से पक्षी उड़ने लगे। मृगों का झुंड-का-झुंड हमें देखकर भागने लगा। पूरा जंगल खड़बड़ा गया। इस प्रयाण पर हमारे साथी चकित थे।

श्वेतकेतु ने पुनः कहा, ''आखिर आपने कौन सा रास्ता पकड़ा?''

''वही रास्ता पकड़ा है, जो रास्ता मेरा है।'' मैं मुसकराते हुए बड़े विश्वास से बोलता रहा—''मेरे जीवन का रास्ता सदा आरण्यक रहा है। मेरी उपलब्धियों ने मुझे घने अंधकारों के बीच से ही पुकारा है।''

मैं जब स्वयं को भी अपनों से छिपाना चाहता था, तब ऐसी दार्शनिक शब्दावलियों का प्रयोग करता था। वस्तुतः इस समय भी मैंने वही किया। मैं नहीं चाहता था कि मैं सीधे वारणावत चलूँ और पांडवों से मिलूँ। इससे तो हमारा संघ भी पांडवों के सहायकों में सम्मिलित हो जाता। हमें तो संसार की दृष्टि से दूर उस षड्यंत्र का पता लगाना था, जिसका जाल ऐसे घने जंगलों में ही बिछाया जाता है।

मैंने यह बात अपने मित्रों से भी कहनी उचित नहीं समझी। केवल आगे बढ़ता रहा।

थोड़ी दूर जाने पर मुझे मिट्टी का एक बड़ा ढूहा दिखाई दिया। मैंने वहीं रथ रोक लिया; क्योंकि उसके ऊपर रथ का चढ़ पाना कठिन था।

हम लोग पैदल ही ऊपर चले। वहाँ हमें एक बड़ी कंदरा दिखाई दी। मेरी कल्पना में अभी मुचुकुंद की कंदरा ताजा थी। मन वहीं चला गया।

''हो सकता है, वह किसी वन्य पशु की कोई गुफा हो।'' रक्ताक्ष बोला।

''पर यह मनुष्य निर्मित है, प्राकृतिक नहीं।'' मैंने कहा और उस ओर पुनः दृष्टि दौड़ाई—''देखते नहीं हो, यह खोदी हुई भी दो-चार दिनों की ही लगती है।''

मैं कुछ दूर तक उसके भीतर भी गया। ज्यों-ज्यों उसके भीतर घुसता रहा, उसकी चौड़ाई बढ़ती गई।

तब तक श्वेतकेतु चिल्लाया—"देखिए, अब आगे मत बढ़िएगा! आप जिस षड्यंत्र की बात करते थे, हो सकता है, उसका एक छोर यही हो।"

मैं रुक गया। पर मैं लौटा नहीं। वहीं से चिल्लाया—"मेरा धनुष-बाण लेते आओ!"

श्वेतकेतु तत्क्षण मेरा धनुष-बाण लेकर आ गया। मैंने एक बाण अभिमंत्रित कर उस गुफा के अंधकार के बीचोबीच चलाया। वह 'सर्र' से निकल गया। उसकी सनसनाहट बहुत देर तक सुनाई पड़ती रही। मेरा निष्कर्ष स्पष्ट था कि वह गुफा लंबी है और किसी प्रयोजन से ही बनाई गई है।

मैंने अपने साथियों से कहा कि इस जंगल में भी हमें इसी गुफा के समानांतर ही चलना चाहिए। इससे इसका रहस्य जानने में सरलता होगी।

हम आगे बढ़ते रहे। घड़ी भर चलने के बाद ही कुछ लोगों के साथ उद्धव मिला। उसके अस्त-व्यस्त बाल, अव्यवस्थित वस्त्र और उसकी भरी-भरी आँखों को देखते ही लगा जैसे कुछ हो गया है। वह पता नहीं कैसे लड़खड़ाता हुआ दौड़ता आया और लगा मुझसे लिपटकर फूट-फूटकर रोने। उसके साथी भी रो रहे थे।

हम सब बड़े संकट में पड़े। हे भगवान्! यह क्या हो गया? मैंने उससे बार-बार पूछा; पर रुलाई में उसकी बोली फूट नहीं रही थी।

बहुत पूछने पर उसने किसी प्रकार लड़खड़ाती आवाज में कहा, "पांडव जल मरे। बुआजी भी भस्म हो गईं।"

अब काटो तो खून नहीं। मुझे लगा कि मेरे नीचे की धरती खिसक गई और सिर पर आकाश घूमने लगा। मैंने बड़ी-बड़ी विपत्तियों का सामना किया था; पर इतना हताश कभी नहीं हुआ। मैं रथ पर टेक लगाकर मौन खड़ा हो गया। मेरा मन नियति देवता से पूछने लगा था—'इतने धर्मात्मा लोगों के लिए क्या यही अंत तेरे पास था? तूने क्या किया? क्या पृथ्वी पर अब अधर्म ही रहेगा? धर्म की अब यही गति होगी?'

मुझे ऐसा लगा जैसे कोई मुझसे कह रहा हो, 'तुम कर्ता नहीं, मात्र द्रष्टा हो। चुपचाप देखते जाओ। धर्म न पृथ्वी से कभी नष्ट हुआ है और न होगा।'

मेरी घबराहट किसीने जैसे सोख ली थी। मैं अब लगभग प्रकृतिस्थ हो गया था। मैंने उद्धव के साथ और लोगों को भी समझाया कि अब घबराने से क्या होगा। जो होना था, वह तो हो चुका। अब हमें आगे की सोचना चाहिए।

"आगे क्या धरा है कि हम सोचें!" उद्धव की व्याकुलता बोली, "वह पापी पुरोचन भी भस्म हो गया, जिसने उस विशाल भवन को बनाया था। यदि वह जीवित होता तो हम उसे पकड़कर बहुत सी बातें उगलवा लेते।"

"इसीसे तो वह भस्म हो गया या कर दिया गया, जिससे रहस्य रहस्य ही बना रहे।" मैंने उद्धव से कहा, "यह कोई बहुत बड़ा षड्यंत्र था।...पर षड्यंत्र की भी एक प्रकृति होती है। सफल या असफल होने पर—दोनों अवस्थाओं में उसमें दुर्गंध आ जाती है और अंत में सड़े शव की तरह बदबू फेंकता है। आज नहीं तो कल, इसका रहस्य खुलेगा ही।"

हम उद्धव के साथ ही वारणावत नगर में आ गए थे। मेला कब का उखड़ चुका था। लोग जा चुके थे। दुकानें उठ चुकी थीं; पर उनके कंकाल अब भी खड़े थे। संगम की रेत पर बने जन संकुल पदों के चिह्न न तो वायु मिटा पाई थी और न धूप सुखा पाई थी। स्पष्ट लग रहा था कि यह आज-कल की ही घटना है।

उद्धव ने हमें बताया कि परसों रात के तीसरे प्रहर यह सबकुछ हुआ। मध्य रात्रि तक तो वह ही उनके साथ था। फिर वह मंदिर में चला आया।

मेरे मन में तो क्रोध था कि जब छाया की तरह तुम्हें पांडवों के साथ लगे रहने के लिए भेजा था, तब तुमने उन्हें छोड़ा क्यों? पर मैंने बड़े सहजभाव से ही उद्धव से पूछा, "तुम स्वयं मंदिर की ओर गए थे या कोई तुम्हें ले गया था?"

उद्धव ने अब इस नए संदर्भ में सोचना शुरू किया—"मुझे ले तो कोई नहीं गया था, पर विरजा ने बताया था कि आज रात शिव का अद्‌भुत श्रृंगार होगा।"

"यह विरजा कौन है?"

"एक वृद्ध, अत्यंत सीधा-सादा व्यक्ति है। उसे पुरोचन ने मेरी सेवा में लगाया था।"

"अब वह कहाँ है?"

"मैंने बहुत खोजा, पर वह दिखाई नहीं दिया।"

"तब तुम भी षड्यंत्र के ही शिकार हुए।" मैंने मुसकराते हुए कहा, "हम लोगों ने तुम्हें भेजा था संभावित षड्यंत्र के प्रति सजग रहने के लिए और तुम स्वयं उसके जाल में फँस गए।"

उद्धव कुछ नहीं बोला। धरती में गड़ी उसकी आँखों में पश्चात्ताप की कालिमा स्पष्ट उभर आई।

मैंने दूसरा प्रश्न किया—"ऐसा तो नहीं कि विरजा भी उसीमें जल गया हो?"

"नहीं, ऐसा नहीं लगता।" उद्धव बोला, "भस्म हुए शव केवल सात थे, जिनमें एक स्त्री का और छह पुरुष के थे।"

"क्यों? जिसे तुम पुरोचन का शव समझते हो, वह विरजा का नहीं हो सकता?"

"हो सकता है; क्योंकि शव इतने जल गए थे कि उनकी कोई पहचान शेष नहीं रह गई थी।" फिर उद्धव सोचने लगा और वह निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचते हुए

बोला, ''नहीं-नहीं, वह विरजा का शव नहीं हो सकता; क्योंकि जिस समय वह भवन जल रहा था उस समय विरजा मेरे साथ मंदिर में था।''

अब मेरे मन में एक दूसरी ही बात आई—''जब शव पहचाने नहीं जा सकते थे तब तुम कैसे कह सकते हो कि वे शव पांडवों के ही थे?''

''लोगों का अनुमान यही है।''

''अनुमान प्रमाण का एक आधार होता है; पर याद रखना, वह कभी प्रमाण नहीं होता।'' इतना कहते समय मेरे मन में जंगल में निकलनेवाली वह गुफा भी थी। पर मैं उसके संबंध में कुछ बोला नहीं।

मेरे मन में उस जले हुए भवन को देखने की लालसा थी; पर मैंने शिव मंदिर में चलकर दर्शन करने की इच्छा व्यक्त की और उद्धव के साथ मंदिर की ओर चला।

अब तक मेरे आने की सूचना मेले में व्यवस्थापकों को लग चुकी थी। सभी हस्तिनापुर के राजकर्मचारी थे। मंदिर से निकलते ही सबने मुझे घेर लिया। सबकी आँखें भरी हुई थीं। उनकी मौन आकृतियाँ हमें बड़ी विवशता से निहारती रहीं।

''मैं आया था मेले का आनंद लेने और बुआ तथा अपने भाइयों से मिलने; पर मेरा दुर्भाग्य देखिए कि अब मैं उनके शवों का ही दर्शन कर सकूँगा।'' मैंने कहा, ''कितना अभागा हूँ मैं!''

''पर अब शव भी कहाँ देखने को मिलेंगे!'' उन कर्मचारियों में से एक बहुत धीरे से बोला।

''क्यों?''

''उनकी अंत्येष्टि कर दी गई है।'' फिर उसने अपने कथन का थोड़ा विस्तार किया—''युवराज दुर्योधन कल ब्राह्म मुहूर्त में ही आए थे और शवों को राजकीय सम्मान के साथ अंत्येष्टि करने के लिए हस्तिनापुर ले गए।''

''अर्द्ध रात्रि में अग्निकांड हुआ और सवेरा नहीं हुआ था कि युवराज आ गए। लगता है, उन्होंने स्वयं में ही यह अग्निकांड देख लिया होगा।''

मैंने षड्यंत्र की ओर गहरा संकेत किया था। मेरे इस तीखे व्यंग्य की कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। सबकी आकृतियों पर एक प्रकार का अपराधबोध उभर आया; पर उनकी जबानों पर भय, आतंक और अनुशासन का दही जमा था। यद्यपि उनको देखने से स्पष्ट लग रहा था कि इनके पास कहने को बहुत कुछ है, पर ये कह नहीं पा रहे हैं। मैंने उनपर दबाव भी नहीं डाला।

मैंने उद्धव से पूछा, ''तुम बुआ और भाइयों की अंत्येष्टि में नहीं गए?''

''मुझे तो इसकी कोई सूचना ही नहीं दी गई।'' उसे लगा जैसे उसने बड़ी

गलती की है।

"तुम्हें सूचना लेने के लिए भेजा गया था। तुम क्या समझते हो कि सूचना को स्वयं चलकर तुम्हारे पास आना चाहिए था!"

मेरे इतना कहने पर उद्धव की आकृति काली पड़ने लगी थी। उसे लगा कि सचमुच मैंने अपने कर्तव्य का निर्वाह नहीं किया, बड़ी बेफिक्री बरती।

उसके मुख से निकल पड़ा—"सचमुच मैं अपने कर्तव्य का पालन न कर सका।"

मैंने अनुभव किया कि उसका धैर्य विचलित हो रहा है। मैंने उसे सँभाला—"जब जो होना रहता है, होकर रहता है। इसमें तुम्हारा कोई अपराध नहीं। यह भी हो सकता है कि दुर्योधन को तुम्हारे यहाँ होने की सूचना ही न मिली हो, अन्यथा वह अंत्येष्टि में तुम्हें अवश्य ले जाता।"

"नहीं, ऐसी बात नहीं थी। उन्हें सब सूचना दी गई थी।" राजकर्मचारियों में से एक धीरे से बोला—और सारे कर्मचारी उसे घूरकर देखने लगे; जैसे उसने इतना कहकर कोई अपराध किया हो।

फिर मैंने बात को आगे बढ़ाना उचित नहीं समझा।

अब मैं उस भवन को देखने चला, जिसकी भव्यता की बड़ी चर्चा थी; पर जिसके जलने और राख होने का समय स्वयं सिमटकर बौना हो गया था। देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। भवन के उस विशाल परिसर में केवल राख का ढेर था।

मैंने बड़े नाटकीय ढंग से प्रणाम किया और बोला, "धन्य हो, अग्निदेवता! तुम्हारी माया अपरंपार है। मैंने बहुत से जले भवन देखे हैं; पर ऐसा नहीं देखा है, जिसमें भवन तो भवन, उसका अस्तित्व भी भस्म हो गया हो।"

अब मेरा हर शब्द राजकर्मचारियों पर भारी पड़ रहा था। अब उनकी आकृतियों के बदलते रंग इस षड्यंत्र में उनकी भागीदारी की साक्षी देने लगे थे। वे यथाशीघ्र हमें छोड़ देना चाहते थे—और मैं भी अब उन्हें अपने साथ रखना उचित नहीं समझता था। मैंने उनसे कहा कि अब आप लोग जाएँ। हम भी शिव मंदिर पर जाकर दिवंगत आत्माओं के लिए शांति की प्रार्थना करेंगे।

वे तो यही चाहते थे। मेरे कहते ही वे सबके सब फुर्र से उड़ गए।

मैं शिव मंदिर पहुँचा। अब मैं उद्धव को अपने साथ रखकर अपने और साथियों से बोला, "आप लोग चाहें तो संगम पर चले जाएँ और वहीं भोजन-पानी की व्यवस्था करें। मैं अत्यधिक अशांत हूँ। कुछ समय तक यहीं विश्राम करूँगा।"

लोगों ने मेरा तात्पर्य समझ लिया कि मैं कुछ समय तक एकांत चाहता हूँ। लोग चले गए। मेरा मन परिस्थितियों के विश्लेषण में लग गया।

थोड़ी देर बाद मैंने उद्धव से कहा, ''देखो, दो दिन पहले यहाँ कितनी चहल-पहल रही होगी; पर इस समय कोई नहीं है। यहाँ तक कि पुजारी का भी पता नहीं है। यही इस जीवन की नियति है। लगता है, यह सन्नाटा ही शाश्वत है। सृष्टि के पूर्व भी यही था और प्रलय के बाद भी यही रहेगा। जीवन तो कुछ समय के लिए इस सन्नाटे को तोड़ता है; जैसे भाद्रपद की काली घटा के बीच बिजली चमकती है।''

एक बात मैं स्पष्ट कर दूँ कि मेरे जन्म के समय भादों की काली अँधियारी रात मेरे चिंतन से इतनी चिपकी थी कि जब भी मैं गंभीर होता, वह किसी-न-किसी रूप में अवश्य उपस्थित हो जाती।

मैं बोलता रहा। ऐसे विनाश के समय जीवन की नश्वरता स्वयं बोलने लगती है। इस समय भी मेरी जिह्वा से वही बोल रही थी। उद्धव मौन हो सुनता गया। वह पश्चात्ताप और अपराधबोध से बोझिल दिखाई दिया। उसकी भरी-भरी आँखें मानो कह रही थीं, अच्छा होता कि आप यहाँ न भेजते। मैं न आता, तब भी इससे अधिक और क्या होता? आखिर मेरे आने से लाभ क्या हुआ?

मैंने देखा कि उद्धव का पश्चात्ताप बढ़ता ही जा रहा है। यह स्थिति उसके लिए घातक हो सकती थी। प्रबल भाष्य से घट फट सकता था। मैंने उसे समझाना आरंभ किया—''उद्धव, तुम सोचते हो कि तुम्हारा कर्म व्यर्थ गया। कर्म की व्यर्थता और सार्थकता पर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं। केवल कर्म पर तुम्हारा अधिकार था—और तुमने अपना कर्म किया। फल तो तुम्हारे वश में नहीं था और न उसपर तुम्हें सोचना चाहिए।...तुम क्या, यदि तुम्हारी जगह मैं भी यहाँ आता, तो भी यह घटना घटती।''

''तब यह घटना न होती, महाराज!'' मंदिर के भीतरी प्रकोष्ठ से एक वृद्ध की काँपती आवाज आई। लगता है, वह हमारी आवाज भीतर बैठा-बैठा सुन रहा था और रंगमंच पर अचानक प्रवेश करनेवाले एक अभिनेता की तरह आकर मेरे चरणों पर गिर पड़ा—''आप क्षमा करें, महाराज! मैं बड़ा पापी हूँ। इस सारे पापकर्म का एक बड़ा भागीदार मैं भी हूँ।''

अचानक उद्धव के मुँह से निकला—''अरे, विरजा, तुम यहीं हो!''

''हाँ, महाराज, मैं यहीं हूँ। जब वह लाक्षागृह जला तब भी मैं यहीं था और अब भी मैं यहीं हूँ। पुरोचन तो जल गया। उसने अपने पापों का फल पा लिया; पर मैं अब भी जल रहा हूँ। मैं इस शिवालय में भी जल रहा हूँ। सोचा था कि शायद यहाँ शांति मिल जाए; पर यहाँ भी मैं अशांत हूँ। मेरी अंतराग्नि जलती रही। वह जीवन भर जलती रहेगी और मैं उसमें जलने के लिए जीता भी रहूँगा।''

मैंने विरजा को उठाया। ढाढ़स दिया। समझाया—''तुम तो मात्र निमित्त हो।

तुमने जो किया, यदि तुम न करते तो कोई और करता। रह गई तुम्हारे पापों की बात, तो मेरे वृद्ध मित्र, पश्चात्ताप के आँसू बड़ी-से-बड़ी पापाग्नि को बुझा देते हैं। उसके लिए कुछ और नहीं करना होता है।''

इसके बाद विरजा फूट-फूटकर रोने लगा। उसकी यह रुलाई अपने अपराध की स्वीकारोक्ति थी। पर मैं समझ नहीं पा रहा था कि इस विशाल भवन को इसने 'लाक्षागृह' क्यों कहा?

जब उसकी सिसकियाँ थमीं तब उसने पूरी कहानी बताई। जो कुछ कहा, उसका सारांश था—'हम सब उस षड्यंत्र के भागीदार थे, जिसे आज से कई महीने पूर्व युवराज दुर्योधन और उसके मामा शकुनि द्वारा हस्तिनापुर में बनाया गया था। पुरोचन से वारणावत में एक ऐसा विशाल प्रासाद बनाने के लिए कहा गया था, जो वास्तुकला का अद्भुत नमूना हो; पर जिसमें यदि आग लगाई जाए तो उसे भस्म होने में घड़ी भर से अधिक समय न लगे। वही वह 'शिवम्' था लाक्षागृह—लाख का भवन!'

''तो वह पूरा भवन ही लाक्षा का था?'' उद्धव ने जिज्ञासा की।

''जी हाँ, वह सन, राल, मूँज, बल्वज, बाँस आदि से बनाया गया था। तभी तो फक से जल गया।''

''इतना बड़ा षड्यंत्र रचा गया और इसका किसीको आभास नहीं।''

उसने बड़े अफसोस से सिर हिलाकर कहा, ''नहीं, किसीको कोई भी आभास नहीं लगा।···और लगता भी कैसे? किसीको अपनी जान से हाथ तो धोना नहीं था!'' इसी सिलसिले में उसने बताया—''युवराज का स्पष्ट आदेश था कि जिसपर भी शंका हो, उसे तुरंत समाप्त कर दो। किसी प्रकार की खोजबीन की कोई आवश्यकता नहीं।''

इतना कहते-कहते उसका गला भर आया; पर वह बोलता गया—''हमारा एक साथी था। पता नहीं कैसे वह विदुर के आवास के बाहर देख लिया गया। फिर दूसरे दिन यमुना के किनारे उसका शव ही मिला। फिर तो हर व्यक्ति की जीभ पर ताला था और हाथों तथा पैरों में आतंक भरे अनुशासन की बेड़ियाँ।''

इसके बाद विरजा चुप हो गया। उसकी आँखें अब भी रिसती रहीं।

''तो तुम्हारा विश्वास है कि मेरी बुआ और पांडव निश्चित रूप से जल मरे?'' मैंने पूछा।

उसने स्वीकारात्मक ढंग से सिर हिलाया। फिर बोला, ''पर आप क्या समझते हैं?''

''मैं तो कुछ समझ नहीं पा रहा हूँ।'' मैंने कहा, ''हम सब एक ऐसी शक्ति से

निर्मित हैं, जो अखंड और अनंत है—और हमारी दृष्टि खंडित है। हम जब उस अखंड को देखते हैं तब खंडित दृष्टि से ही देखते हैं। मात्र उसका एक खंड ही देख पाते हैं। बहुत कुछ वह हमारे लिए अदृश्य ही रहता है। इस घटना का भी बहुत कुछ हमारे लिए अदृश्य ही है।''

विरजा चुप हो मेरा मुँह देखने लगा। उस समय यही स्थिति उद्धव की भी थी। धीरे-धीरे सूर्य पश्चिम की ओर बढ़ने लगा। संध्या निकट आने लगी। मैंने श्वेतकेतु को बुलाया और उससे द्वारका जाकर सारा समाचार कहने को कहा।

वह बड़े असमंजस में पड़ा कि यह समाचार कैसे वहाँ सुना सकूँगा!

फिर मैंने उसे समझाया—''समाचार तो देना ही है। मैंने अपनी माँ को वचन दिया था कि जो भी सूचना मिलेगी, उससे अवगत कराऊँगा। तो इसमें घबराने की क्या बात है? तुमने जो कुछ देखा और सुना है, उसे बता देना। फिर मेरी ओर से कहना कि कन्हैया को अब भी बहुत कुछ रहस्यमय मालूम हो रहा है। वह अपनी ओर से बहुत कुछ कहने की स्थिति में नहीं हैं।''

''सचमुच आपको अब भी रहस्य मालूम होता है?'' उद्धव बोला—जैसे उसे मेरी बात का विश्वास ही न हो।

अब मेरी स्वाभाविक मुसकराहट उभर आई—''क्यों, तुम्हें मेरा विश्वास नहीं? अरे, सबसे बड़ा रहस्य तो यही है कि इतना बड़ा कांड हो गया और छंदक का कहीं पता ही नहीं।''

अब उद्धव का ध्यान छंदक की ओर गया—''हाँ, वह यहीं था। मेरे यहाँ आने के पहले से ही यहीं था। उसने मुझे बताया था कि मैं मेले के आरंभ से ही यहाँ हूँ। पर इस अग्निकांड के बाद से तो उसका पता ही नहीं।''

''बस यही रहस्य है—और इसे ऐसे ही रहने दो।'' मैंने मुसकराते हुए कहा।

विरजा अब विचित्र मनःस्थिति में था। वह मुझे एकटक निहारता गया। उद्धव भी कुछ हलकेपन का अनुभव कर रहा था।

□

दो
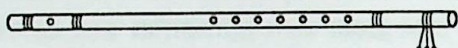
हस्तिनापुर में पहुँचने के पूर्व ही मेरे आगमन की सूचना विधिवत् मालूम हो चुकी थी। मेरे स्वागत की तैयारी पूरी हो गई थी। नगर के मुख्य द्वार पर पहले से ही फूलों और अशोक के पत्तों से कई स्वागत द्वार बनाए गए थे। एक ओर ऐसा अग्निकांड कि पांडवों का अस्तित्व ही समाप्त हो गया। प्रजा शोक में आकंठ मग्न और दूसरी ओर ऐसा अभिनंदन! धधकते ज्वालामुखी पर हरियाली बिछाने का एक असफल प्रयास जैसा लगा।

यह सब मेरे लिए बड़ा विचित्र रहा। फिर भी मैं कुछ कहने की स्थिति में नहीं था। पहले ही पुष्पद्वार पर दुर्योधन आकर मिला। मैं तो गया था अपनी बुआ एवं भाइयों के निधन पर शोक व्यक्त करने और वह ऐसे मिला जैसे किसी समारोह के लिए अगवानी कर रहा हो। कोई दूसरा व्यक्ति होता तो मैं डाँटता-झिड़कता; पर मैंने उससे कुछ नहीं कहा। एक बात यह भी थी कि वह वय में मुझसे बड़ा था। वह और भीमसेन एक ही दिन पैदा हुए थे। मैं तो अर्जुन का समवयस्क था। फिर वह दुःखी दिखाई नहीं दिया। उसका काँटा हमेशा के लिए निकल गया था। उसकी हार्दिक प्रसन्नता ही इन पुष्पद्वारों पर खिलखिला रही थी।

जब मुख्य द्वार से प्रविष्ट होने के पहले मेरा तिलक करके आरती उतारी जाने लगी तब मैं चुप न रह सका—"यह सब क्या हो रहा है?" मैंने कहा, "एक ओर तो मेरा मन रो रहा है। मेरी बुआ और पांडवों को कालाग्नि निगल गई है और दूसरी ओर आप यह नाटक लगाए बैठे हैं!"

दुर्योधन तो चुप रह गया, पर मामा शकुनि ने लगाम सँभाली—"बात यह है, वत्स, कि तुम द्वारकाधीश होने के बाद पहली बार हस्तिनापुर आ रहे हो, इसलिए यह सब करना आवश्यक था। अन्यथा लोग यही समझते कि हम तुम्हारे सिंहासनारूढ़ होने से जलते हैं। यों तो दुर्योधन की इच्छा नहीं थी। वह तो कुछ करना ही नहीं चाहता था। वह बेचारा तो इतना दुःखी है कि क्या बताऊँ!"

"हाँ, उन्हें दुःखी तो मैं भी देख रहा हूँ।" मेरा व्यंग्य इतना तीखा था कि

दुर्योधन तो तिलमिला गया। यों मेरे व्यंग्य की धार का अनुभव सबको हुआ।

शकुनि ने दुर्योधन को कुछ संकेत किया। वह उसका स्वभाव जानता था। वह मेरे व्यंग्य पर कुछ बोलना चाहता था; पर चुप ही रह गया। इधर मैं आरती के सामने से हट गया। स्वागत का सारा खेल बच्चों के घरौंदों की तरह एक क्षण में मिटा दिया गया।

नगर परिसर में प्रवेश करते ही दुर्योधन, उसके भाइयों और शकुनि से अच्छी तरह मैं घेर लिया गया।

''पांडवों की याद दिलाकर तो आपने मेरे घाव को हरा कर दिया।'' दुर्योधन बोला।

मेरे मन में आवाज उठी—'घाव तो हरा नहीं था। हाँ, तेरे मन में हरियाली अवश्य हिलोरें ले रही है।' पर मैं कुछ बोला नहीं।

उद्धव बोल पड़ा—''भैया, आप बड़े भाग्यवान् हैं कि आपका घाव इतनी जल्दी भर गया।''

दुर्योधन ने एक जलती दृष्टि उद्धव पर डाली। शकुनि ने फिर उसे आँखों से तरेरा और वह शांत हो गया।

मेरे आने का समाचार यद्यपि प्रचारित नहीं किया गया था, फिर भी जंगल की आग की तरह सारे नगर में फैल गया। झुंड-के-झुंड नगरवासी मेरा दर्शन करने आने लगे। इसमें बाल, वृद्ध, युवा सभी थे। सभी की आँखों से झाँकता हुआ समुद्र छलकने के लिए उद्मत्त था। बढ़ती हुई भीड़ से दुर्योधन चिंतित लगा। उसने अपने सैनिक अधिकारियों को निर्देश दिया कि जनता से अतिथियों को दूर रखो। षड्यंत्र की एक विशेष प्रकृति होती है। वह रहस्य में ही जीता है और दूसरों को भी रहस्य में ही रखना चाहता है।

मुझे भी रहस्य में ही घेर लेने की चेष्टा की गई। नगरवासियों से हमें मिलने न देने की भरपूर कोशिश की गई। पर मैंने उनके सैनिकों को डाँटकर भगा दिया— ''इतने दिनों के बाद तो मैं हस्तिनापुर आया हूँ; क्या तुम लोग मुझे नगरवासियों से मिलने भी नहीं दोगे! अरे, मेरी मन:स्थिति समझने की चेष्टा करो। मेरी बुआ चली गई। मेरे भाई भी उसीके साथ हो लिये।'' इतना कहते-कहते मेरी आवाज भारी होकर आँखों से पिघलकर बहने लगी।

दुर्योधन का नाटक साफ समझ में आता था; क्योंकि वह नट नहीं था। नाटक की कला उसके पास नहीं थी। पर मैं तो नटराज हूँ। मेरा नाटक यथार्थ से अधिक प्रभावशाली हुआ। सारी भीड़ सिसकने लगी। इस सिसकन में उनके संवेदनात्मक वाक्य भी डूब गए। कोई-कोई तो दहाड़ें मारकर रो रहे थे।

"हमें विश्वास नहीं था कि उनके साथ ऐसा होगा।" यह उस सिसकन के सागर से उभरता भीड़ का लगभग समवेत स्वर था, जो पांडवों के साथ हुए धोखे की उद्घोषणा कर रहा था।

एक बूढ़ा भीड़ को चीरता मेरे निकट आया और बोला, "बड़े अच्छे थे वों लोग। भगवान् उनकी आत्मा को शांति दे। जब तक युधिष्ठिर हस्तिनापुर के युवराज थे तब तक यहाँ धर्म का शासन रहा। प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट नहीं था।"

वह इतना ही कह पाया था कि तब तक उसका हाथ पकड़कर एक सैनिक मेरे सामने से ले गया। मुझे यह बड़ा खराब लगा। पर मैं कुछ कर पाने की स्थिति में नहीं था। मैंने रक्ताक्ष को उसके पीछे लगा दिया; क्योंकि रक्ताक्ष ही एक ऐसा व्यक्ति था, जिसे हस्तिनापुर की कोई भी आँख पहचानती नहीं थी।

रक्ताक्ष ने बाद में सूचना दी कि उस वृद्ध को वे लोग घसीटते हुए एक निर्जन स्थान पर वट के नीचे ले गए। थोड़ी देर बाद वहाँ दुर्योधन भी पहुँचा। उसके हाथ में कशा (चाबुक) थी। उसने दाँत पीसते हुए वृद्ध से पूछा, "क्यों रे, युधिष्ठिर के समय धर्म का शासन था और मेरे समय अधर्म का है?"

वृद्ध भय से काँपने लगा। वह बोल नहीं पाया।

"उस समय प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट नहीं था और इस समय कष्ट है? बोलता क्यों नहीं? क्या कष्ट है तुझे?" इतना कहते-कहते उसने अपनी कशा धरती पर दे मारी। अब बूढ़ा गिड़गिड़ाते हुंए दया की भीख माँगने लगा।

"तुझे यहाँ सबकुछ खराब ही लगता है तो मेरा राज्य छोड़कर चला जा।"

वह पुन: गिड़गिड़ाया—"मैंने इस दृष्टि से नहीं कहा था।"

"तब तुमने किस दृष्टि से कहा था?"

वह काँपते हुए बड़े संकोच से बोला, "दिवंगत आत्मा की प्रशंसा करना एक परंपरा है। मैं तो उस परंपरा का निर्वाह कर रहा था।"

"अब यदि तेरे मुख से उसके सामने कुछ निकला तो समझ ले, ठीक नहीं होगा।" दुर्योधन ने फिर दाँत पीसते हुए कहा। वह तड़प सकता था; पर उसे भय था कि उसकी ध्वनि दूर जाती और भीड़ वहाँ चली आती।

फिर भी उस वृद्ध के अड़ोसी-पड़ोसी, सगे-संबंधी, जो उसे सैनिकों द्वारा खींच कर ले जाते देख चुके थे, उसे खोजते-खोजते उस वट के पास पहुँचने लगे थे। स्थिति को नियंत्रण के बाहर होते देखकर शकुनि ने फिर दुर्योधन को संकेत किया और दुर्योधन ने उसे छोड़ दिया।

जब वृद्ध अपने लोगों से मिला तो लोगों ने उसका कुशलक्षेम जानना चाहा। वह कुछ नहीं बोला। उसके विस्फारित नेत्र अग्निग्रस्त आतंक का लाक्षागृह देख रहे थे।

जब वह प्रकृतिस्थ हुआ और लोगों ने उससे कुछ बताने के लिए दबाव डाला, तब उसने चारों ओर देखकर बड़े धीरे से कहा, ''युवराज यह बता रहे थे कि द्वारकाधीश का अभिनंदन कैसे करना चाहिए।''

''क्या बताया उन्होंने ?''

''उन्होंने यही बताया कि राजा-महाराजाओं का केवल दर्शन करना चाहिए, उनसे बातें नहीं।'' इतना कहकर वृद्ध जो चुप हुआ, सो फिर नहीं बोला।

लोग तरह-तरह के प्रश्न पूछते रहे।

हमारे ठहरने का प्रबंध प्रासाद परिसर के एक भव्य गृह में किया गया। यह अतिथिगृह से अलग था। हमें उधर ले जाया जाने लगा।

उद्धव ने धीरे से मेरे कान में कहा, ''किसी विशेष गृह में ठहरना उचित नहीं। न ही हम अतिथिगृह में ही ठहरें।''

उद्धव का अब दूध से जला अनुभव मट्ठे को भी फूँककर पीने की स्थिति में था।

मैंने शकुनि मामा से कहा, ''सबसे पहले तो मैं फूफाजी (धृतराष्ट्र) से मिलकर उनकी पीड़ा में सम्मिलित होना चाहता हूँ।''

शकुनि ने दुर्योधन की ओर देखा और बोला, ''हम तो चाहते थे कि आप पहले चलकर जलपान करें, आराम करें, फिर किसीसे मिलने का कार्यक्रम बनाएँ।''

''ऐसी स्थिति में आप जलपान और आराम की बात सोचते हैं, मामाजी! अरे, भीतर तो आग लगी है।'' मैंने कहा।

शकुनि ने तुरंत हमारी हाँ में हाँ मिलाई—''मैं आपकी मनःस्थिति समझता हूँ। पर क्या किया जाए! जो नहीं होना था, वह तो होकर ही रहा। अपने वश में तो कुछ रहा नहीं।''

मन ने तुरंत कहा, 'सबकुछ तुम्हारे वश में था। मैं तुम्हारा सारा नाटक समझता हूँ। सबके सूत्रधार तो तुम्हीं हो।'

इसके बाद मेरे अन्य लोगों को अतिथिगृह की ओर भेज दिया गया। मुझे और उद्धव को धृतराष्ट्र के पास लाया गया।

लगता है, मेरे आने की सूचना वहाँ पहुँचने के पहले ही पहुँच चुकी थी। धृतराष्ट्र अपने सिंहासन पर बैठे मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। भवन में पहुँचते ही मेरी आहट उन्हें लग गई।

सिंहासन से उठकर वहीं खड़े-खड़े वे चिल्ला पड़े—''आओ द्वारकाधीश, आओ।'' और फिर सिसकियाँ लेते हुए बोले, ''तुम बड़ी विपत्ति के समय पधारे हो।''

मैंने उनके पाँव छुए। उन्होंने अपने वक्ष से लगाया ही था कि शकुनि के साथ

दुर्योधन आकर उनके पीछे खड़ा हो गया।

आँसुओं से भीगी और दुःख की आह से तप्त उनकी वाणी लड़खड़ा रही थी— ''मैंने स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि हस्तिनापुर पर ऐसा वज्रपात होगा और पांडव मेरे जीवित रहते मुझे छोड़कर चले जाएँगे। जाने का समय तो मेरा है, तातश्री का है, पितामही का है; पर हमको यह महान् कष्ट भोगने के लिए नियति ने छोड़ दिया और हमारे श्रवणकुमार जैसे बेटों को उठा ले गई।''

वे ऐसे फूट-फूटकर रो रहे थे जैसे उन्हें षड्यंत्र का आभास तक न हो। मेरे मन ने कहा, 'हो भी सकता है कि ऐसा ही हो। शकुनि और दुर्योधन की दुरभिसंधि के कवच के नीचे ही यह षड्यंत्र निर्मित हुआ हो।'

मैंने उन्हें ढाढ़स बँधाया। बोला, ''आप तो इतने बड़े ज्ञानी हैं। आखिर भवितव्यता पर किसका अधिकार है! हम क्या कर सकते हैं, सिवा रोने और कलपने के!''

मेरे कथन पर शकुनि ने सबसे अधिक सिर हिलाया। दुर्योधन भी अपने घड़ियाली आँसू पोंछने लगा।

अब धृतराष्ट्र कुछ प्रकृतिस्थ हुए। फिर बोलने लगे—''क्या दिन थे वे, जब कौरव और पांडव मिल-जुलकर यहाँ की सत्ता चलाते रहे! कितने प्रसन्न और आह्लादित! कोई समझता ही नहीं था कि ये सगे भाई नहीं हैं। दोनों हस्तिनापुर उपवन की शोभा थे। दोनों पर उपवन गर्व करता था।...पर...पर आज पांडवों के चले जाने के बाद हस्तिनापुर व्यथाकुल है।''

उद्धव चुप था। पर अब उससे रहा नहीं गया। उसने धीरे से मेरा हाथ दबाया, जिसका तात्पर्य था कि यह अंधा कितना झूठ बोल रहा है।

पर धृतराष्ट्र की सिसकन के सामने उनका प्रतिकार करने का साहस नहीं था। फिर मैं शोक प्रदर्शित करने गया था। आर्य मर्यादा के अनुसार ऐसे अवसरों पर विवाद शोभनीय नहीं।...और फिर उनकी बगल में बैठी गांधारी तो फूट-फूटकर रो रही थी। उसके आँसू थमना ही नहीं जानते थे। सचमुच उस षड्यंत्र की गंध तक नहीं लगी थी उसे। पर धृतराष्ट्र तो नाटक कर रहे थे। अब उनके झूठ बोलने से मैं भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचा था।

पर उद्धव बोल ही पड़ा—''वह प्रयाण कोटवाली घटना क्या थी?''

इतना सुनना था कि धृतराष्ट्र पर पहाड़ टूट पड़ा। उन्हें तो विश्वास ही नहीं था कि हम लोग यहाँ की स्थिति और पांडवों के साथ हुई एक-एक घटना से परिचित हैं। धृतराष्ट्र चुप हो गए। गांधारी भी मौन हो गई। दुर्योधन की आँसू बरसाती आँखों से चिनगारियाँ बरसने लगीं। वह कुछ बोलने ही वाला था कि शकुनि ने उसे चुप रहने का संकेत किया।

इसके बाद हम लोग वहाँ से चले आए। हमें अपने निर्दिष्ट भवन की ओर ले जाया जाने लगा। उद्धव का अब भी सोचना था कि हमें अब अनजान स्थान पर नहीं रहना चाहिए। क्यों न हम विदुरजी के यहाँ रहें!

मेरी भी इच्छा यही थी। पर उन सबका दबाव ऐसा था कि मैं कुछ कह नहीं पा रहा था। हम नए भवन की ओर आगे बढ़े चले जा रहे थे; पर गति धीमी थी। इसी बीच एक विचित्र बात हुई। मैंने देखा, मेरा सारथि दारुक एक जलती मशाल लिये दौड़ा चला आ रहा था। दिन में और जलती हुई मशाल! हम सभी आश्चर्यान्वित! दुर्योधन और शकुनि भी एकदम चकित। दारुक यह क्या करने जा रहा है?

वह हमारी बगल से ही निकल गया। हम इतने अचंभित थे कि न हम उसे रोक पाए और न उससे कुछ पूछा ही। वह सीधे उस भव्य भवन तक पहुँच गया, जिसमें मुझे ठहराने की व्यवस्था थी।

हमने देखा कि दारुक अपनी मशाल बाहर की दीवारों पर सटा रहा है। फिर वह भीतर घुस गया। आश्चर्य है, द्वारपाल भी उसे रोक नहीं पाए। भीतर भी वह दीवारों को मशाल से जलाने की चेष्टा कर रहा होगा, मैंने सोचा और मैं एकदम उस भवन की ओर भागा। मेरे साथ अन्य सभी लोग थे।

''क्या हो गया इसे?'' दुर्योधन बोला, ''कहीं पागल तो नहीं हो गया?''

मैंने द्वार पर पहुँचते ही दारुक को पुकारा। मेरी आवाज सुनते ही वह जलती मशाल लिये बाहर आया।

''अरे हनुमानजी, यह सोने की लंका नहीं है।'' मैंने कहा।

''सोने की तो नहीं है, इसे मैं भी देख रहा हूँ।'' दारुक बोला, ''मैं तो पता लगा रहा था कि यह लाख का तो नहीं है। सोने की जली हुई लंका में रावण बच गया था; पर लाख के भवन में आप ऐसे जल जाएँगे कि आपके अस्तित्व का भी पता नहीं चलेगा।''

उसकी बात पर हम सब हँस पड़े। दुर्योधन और शकुनि हक्के-बक्के-से एक-दूसरे को देखते रह गए।

□

दारुक ने अच्छी तरह परीक्षा कर ली थी, यह भवन निरापद है। अब इसमें ठहरने से कोई खतरा नहीं है। हम लोगों ने उसीको अपना निवास बनाया। यह भवन इतनां विशाल था कि जो लोग हमारे साथ आए और अतिथिभवन में ठहरे थे, हमने उन्हें भी इसी भवन में बुला लिया।

संध्या होते-होते द्वारपाल ने सूचना दी कि आपसे कोई मिलना चाहता है।

''तो भेजा क्यों नहीं?''

"कैसे भेजता?" मेरे पूछने पर उसने कहा। उसके समक्ष राजकीय निर्देश की बाधा थी। बिना नाम-पता जाने किसीको भीतर जाने देना उसके लिए कठिन था। उसने स्पष्ट कहा, "उसे तो मैं जानता ही नहीं हूँ। फिर वह हस्तिनापुर का भी नहीं है। नाम पूछा तो बोला कि इससे तुमसे मतलब! मैं तो कन्हैया के सामने अप्रत्याशित उपस्थित होकर एक विशेष समाचार सुनाकर उन्हें सुखद आश्चर्य में डाल देना चाहता हूँ।"

मैं सोचने लगा, ऐसा कौन सा समाचार हो सकता है। मेरी उत्सुकता आशंका के ऊपर छा गई।...हो सकता है, पांडवों के संबंध में कोई समाचार लाया हो। मैंने आदेश दिया—"आगंतुक को ससम्मान ले आओ।"

सात्यकि दूर से मुझे देखते ही मुसकराने लगा। निकट आते ही बोला, "बधाई हो, मित्र, बधाई हो!" फिर वह मौन हो मुसकराता रहा। मेरी उत्सुकता बढ़ती गई।

वह और निकट आया तथा कान में धीरे से बोला, "आपको पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई है।"

मैं पिता बन गया। सचमुच प्रसन्नता की बात थी ही। किंतु इस शोकाकुल अवस्था में मेरे लिए प्रसन्नता व्यक्त करना ठीक नहीं था। शायद इसीलिए उसने मुझे समाचार भी धीरे से कान में ही दिया था। मैंने केवल उद्धव को बताया। वह भी बड़ा प्रसन्न हुआ।

"मैंने इतने दिनों तक द्वारका में प्रतीक्षा की, तब वह नहीं हुआ।"

"जिस दिन आप आए, उसके तीसरे दिन ही रुक्मिणी ने शिशु को जन्म दिया।" सात्यकि बोला, "पहले तो हम लोगों ने आपकी प्रतीक्षा की। सोचा, आप शीघ्र ही लौट आएँगे; पर जब श्वेतकेतु ने समाचार सुनाया और बताया कि हो सकता है, उन्हें लौटने में वर्षों लग जाएँ, तब माताजी ने मुझे भेजा।"

"तब तो वह अब कई महीनों का हो गया होगा?"

"हाँ, सात महीने के ऊपर का है।"

"है कैसा?"

"एकदम कामदेव जैसा!"

"तब तो प्रद्युम्न ही समझो।" मैंने हँसते हुए कहा—और यही उसका नाम हो गया। बिना आचार्य के, बिना किसी मुहूर्त के, बिना किसी उत्सव के और बिना किसी यज्ञादि के यह नामकरण संस्कार भी अद्‌भुत था।

तब तक सेवक ने आकर सूचना दी कि पितामह से मिलने का समय हो गया है। वे प्रतीक्षा कर रहे होंगे। उसने यह भी बताया कि आजकल सूर्यास्त के बाद वे किसीसे नहीं मिलते।

"तो क्या करते हैं?"

"यह तो वे ही बता सकते हैं।"

"हो सकता है, पूजन आदि करने के बाद सो जाते हों!"

"सोते तो नहीं, इतना निश्चित है।" सेवक बोला, "मध्य रात्रि के बाद भी लोगों ने उन्हें प्रासाद के अलिंद पर मौन खड़े देखा है।"

मैंने और उद्धव ने यथाशीघ्र पितामह के यहाँ पहुँचने की तैयारी की। अब हमारे साथ सात्यकि भी था।

सूर्यास्त होने को था। पितामह के प्रासाद के ऊपरी स्वर्ण शिखर पर धूप खिसक गई थी। द्वारपाल से ही पता चला कि वह हमारी प्रतीक्षा में बैठे हैं। पहुँचते ही मैं उनके चरणों की ओर झुका। उन्होंने सिंहासन से उतरकर मुझे अपने वक्ष से लगा लिया। फिर एकटक झरती आँखों से मुझे देखते रहे। लगता था, जो कुछ कहना है, सब आँखों से ही कह डालेंगे।

धीरे-धीरे वे अपने सिंहासन की ओर लौटे और मुझे बगल में बैठाया। उद्धव और सात्यकि को भी पास के मंचकों पर बैठने का संकेत किया।

बात मैंने ही शुरू की—"क्षमा कीजिएगा, मुझे आने में विलंब हुआ।"

"सचमुच तुमने बड़ी देर कर दी, कन्हैया।" इतना कहते हुए उन्होंने एक उसाँस भरी। लगा, उनके भीतर की अग्नि धुआँ छोड़ रही हो—"यदि तुम समय से आते तो कदाचित् यह दुर्घटना न घटती।"

"यदि आपके रहते यह सब हो गया तो मेरा यहाँ होना, न होना बराबर था।"

"ऐसा नहीं है।" पितामह ने टूटे स्वर में कहा, "मैं तो नख-दंतहीन वृद्ध सिंह की भाँति हूँ, जिसकी दहाड़ भी अब अर्थहीन हो गई है।"

अपनी विवशता पर एक और उसाँस भरकर वे फिर मौन हो गए। उनकी आँखें अनवरत सामने वातायन की ओर लगी थीं। लगा, संध्या के धुँधलके में वे जैसे किसी टूटते तारे को देख रहे हों।

थोड़ी देर तक वह मौन रहे, फिर कुछ सोचते हुए बोले, "मैं कभी नहीं चाहता था कि युधिष्ठिर वहाँ जाए।"

"आपके बिना चाहे वे वहाँ गए, तब तो उसका फल भोगना ही था।" मैंने कहा।

"नहीं-नहीं, यह बात नहीं थी।" पितामह बोले। मैंने अनुभव किया कि दुःख और पीड़ा की इस भयानक अग्नि में भी उनका मानसिक उलझाव जला नहीं है। उन्होंने कहा, "चाहता तो अवश्य था, पर कभी मैंने उसके सामने अपनी इच्छा व्यक्त नहीं की। मन का मन ही में धरा रह गया। कितना विवश था मैं!"

"आप और विवश!" मैंने कहा, "अरे, आप हस्तिनापुर के एक वरिष्ठ संरक्षक हैं! आपका संकेत सबके लिए आदेश होना चाहिए।"

"जो होना चाहिए, वही तो नहीं है।" पितामह बोलते रहे—"हस्तिनापुर का संरक्षक हूँ, अवश्य हूँ; पर इस संरक्षक की अब सुनता कौन है! जो सुननेवाले थे, उनके लिए नियति भी कितनी क्रूर निकली! उन्हें जलाकर भस्म कर दिया।" इतना कहते-कहते वे फूट-फूटकर रोने लगे।

उनके दु:ख की थाह नहीं थी। मैंने उन्हें बहुत समझाया। जब वे थोड़े प्रकृतिस्थ हुए, मैंने उनसे स्पष्ट पूछा, "जब आपकी इच्छा नहीं थी तब युधिष्ठिर को जाने क्यों दिया? उनमें इतना साहस नहीं था कि वे आपकी अवज्ञा करते।"

"नहीं, कभी नहीं। उससे अवज्ञा की कल्पना की ही नहीं जा सकती। वह तो मेरे संकेत पर कुछ भी कर सकता था।...पर क्या कहूँ? धृतराष्ट्र और उसके पुत्रों की महत्त्वाकांक्षा उससे टकराने लगी थी। मुझे आशंका हुई कि व्यक्तित्व की टकराहट कहीं असि की टकराहटों में न बदल जाए। इसीलिए मैंने युधिष्ठिर को रोका नहीं। मैंने सोचा, वारणावत में पांडव प्रसन्न रहेंगे और हस्तिनापुर में दुर्योधन युवराज भी हो जाएगा। उसका सपना पूरा हो जाएगा।...धृतराष्ट्र ने मुझे यह भी बताया कि वारणावत में पांडवों के लिए एक विशाल और भव्य प्रासाद भी बनाया गया है। उसमें उनकी सभी सुख-सुविधाओं का ध्यान रखा गया है। तब मैंने सोचा कि चलो, हस्तिनापुर अब अहं की टकराहटों से बच गया।...जब युधिष्ठिर ने वहाँ जाने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया था तब मैंने बड़े संतोष का अनुभव किया।"

अब तब चुप बैठे उद्धव से रहा नहीं गया। उसने बीच में ही टोका—"क्या आपको युधिष्ठिर का युवराज पद छोड़ना और वारणावत जाना न्यायसंगत लगा?"

"न्यायसंगत तो नहीं लगा, पर इसमें अन्याय की बात भी दिखाई नहीं पड़ी।" सदा की तरह उलझी हुई बात कहनेवाले पितामह अब बुद्धिजन्य तर्क की बात कहने लगे—"अन्यायसंगत तो तब होता, वत्स, जब युधिष्ठिर को युवराज पद से हटाया जाता। उसके सामने तो प्रस्ताव रखा गया। उस प्रस्ताव में समस्या का स्थायी समाधान निकलने की मंशा थी।...और युधिष्ठिर ने उसे स्वीकार कर लिया।"

"और स्थायी समाधान निकल भी आया!" उद्धव ने व्यंग्य किया—"पांडव भस्म हो गए। इससे बड़ा स्थायी समाधान क्या हो सकता है कौरवों के लिए!"

"पर उनके भस्म हो जाने में कौरव क्या कर सकते थे?" पितामह बोले, "यह तो नियति का खेल था।"

"नियति का नहीं, शकुनि और दुर्योधन का खेल था। वह प्रासाद स्वयं एक षड्यंत्र था।" फिर उद्धव ने उस षड्यंत्र का उद्घाटन करते हुए बताया कि पुरोचन

द्वारा वह कैसे बनाया गया था।

''ऐसा!'' सुनते ही पितामह स्तब्ध रह गए। उनका मुँह जो खुला, वह खुला ही रह गया।

''आश्चर्य है कि आपको इस षड्यंत्र की गंध तक नहीं लगी!'' उद्धव बोला।

''लगता है, पितामह के चारों ओर एक लौह प्राचीर खींच दी गई है।'' अब तक चुप बैठा सात्यकि बोला।

''हाँ, वत्स! मेरे चारों ओर एक ऐसी प्राचीर अवश्य है, जो मुझे नहीं दिखाई पड़ती; पर जो हर क्षण मुझे देखती रहती है।'' पितामह ने बड़ी वेदना से स्वीकार किया—''उसीमें बंदी हूँ।'' इतना कहते-कहते वे थोड़े आवेश में आए। उन्होंने अपना हाथ उठाते हुए कहा, ''इन भुजाओं में अब भी इतनी शक्ति है कि मैं लौह प्राचीर को तोड़ सकता हूँ; पर इन अदृश्य प्राचीरों को तोड़ नहीं सकता। इन प्राचीरों पर हाथ उठाने के पूर्व ही मेरी संकल्पबद्धता मेरा हाथ पकड़ लेती है।''

इसी क्रम में उन्होंने यह भी बताया कि हस्तिनापुर के राजसिंहासन के प्रति सुरक्षा की मेरी संकल्पबद्धता ही मेरी विवशता भी है और मेरी दुर्बलता भी।

''शायद इसीलिए आपकी आँखें पांडवों के विरुद्ध रचे गए किसी षड्यंत्र को देख नहीं पाईं।'' उद्धव बोला।

''तो क्या इसके अतिरिक्त भी कोई षड्यंत्र उनके विरुद्ध रचा गया था?''

''क्यों नहीं! पांडव दुर्योधन और शकुनि के कई षड्यंत्रों के शिकार हुए।'' उद्धव बोला।

''पर मुझे तो नहीं मालूम।'' पितामह ने कहा, ''यदि कौरवों ने मुझसे छिपाया तो पांडव तो बता सकते थे।''

''क्या करते बताकर?'' मैंने कहा, ''वे आपकी विवशता जानते रहे होंगे।''

पितामह ने अपनी विवशता पर कपाल ठोंक लिया और भीतर से टूटते हुए बोले, ''मुक्त होकर भी मेरी स्थिति तुम्हारे नानाजी से अच्छी नहीं है, द्वारकाधीश! मेरा तो आग्रह है कि जैसे तुमने उन्हें मुक्त किया, मुझे भी मुक्त करो, वत्स!''

मैंने अनुभव किया कि पितामह लगभग बिखरने की स्थिति में हैं। वे जिस सिंहासन पर बैठे हैं, उसके नीचे उन्हें छिपा हुआ ज्वालामुखी दिखाई देने लगा है।

मैं तो चुप था, पर उद्धव अब मुखर होने लगा था। उसने अपने प्रश्नों के तरकश से अब दूसरा तीर निकाला—''क्या आपको प्रयाण कोटि जल-क्रीड़ावाले षड्यंत्र का भी पता नहीं है?''

पितामह की आकृति पर आश्चर्य की एक और परत जम गई। उनकी मुखमुद्रा पूछ बैठी कि वह कैसी क्रीड़ा थी? अब उद्धव ने मेरी ओर देखा। उद्धव के मन में

बात न बढ़ाने की एक प्रकार की हिचकिचाहट जाग उठी थी। मैं भी मौन ही रह गया। पर पितामह मौन न रह सके—"हाँ-हाँ, बोलो, वत्स! यदि तुम बोलोगे नहीं तो लोगों को यह कैसे पता चलेगा कि हस्तिनापुर का यह संरक्षक कितना निरीह है!" यह कहते हुए भी उनकी आँखें बंद नहीं थीं।

मैं तो मौन था, पर मैंने उद्धव को बोलते रहने का संकेत दिया।

उसने कहा, "मुझे आश्चर्य है, पितामह, कि आप घटना को नहीं जानते; जबकि सारा हस्तिनापुर ही नहीं, अब तो धीरे-धीरे बात आर्यावर्त्त तक फैल गई है।"

आँखें बंद किए अब भी पितामह चुप थे। उद्धव बोलता जा रहा था—"प्रयाण कोटि तीर्थ में कौरवों ने एक जल महोत्सव किया था। इस महोत्सव में कौरव और पांडवों के अतिरिक्त हस्तिनापुर के सारे संरक्षक उपस्थित थे। मध्याह्न में छप्पन प्रकार के भोग की व्यवस्था थी। आप तो जानते हैं कि भीमसेन खाने के पीछे पागल रहते थे। भोजन देखते ही टूट पड़ना उनकी प्रकृति थी। उस समय भी वे भोजन पर टूट पड़े।...और दुर्योधन ला-लाकर उन्हें अच्छे-से-अच्छा पकवान अपने हाथों से खिलाने लगा। किसे पता था कि दुर्योधन द्वारा खिलाए जानेवाले पकवानों में विष है!

"वह खाते गए और दुर्योधन खिलाता गया। अंत में विष का प्रभाव बढ़ा और भीम को नींद आने लगी। वह लौटते ही संज्ञाशून्य हो गए। तब दुर्योधन मौका देखकर उन्हें निकट की झाड़ी में उठा ले गया। वहाँ लता-पत्र आदि से उनके हाथ-पैर बाँधे गए और उन्हें गंगा की बहती धारा में प्रवाहित कर दिया गया।"

"हे भगवान्, ऐसा किया दुर्योधन ने!" पितामह ने एक और आह भरी तथा फिर अपना कपाल ठोंक लिया।

पर उद्धव अब चालू हो चुका था। वह बोलता गया—"संध्या होते-होते उत्सव समाप्त हुआ और पांडव अपने आवास पर आए; पर भीमसेन नहीं लौटे। पहले तो लोगों ने समझा, कहीं होंगे, आते ही होंगे; पर आधी रात तक जब वे नहीं आए तब बुआजी की घबराहट बढ़ी। युधिष्ठिर अपने भाइयों को लेकर गंगातट पर खोजने भी गए; पर अंधकार और सनसनाती हवा के अतिरिक्त वहाँ कुछ भी नहीं था। गंगा भी सो चुकी थीं।

"इधर कुंती बुआ ने सोचा कि चलकर दुर्योधन से पूछूँ, शायद उसे कुछ मालूम हो। वह उस अर्द्ध रात्रि में धृतराष्ट्र के प्रासाद में आईं। दुर्योधन के कक्ष तक गईं। उन्होंने दूर से ही देखा कि दुर्योधन अपने कई भाइयों और मामा के साथ बैठकर मैरेय पी रहा है और ठहाके लगा रहा है। फिर भी माँ का मन नहीं माना। उन्होंने भीतर झाँका, शायद यहाँ भीम हो। पर वह तो वहाँ थे नहीं। हाँ, दुर्योधन ने बुआ को देख अवश्य लिया।

''बुआ बता रही थीं।'' उद्धव बोलता गया—''कि दुर्योधन बड़ी उद्‌दंडता से बोला, 'आप यहाँ छिपकर क्या सुन रही हैं?'

'' 'मैं यहाँ कुछ सुनने नहीं वरन् भीम को खोजने आई हूँ।' बुआ बोलीं।

'' 'भीम कोई सूचिनी (सुई) तो है नहीं, जो किसीके उत्तरीय या अँगरखे में छिपा रह सके।' उसके इतना कहते ही वहाँ के लोगों ने फिर एक जोरदार ठहाका लगाया। बुआ बता रही थीं कि उन्हें बड़ा बुरा लगा। उससे ऐसी उपेक्षा की कल्पना भी नहीं की थी। फिर भी वह अपमान का घूँट पीकर रह गईं। उनकी ममता ने पुनः पूछा, 'तुमने कहीं भीम को देखा तो नहीं है, वत्स?'

''तब दुर्योधन ने कहा, 'वह तो जलोत्सव में आया था। अपने भाइयों के ही साथ था।' फिर उसने विचित्र ढंग से मुँह बनाते हुए कहा, 'यह तो आप जानती हैं, वह कितना बड़ा भुक्खड़ है! मध्यांतर में जमकर खाया। फिर दिखाई नहीं पड़ा। कहीं जाकर सो गया होगा।'

''उपेक्षा, तिरस्कार, गंभीर अनादर सहने के बाद बुआ उस रात धृतराष्ट्र प्रासाद से बहुत दुःखी होकर आई थीं।'' उद्धव ने बताया।

''तब वह मेरे पास क्यों नहीं आई?'' पितामह बड़ी व्यथा से बोले।

''वह दूसरे दिन प्रातःकाल आपके पास भी आई थीं।'' उद्धव बोला, ''भीम के संबंध में पूछने और दुर्योधन के व्यवहार की शिकायत करने; पर उन्होंने द्वार पर से ही देखा कि दुर्योधन और शकुनि आपके यहाँ उपस्थित हैं। दुर्योधन आपके चरण दबाकर जलोत्सव का वर्णन कर रहा है। मामा भी हाँ में हाँ मिला रहे हैं और आप प्रसन्न होकर सब सुन रहे हैं। इस दृश्य को देखकर बुआ ने आपसे कुछ कहना उचित नहीं समझा और चुपचाप लौट गईं।''

''अब तुम्हीं देखो कि मैं कितने अंधकार में रखा जाता हूँ!'' पितामह ने अपनी निरीहता पर पुनः आँसू बहाए—''यही मेरा दुर्भाग्य है, वत्स!''

अब मुझसे नहीं रहा गया। मैंने तुरंत कहा, ''यह आपका नहीं वरन् हस्तिनापुर का दुर्भाग्य है, पितामह, कि यहाँ के सिंहासन को संप्रति आँखें नहीं हैं। पट्टमहिषी की भी आँखों पर पट्टी बँधी रहती हैं।''

मैंने अनुभव किया कि मैं थोड़ा कटु बोल रहा हूँ। मेरा दिल जला था—और कोई ऐसी जगह भी तो नहीं थी, जहाँ मैं अपने मन को हलका कर पाता।

पितामह चुप थे, एकदम मौन। उनकी आँखों से सागर झाँकने लगा था। मैंने अनुभव किया कि पितामह पहले से ही दुःखी थे। हम लोगों ने उन्हें और भी दुःखी कर दिया है। मैंने बड़े विनीतभाव से कहा, ''आपको कष्ट देना हमारा उद्‌देश्य नहीं था। यदि मेरी बातों से आपको पीड़ा पहुँची हो तो आप क्षमा करें।''

"नहीं-नहीं, ऐसी बात नहीं।" अपने आँसुओं को नकारने के लिए उन्होंने एक बनावटी मुसकराहट अपने अधरों पर चिपका ली और बोले, "हर प्रकार की पीड़ा को पीते रहना और जीते रहना, यही तो मेरी नियति है, वत्स!···पर मुझे आश्चर्य है, द्वारकाधीश, कि इस समय आप लोगों ने मेरी आँखें खोलने की जैसी चेष्टा की, यदि वैसी पहले किसीने की होती तो शायद मैं अपने चारों ओर के अंधकार को वेधकर कुछ देख पाता।"

मेरे मन में पितामह के प्रति बड़ा आदरभाव था और अभी भी है। इस आदर का आधार था उनकी संकल्पबद्धता, उनका ज्ञान, उनका त्याग, उनका पौरुष, उनकी स्फीत शिराओं से टपकती उनकी तेजस्विता, उनका युद्ध-कौशल और उनकी आयु। यह सब होते हुए भी पांडव और कौरवों के संदर्भ में उनकी निष्पक्षता को मेरे मन ने कभी स्वीकार नहीं किया; पर लिहाज के कारण मैं कुछ कह नहीं पाता था। इस समय मेरी मानसिकता कुछ ऐसी हो गई थी कि जब जबान खुल ही गई है तो कुछ मन में बचा न रहे।

मैंने स्वयं को सँभालते हुए कुछ पूछने की भूमिका बनाई—"आप अन्यथा न लें तो मैं एक बात पूछूँ?"

पितामह की अचानक मुद्रा बदली। उन्होंने सोचा कि अब किस प्रश्न का प्रहार करेगा यह। वे बोले तो कुछ नहीं, पर संकेत से पूछने की अनुमति दे दी। मैंने पूछा, "सुना है कि एक बार पांचाल नरेश द्रुपद ने अपने पुरोहित को आपके पास भेजा और कहा था कि दुर्योधन व शकुनि मिलकर निरंतर पांडवों के प्रति षड्यंत्र कर रहे हैं! क्या यह सत्य है?"

"हाँ, सत्य है।" पितामह ने बड़ी गंभीरता से स्वीकार किया। उनकी चिंतन मुद्रा और भी गहरी हो गई।

"फिर भी शायद आपने कुछ नहीं किया?"

"यह भी सत्य है।" पितामह बोले और उसका कारण बताते हुए कहा, "यह तो तुम जानते ही हो कि पांचाल और हस्तिनापुर में जन्मजात वैर है। द्रुपद कभी भी हस्तिनापुर की भलाई नहीं चाहेगा। जब उसने अपने पुरोहित से यह संदेश भिजवाया तब भी मैंने उसे किसी षड्यंत्र के संदर्भ में ही देखा और सोचा कि यह आपस में फूट डालने के लिए तो ऐसा नहीं कर रहा है! शायद इसीलिए मैंने उसकी बात का विश्वास नहीं किया।"

मैं चुप ही रहा। पर उद्धव से रहा नहीं गया—"आपके सोच के संदर्भ में तो मैं कुछ नहीं कहता; पर राजनीति कहती है कि शत्रु से मिली सूचना की सत्यता को बिना परखे उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।"

"तुम क्या समझते हो, मैंने उस सूचना को परखा नहीं था!" निरंतर प्रहार से अब पितामह तिलमिलाने की स्थिति में आ गए थे। उनकी आवाज विवशता को फाड़कर कुछ और तेज हो गई थी। उन्होंने कहा, "मैंने दुर्योधन और शकुनि से इस संबंध में बातें की थीं। और तो और, मैंने युधिष्ठिर को भी एकांत में बुलाकर पूछा था। उसने कहा था कि ऐसी कोई बात नहीं, आप बिलकुल चिंता न करें।" उनका स्वर और बदला—"और उस समय तो युधिष्ठिर युवराज भी था। वह स्वयं इस षड्यंत्र का पता लगाने में सक्षम था। मैंने उससे कहा था कि कोई बात हो तो मुझे स्पष्ट बताना।"

पितामह की बदली हुई मन:स्थिति को अब और छेड़ना उपयुक्त नहीं था। हम सब शोक प्रदर्शन की मुद्रा में आए थे, किसीको अपराधी या दोषी सिद्ध करने नहीं। यह तो बात की बात में इतनी बात निकल आई।

थोड़ी देर मौन रहकर हम लोग उनका आशीर्वाद लेकर चलने को हुए। वे हमें प्रासाद द्वार तक छोड़ने आए और चलते समय बड़ी गंभीरता से बोले, "कन्हैया, इतिहास भले ही हमें क्षमा न करे, पर वह मेरी विवशता पर विचार अवश्य करेगा।"

□

पितामह के प्रासाद से निकलकर हम सीधे अपने आवास पर आना चाहते थे। रात्रि की श्यामलता पूरी तरह फैल चुकी थी। अँधेरा गाढ़ा हो गया था। रथ पर आते ही दारुक ने कहा कि एक वृद्ध आपको खोज रहा था। वह कई बार आया था और अब भी आपकी प्रतीक्षा करता रसाल की छाया में बैठा है।

"तुमने यहीं उसे क्यों नहीं बैठा लिया?"

"मैंने बहुत कहा, पर वह नहीं माना। उसने कहा कि यदि मैं देख लिया गया तो मेरा जीवन संकट में पड़ जाएगा। तब मृत्यु के सिवा कहीं मुझे शरण नहीं मिलेगी।"

मेरी जिज्ञासा बढ़ी। हम लोग रसाल की ओर गए। बूढ़ा पहले से उठकर मेरी ओर आ रहा था। उसने मेरे चरण छुए और धीरे से बोला, "मैं आपसे ही कुछ कहना चाहता हूँ।"

इसका तात्पर्य था कि मैं सात्यकि और उद्धव को अपने पास से हटा दूँ—और मैंने वैसा ही किया।

"आप मुझे पहचानते हैं?" बूढ़े ने पूछा।

मेरी आँखें उस अँधेरे में और भी विस्फारित हुईं; फिर भी मैं उसे पहचान नहीं पाया। मुझे यह अवश्य लगा कि मैंने इसे कहीं देखा है।

"आप शायद मुझे पहचान नहीं पाएँगे। एक ही बार तो आपसे मेरा सामना

हुआ है।'' इसके बाद बूढ़े ने बताया—''आपके आगमन के समय हस्तिनापुर के मुख्य द्वार पर आपका स्वागत करनेवालों में मैं भी था।''

इसके बाद उसने अपना वस्त्र हटाया और अपनी पीठ दिखाई। उस अँधेरे में भी उसपर उभरे कशाघात के निशान स्पष्ट दिखाई पड़े।

''यह उसी समय का प्रसाद है।'' वह बोला।

मैं अब भी कुछ समझ नहीं पाया। उस अँधेरे में भी मेरी दृष्टि बराबर उस बूढ़े की पीठ और आकृति पर थी। मेरी स्मृति टटोलते-टटोलते उस तक पहुँच चुकी थी। अरे, यह तो वही बूढ़ा है, जिसे मेरे सामने दुर्योधन के लोग घसीटते-घसीटते ले गए थे; जिसका अपराध केवल इतना था कि उसने युधिष्ठिर के शासनकाल को धर्म का शासनकाल कहा था। उसके संबंध में बताई रक्ताक्ष की सारी बातें मुझे याद हो आईं।

''हाँ-हाँ, मैं आपको पहचान गया।'' मैंने कहा।

बूढ़े की आकृति पर एक संतोष की आभा दौड़ी। वह बिना किसी प्रस्तावना के सीधे-सीधे अपनी बात कहने लगा—''देखिए, आप कभी दुर्योधन और शकुनि के बहकावे में मत आइएगा। दोनों बड़े दुष्ट हैं। ऐसी व्यवस्था उन्होंने की है कि आप नगर के सामान्य नागरिकों से भी न मिल सकें। आपको मालूम है, उन्होंने कल नगर में एक राजकीय घोषणा कराई है!''

मैं बोला नहीं। पर मेरी मुद्रा ने पूछ ही लिया—'क्या?'

''यही कि द्वारकाधीश अपने साथियों द्वारा पांडवों की मृत्यु पर अपनी संवेदना व्यक्त करने आए हैं। वे स्वयं भी बड़े दुःखी हैं। ऐसी दुःखद स्थिति में वह हस्तिनापुरवासियों से मिल नहीं सकेंगे। अपनी व्यथा को शांत करते हुए केवल प्रासाद में पड़े रहेंगे। कोई भी नगरवासी उनसे मिलने की चेष्टा न करे।''

''पर मैंने तो कभी भी ऐसी इच्छा व्यक्त नहीं की है।''

''यही तो बात है।'' वृद्ध बोला, ''उन लोगों का विश्वास है कि यदि आप नगरवासियों से मिले तो हो सकता है, उनकी पोल खुल जाए।'' इसी क्रम में वह बोलता गया—''वे आपको बिलकुल अंधकार में रखना चाहते हैं। यही नहीं, शकुनि और दुर्योधन दोनों मिलकर आपके विरुद्ध भी षड्यंत्र रचने जा रहे हैं।''

''कैसा षड्यंत्र?''

''आपको मार डालने का।''

इतना सुनते ही मुझे हँसी आ गई। मन-ही-मन सोचने लगा कि मेरा जीवन भी क्या है! जब से पैदा हुआ, मुझे समाप्त करने का षड्यंत्र रचा जा रहा है। पर नियति मुझपर सदय रही। उसीकी कृपा है कि मैं हूँ और रहूँगा।

''आप हँसिए नहीं। मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वह सत्य है।'' वृद्ध बोला, ''वे

बड़े नाटकीय हैं। दिन भर शोक और दु:ख का दिखावा करते हैं। रात्रि में गंगा माता के वक्ष पर मयूरध्वज में मैरेय के चषक-के-चषक खाली किए जाते हैं। गणिकाओं के नृत्य और रँगरेलियों में रात डूब जाती है।''

''पर आपको मेरे विरुद्ध षड्यंत्र की बात कैसे मालूम हुई?''

''कल रात मैंने उसी नौका में लोगों को बातें करते सुना था। उन्हें क्या मालूम था कि तट पर कोई सुन रहा है। वे मैरेय के नशे में मस्त ठहाका लगाते हुए इसी योजना पर बातें कर रहे थे।''

''तो वे नित्य रात्रि मयूरध्वज पर जाते हैं?''

''मुझे तो ऐसा ही लगता है।''

''तो इस समय भी वहाँ चले गए होंगे?'' मैंने पूछा, ''जाने पर मिलेंगे?''

''मिलना चाहिए; पर इस समय वहाँ जाना खतरे से खाली नहीं है।''

''क्यों?''

''अभी मैरेय का दौर शुरू हुआ ही होगा, या न भी शुरू हुआ हो।'' बूढ़े ने बताया—''आप दो-तीन घड़ी रात जाइए तो मदिरा उनपर अच्छी तरह सवार रहेगी और फिर वह रहस्य उगलते चले जाएँगे।''

इतना कहने के बाद ही, अपने इस मिलन को गोपनीय रखने की प्रार्थना कर बूढ़ा अँधेरे में खो गया।

मैं अपने मित्रों के पास आया और आवास की ओर चला। मार्ग में उनकी जिज्ञासा शांत करते हुए बताया कि हम लोगों के चारों ओर एक अदृश्य घेरा है, जिसके भीतर हस्तिनापुर की सामान्य जनता आ नहीं सकती। इसे हमें तोड़ना होगा। विस्तार में वहाँ की स्थिति का आभास मैंने अपने मित्रों को दिया।

दो घड़ी रात बीतने के बाद भोजन आदि से निवृत्त होकर मैंने गंगातट की ओर चलने का कार्यक्रम बनाया। रथ से नहीं, पैदल ही। इस बार सात्यकि और रक्ताक्ष मेरे साथ थे। मैंने उद्धव को जानबूझकर छोड़ दिया था; क्योंकि अब मुझे अपने चारों ओर षड्यंत्र की एक लक्ष्मण रेखा खिंची दिखाई दे रही थी। उसे पहचानने और उसका सामना करने की क्षमता उद्धव में सात्यकि से अधिक थी।

पांडवों के निधन पर हस्तिनापुर तीन महीने का शोक मना रही थी। सामान्य जन कुशासन पर ही रात बिताते थे और दिन में केवल एक बार, वह भी एक ही अन्न का भोजन करते थे।

हम लोग अँधेरे में ही चले जा रहे थे। हमारे पास न तो कोई मशाल थी और न हम राजपथ पर थे कि किनारे राजकीय मशालों का प्रकाश हमें मिलता।

परिहास में मैंने सात्यकि से कहा, ''मैं तो अंधकार में खो जाता हूँ। पर यह

तुम्हारे लिए कठिन है।''

''क्यों?''

''क्योंकि मैं अँधेरी रात में श्यामधेनु और तुम श्वेतधेनु हो। क्योंकि तुम्हारा वर्ण गौर है।''

सात्यकि हँसा। उसमें व्यंग्य भावना अच्छी थी। वह तुरंत बोला, ''अच्छा हुआ, आपने मुझे श्वेतधेनु ही कहा, श्वेतवृषभ नहीं।'' और फिर उसकी हँसी ठहाके में बदल गई।

मैंने तत्काल उसका हाथ दबाया—''यह समय ठहाके का नहीं, हमें छिपकर ही चलना है।''

अब हम गंगा की रेती पर आ चुके थे; पर धारा अभी दूर थी। मयूरध्वज एक छायाचित्र-सा दिखाई देने लगा। उसके गवाक्षों और वातायनों से विच्छुरित प्रकाश उस सन्नाटे में रश्मि बाणों की तरह अंधकार को भेदकर रेत पर चमक रहा था। ज्यों-ज्यों हम निकट पहुँचते गए, मदिरा में डूबा भीतर का अट्टहास भी छलककर हमें भिगोने लगा।

''जल गया पुरोचन तो क्या हुआ, हमारी समस्या भी तो जल गई।'' निश्चय ही यह आवाज़ दुर्योधन की थी।

''यही तो मैं सोचता हूँ, भानजे!'' यह स्वर शकुनि का था—''पर इस समय यदि वह भी होता तो मैरेय की मस्ती दोगुनी हो जाती।'' फिर एक हँसी।

बातें इसी तरह लड़खड़ाते स्वर में आगे बढ़ती रहीं। कोई विशेष रहस्य का उद्घाटन नहीं हुआ। फिर भी हम चुपचाप मयूरध्वज के निकट खड़े हो सुनते रहे।

''आखिर तुम लोगों को क्यों टुकुर-टुकुर ताकती हुई बैठी हो?''

''तुम्हारी मुसकान तो मेरे हृदय का लाक्षागृह जला देगी।''

''तो जल जाने दो उसे, अन्यथा पांडव बच गए तो तुम्हारे लिए समस्या हो जाएगी।'' मदिरा में डूबे जाने-अनजाने इन स्वरों के बीच से फिर एक अट्टहास उभरा। इसके बाद भी अभद्र शब्दावली और ठहाकों का क्रम चलता रहा। इसके पश्चात् नृत्य आरंभ हुआ।

बातों से लगा कि वे राजप्रासाद की नृत्यांगनाएँ नहीं हैं। उन्हें नगर से बुलाया गया है। वह भी निम्न श्रेणी की वारांगनाएँ हैं। उनके साथ हो रही अठखेलियों में वासना की ऐसी प्रगल्भ अभिव्यक्ति थी, जिसके समक्ष शोक तो दूर, भद्र आनंदोत्सव को भी पसीना आ जाता।

हम लोगों ने देख लिया कि कौरव कितने दुःखी हैं। मेरा मन भर आया। नीचता की भी कोई सीमा होती है।

हम लोग वहाँ से चलने ही वाले थे कि हमें सुनाई पड़ा—''पता नहीं क्यों, वह द्वारका से चला आया?''

''लगता है, उसे कुछ आभास लग गया है!''

''क्या कहते हैं, मामाश्री? मैंने शोक की प्राचीर में उसे ऐसा बंदी कर रखा है कि आभास क्या, उसे हमारे 'करतबों' की गंध तक नहीं लग सकती।''

''तुम ज़ानते नहीं, भानजे, गंध को प्राचीर लाँघते देर नहीं लगती।''

''और जान भी लेगा तो क्या कर लेगा हमारा?'' दुर्योधन बोला, ''अब तो पांडवों को अग्निदेव निगल चुके हैं। उनसे वह वसुदेव का छोकरा उगलवा तो सकता नहीं।''

''तुम क्या समझते हो उसे?''

''मैं तो उसे कुछ नहीं समझता।''

''पर समझनेवाले उसे भगवान् समझते हैं!'' एक व्यंग्य भरी खिलखिलाहट—''इसी पर हो जाए दो-एक चषक और।'' फिर चषक भरने की ध्वनि उभरी।

''क्यों जी, भगवान् तो सर्वव्यापी है! तब तो यहाँ भी उसे होना चाहिए।''

''पर वह यहाँ कहाँ! यहाँ तो मौज-मस्ती है।'' दुर्योधन की खिलखिलाहट एक बार फिर लड़खड़ाई—''ऐसे स्थान भगवान् के लिए उपयुक्त नहीं होते!''

अब मुझसे रहा नहीं गया। मैंने तुरंत उस विशाल नौका पर छलाँग लगाई। रक्ताक्ष और सात्यकि ने मेरा अनुसरण किया।

भीतर घुसते ही मैंने कहा, ''पर मेरे उपयुक्त तो यह स्थान है।''

हमें देखते ही सब भौंचक्के रह गए। उन्होंने स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि इस समय और उनकी ऐसी स्थिति में मैं वहाँ उपस्थित हो जाऊँगा। उनका नशा हिरन हो गया। दुर्योधन तो इतना घबरा गया कि वह स्वयं मदिरापान और वह चषक वहाँ से हटाने लगा; पर व्यग्रता में वह यह भी न कर पाया। उसके काँपते हाथों से मैरेय पात्र गिर गया। मदिरा ढुलक गई। शकुनि ने तत्क्षण उसे ठीक किया।

''अरे, तुम इतने घबरा क्यों रहे हो?'' व्यग्र को उसकी व्यग्रता का आभास कराइए तो वह और घबराने लगता है। दुर्योधन अब और भी व्यग्र हो गया। नर्तकियाँ भी सब सहमकर चुपचाप बैठ गईं, वरन् यों कहूँ कि एक कोने में दुबक गईं।

मैंने दुर्योधन के पास बैठते हुए उसके कंधों पर एक धौल जमाई—''क्यों मित्र, शोक में तो तुम मेरे साथ रहते हो और आनंदोत्सव में तुम मुझे अपने साथ नहीं रखते। आखिर मैं भी तो तुम्हारा भाई हूँ।''

दुर्योधन क्या बोलता! एक खीज भरी मुसकान उसके अधरों पर उभर आई। उसने अपने मामा की ओर देखा। वह भी बुझा-बुझा ही था। फिर भी उसने

परिस्थिति सँभाली—''बात यह है कि इधर लगातार दुःख एवं शोक से दुर्योधन इतना संतप्त था, इसलिए मैंने सोचा कि इसे मयूरध्वज में ले चलूँ, शायद यह कुछ समय के लिए अपने को चषक में डुबो सके।''

मैंने एक बड़ी मायावी हँसी हँसी।

''यह तो आपने बड़ा अच्छा सोचा; पर आपको ऐसा ही पूरे हस्तिनापुर के लिए सोचना चाहिए, जिनकी रातें कुशास्तरण पर करवट बदलते हुए ही बीतती हैं और दिन केवल एक अन्न पर गुजर जाता है।'' मैं प्रहार करता गया—''ऐसा ही उस वृद्ध पितामह के लिए भी आप लोगों को सोचना चाहिए था, जो सारी रात अपने कक्ष में, अलिंद में टहलते ही रहते हैं।...और पूज्य महाराज (धृतराष्ट्र) के बारे में क्या कहूँ, उनकी रातों का तो मुझे पता ही नहीं।''

इसके बाद तो शकुनि पर हजारों घड़े पानी पड़ गया। दुर्योधन की दशा तो और भी खराब थी। वह जहाँ बैठा था, यदि वह तरणी वहाँ पर फट जाती तो वह गंगा में डूब मरता; पर वह इतना भाग्यशाली कहाँ था! उसे तो चुल्लू भर पानी मिलना भी कठिन रहा।

मामा ने फिर स्थिति सँभाली—''आखिर आप लोगों ने इतनी रात गए यहाँ आने का कष्ट क्यों किया?''

''आप लोगों के आनंदोत्सव में सम्मिलित होने के लिए।'' मैंने कहा।

मामा एक बेहयाई की हँसी हँस पड़ा। मैरेय पात्र में बचे हुए मैरेय को चषक में उड़ेलते हुए बोला, ''तो फिर आप भी लीजिए।''

मैंने उसके हाथ से स्वर्ण चषक लेकर बड़े क्रोध में उसे सामने के वातायन से फेंका। इधर मदिरा के छींटे मामा और दुर्योधन के मुँह पर पड़े, उधर स्वर्ण चषक छप् से गंगा में गिरा। जल के छींटे भीतर तक आए।

''मुझे चषकों में डूबने की आवश्यकता नहीं है, मामा। मैं स्वयं शोक में आकंठ डूबा हूँ। मेरे भाई और बुआ भस्म हो गए हैं।''

इतना कहकर मैं तड़ित वेग से उठा और अग्निबाण-सा छूटा। रेत में कुछ दूर आने के बाद पीछे देखा, रक्ताक्ष और सात्यकि चले आ रहे थे।

मध्य रात्रि का चंद्रमा ठीक मेरे ऊपर था। रेशमी सैकत शय्या पर ज्योत्स्ना लेटी थी।

□

रात भर मुझे नींद नहीं आई। मनुष्य इतना निष्ठुर और स्वार्थी हो सकता है, इसकी मुझे कल्पना भी नहीं थी। दुर्योधन की महत्त्वाकांक्षा इतनी कठोर हो सकती है, मैंने कभी सोचा भी नहीं था। क्या उसके इन कृत्यों की जानकारी पितामह को

है? रह-रहकर यही प्रश्न मेरे मन में उठता था।···यदि उन्हें यह जानकारी हो भी, तो वह क्या कर सकते हैं? वे भीतर-ही-भीतर उबलते रहते हैं। उनका जीवन तो उस लौहखंड की तरह है, जिसकी नियति भट्ठी में पड़े-पड़े जीने मात्र की है। जिसके अस्त्र बनने की आकांक्षा कभी पूरी नहीं होती। पर हाँ, जो तपते हुए अतीत के संकल्पों में बँधा रहता है।

वे कुछ करें या न करें, पर मैं उन्हें आज स्थिति से अवश्य अवगत कराऊँगा। मैंने उसी रात निश्चय किया और सवेरा होते ही अपने साथियों के साथ पितामह के प्रासाद की ओर चलने के लिए अपने आवास से निकला।

द्वारपाल ने बड़ी विनम्रता से पूछा, ''किसपर कृपा करने का सोचा है अन्न भगवान् ने?''

''तुमसे मतलब?'' मैंने तपाक से कहा। वस्तुतः यह रोज के द्वारपाल नहीं थे। मुझपर कड़ी दृष्टि रखने के लिए मेरे द्वारपाल रात को बदल दिए गए। मैंने उनसे कहा, ''कल तो यहाँ कोई दूसरा था!''

''जी हाँ।'' उसने कहा, ''मुझे आपकी विशेष सेवा के लिए भेजा गया है। महाराज की इच्छा है कि आपको किसी प्रकार का कष्ट न हो। आपको जिस वस्तु की आवश्यकता हो, उसे शीघ्र उपलब्ध कराया जाए और जहाँ भी आप जाना चाहें, उसकी व्यवस्था की जाए।''

''धन्यवाद! मुझे संप्रति आपकी सेवा की आवश्यकता नहीं है। मेरे लिए हस्तिनापुर कोई नई नगरी नहीं है।''

''पर हमारे लिए तो आप नए हैं।'' उसने कहा। मेरे टेढ़े स्वर के समक्ष भी उसके अधरों की मुसकराहट नहीं सूखी।

''अच्छा, तो आप अपना कर्तव्य-पालन करें और हमें अपना कार्य करने दें।'' इतना कहकर मैं चल पड़ा।

मेरा रथ राजपथ से बढ़ा ही था कि सामने महात्मा विदुर का रथ आता दिखाई दिया। मैं भी औरों की तरह विदुरजी को 'महात्मा' ही कहता था; क्योंकि उनका संपूर्ण व्यक्तित्व और कर्तव्य महात्माओं जैसा ही था।

मुझे लगा कि वे मेरे यहाँ ही आ रहे थे। मुझे देखते ही वे रथ से उतर गए। यद्यपि वे काफी दूर थे। हमें भी वैसा ही करना पड़ा।

निकट आते ही पहले उन्होंने ही मुझे प्रणाम किया।

''अरे, आप ऐसा क्यों करते हैं? आप मेरे वरेण्य हैं।''

''और आप मेरे प्रणम्य हैं।'' उन्होंने कहा और फिर उनकी मौन दृष्टि एकदम मेरी ओर लगी रही; जैसे वह कहना चाहकर भी बोल नहीं पा रहे थे।

मैं तो रात भर उबलता ही रहा। अब सामने उन्हें देखकर फूट पड़ा—"आपके रहते यह सब हो गया?"

वे अब भी चुप थे।

"ऐसा तो नहीं कि कौरवों के षड्यंत्र की गंध आपको न मिली हो और आप कुछ कर नहीं पाए हों।"

वे अब भी चुप ही रहे।

फिर भी मैं कहता गया—"मुझे आपके ज्ञान, अनुभव और विवेक का बड़ा भरोसा था कि पांडव आपकी देखरेख में सुरक्षित हैं; पर मेरे विश्वास को धोखा हुआ।"

वे अब भी चुप थे।

"आखिर आप हस्तिनापुर के महामात्य हैं। महाराज तो अंधे हैं। आंपकी आँखें तो खुली हैं; फिर भी आप मेरी बुआ और उनके बेटों को बचा नहीं सके?"

उनकी दृष्टि अब भी नीची थी। जबान अब भी बंद। पर न पश्चात्ताप की छाया उनपर थी, न अपराधबोध की झलक। अधरों पर एक अनजान विश्वास की पट्टी बँधी थी।

उन्होंने इसे स्वीकार भी किया—"मेरे पास कहने को बहुत कुछ है, पर मैं कुछ कह नहीं पा रहा हूँ।"

"तो पितामह की भाँति आप भी विवशता के घेरे में हैं?"

"जैसा आप समझ लें।"

"आपने जिज्ञासा का एक बीज तो मेरे मन में छोड़ ही दिया कि आपके पास बहुत कुछ कहने को है।"

उन्होंने बहुत धीरे और गंभीर ध्वनि में कहा, "प्रतीक्षा कीजिए, समय सबकुछ आपको बता देगा।"

"पर आप क्यों नहीं बता पा रहे हैं?"

"मैं न बताने के लिए विवश हूँ।"

"विचित्र बात है! आप विवश हैं, पितामह विवश हैं। मैं देखता हूँ, इन्हीं विवशताओं में हस्तिनापुर की यह दशा हो रही है।"

इस बार भी वे मौन ही रह गए।

"इस समय किधर के लिए निकले हैं?" शायद उन्होंने बातों का रुख मोड़ने के लिए ही पूछा।

"पितामह के यहाँ जा रहा हूँ।" मैंने कहा।

"हाँ, तातश्री आपके बारे में बता रहे थे। मैं वहीं से आ रहा हूँ।" विदुरजी ने

कहा और चुप हो गए। शायद वह पूछना चाह रहे थे कि अभी तो कल ही आप मिल चुके हैं। आज कोई नई बात तो नहीं हुई; पर वे कुछ बोल नहीं पाए।

मैंने रात की सारी घटना उन्हें बता दी और बोला, ''अब तो आपको पता चल गया होगा कि कौरव कितने शोकाकुल हैं?''

''यह तो मुझे पता ही है।'' पहली बार उनके अधरों पर मुसकराहट की एक लकीर आई और मिट गई। उन्होंने कहा, ''जो कुछ आपने कल रात देखा है, उसे मैं नित्य देख रहा हूँ।''

''तब आप उसके लिए क्या कर रहे हैं?''

''मैं महामात्य हूँ। केवल नीति के अनुसार सलाह देना ही मेरी कर्तव्य सीमा है। उसे मानना, न मानना महाराज का अपना अधिकार है। उसमें मैं क्या कर सकता हूँ?'' विदुरजी बोले।

मुझे लगा कि इस समय हस्तिनापुर की नीति और राजधर्म विवशता में बंदी है।...और उन्मुक्त राजनीति दुर्योधन और शकुनि जैसे लोगों के हाथ का खिलौना बन गई है।

मार्ग में खड़े होकर विस्तार से बातें करना कुछ ठीक नहीं लग रहा था। शायद इसीलिए विदुरजी कुछ खुले भी नहीं।

''आप पितामही (सत्यवती) से नहीं मिले? वह आपको कई बार पूछ चुकी हैं।''

''कैसे मिलता! हमारे आतिथेय (दुर्योधन) की व्यवस्था ही ऐसी है कि हम किसीसे न मिल पाएँ।''

''और आपसे भी कोई न मिल पाए।'' विदुरजी ने बड़े सहजभाव से परिस्थिति की आड़ लेते हुए अपनी विवशता व्यक्त की।

''अब मैंने उस व्यवस्था को ध्वस्त कर दिया है।''

''तभी तो आप सत्य तक पहुँच पाएँगे।'' विदुरजी बोले, ''तो कल प्रातःकाल आप वहीं पधारें न! मैं भी वहीं मिलूँगा।''

इसके बाद कुछ शब्दों एवं संकेतों का सहारा लेते हुए उन्होंने कहा कि वे आपसे अकेले में ही मिलना चाहती हैं।

अब मैं समझ गया कि विदुरजी इस समय जो नहीं कह पा रहे हैं, उस समय शायद कहें।

□

पितामह इस समय पूजन पर ही थे। फिर भी हमारे आगमन की सूचना उन्हें दी गई। मुझे अपने साथियों के साथ उन्हींके कक्ष में प्रतीक्षा करनी पड़ी। इस बीच स्वर्ण

पात्रों में नवनीत हमारे स्वागत में आ गया था।

थोड़ी देर बाद उनके आने की आहट लगी। मैंने झाँककर देखा। पितामह लड़खड़ाते हुए उस बूढ़े वृक्ष की तरह चले आ रहे हैं, जिसके सारे पत्ते उसके अनुशासन से मुक्त हों, उससे लगभग नाता तोड़ना चाहते हैं; पर जिन्हें वह वृक्ष बड़े ममत्व से पकड़े हुए है। आते ही बोल पड़े—''कहो द्वारकाधीश, आज क्या सुनाने आए हो? अब हमारी सुनने की अवस्था है।''

''लेकिन आपको सुनना ही नहीं, कुछ करना भी होगा।''

''करना तो मैं बहुत कुछ चाहता हूँ, पर करने दिया नहीं जाता।''

''ऐसा कैसे हो सकता है?'' मैं बोला।

फिर उनकी चकपकाई आँखें इधर-उधर देखती हुई मुझपर लग गईं और उन्होंने बड़ी गंभीरता से पूछा, ''तुमने सिंह देखा है, कन्हैया? जंगल का नहीं, जंगले का। मैं भी वैसे ही लौह शलाकाओं में बंद एक वृद्ध सिंह हूँ, जो केवल दहाड़ सकता है; पर उसकी दहाड़ पर उसके बच्चे भी उसकी हँसी उड़ाते हैं।''

''ये लौह शलाकाएँ आप तोड़ना नहीं चाहते; क्योंकि आप इसे जीने लगे हैं। और जब व्यक्ति कारागार को जीने लगता है तब कारागार ही उसके लिए घर हो जाता है। उसकी प्राचीरों के प्रति उसका मोह हो जाता है। जिन्हें आप शलाकाएँ कहते हैं, वह आपका मोह है। इन्हें आप तोड़िए, पितामह; अन्यथा इनके भीतर से सत्य दिखाई नहीं पड़ेगा।...कम-से-कम आप वह सत्य तो देख ही नहीं सकते, जिसे मैंने कल देखा है।''

और फिर मैंने विस्तार से उन्हें कल की घटना की जानकारी दी। वे अवाक् रह गए। ऐसा भी हो सकता है, उन्होंने स्वप्न में भी नहीं सोचा था।

''इतनी नीचता पर उतर सकता है दुर्योधन!'' उनके मुँह से निकला।

''कल की घटना मात्र नीचता नहीं थी।'' मैं बड़े विश्वास से बोला, ''वरन् एक विजयोन्माद था, जो किसी षड्यंत्र पर ही संभव है।''

''तब पांडव निश्चित ही षड्यंत्र के शिकार हुए हैं।'' इतना कहते ही उनकी आँखें छलछला आईं—''मेरे होते यह सब हो गया!'' वे फूट-फूटकर रोने लगे।

मैंने कभी उन्हें इस तरह बिलखते नहीं देखा था। मुझे लगा, बूढ़ा कितना निरीह और निरुपाय है। हस्तिनापुर की सुरक्षा का संकल्प करनेवाला यह प्राणी पांडवों की सुरक्षा नहीं कर पाया।

''षड्यंत्र की आग से ही कहीं अधिक उसके धुएँ की आयु होती है, कन्हैया।'' वे सिसकते हुए ही बोलते गए—''उस धुएँ को इतिहास भी अपने पृष्ठों पर चिपका लेता है। क्या कहेगा इतिहास हमारे विषय में? आनेवाली पीढ़ियाँ क्या कहेंगी? क्या

वे कभी सोच सकेंगी कि यह सब मेरी ना जानकारी में हो गया है? कभी नहीं।...संसार तो यही सोचेगा कि इस षड्यंत्र में मैं भी सम्मिलित था। कौरवों के स्वार्थ के लिए मैंने पांडवों की हत्या करा दी।''

मैंने उन्हें बड़ा ढाढ़स दिया—''आप संसार की चिंता न करें, पितामह! हम कितना भी छिपाएँ, पर उसकी हजार-हजार आँखों से कोई भी यथार्थ छिपाया नहीं जा सकता। और रहा इतिहास, वह केवल सत्य को स्वीकारता है। असत्य तो उसके पृष्ठों तक ले जाते-जाते स्वयं निर्जीव होकर झड़ जाता है।''

मैं बोलता गया—''संसार आपके और पांडवों के प्रेम को भी जानता है, उसकी निर्मलता भी पहचानता है। वह अवश्य विश्वास करेगा कि यह सब आपकी जानकारी में नहीं हुआ है। आपकी विवशता पर उसे भी पछतावा होगा।''

मेरी अभी बातें चल ही रही थीं कि दुर्योधन अपने मामा के साथ आ धमका और हमें देखते ही बोला, ''मैं समझ रहा था कि आप लोग यहाँ होंगे।''

रात के मैरेय से मुक्त होने के बाद शायद उसे नींद नहीं आई थी। उसने उसी समय सोच लिया होगा कि हमारी इस स्थिति को देख लेने के बाद कृष्ण शांत नहीं बैठेगा। तभी तो उसने हमारे द्वारपालों को भी सजग किया।

''पर तुम यहाँ कैसे चले आए?'' पितामह की आवाज अग्निबाण की तरह छूटी।

दुर्योधन चकित रह गया।

''तुम अभी मेरी आँखों के सामने से चले जाओ।'' पितामह के भीतर का उबाल एकदम बरस पड़ा—''तुम्हारी आकृति भी मैं देखना नहीं चाहता।''

दुर्योधन को यह फटकार, वह भी मेरे सामने। उसका चोट खाया अहं एकदम फनफना उठा—''मैं जान सकता हूँ, पितामह, कि मेरे इस अपमान का आधार क्या है?''

''आधार है, तुम्हारे मुख पर लगी पाप की कालिख, जिसे तुम देख नहीं पा रहे हो; पर जिसे समाज देखता है।''

''मैं समाज की चिंता नहीं करता, समाज को गरज हो तो मेरी चिंता करे।'' दुर्योधन का अहंकार अब मुँह खोल चुका था—''हाँ, मैं आपकी चिंता अवश्य करता हूँ।''

''मेरी चिंता करने की कोई आवश्यकता नहीं है। अपनी चिंता करो और यहाँ से चले जाओ।''

''याद रखिए, पितामह, यह मेरा अपमान नहीं है, यह हस्तिनापुर के युवराज का अपमान है।'' दुर्योधन का क्रोध अब काँपने लगा था।

अब कमान मामा ने सँभाली। पहले उसने दुर्योधन को शांत करते हुए कहा, "भानजे, तुम व्यर्थ में लाल-पीले हुए जा रहे हो। अरे, पितामह बड़े हैं, वृद्ध हैं। उन्होंने कुछ कह दिया तो कौन सी बड़ी बात हो गई! हर समय मन:स्थिति अच्छी नहीं रहती।···और रहे भी कैसे! पांडवों के चले जाने से उनपर दु:ख का पहाड़ टूट पड़ा। ऐसे में यदि उन्होंने कुछ कह ही दिया तो शांति से सुन लेना चाहिए।"

भीतर से धधकता हुआ भी दुर्योधन बाहर से शांत हो गया।

फिर शकुनि बड़े भाव से बोला, "हम आपकी सेवा में एक विशेष प्रयोजन से आए थे। पांडवों के स्वर्गारोहण के कल तीन महीने पूरे हो रहे हैं। हम लोग कल प्रात:काल ही गंगातट पर उन्हें अंतिम तिलांजलि देने चलेंगे। हम चाहते हैं कि इस शोकायोजन का आप ही नेतृत्व करें।"

पितामह मौन रहे। उनकी धधकती आँखें बराबर दुर्योधन पर टिकी रहीं।

"तो ठीक है। हम इसे आपकी मौन स्वीकृति मानकर कल प्रात:काल महाराज के कक्ष में आपकी प्रतीक्षा करेंगे। और जब तक आप नहीं आएँगे, हम वहाँ से नहीं चलेंगे।" शकुनि बोला और फिर दुर्योधन को लेकर चला गया।

उनके जाने के बाद पितामह फिर फफककर रो पड़े। जब उनके आँसुओं की बाढ़ कुछ थमने को हुई तब वे सिसकते हुए ही बोले, "जानते हो, कन्हैया, जीवन में सबसे बड़ा बोझ क्या है?"

मैं चुप ही रहा। उन्होंने स्वयं उत्तर दिया—"पिता के कंधे पर पुत्र का शव—और यह तो पौत्रों के शव हैं।" वे फिर बच्चों-सा फूट-फूटकर रोने लगे—"हाय री नियति! तुमने मेरे भाग्य में यही लिखा है कि मैं पौत्रों को तिलांजलि दूँ।"

मैंने मन-ही-मन सोचा, कल प्रात: तो महात्मा विदुर ने मुझे प्रपितामही के यहाँ बुलाया है। फिर दोनों स्थलों पर एक साथ उपस्थिति कैसे हो सकती है?

पितामह की सिसकियाँ रुकते ही मैंने अपनी कठिनाई उनके सामने रखी।

मैंने कहा, "हो सकता है कि महात्मा विदुर को कल के कार्यक्रम का ज्ञान न हो।"

"यह कैसे हो सकता है? वे हस्तिनापुर के महामात्य हैं। उन्हें भला इस कार्यक्रम का ज्ञान न होगा? अरे, इस कार्यक्रम को तो मैं जानता था। इस नगर का हर बच्चा जानता है।"

"तब उन्होंने कल प्रात: मुझे कैसे बुलाया?"

"हो सकता है, उन्हें विस्मरण हो गया हो।" पितामह बोले।

☐

उसी रात को कल के लिए तिलांजलि का निमंत्रण लेकर दु:शासन हमारे पास

आया और कपोत-सी निरीह आकृति बनाते हुए बोला, ''इसे संयोग ही कहा जाएगा कि सुदूर दक्षिण से पधारे आप इस समय हस्तिनापुर में हैं। आपकी श्रद्धांजलि से हमारे भाइयों की आत्माओं को अवश्य शांति मिलेगी।''

उसका इतना कहना था कि मुझे आग लग गई। मेरा मन बोल उठा—'अपने भाइयों की आत्मा की शांति के लिए आपको बड़ी चिंता है।' पर मैं कुछ बोला नहीं, भीतर-ही-भीतर तिलमिलाकर रह गया।

दुःशासन मेरी परिवर्तित मुद्रा से मेरी मनःस्थिति अवश्य भाँप गया होगा। फिर भी मैंने इतना तो कह ही दिया—''ठीक है, आपके भाइयों की आत्मा की शांति के लिए हम अपनी श्रद्धांजलि देने अवश्य उपस्थित होंगे।'' मेरी आवाज सामान्य से काफी ऊँची थी। वह एकदम सहम गया।

अब उसके लिए यहाँ का एक-एक पल भारी था। वह चुपचाप अभिवादन कर चला गया।

दूसरे दिन प्रातःकाल मैंने अपने साथियों को लिया। सोचा, सीधे महाराज के पास ही चलें; पर उद्धव का कहना था कि हमें पितामह को लेते हुए ही चलना चाहिए। पितामह का अकेलापन उन्हें काटने दौड़ रहा है। हमारे चलने से उन्हें बड़ा संतोष मिलेगा।

हमने वैसा ही किया।

जब हम लोग उनके यहाँ पहुँचे, वे एक प्रकार के डरावने अंधकार में चुपचाप बैठे थे। न किसीकी प्रतीक्षा थी और न चलने की इच्छा। हमें देखते ही उन्होंने वक्ष से लगा लिया। आँसुओं से भीगे स्वर में वे बोले, ''इस घटना से मैं बिलकुल टूट चुका हूँ। अब तुम्हारे कंधों का सहारा लेकर ही अपने पौत्रों को श्रद्धांजलि देने चलूँगा, कन्हैया।''

मार्ग में उनकी बातों से पता चला कि दुर्योधन अपने साथियों के साथ रात में ही उन्हें समझाने आया था। शायद उसने यह भी कहा था कि कन्हैया ने जो भी उनसे कहा है, वह सब सही नहीं है। हम सब इतने शोक-संतप्त हैं कि कई दिनों से हमें नींद नहीं आई। तब मामाजी ने कहा कि ओषधि के रूप में थोड़ी मैरेय ले लो। तुम्हें सोना बड़ा आवश्यक है; क्योंकि अंत्येष्टि के शेष कर्म तुम्हें ही संपादित करने हैं।

पितामह ने बताया कि मैंने बड़े उपेक्षाभाव से उसकी बातें सुनीं और अंत में मैंने यह भी कह दिया कि सोया तो मैं भी नहीं हूँ। तब क्या तुम्हारे मामाश्री मेरे लिए भी मैरेय की व्यवस्था करेंगे?...इस शोक अवधि में तो मैरेय पीने से अच्छा था, हम विष ही पी लेते और सदा के लिए सो जाते।

रास्ते भर पितामह दुर्योधन की ही बात करते रहे। रह-रहकर वह उस भीड़ की

ओर भी देखते रहे, जो शोक में डूबी अपने शासकों के वंशजों को अंतिम प्रणाम निवेदित करने गंगातट पर जा रही थी। उन्होंने अनुभव किया कि इस भीड़ के अनेक लोग उन्हें संकेत कर आपस में कुछ कह रहे हैं।

"देखते हो, कन्हैया, अनेक अँगुलियाँ मेरी ओर उठ रही हैं।" पितामह बोले। फिर वे चिंता में डूब गए। मैं भी मौन ही रहा।

□

महाराज धृतराष्ट्र का कक्ष आज खचाखच भरा था। एक तो उनकी शत संतानें ही उसे भर देने के लिए पर्याप्त थीं, फिर हमारे जैसे अन्य लोगों का आगमन उसे संकीर्ण करता जा रहा था। शोकाकुल सन्नाटे से (भले ही वह बनावटी ही रहा हो) ढकी वह जन-संकुलता हम लोगों के पहुँचते ही खड़बड़ा उठी। सभी उठकर खड़े हो गए, यहाँ तक कि महाराज भी।

जब पितामह धृतराष्ट्र के पास पहुँचे तब वे फफकते हुए उनके कंधे से लग गए—"यह दुर्भाग्यपूर्ण दिन भी हम लोगों को देखना था।" इसके बाद उनका स्वर आँसुओं में डूब गया और वे बहुत देर तक रोते रहे।

उनका रोना और बिलखना देखकर उद्धव ने मेरे कान में धीरे से कहा, "सचमुच धृतराष्ट्र बड़े दुःखी हैं। लगता है, इनके पुत्रों ने इन्हें अंधकार में रखा है।"

"ये तो जन्म से ही अंधकार में हैं।" मैंने कहा।

उद्धव मुसकराया। उसने समझा कि मैं उनके अंधे होने पर व्यंग्य कर रहा हूँ। मैंने स्वयं अपने कथन की व्याख्या की—"पुत्र-मोह का अँधेरा संसार में किसी भी अँधेरे से घना होता है, उद्धव! और जब व्यक्ति इस अँधेरे में भटक जाता है तब जल्दी रास्ते पर नहीं आता।"

उद्धव चुप हो गया।

उधर जब धृतराष्ट्र की सिसकियाँ थमीं तब उन्होंने पितामह से कहा, "पहले तो मुझे अँधेरा सूझता था, पितामह, पर अब वह भी नहीं सूझता।"

"जब सत्ता इतनी अंधी हो जाती है, तभी ऐसी दुर्घटनाएँ घटती हैं, महाराज!" पितामह छूटते ही बोले।

पूरा कक्ष जैसे सकते में आ गया। मैंने दुर्योधन और शकुनि की ओर देखा। उनपर तो मानो घड़ों पानी पड़ा था। उन्हें कभी आशा नहीं थी कि पितामह इस तरह की बात और वह भी इतने लोगों के बीच बोल देंगे।

अब इस स्थिति का सामना करने का उनमें साहस नहीं था। शकुनि ने तुरंत पूछा, "अब चलने में विलंब किसलिए?"

दूसरी ओर से विकर्ण की आवाज आई—"महामात्य की प्रतीक्षा की जा रही

है। उनके यहाँ परिचर भेजा गया है।''

एक बार फिर सन्नाटा सिहर उठा। पर शीघ्र ही सूचना मिली कि महामात्य अपने आवास पर नहीं हैं।

''हो सकता है, वे प्रपितामही को लेने गए हों।'' दुर्योधन बोला।

''तुझे ज्ञात नहीं है क्या?'' शकुनि ने दुर्योधन से कहा, ''पितामही ने कल ही इस अवसर पर उपस्थित न हो पाने के लिए अपनी असमर्थता कहलाई थी।''

''तब महामात्य के लिए विलंब करना व्यर्थ है।'' विदुरजी से दुर्योधन यों भी चिढ़ता था। उसने कहा, ''हो सकता है, वे ऐन मौके पर गंगातट पर ही मिलें।''

हम लोग जब चले तब दिन दो घड़ी चढ़ आया था।

ज्यों-ज्यों तट की ओर बढ़ते गए, भीड़ बढ़ती गई। एक स्थिति तो ऐसी आई कि आगे बढ़ना कठिन हो गया; क्योंकि अब वहाँ न कोई राजा था, न कोई प्रजा; न कोई शासक था, न शासित। हम सबकी पहचान उस असामान्य भीड़ में खो चुकी थी। हम विरह व्याकुल हस्तिनापुर के सामान्य जन हो चुके थे। हमारे सैनिक और अश्वारोही भी पीछे छूट चुके थे। विचित्र स्थिति थी। पूरी भीड़ रो रही थी। ऐसा सामूहिक रुदन तो मैंने कभी देखा नहीं था। इधर सहस्रों नयनों में समुद्र हिलोरें ले रहा था, उधर गंगा की धारा चुपचाप बह रही थी।

अब हमें उस भीड़ में किसी तरह आगे बढ़ना था। हम रुई में सुई की तरह घुसते चले गए। रुदन की धारा में शब्दों के बुलबुले अधिक मर्माहत करनेवाले थे— ''आज हस्तिनापुर को भी कौन सा दिन देखना पड़ रहा है!''

''ऐसे धर्मात्माओं का ऐसा अंत होगा, यह तो कभी सोचा भी नहीं गया था।'' यह दूसरी आवाज थी।

''जब धर्म ही सुरक्षित नहीं है तो हस्तिनापुर में और क्या सुरक्षित है?''

''अधर्म, अन्याय, स्वार्थ, महत्त्वाकांक्षा, नीचता और सिंहासन पर अँधेरा।''

''अरे रे, यह क्या कह रहा है? युवराज सुनेंगे तो तेरी खाल उधेड़ लेंगे।''

''तो क्या मैं गलत कह रहा हूँ?''

''पर यह सही कहने का समय नहीं है।'' पहले व्यक्ति ने पुनः समझाया— ''सही सोचना है तो सोच, मन में रख; पर जबान पर मत ला।''

वह थोड़ा उद्धत हुआ—''तो क्या होगा?''

''जबान काट ली जाएगी।''

''तब मेरी जबान हवा में उठेगी। वह अफवाहों से भी तेज और प्रखर होगी। वह तूफान बनकर सारे हस्तिनापुर को घेर लेगी।''

''तो तू विद्रोह करेगा?''

''विद्रोह मैं नहीं, समय करेगा। अभी वह समय नहीं आया है। अभी पितामह और महात्मा विदुर जैसे लोग यहाँ हैं। उनसे अभी हम आशा लगाए बैठे हैं।''

धीरे-धीरे आगे बढ़ते हुए हम सब सुन रहे थे। निश्चित ही इन आवाजों ने पितामह को भी छुआ होगा और महाराज धृतराष्ट्र को भी। पितामह की आकृति पर हर आवाज की प्रतिक्रिया थी। पर धृतराष्ट्र प्रतिक्रियाशून्य थे; मानो आँखों की तरह उनके कान भी जड़ हो गए हैं।

इसी समय एक तेज आवाज हमसे टकराई—''सभी तो उपस्थित हैं, पर महाराज विदुर नहीं दिखाई पड़ रहे हैं।''

फिर क्या था, हर कान को यही आवाज छूती चली जा रही थी—''विदुरजी कहीं दिखाई नहीं पड़ रहे हैं।''

''यही तो मैं भी सोच रहा हूँ।'' पितामह बोले और निरंतर जल रही उनकी अंतर्ज्वाला ने पुनः धुआँ उगला—''हे भगवान्! क्या होने वाला है इस हस्तिनापुर में?''

अब बगल में चल रहे महाराज धृतराष्ट्र ने मुझसे पूछा, ''क्या बात है, द्वारकाधीश?'' जैसे उन्हें किसी बात का पता ही न हो।

''महात्मा विदुर कहीं दिखाई नहीं दे रहे हैं, महाराज।'' मैंने कहा।

पहली बार धृतराष्ट्र की आकृति पर चिंता की रेखाएँ उभरीं—''उन्हें तो मेरे दरबार में ही आना चाहिए था। हम लोगों ने सोचा कि गंगातट पर मिलेंगे; पर यहाँ भी नहीं।···अपने आवास पर भी नहीं। आखिर वे गए भी तो कहाँ?''

अचानक कुछ दूरी पर हलका कोलाहल सुनाई पड़ा। मैंने मुड़कर देखा, दुर्योधन गंगातट की ओर से भीड़ को चीरता, धक्का-मुक्की करता बड़े आवेश में चला आ रहा है—और उसका हाथ पकड़कर उसे समझाते हुए उसके आवेश को सँभाल रहे हैं मामा शकुनि।

वह हम लोगों के सामने आकर बड़े क्रोध में बोला, ''देखा आपने, महामात्य का कहीं पता नहीं है!''

''कोई बात हो गई होगी।'' चिंतित होते हुए भी बड़े सहजभाव से महाराज बोले।

''कोई बात नहीं, यह षड्यंत्र है, षड्यंत्र। वे किसी षड्यंत्र में लगे होंगे।'' दुर्योधन ने कहा।

शीघ्र ही उसे शांत करता हुआ शकुनि बोला, ''तू तो हर बात में क्रोधित हो जाता है, दुर्योधन! अरे कोई बात हुई होगी, इसीलिए महामात्य नहीं आए। इसे तिल का ताड़ बनाने से क्या लाभ?''

शकुनि दुर्योधन को खींचता हुआ गंगातट के उस स्थान पर ले गया, जहाँ संस्कार संपन्न होने वाला था।

उधर शोकाकुल पितामह की चिंतना विचित्र द्विविधा में पड़ी।

''कोई बात अवश्य है, जो विदुर नहीं आया।'' उन्होंने मुझसे कहा। पर वे संस्कार स्थल की ओर बढ़ते रहे। अब मैं अपने साथियों के साथ पितामह का साथ छोड़कर पीछे होने की सोचने लगा। भीड़ का एक रेला आया और मेरी मंशा पूरी हुई।

मैं धीरे-धीरे पीछे हटने लगा।

''आप तट से काफी दूर होते जा रहे हैं।'' सात्यकि ने कहा।

''सोचता हूँ, मुझे इस संस्कार से दूर होना चाहिए।''

''क्यों ?''

''मैं अपने भाइयों को तिलांजलि दे नहीं पाऊँगा। मेरी मानसिकता आंदोलित है।'' मैंने कहा और एकदम पीछे अपने रथ के पास खड़ा हो गया। साथ में मेरी मित्र मंडली भी थी। सभी आश्चर्यचकित थे। सब चुपचाप मुझे देख रहे थे और मैं मौन खड़ा-खड़ा भीड़ की मानसिकता टटोल रहा था। भीड़ के हर व्यक्ति का सोच विदुरजी की अनुपस्थिति से उलझा था। सभी दुर्योधन और उसके भाइयों द्वारा की गई विदुरजी के प्रति किसी अभद्रता का परिणाम मान रहे थे।

लगभग मध्याह्न तक संस्कार चलता रहा। गंगास्नान के बाद धारा में खड़े होकर हर व्यक्ति ने तिलांजलि दी। हम लोग मौन देखते रहे। धीरे-धीरे संस्कार संपन्न हुआ। भीड़ बिखरने लगी। पितामह के साथ महाराज और उनके पीछे-पीछे कौरव बंधु मेरी ओर लपके।

''लगता है, आपने भी तिलांजलि नहीं दी।'' दुर्योधन बोला। उसके स्वर का अत्यंत टेढ़ापन लोगों को उचित नहीं लगा। महाराज और पितामह के समक्ष उसका यह दुर्विनय असहनीय था। फिर भी किसीने कुछ नहीं कहा।

''बड़ी चेष्टा की, पर उन्हें तिलांजलि देने का साहस नहीं जुटा पाया।'' मेरा स्वर अत्यधिक गंभीर हुआ। मेरी नाटकीयता का आग्रह था कि मैं रो पड़ूँ। पर मैं जीवन में कभी रोया नहीं था। जब अनुभूति नहीं तब अभिनय कैसा! मैं दार्शनिकों-सा केवल बोलता गया—''मैंने बहुत चाहा कि आप लोगों की तरह मैं भी पांडवों की स्मृति अपने से नोचकर हमेशा के लिए गंगा में फेंक सकूँ; पर मैं यह कर नहीं पाया। मुझे लगा कि पांडव मुझसे अलग नहीं हो सकते। वे मेरी आत्मा से जुड़े हैं। मैं उनकी स्मृति में खोया यहीं खड़ा रह गया।''

''यह क्यों नहीं कहते कि महामात्य ने तिलांजलि नहीं दी, इसलिए हम लोगों ने भी नहीं दी।'' दुर्योधन की उजड्डता अपनी सीमा पर थी। मुझे लगा ही नहीं कि

यह वही दुर्योधन है, जिसने द्वारका में आकर मेरे भाई से गदा शिक्षा ली थी।

फिर भी मैंने अपना संयम नहीं खोया और उसी गंभीरता से कहा, ''यह आप सोच सकते हैं; क्योंकि आपके सोच पर मेरा कोई अधिकार नहीं है। मेरा अधिकार तो केवल अपने सोच पर है।'' इसके बाद मेरी मायावी मुसकराहट अधरों पर रेंग गई।

फिर एक ऐसा माहौल बना कि किसीने न मुझसे कुछ कहा और न मैंने किसीसे कुछ कहना उचित समझा। वरेण्य लोगों के साथ मैं भी चला—मौन, चिंताकुल और गंभीर।

प्रासाद परिसर के पार्श्व में ही पितामह को उनके निवास तक पहुँचाकर मैं अपने साथियों के साथ आवास की ओर मुड़ा। देखा, सामने से महात्मा विदुर का रथ चला आ रहा है।

उनसे मिलते ही मेरा पहला प्रश्न था—''आज आप तिलांजलि देने गंगातट पर उपस्थित नहीं हुए?''

''आज आप पितामही के यहाँ आने वाले थे?'' उन्होंने मुसकराते हुए मेरे ही लहजे को दुहराया—''हम दोनों आपकी प्रतीक्षा कर रहे थे।''

''कैसे आता? कल रात में ही महाराज का निमंत्रण मिला कि पांडवों की अंत्येष्टि के अंतिम कार्यक्रम में आप उन हुतात्माओं को तिलांजलि देने के लिए उपस्थित होइए। हम सब उधर चले गए।''

''तो आपने तिलांजलि दी?''

''कैसे देता, जब आपने ही नहीं दी!'' मैंने कहा, ''क्या मैं जान सकता हूँ कि आप तिलांजलि देने वहाँ क्यों उपस्थित नहीं हुए?''

वे पुनः गंभीर हो गए। कुछ बोल नहीं पाए। बात बदलते हुए उन्होंने कहा, ''अच्छा, कल पितामही के यहाँ आपकी प्रतीक्षा करूँगा। वे आपसे मिलने के लिए व्यग्र हैं।''

''अवश्य उपस्थित होऊँगा।'' मैंने कहा।

''पर यह तो आप जानते ही होंगे कि उनका आग्रह केवल आपसे मिलने का है। आप और अपने बीच वह किसी और को नहीं चाहतीं। शायद मुझे भी नहीं।'' इतना कहकर विदुर महाराज मुसकराए।

मैंने भी उनकी मुसकराहट में अपनी मुसकराहट मिला दी; पर मेरा प्रश्न अपनी जगह पर ज्यों-का-त्यों था। मैंने कहा, ''पर मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं मिला।''

''क्या?''

''आप पांडवों को तिलांजलि देने वहाँ उपस्थित क्यों नहीं हुए?'' मैंने मुसकराते

हुए कहा।

विदुर महाराज गंभीर हो गए। उन्होंने अपनी पुरानी विवशता दुहराई—"कहने को तो मेरे पास बहुत कुछ है, पर मैं कुछ कह नहीं पा रहा हूँ।"

□

अब हम सबके मनों को महात्मा विदुर की विवशता अविचलित प्रश्न बनकर कुरेदने लगी थी। फिर भी हम अपने आवास में खुलकर उनकी इस स्थिति पर विचार करने की स्थिति में नहीं थे; क्योंकि हमारे परिचर तक हमारे नहीं थे। युवराज ने ऐसे लोगों को हमारी सेवा में लगाया था, जो हमारी गतिविधि पर अपनी कड़ी नजर रखे हुए थे।

बंद कक्ष में कुछ कहना-सुनना भी खतरे से खाली नहीं था। इसकी प्राचीरों में भी धृतरांष्ट्र के कान और दुर्योधन की आँखें उग गई थीं।

दिन जैसे-तैसे बीत गया। संध्या होते ही हम उद्यान विहार को निकले। तब भी दो परिचर हमारे साथ थे। हमें स्पष्ट कहना पड़ा—"इस समय हमें आपकी आवश्यकता नहीं है।"

"आपको हमारी आवश्यकता भले न हो, पर हमें तो अपने कर्तव्यों का पालन करना ही है, अन्यथा···" परिचरों में से एक बोलते-बोलते रुक गया।

"बोलो, बोलो। तुम 'अन्यथा' के बाद चुप क्यों हो गए?" मैंने कहा। पर वह रुका तो रुका रह गया। 'अन्यथा' के बाद उसकी जिह्वा स्थिर रह गई।

तब उसके साथी ने स्थिति सँभाली—"हमें जो कार्य सौंपा गया है, उसे तो करना ही है।"

"क्या कार्य सौंपा गया है आपको?" इस बार उद्धव बोला।

"यही कि हम किसी भी स्थिति में आपको अकेला न छोड़ें।"

"क्यों?"

"क्योंकि यहाँ की स्थिति असामान्य है।" उसने कहा, "ऐसे में आपको अकेला छोड़ना किसी अप्रत्याशित संकट से मुक्त नहीं है।"

"पर मुझे तो कोई संकट दिखाई नहीं देता और न कोई स्थिति असामान्य लगती है। अगर यहाँ कुछ भी असामान्य है तो वह है युवराज का मस्तिष्क।" मैंने अब आधिकारिक स्वर का प्रयोग किया—"अच्छा, जाकर अब आप लोग आराम करें। कुछ समय तक उद्यान विहार करके हम स्वयं आपकी दृष्टि सीमा में आ जाएँगे।"

वे दोनों बेचारे चुपचाप हट गए; पर मुझे लगता नहीं कि उनकी दृष्टि हमें छोड़ पाई होगी। वे हमारी आँखों से ओझल अवश्य हो गए, पर हम उनकी आँखों से ओझल नहीं हुए।

फिर भी हम खुलकर आपस में बातें करने लगे।

''विदुरजी की विवशता कुछ समझ में नहीं आई।'' सात्यकि बोला, ''कौरवों के समक्ष विवश हो सकते थे; पर कितना विचित्र है कि वे आपके समक्ष भी विवश थे।''

''यही बात तो मैं भी सोच रहा हूँ।'' उद्धव बोला, ''आखिर ऐसी कौन सी विवशता है कि वे तिलांजलि देने भी नहीं आए। सारा हस्तिनापुर उनके इस व्यवहार पर चकित था।''

मैं भी बड़ी उलझन में था। कुछ समझ नहीं पा रहा था। मैंने बस इतना ही कहा, ''हमारी दृष्टि की एक सीमा है; पर संसार बड़ा असीम है, उद्धव। इसका बहुत बड़ा भाग हमारी समझ और दृष्टि से परे है।''

उद्धव चुप हो गया।

अब हम लोगों ने विदुर संदर्भ पर विचार न करके उसे समय की खूँटी पर टाँग दिया। जब समय आएगा तो स्वयं ही बात स्पष्ट हो जाएगी—और कल तो हमें उनसे मिलना ही है।

□

आज जब प्रपितामही के आवास पर पहुँचा तो मुझे कुछ कहना नहीं पड़ा। पूर्व निश्चय के अनुसार मैं अकेला ही था। द्वारपाल मुझे सीधे प्रपितामही के कक्ष में ले गए। मुझे देखते ही उनकी (सत्यवती की) मुसकराहट ने मेरा स्वागत किया। लगता है, वह मेरी प्रतीक्षा कर रही थीं। उन्होंने द्वारपालों को भी सहेज रखा था।

प्रपितामही मणिजटित झूले पर बैठी थीं। सत्तर के पार की वय में भी उनके केशों पर अभी पूरा हिमपात नहीं हुआ था। जैसे पूर्णिमा का चंद्रमा रात की श्यामता पर दुधिया पोत देता है वैसे ही समय ने उनके बालों की श्यामता पर कुछ सफेदी अवश्य चढ़ा दी थी; पर आकृति वैसी ही भभकती हुई—वय की थकान से अछूती। उनकी संपूर्ण शरीरयष्टि धवल वस्त्रों से परिवेष्ठित, पुराने हिम शिखर की तरह आकर्षक और शीतल।

उन्हें देखने से ऐसा कुछ भी नहीं लगा कि उनके ऊपर से कोई विपत्ति गुजरी है या उन्होंने किसी दुर्घटना का सामना किया है।

मुझे उन्होंने अपनी बगल में झूले पर बैठाया। मैंने देखा, सामने विदुरजी भूमि पर बैठे हैं। ऐसे में मैं कैसे झूले पर बैठता! मैं भी झट भूमि पर बैठने लगा।

''नहीं, तुम मेरी बगल में बैठो।'' प्रपितामही ने कहा।

''चाचाजी तो भूमि पर बैठे हैं।'' मैंने कहा।

''मेरा स्थान यहीं है, द्वारकाधीश।'' विदुरजी ने कहा। दासीपुत्र होने के कारण

इतना ज्ञानगर्भित होने पर भी विदुरजी में एक प्रकार की हीनभावना सदा रही। जीवन के अंत तक वे इससे मुक्त नहीं हो पाए। और यहाँ तो वे अपनी पितामही के समक्ष थे।

निदान, मैं प्रपितामही की बगल में ही बैठा रहा। उन्होंने चारों ओर देखा, कहीं कोई है तो नहीं। जब उन्हें कक्ष में हम तीनों के अतिरिक्त किसीके न होने का विश्वास हो गया, तब उन्होंने मेरे कान में धीरे से कहा, ''पांडव और कुंती जीवित हैं।''

मुझे तो ऐसा लगा जैसे रात्रि के गर्भ में अचानक सूर्य निकल आया हो।

''यह क्या कह रही हैं आप?'' मेरे चकित विश्वास ने वाणी ली।

''पर है यही सत्य।'' प्रपितामही बोलीं, ''अब तक इस सत्य को हस्तिनापुर में दो ही व्यक्ति जानते थे। अब तुम भी जान गए। यह संख्या तीन हो गई।''

''मैं जान सकता हूँ कि वह दूसरा व्यक्ति कौन है?''

प्रपितामही ने भूमि पर बैठे विदुरजी की ओर संकेत किया। वह मुसकराने लगे।

''मैं तो आपसे कई बार मिला था, पर कभी आपने चर्चा नहीं की?'' मैंने विदुरजी से कहा।

''मैं चर्चा करने की स्थिति में नहीं था। मैंने अपनी विवशता के संबंध में संकेत दिया था कि मेरे पास कहने को बहुत कुछ है, पर मैं कह नहीं पा रहा हूँ।''

''इसका दोषी तुम विदुर को नहीं, मुझे ही मानो।'' प्रपितामही बोलीं, ''मैंने इन्हें शपथ दिलाई थी कि इस घटना को मेरे-तुम्हारे अतिरिक्त कोई और न जाने।''

''ऐसी स्थिति में मैं आपको कैसे बताता?'' अब विदुरजी की विवशता स्वयं स्पष्ट हो गई थी।

''यही बताने के लिए मैं तुमसे मिलना चाहती थी।'' प्रपितामही बोलीं, ''पर तुम यहाँ की स्थिति की कल्पना नहीं कर सकते।''

''कल्पना क्या, मैं अपनी आँखों देख और अनुभव कर रहा हूँ।'' मैंने कहा।

इसी बीच एक परिचारिका आई। हम लोग एकदम चुप हो गए। उसने कहा, ''नागदत्त (दुर्योधन का एक भाई) आए हैं। उन्होंने आपसे मिलने की इच्छा व्यक्त की है।''

''उनसे कहो कि इस समय मैं एक आवश्यक कार्य में व्यस्त हूँ। संध्या समय आने की चेष्टा करें।''

परिचारिका चली गई।

''देखा, उन लोगों को पता चल गया है कि तुम यहाँ आए हो।'' प्रपितामही बोलीं। इसके बाद कुछ सोचते हुए उन्होंने बड़ी वितृष्णा से कहा, ''बंदिनी न होकर

भी मैं एक बंदिनी का जीवन जी रही हूँ। तुमने सोचा होगा कि तुम्हारे मामाजी ही ऐसे थे, जिन्होंने अपने पिता को बंदी बनाया था। अब तुम अपनी आँखों से देख लो, मेरे पौत्रों ने मेरी दशा उनसे कोई अच्छी नहीं रखी है।''

''आप ही नहीं, मुझे तो लगता है कि आज पूरा हस्तिनापुर बंदी है।''

''कुछ को छोड़कर।'' उन्होंने मेरे कथन में संशोधन किया। फिर वे किसी चिंता में डूब गईं। क्षण भर बाद उनके मानसिक तनाव की अभिव्यक्ति हुई—''इस जीवन को जीने से अच्छा मर जाना है।''

''नहीं-नहीं, आपको ऐसा नहीं सोचना चाहिए। अभी तो हम लोगों को आशीर्वाद देने के लिए जीना ही होगा।'' मैंने कहा। वह चुप होकर कुछ सोचने लगीं।

इस संक्षिप्त अंतराल में एक के बाद एक विगत घटनाओं के कई चित्र मेरे मस्तिष्क में उतरने लगे। वारणावत का वह राख हुआ लाक्षागृह, अरण्य की ओर मिली वह विशाल गुफा, फिर तिलांजलि के समय विदुर और प्रपितामही का अनुपस्थित रहना—सब एक ही घटना के विभिन्न पक्ष-से मुझे लगे।

''हाँ, तो तुम्हें मैंने एक काम के लिए बुलाया है।'' प्रपितामही ने पुन: अपने चारों ओर देखा, कहीं कोई देख तो नहीं रहा है—''कहीं ऐसा न हो कि मैं तुमसे मुख्य बात कह भी न पाऊँ और कोई आ जाए।'' धीरे-धीरे उन्होंने सारी कहानी कह सुनाई।

उन्होंने जो कुछ बताया, उसका सारांश था कि यह सारा षड्यंत्र दुर्योधन और शकुनि के मस्तिष्क की उपज था। उसमें भी मुख्य भूमिका शकुनि की थी। उसने पांडवों को अपने भानजे के रास्ते से हटाने के लिए पुरोचन से लाक्षागृह बनवाया था। उसके षड्यंत्र का आभास विदुर को लग चुका था। जाते समय जब युधिष्ठिर उसका आशीर्वाद लेने गया तब उसने संकेत से इस षड्यंत्र का ज्ञान उसे करा दिया था और ऐन मौके पर महल के पीछे जंगल की ओर एक गुफा बनाकर उन्हें निकल भागने के लिए अपना खनक भी भेजा था—तथा गंगा में एक नाव भी तैयार रखी थी। पांडव उसी गुफा से निकलकर जंगल में भागने में सफल हो गए।

मैंने उन्हें बताया कि वह गुफा मैंने देखी है। उसके भीतर भी मैं गया था। अनुमान के लिए मैंने बाण भी मारा था; पर एक सनसनाहट के साथ वह खो गया।

''उस गुफा से तुमने कुछ अनुमान तो लगा ही लिया होगा!'' प्रपितामही बोलीं।

''लाक्षागृह की राख में तुम्हारा बाण भी ढेर हो गया होगा।'' विदुरजी बोले और मुसकराने लगे।

अब प्रपितामही बोलीं, ''अब मैं तुम्हें एक काम सौंपती हूँ। मेरा विश्वास है कि तुम उसे कर सकते हो।''

''अब तुम पांडवों का पता लगाओ कि वे कहाँ और किस स्थिति में हैं। यह काम मैं किसी और से नहीं ले सकती।...और यह भी याद रखो कि हस्तिनापुर में इस तथ्य को जाननेवाले इस समय हम तीन ही व्यक्ति हैं। चौथे को यह गंध भी न लगे कि पांडव जीवित हैं।''

''पर चौथा तो सबकुछ जानता है।''

प्रपितामही एकदम सकते में आ गईं—''कौन है वह चौथा?''

''उस गुफा का खनक।'' मैंने कहा और हँसने लगा। मेरी हँसी में प्रपितामही और विदुरजी की हँसी भी सम्मिलित हो गई।

''तुम भी किसी बात को कितना रहस्यमय बनाकर कहते हो!'' प्रपितामही बोलीं, ''खनक भी पांडवों के साथ ही चला गया। इस रहस्य को जाननेवाले हम तीन ही हैं और तुम्हारे चले जाने के बाद दो ही रहेंगे—मैं और विदुर।''

''पर एक रहस्य तो मेरे सामने अब भी है।'' मैंने कहा।

''क्या?''

''जब पांडव और कुंती बुआ लाक्षागृह से निकल भागे, तब वहाँ शव किसके पाए गए?''

''यह तो नियति का अद्‌भुत खेल है, जिसने पांडवों के जीवन को मृत्यु की आड़ में सुरक्षित कर दिया।'' इसके बाद उन्होंने विस्तार से बताया कि एक भीलनी अपने पाँच बच्चों के साथ उसी दिन वहाँ आश्रय लेने आई थी और वे सबके सब जल मरे।

''इसका तात्पर्य है कि नियति पांडवों की सहायक है।'' मैंने कहा, ''तब कोई उनका कुछ बिगाड़ नहीं सकता।''

अब मैं प्रणाम कर चलने को हुआ। उन्होंने चलते-चलते कहा, ''देखो, हस्तिनापुर की परिधि में अपने मित्रों से भी इस सत्य का उद्‌घाटन मत करना।...और हस्तिनापुर से तुम्हारा प्रयाण भी चुपचाप होना चाहिए—बिना किसीसे मिले, बिना किसीसे बिदा लिये।''

''क्यों?''

''क्योंकि यदि तुम बिदा लेने के चक्कर में पड़ोगे तो रहस्य खुल भी सकता है। फिर दुर्योधन कुछ दूर तक अपने दूत तुम्हें बिदा करने के बहाने भेजेगा। इससे तुम्हारे मार्ग की गुप्तचरी का अँदेशा बढ़ जाएगा।''

मैंने देखा कि अनुभव भी ज्ञान से कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता।

दूसरे दिन ब्राह्म मुहूर्त के पूर्व ही जब हम अपने आवास से चुपचाप निकले, प्रहरी द्वार पर ऊँघ रहे थे। भोर का तारा अभी उगने से बहुत दूर था। □

तीन
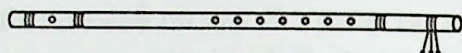
हम लोगों ने यह यात्रा नौका से ही आरंभ की।

किंतु हमें किधर चलना चाहिए, इसका कुछ पता नहीं। लक्ष्यहीन, गंतव्यरहित, अनजान क्षितिज की ओर हम आगे बढ़े। यही बड़ी और यांत्रिक तरणी महात्मा विदुर द्वारा ठीक की गई थी। हमारे नाविक को भी लक्ष्य का पता नहीं था।

मैंने प्रसंगवश जब बात चलाई तो उसने इतना ही बताया—''रात्रि के घने अंधकार में कोई व्यक्ति मेरे यहाँ आया था और उसने बस इतना ही कहा कि तुम्हें नाव लेकर जाना है।

''मैंने पूछा, 'कहाँ?'

'' 'इसका तो हमें पता नहीं है।' उसने कहा।

'' 'तब गंतव्य का कौन निश्चय करेगा?'

'' 'भविष्य!' उसने कहा और मैं इस रहस्य को समझ नहीं सका। कुछ समय तक मैं उस व्यक्ति को देखता रहा। फिर पर्णों से भरी एक छोटी थैली उसने मुझे थमाई और कहा, 'तुम अपनी नाव घाट के पूरब कुछ आगे बढ़कर लगाना, तुम्हारी सवारियाँ वहीं तुमसे मिलेंगी।'

'' 'अच्छी बात है।' मैंने कहा; 'सवारियों को तो अपना गंतव्य मालूम होगा?'

'' 'शायद उन्हें भी न मालूम हो।' उस व्यक्ति ने कहा, 'तुम इस विवाद में क्यों पड़ते हो? जहाँ वे कहें वहाँ ले जाना। और जितने दिन लगे, उनकी सेवा में रहना। जब तक वे तुम्हें न छोड़ें, तुम उन्हें मत छोड़ना। इन पर्णों से तुम्हारे परिवार के कई माह के भरण-पोषण की व्यवस्था हो जाएगी। फिर मैं हर महीने तुम्हारे परिवार की सुधि लेता रहूँगा।' ''

नाविक ने बताया—''फिर मैंने उस अज्ञात व्यक्ति को नहीं छेड़ा—और छेड़ने से लाभ भी क्या था! जब भविष्य ही मुझे सबकुछ बताने वाला है तब मैं उसकी प्रतीक्षा ही क्यों करूँ?'' फिर शांत हो गए।

इस प्रकार हमारी यह रहस्यमय यात्रा ब्राह्म मुहूर्त में, तारों की छाँव में आरंभ हुई।

नाव में बैठते ही नाविक का पहला प्रश्न था—"किधर चलूँ?"

अब क्या उत्तर देता? और मैं यदि उत्तर न देता तो वह क्या सोचता? पहले तो मन में आया, कह दूँ कि जिधर तुम्हारी इच्छा हो, उधर चलो। मेरा यह अनिश्चय उसे द्विविधा से अधिक संशय में डाल देता कि कैसे हैं ये लोग, जिन्हें गंतव्य का पता नहीं, यात्रा की बागडोर भी मेरे हाथों में सौंप रहे हैं।

मैंने सोचना आरंभ किया कि भागनेवाले की दृष्टि सदा गति पर होती है। सोचता कि जितना शीघ्र हो, मैं इस क्षेत्र से निकल चलूँ। ऐसे में पांडव कभी भी धारा के विपरीत तो गए नहीं होंगे। फिर विदुरजी ने भी नाव घाट के पूरब की ओर हटकर लगवाई है। कदाचित् उनका भी संकेत यही है कि हमें पूरब की ओर धारा का सहगामी होना चाहिए।

मैंने नाविक को निर्देश दिया कि नाव को धारा में छोड़ दो। हवा का रुख भी कुछ ऐसा ही कह रहा था। उसने यही किया और नाव पालों का पंख लगा धारा पर उड़ने लगी।

लंबी यात्रा के लिए यह बड़ी सुविधाजनक नाव थी। इसपर एक छोटी सी पर्णकुटी बनी हुई थी, जिसमें भोजन आदि और रहन-सहन की पूरी व्यवस्था थी। भीतर और बाहर (खुले में भी) आस्तरण बिछे थे। हम लोग उसी आस्तरण पर लेट गए। रात्रि के अंतिम प्रहर का मलयानिल हमें सहलाने लगा। धारा का कल-कल हमें लोरियाँ सुनाने लगा और हम सो गए।

सूर्य की पहली किरण की ऊष्मा के साथ ही·हमारी आँखें खुलीं। गंगा में स्वर्ण पिघलकर बह चला था। वायु में अग्निहोत्र की सुरभि थी। मैंने सोचा, अवश्य ही यहाँ कोई आश्रम होगा। थोड़ी देर तक हमारी दृष्टि चारों ओर चकपकाती रही। ऐसा सुरभित, ऐसा आकर्षण, मनमोहक वातावरण हमें द्रवित कर देनेवाला था।

थोड़ा और आगे बढ़ने पर सुमधुर कंठ संगीत की तरंगें मेरे कानों से टकराईं। मुझे ऐसा लगा कि यह स्वर्णिम क्षितिज ही भैरव का अलाप कर रहा है। ऐसी लयमयता और श्रुति-मधुर कंठ किसी सामान्य गायक का तो नहीं हो सकता। अवश्य ही यह कोई संगीत का सिद्ध साधक या गंधर्व है। मुझे अचानक अपने संगीत गुरु का स्मरण हो आया।

ज्यों-ज्यों नाव आगे बढ़ती गई, संगीत लहरी तेज हो गई। मेरे मर्म को छूती गई और मैं विभोर होता गया। मेरे साथियों में संगीत के प्रति ऐसी संवेदनशीलता नहीं थी। उन्हें बस इतना लग रहा था कि दूर, कहीं दूर से कोई गा रहा है। पर मेरी मन:स्थिति स्वर्गिक सुख का आनंद ले रही थी। मैंने भी अपनी वंशी निकाली और भैरव की तान छेड़ी। वायु लहरियाँ थिरक उठीं। इस स्वर धारा में गंगा की धारा भी

स्पंदित हुए बिना न रह सकी।

कंठ स्वर और भी तेज हुआ। लगता है, गायक अपने में मस्त और मैं अपने में मस्त। अब मेरे साथी भी इस स्वर लहरी से अछूते न रह सके। वे भी सम पर थाप देने लगे।

नाविक भी इस प्रभाव से मुक्त नहीं था। उसने कान लगाए कि आखिर यह संगीत कहाँ से आ रहा है। उसने पाल को थोड़ा व्यवस्थित किया। नाव उधर को चल पड़ी, जिधर से कंठ संगीत आ रहा था।

मेरी वंशी का स्वर लगता है, उस गायक के कानों में भी पड़ा। वह भी मेरी ओर खिंचा चला आया। हम दोनों एक-दूसरे की ओर बढ़ रहे थे—और जब नाव किनारे लगी, वह तट पर खड़ा मुसकरा रहा था। प्रौढ़ता की ओर बढ़ता उसका आकर्षक व्यक्तित्व अपने कैशोर्य की कोमलता को सँजोए था।

"अरे, यह आप हैं!" उसने मुझे देखते ही पहचान लिया—"तभी तो मैं सोच रहा था कि इतनी राग-रस भरी वंशी कौन बजा रहा है!"

पर मैं तब भी उसे पहचान नहीं पाया। वंशी अधरों से हट चुकी थी। मैं उसे पहचानने की चेष्टा कर रहा था।

"आप मुझे पहचान नहीं रहे हैं। मैं आपसे मिला हूँ, जब आपके संगीत गुरु ने वृंदावन में डेरा डाला था। उस समय आप छोटे थे।" उसने बताया।

अब मैंने उसे अपनी नाव पर सादर बुलाया। उसके आ जाने पर मैंने कहा, "पर मुझे स्मरण नहीं हो रहा है।"

"मैं चित्ररथ गंधर्व हूँ। उत्कोचक तीर्थ में आया था। यहाँ की प्रकृति ने ऐसा मोह लिया कि इधर से जाने की इच्छा ही नहीं हो रही है।"

"क्या उत्कोचक तीर्थ यही है?"

"यहाँ से थोड़ी दूर पूरब की ओर। आप लहरों के सहारे भी चले चलेंगे तो दोपहर तक पहुँच जाएँगे।"

मैंने नाव को उस ओर बढ़ाने का निर्देश दिया। उसने पाल को थोड़ा और घुमाया और नाव चल पड़ी।

"आप इधर कहाँ जा रहे हैं?" चित्ररथ ने पूछा।

कैसे कहूँ कि मेरा गंतव्य मुझे मालूम नहीं है। मैंने तुरंत कहा, "चला तो कांपिल्य की ओर हूँ; पर देखिए, यह धारा कहाँ ले जाती है!"

"इसका तात्पर्य है कि गंतव्य की द्विविधा में हैं।"

"यह बात तो नहीं है।" मैंने दार्शनिकों की चिंतनशील मुद्रा में कहा, "मैं गंतव्य से अधिक गति पर विश्वास करता हूँ; यद्यपि गंतव्य मेरे लिए अविश्वस्त नहीं

है। मेरे जैसे कर्म पर विश्वास करनेवाले लोग, फल को अपनी दृष्टि से रखते हुए भी, कभी फल पर सोचते नहीं; क्योंकि फल पर मुझसे कहीं अधिक अधिकार नियति का है।''

वह मुझे बड़ी गंभीरता से सुनने लगा। मुझे लगा कि उसका चिंतन कुछ उलझ गया है। मैंने अपने कथन की स्वयं व्याख्या की—''अब देखिए, कहने को तो मेरा गंतव्य कांपिल्य है; पर किसे मालूम था कि मार्ग में आप जैसा गंधर्व मिल जाएगा और मुझे उत्कोचक तीर्थ याद दिलाएगा। फिर ऐसा कौन अभागा होगा, जिसके मार्ग में उत्कोचक तीर्थ पड़े और वह आचार्य धौम्य के दर्शन न करे!'' मैं मुसकराते हुए बोलता गया—''मैंने अपने कर्म का यह पुनीत फल तो नहीं सोचा था। जब मैंने यह यात्रा आरंभ की थी तब भी नहीं—आपके मिलने के एक क्षण पूर्व भी नहीं। यह नियति की एक अप्रत्याशित वरदान है, जो मिलने जा रहा है।''

मैं अनुभव करता हूँ कि युद्ध में मोहग्रस्त अर्जुन के समक्ष मेरे मुख से जो 'गीता' निकली थी, उसके अनेक अंशों को मैं जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में जीता रहा हूँ। इसलिए वह मेरा मात्र जीवन दर्शन नहीं है वरन् मेरे भोगे गए यथार्थ के टुकड़ों का संग्रह है।

फिर बात आकर महर्षि धौम्य पर केंद्रित हो गई। मैंने कहा, ''महर्षि धौम्य के समान आर्यावर्त्त में इस समय कुछ ही आचार्य होंगे, जिनका शस्त्र और शास्त्र पर सम्यक् अधिकार हो। उनकी शिष्य परंपरा भी बड़ी उज्ज्वल और यशस्वी है। ये अनेक नामों और संज्ञाओं से अभिहित होते हैं। आग्नेयास्त्रों के अपूर्व ज्ञान के कारण इन्हें 'अग्निवेश्य' भी कहते हैं। आचार्य द्रोण और द्रुपद—दोनों ने इस आश्रम में शिक्षा पाई थी।''

''पर आचार्यजी शस्त्र विद्या को लगभग तिलांजलि दे चुके हैं।'' चित्ररथ मेरी बात के बीच में ही बोला। उसने बताया कि उनकी इस अरुचि के कारण अब आश्रम में शिष्यों की संख्या भी काफी घट चुकी है।

''आचार्य की ऐसी अरुचि का कोई कारण?''

''कोई स्पष्ट कारण तो नहीं दीखता।'' चित्ररथ बोला, ''एक दिन आचार्य सांदीपनि आए थे। शायद वे कांपिल्य से लौट रहे थे। उन्होंने इस विषय पर आचार्य धौम्य को छेड़ा—'शस्त्र ज्ञान की शिक्षा समाप्त कर आपने उचित नहीं किया।'

'' 'क्यों?'

'' 'केवल शास्त्र ज्ञान से जीवन का न तो सम्यक् विकास हो सकता है और न आज के समाज में उसकी अनिवार्यता अस्वीकारी जा सकती है।'

'' 'जीवन की अनिवार्यता में शस्त्र कभी नहीं आता। शस्त्र की मनुष्य को उस

समय आवश्यकता पड़ी, जब जीवन में ईर्ष्या और द्वेष ने प्रधानता पाई थी।' धौम्य बोले, 'तब से यह हिंसा का प्रतीक ही रहा।'

" 'सुरक्षा का आधार नहीं?' आचार्य सांदीपनि बीच में ही बोल पड़े।" चित्ररथ ने बताया—"इतना सुनते ही आचार्य धौम्य आवेश में आ गए।

"उन्होंने कहा, 'किसकी सुरक्षा और कहाँ सुरक्षा? इस क्षणभंगुर शरीर की सुरक्षा, जिसकी नश्वरता पर हमें अभिमान है?'

"फिर आचार्य धौम्य जोर से हँसे—'मनुष्य भी कितना मूर्ख है! वह अपनी रक्षा के लिए विनाश का सामान जुटाता है, अपनी शीतलता और शांति के लिए अपने ही चारों ओर अग्नि प्रज्वलित करता है। यदि शस्त्रों से ही मनुष्य की सुरक्षा होती तो आज मनुष्य पहले से अधिक अरक्षित न होता। कितने घातक अस्त्र हैं उसके पास! मंत्रसिद्ध अस्त्रों की दौड़ में उसने ब्रह्मास्त्र तक पा लिया। पर और अधिक असुरक्षित हो गया है; क्योंकि सुरक्षा का प्रश्न जुड़ा है आक्रामकता से। ये अस्त्र आक्रामक पहले हैं, सुरक्षात्मक बाद में।' "

चित्ररथ ने आगे बताया—"इतना कहने के बाद आचार्य धौम्य और जोर से हँसे। उस समय उनकी ओजस्विता और चिंतना आचार्य सांदीपनि पर भारी पड़ी।

"वे कहते जा रहे थे—'आज मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु तो मनुष्य स्वयं है; वरन् उसका वास्तविक शत्रु है मनुष्य के भीतर कुंडली मारकर बैठा उसका अभिमान, उसकी ईर्ष्या, उसका द्वेष। शस्त्र उसके कारण हैं, उसके हथियार हैं।'

"इसी संदर्भ में उन्होंने अपने शिष्य द्रोण एवं द्रुपद की चर्चा की और कहा, 'आज दोनों अपने शस्त्र ज्ञान से उतने परेशान नहीं हैं, जितने अपनी ईर्ष्या या अहं से।'

" 'तो आप क्या समझते हैं कि आप द्वारा शस्त्र शिक्षा न देने से शस्त्र संसार से समाप्त हो जाएँगे?' आचार्य सांदीपनि ने कहा।

"आचार्य धौम्य क्षण भर के लिए मौन हो गए। फिर बोले, 'समाप्त तो नहीं होंगे। यदि शस्त्र समाप्त हो जाते तो यह संसार बहुत अच्छा हो जाता। कुछ भी हो, अब मैंने स्वयं को इस पाप से मुक्त कर लिया।' और वे हँसने लगे।"

इस चर्चा से मेरे मन में बनी उनकी छवि और भी पूज्य हो गई। मेरी कल्पना 'धौम्यस्मृति' के निर्माता के संबंध में यथार्थ के धरातल पर आई। उनके मुख से उनकी स्मृति सुनने की प्रबल इच्छा जागी। मेरे साथियों ने भी ऐसे स्मृतिकार के दर्शन करने की लालसा व्यक्त की।

लेकिन चित्ररथ ने कहा, "वे इस समय आश्रम में हैं नहीं।"

"किधर पधारे हैं?"

चित्ररथ कुछ बोला नहीं, केवल मुसकराने लगा। उसकी मुसकराहट बड़ी रहस्यमय थी।

''लगता है, आप कुछ छिपा रहे हैं!''

''नहीं-नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है।'' उसे लगा कि जिस वस्तु को वह ढकना चाहता है, वह स्वयं उघड़ रही है। उसने तुरंत कहा, ''अभी कल ही तो गए हैं पाँच ब्राह्मणों के साथ।''

''पाँच ब्राह्मणों के साथ!'' मेरे कान खड़े हो गए।

''उन ब्राह्मणों के साथ उनकी माँ भी थी।'' चित्ररथ बोला।

मेरी शंका को और भी बल मिला। मैंने अब अपने साथियों की ओर देखा। मुझे लगा जैसे वे भी अँधेरे में टटोलते समय कुछ पाने का अनुभव कर रहे हैं।

चित्ररथ ने तुरंत हमारी मानसिकता ताड़ ली। उसने बात को दूसरी ओर ढकेलते हुए पूछा, ''आप लोग किधर से आ रहे हैं?''

''हस्तिनापुर से।'' मैंने झटके में कहा।

वह मुसकराया—''तब तो आप लोगों ने बहुत कुछ जाना होगा।''

''जाना ही नहीं है, देखा भी है।''

''क्या आपने लाक्षागृह भी देखा है?''

चित्ररथ से लाक्षागृह का नाम सुनते ही मुझे लगा कि यह सबकुछ जानता है, अन्यथा इसे कैसे मालूम होता कि वारणावत में बना भवन लाक्षागृह था।

''तो आप लाक्षागृह को भी जानते हैं! तब तो आप इस तथ्य को जानते होंगे कि पांडव और आपकी बुआ कहाँ गईं?''

मुझे हँसी आ गई। मुझे चित्ररथ एक ऐसा व्यक्ति दिखाई दिया, जिसके पेट में बात पचाए नहीं पचती। उसकी व्यग्रता स्वयं को उधेड़ देना चाहती थी। उसने अपनी विवशता बताते हुए कहा, ''क्या करूँ? मैं आचार्य के आदेश से बँधा हूँ।''

''क्या बँधे हो? यही न कि यह तथ्य किसीको मत बताना कि ये पाँचों ब्राह्मणकुमार पांडव हैं?''

मुझसे इतना सुनते ही उसने अधरों पर अँगुली रखकर चुप रहने का संकेत दिया; जैसे वह इस सत्य को बहती हवा से भी छिपाना चाहता हो।

वह धीरे-धीरे खुलने लगा—''पांडव वारणावत से सीधे आचार्य धौम्य के आश्रम में ही आए थे। उस समय मैं भी था। उन्होंने उनसे आशीर्वाद लिया और अपनी सारी स्थिति बताई। आचार्यजी को दया आ गई। उनके शिष्यों के साथ मैं भी द्रवित हो गया। धर्मपुत्र के प्रति इतना बड़ा अधर्म! पर ऐसा बहुत दिनों तक नहीं चलेगा। अंत में धर्म की ही जय होगी। आचार्यजी ने पहले उन्हें ढाढ़स बँधाया। वे

लोग दो दिनों तक यहाँ रहे भी। तीसरे दिन आचार्यजी ने स्वयं उनसे कहा, 'आप लोग हस्तिनापुर की सीमा से बहुत दूर नहीं हैं। यदि बात खुल गई तो आप फिर संकट से घिर जाएँगे। अभी आपका समय भी ठीक नहीं चल रहा है।'

" 'तो क्या करूँ, ऋषिवर?' चित्ररथ का कहना था कि युधिष्ठिर ने बड़े विनीत भाव से पूछा। तब आचार्यजी ने सलाह दी कि 'आप लोग ब्राह्मण का वेश बनाकर जंगल की ओर निकल जाइए।'

" 'ऐसी स्थिति में बिना किसी मार्गदर्शक के हम कहाँ जाएँगे?' उनकी माता कुंती अधीर हो उठीं। तब आचार्यजी ध्यानावस्थित हुए और बोले, 'आप लोगों की सुरक्षा हस्तिनापुर के किसी विरोधी राजा के राज्य की सीमा में ही संभव है। उचित होगा, यदि आप लोग पांचाल की सीमा में चले जाएँ।'

" 'पर द्रुपद तो मुझे देखते ही उबल पड़ेगा।' अर्जुन बोला।

" 'इसीलिए तो कहता हूँ कि तुम अर्जुनत्व यहीं छोड़ दो और ब्राह्मण बन जाओ। फिर न द्रुपद तुम्हारा शत्रु और न तुम द्रुपद के अपमानकर्ता।' "

चित्ररथ का कहना था—"उनकी माँ कुंती इतनी आतंकित थीं कि वे इस सलाह पर भी आश्रम छोड़ना नहीं चाहती थीं। वे बोलीं, 'महाराज, आप अपनी छत्रच्छाया से हमें वंचित मत कीजिए।'

"तब मैंने आचार्यजी से आग्रह किया कि 'आप क्यों नहीं इन लोगों के पुरोहित हो जाते और इनका मार्गदर्शन करते?'

"बहुत कहने-सुनने पर आचार्य धौम्य मान गए और उन्होंने पांडवों का पुरोहित होना स्वीकार किया। उन्होंने कहा, 'बहुत दिनों से मेरी भी देशाटन की इच्छा थी। चलो, तुम लोगों के निमित्त ही मुझे अवसर मिला।' और उसी रात उन ब्राह्मण कुमारों तथा उनकी माता को लेकर आचार्य चले गए।"

"चलते समय आचार्य ने कुछ कहा नहीं?" मैंने पूछा।

"यह तो मुझे नहीं मालूम।" चित्ररथ बोला।

"अब आश्रम की व्यवस्था किसके हाथ में है?"

"अस्थायी तौर पर उनके शिष्य ही देख रहे हैं।" उसने बताया।

अब हम लोगों ने आश्रम देखने का विचार त्याग दिया। जब आत्मा ही नहीं तब शरीर देखकर क्या करूँगा।

मैंने नाव आगे बढ़ाने का आदेश दिया। चित्ररथ वहीं रह गया।

"आप हमारा मार्गदर्शन नहीं करेंगे?" मैंने कहा और वह मुसकराने लगा।

□

कार्तिक की धूप अपनी प्रखरता खो चुकी थी। दिन दोपहरी की ओर बढ़ने लगा

था। लहरों को छूकर आती हुई हवा अब भी ठंडी थी। मध्याह्न होते-होते हमारी नाव एक जंगल के साए में लेटे तट पर लगी। पालं की डोर खोलते हुए नाविक ने कहा कि कुछ समय के विश्राम के लिए यह स्थान उत्तम है। लंगर डालकर वह कूदकर किनारे पर आ गया और कुछ ही क्षणों में लौटकर नाव पर बनी पर्णकुटी के पास रखी एक टोकरी से दो मछलियाँ निकालीं।

''अरे, इसे तुम कब लाए?'' सात्यकि ने मुसकराते हुए पूछा।

''आप लोग जब उस गंधर्व से बातों में लगे थे, तब मैं अपनी बंसी के सहारे दोपहर के भोजन का जुगाड़ कर रहा था।'' उसकी मुसकराहट का हमारी सहज हँसी ने अनुसरण किया।

चित्ररथ को छोड़ने के बाद हमारी मानसिकता पांडवों में और उलझ गई। हम उन्हींके विषय में सोचते रहे।

''मेरा विचार है कि हमने धौम्य आश्रम छोड़कर अच्छा नहीं किया। हमें उत्कोचक तीर्थ में ही रहना चाहिए।'' मैं सोचते हुए बोला।

''क्यों?''

''हो सकता है, उन्होंने अपने कार्यक्रम के बारे में अपने शिष्यों को कुछ बताया हो।'' मैंने कहा।

''तो क्या फिर आश्रम की ओर चलना चाहिए?'' रक्ताक्ष बोला।

''अब वहाँ जाने पर लोगों को हमारे संबंध में संदेह होगा। वे हमें दुर्योधन द्वारा भेजा हुआ गुप्तचर समझ सकते हैं। फिर जिस मार्ग से बढ़ आया उधर लौटना मेरी प्रकृति में नहीं है।'' पुनः क्षण भर रुककर मैंने कहा, ''इतना तो स्पष्ट है कि वे कहीं पांचाल की सीमा में ही होंगे; तब लौटने का प्रश्न कहाँ!''

''पर चित्ररथ के मिलने के पूर्व मेरा अनुमान कुछ दूसरा था।'' उद्धव बोला, ''मैं सोचता था कि वे नानाजी के क्षेत्र में चले गए होंगे। अपने को छिपाने के लिए वह क्षेत्र अच्छा है।''

''अच्छा भी और खतरनाक भी।'' मैंने कहा, ''मैंने सुना है कि उस क्षेत्र में अधिकतर घने जंगल हैं। उनमें आदिवासी और असभ्य लोग रहते हैं। उनमें ऐसी भी जातियाँ हैं, जो मनुष्यों को मारकर खा जाती हैं। उन्हें 'राक्षस' कहते हैं।''

ज्ञातव्य है कि मेरु के उत्तर में नागखंड का विशाल क्षेत्र मेरे परनाना आर्यक के राज्य में था। अभी वे जीवित थे। उनकी आयु शतक पूरा कर चुकी थी। आर्यक की पुत्री मारिषा से मेरे पितामह शूर का विवाह हुआ था। परनाना का प्रदेश होने के नाते हम लोगों का आकर्षण उधर होना स्वाभाविक था। पर मैंने वह प्रदेश देखा नहीं, केवल सुना था। मैंने उद्धव से पूछा, ''तुम कभी उधर गए हो?''

''गया तो नहीं हूँ; पर पता नहीं क्यों, यह बात मेरे मन में आई कि हो-न-हो, पांडव उधर ही हों।''

''परनाती का मन ननिहाल की ओर बड़ी सरलता से चला जाता है। कदाचित् तुम इस मनोविज्ञान से प्रभावित हो।'' मेरी बात पर सभी हँस पड़े।

बात आई-गई और समाप्त हो गई। हम लोग मध्याह्न भोजन की बात सोचने लगे। हमारी नाव की पर्णकुटी में बाँस के बने कई झाँपे रखे थे। उनमें तरह-तरह के पकवान और मोदक भरे हुए थे। कई दिनों के लिए यह हमारे आपातकालीन भोजन की व्यवस्था थी। यह सबकुछ महात्मा विदुर के प्रयत्न का फल था।

हम लोगों ने आज की दोपहरी उन्हीं मोदकों पर काटी।

नाव आगे बढ़ती गई। हमारी दृष्टि अब बराबर दोनों तटों पर लगी रही। कौन जाने, जिन्हें हम खोज रहे हैं, वे इन्हीं तटों पर भटकते मिल जाएँ। हमारी प्यासी दृष्टि बराबर तटों को छूती नाव के साथ आगे बढ़ती रही।

हमारा गंतव्य नाव के दाहिने तट पर पड़ेगा। यह जानते हुए भी हम मध्य धारा के बाएँ से चल रहे थे। इस संबंध में हमने अपने नाविक से कहा भी। उसका उत्तर था कि इस समय हवा दक्षिण-पूर्व की है। मनुष्य धारा के बाएँ से चलने में हमारी यात्रा गतिशील और सुरक्षित रहेगी।

''उधर ही चलने दीजिए।'' श्वेतकेतु ने भी नाविक की बात का समर्थन किया।

पर मेरा सोचना था कि मुझे यथाशीघ्र अब मुख्य धारा के दक्षिण हो जाना चाहिए। मेरे इस सोच के मूल में दो तर्क थे। एक तो अब पांचाल विभाजित हो चुका था। गंगा के उत्तरी भाग का पांचाल अब द्रोण के अधिकार में था, उसकी राजधानी अहिच्छत्र रही—और दक्षिण भाग का पांचाल द्रुपद के अधिकार में था, उसकी राजधानी कांपिल्य थी। द्रुपद के राज्य की दक्षिणी सीमा रेखा चर्मण्वती (चंबल) बनाती थी। गंगा और चर्मण्वती के बीच में ही कहीं पांडवों के होने की संभावना बनती थी। इसलिए उत्तरी तट पर न तो मेरा गंतव्य था और न पांडवों के मिलने की संभावना।

फिर उत्तरी ओर चलने से एक खतरा और था। कहीं उत्तर के लोगों ने हमें पहचान लिया और आचार्य द्रोण को सूचना दी, तब तो हमें यहीं रह जाना पड़ेगा। हम द्रोण के आदेश की अवहेलना नहीं कर सकेंगे। फिर उनसे मिलने पर बहुत ही बातें उठेंगी। किधर चले हो ? क्यों चले हो ? मैं आचार्य द्रोण के समक्ष इन प्रश्नों के उत्तर देने के झंझट में पड़ना नहीं चाहता था।

अतएव मैंने नाविक से बड़े सहजभाव से कहा, ''भाई, अब तुम्हारी गति रहे या दुर्गति हो, किंतु तुम धारा के दक्षिणी तट से लगे-लगे चलो।''

उसने वैसा ही किया।

एक रात और चलने के बाद हम लोग कांपिल्य नगर सीमा में प्रवेश कर गए।

जब हमारी नाव कांपिल्य के मुख्य घाट पर लगी तब सवेरा होने को था। अभी सूर्य निकला नहीं था; पर उसके प्रसव के पूर्व ही लाली आकाश पर पुत चुकी थी। कार्तिक स्नानार्थियों की भीड़ से घाट खचाखच भरा था। नाविक ने कुछ दूर धारा में ही लंगर डाल दिया। हम लोगों ने नाव से कूद-कूदकर गंगास्नान किया और प्रात: की पहली किरण की मुलायम धूप में नाव के खुले भाग में बैठकर प्रात: पूजन आरंभ किया।

लगभग एक घड़ी बाद ही मैंने देखा, घाट पर पांचाल सैनिक इकट्ठे होने लगे। लगता है, महाराज को मेरे आने की सूचना लग गई। यों कार्तिक स्नान सूर्योदय से पूर्व ही होता है, इसलिए सूर्य निकल आने के बाद अब काफी भीड़ छँट चुकी थी। सैनिकों की संख्या भी बढ़ती गई। तूर्य, शंख, भेरी (नगाड़ा), मर्दल (मृदंग) आदि वादकों की टोली भी अपने वाद्य यंत्रों के साथ आ गई। पर अभी न महाराज के दर्शन हुए और न किसी अमात्य के।

बाजे बजने लगे। नाव को घाट पर लगाने का आदेश दिया गया। तब महाराज के आगमन की घोषणा हुई और वे युवराज के साथ आते दिखाई दिए।

मैंने युवराज धृष्टद्युम्न को पहली बार देखा था। वह सचमुच अग्नि-सा प्रदीप्त और ऊर्जस्थिवोत लगा। स्वाहा का पुत्र होने को प्रमाणित करता उसका व्यक्तित्व हम सबके आकर्षण का कारण बना।

जब हम नाव से उतरे तब वादनों की मधुर ध्वनि और सैनिकों के प्रणति निवेदन से हमारी अगवानी की गई। महाराज ने स्वयं आगे बढ़कर हमें फूलों के हार पहनाए और बड़ी विनम्रता से बोले, ''आप लोगों ने बड़ी देर कर दी। मैं कल से ही आपकी प्रतीक्षा कर रहा था। आज से चार दिन पूर्व ही महात्मा विदुर के चर ने आपके आने की सूचना दे दी थी।''

मैंने मन-ही-मन सोचा कि विदुरजी की व्यवस्था कितनी व्यूहबद्ध और पक्की है! तभी तो वे जलते हुए गृह से पांडवों को निकालने में सफल हुए।

मुझे मौन देखकर महाराज को शंका हुई—''मार्ग में कोई बाधा आ गई थी क्या?''

''नहीं तो!'' मैं मुसकराया। मैंने चित्ररथ के मिलने की बात कहना ठीक नहीं समझा। सस्मित अधरों से बोला, ''धारा की गति और हवा के रुख पर चला था। देर-सबेर के बारे में तो वे ही बता सकते हैं।'' मेरे कहने के ढंग पर लोगों को हँसी आ गई।

"आप तो रथ से चल सकते थे।"

"चल तो सकता था, पर विदुर चाचा ने मेरे लिए यही मार्ग चुना।" मैंने कहा।

महाराज पुनः मुसकराने लगे। वे सुखद आश्चर्य से मुझे देख रहे थे। कदाचित् इसलिए कि उन दिनों हस्तिनापुर और पांचाल खड्गहस्त थे। ऐसी स्थिति में विदुरजी ने मुझे कैसे यहाँ आने दिया! यह उनके चकित होने की बात थी ही।

इस विषय में मैंने स्पष्ट कहा, "हस्तिनापुर के लोग मेरे वरेण्य हितैषी हैं; पर मेरे स्वामी नहीं। और फिर कहीं आने-जाने से जब मेरे माता-पिता नहीं रोक पाते तब औरों की क्या बात है!"

अपने रथ पर बैठाते हुए द्रुपद ने कहा, "आपके आने की सूचना के बाद भी मुझे विश्वास नहीं था कि आप पधारेंगे।"

"क्यों?"

"यह तो मैं नहीं कह सकता, पर मेरा मन कहता था।" महाराज ने कहा, "आपके आने का पक्का निश्चय तो तब हुआ जब दो दिन पहले एक और व्यक्ति ने आकर विस्तृत सूचना दी।

"कौन था वह व्यक्ति?"

"उसका नाम तो मुझे भी पता नहीं।" महाराज ने कहा, "मैंने उसका परिचय जानना चाहा था; पर उसने कुछ बताया नहीं। केवल इतना ही कहा कि आप मेरा विशेष परिचय जानकर क्या करेंगे? बस यही समझिए कि द्वारकाधीश का मित्र हूँ।...उसपर और जानने के लिए मैंने दबाव नहीं डाला।"

अब मेरा मस्तिष्क अनुमान के क्षेत्र में दौड़ने लगा। कौन हो सकता है वह व्यक्ति? फिर उसने स्वयं को मेरा मित्र बताया। 'मित्र' और 'शत्रु' ऐसे व्यापक शब्द हैं, जिनकी परिधि अविश्वसनीयता बहुधा स्पर्श करती है। फिर स्थिति भी ऐसी तनावपूर्ण है। कहीं ऐसा तो नहीं कि दुर्योधन का कोई गुप्तचर ही हमारा मित्र बनकर हमारा आगा काट रहा हो।

मैं सोचता ही रहा कि कांपिल्य के राजप्रासाद परिसर में मेरा रथ प्रवेश करने लगा। मार्ग में दोनों ओर खड़े पांचालवासी मेरे स्वागत में जय-जयकार करते रहे। मैं रथ पर खड़े होकर मुसकराते हुए यंत्रवत् हाथ हिलाकर उनके स्वागत का उत्तर देता रहा; पर मेरा मस्तिष्क तो अपनी समस्या में उलझा था।

प्रासाद द्वार पर पहुँचते ही अचानक एक व्यक्ति मेरे रथ के सामने आ गया। प्रहरी खींचकर उसे हटाना चाहते थे; पर उन्हें सफलता नहीं मिली। पहली ही दृष्टि में मेरे मुख से निकला—"अरे, यह तो छंदक है!"

"इन्होंने ही आपके आने का समाचार दिया और स्वयं को आपका मित्र बताया

था।'' महाराज ने तुरंत कहा।

''हाँ, यह तो मेरे मित्र हैं ही; मित्र ही नहीं, घनिष्ठ मित्र हैं।'' इतना कहते हुए मैंने रथ से कूदकर उसे गले लगा लिया। पीछे के रथों पर सवार उद्धव, सात्यकि श्वेतकेतु और रक्ताक्ष भी अपने-अपने रथों से उतरकर मेरे पास आ चुके थे।

''हम लोग बहुत दिनों से तुम्हें याद कर रहे थे।'' उद्धव ने छंदक से कहा।

''क्यों?''

''चिनगारियाँ ही बोते रहोगे कि अग्नि की फसल भी काटोगे?'' मैंने पूछा।

''संप्रति तो मैं ऐसा कुछ नहीं करूँगा।'' वह मुसकराते हुए बोला, ''इस समय तो मैं ज्वालामुखी पर यायावरी करने आया हूँ।'' एक रहस्य भरी हँसी उसके अधरों से छूटी और हम सबको छूती चली गई।

□

दिन तो यात्रा की थकान मिटाने में बीत गया। संध्या को द्रुपद के महामात्य उद्भाष पधारे। उन्होंने महाराज से कल अपराह्न मिलने का विधिवत् निमंत्रण दिया।

''मैं तो मिलने के लिए आया ही हूँ। फिर इस निमंत्रण की औपचारिकता क्या?''

''इसका उत्तर तो महाराज ही दे सकते हैं।'' उद्भाष बोला और अभिवादन कर चुपचाप चला गया।

उद्धव को परिहास सूझा। उसने मेरी ओर संकेत करके अन्य साथियों से कहा, ''जानते हैं, यह निमंत्रण कन्हैया को नहीं भेजा गया है।''

''तब किसे भेजा गया है?'' श्वेतकेतु बोला।

''अपने होनेवाले 'जामाता' को द्रुपद ने भेजा है।'' फिर क्या था, सभी के अधरों से हास्य निर्झरिणी बह चली।

''यह बात हँसने की नहीं है।'' उद्धव थोड़ा गंभीर दिखा—''भैया से ही पूछिए। यह प्रस्ताव लेकर आचार्य सांदीपनि आए थे या नहीं?''

''आए तो थे, पर मैंने उन्हें क्या उत्तर दिया, वह तुम्हें मालूम है।'' मैंने मुसकराते हुए कहा।

''मालूम तो है।'' उद्धव बड़े नाटकीय ढंग से बोला, ''पर यह सर्वविदित है कि ऐसे संदर्भों में एक छोटी सी 'नहीं' में एक बड़ा सा 'हाँ' छिपा रहता है।''

फिर सभी हँस पड़े।

जब हँसी थमी तब मैंने कहा, ''वस्तुत: कन्हैया से उनका कोई विशेष लगाव नहीं है। वे एक ऐसे जामाता को चाहते हैं, जो आचार्य द्रोण से उनके अपमान का बदला ले सके। यह प्रस्ताव उनका नहीं वरन् उनकी प्रतिहिंसा का है।''

मैं बात को गंभीर बनाना चाहता था; पर उद्धव एक के बाद एक व्यंग्य बाण छोड़ता गया—"तभी उनकी दृष्टि आप पर है; अन्यथा मुझसे क्यों नहीं प्रस्ताव किया गया, या हमारे मित्र सात्यकि और श्वेतकेतु को इस योग्य क्यों नहीं समझा गया? क्या हम द्रुपद के जामाता होने के लायक नहीं, या हमारे पुंसत्व में किसी प्रकार की कमी है?"

सभी हँस पड़े।

'पुंसत्व' शब्द के प्रयोग से मुझे भी व्यंग्य सूझा। मैंने उद्धव से बड़ी गंभीरता से कहा, "सुना है, तुम्हारे पास भी निमंत्रण आने वाला है।"

"अरे, आपसे छूटेगा तब न!" फिर हँसी हुई।

"पर उसे मुझसे छूटा ही समझो।" मैंने कहा और विस्तार से बताने के लिए पूछा, "तुमने उसे देखा है न?"

"किसे?"

"वह जो गंगातट पर हम लोगों की अगवानी के समय महाराज के पीछे अत्यंत गौर वर्ण, कानों में कुंडल, भुजाओं में केयूर और गले में हार पहने एक मूर्ति खड़ी थी?"

"हाँ-हाँ, देखा है। वह तो पैरों में भी अलंकार पहनकर नर्तकों जैसी थिरक रही थी।" सात्यकि बोला।

"उसकी भूषा तो पुरुष जैसी थी।" उद्धव बोला।

"पर वह पुरुष नहीं है।" मैंने कहा और मुसकराते हुए बोला, "आखिर उसका विवाह भी तो द्रुपद को किसीके साथ करना ही होगा।"

"तो क्या वह नारी है?" उद्धव बोला।

"यह तो मुझे नहीं मालूम।" इस बार मेरी मुसकराहट हँसी में परिवर्तित हो गई।

"तो क्या वह न नर है, न नारी है?" सात्यकि बोला।

"यह मैं नहीं कह सकता। पर उसका नाम शिखंडी है।" मैंने कहा।

नाम सुनते ही हँसी का विस्फोट हो गया।

"अच्छा, तो उसका निमंत्रण हमारे लिए आएगा, द्रौपदी का निमंत्रण आपके लिए। वाह भाई, वाह!"

"कहीं द्रौपदी भी तो ऐसी नहीं है?" उद्धव ने फिर व्यंग्य किया।

"ऐसी तो नहीं होनी चाहिए।" मैंने कहा।

"यह आप कैसे कह सकते हैं? क्या आप उससे मिले हैं?" इस बार भी एक हलकी हँसी।

''मिला तो नहीं हूँ, पर उसकी जन्म कथा जानता हूँ।''

इसके बाद मैंने उसके जन्म की कथा बतानी शुरू की।

''आचार्य द्रोण के समक्ष जब अर्जुन द्रुपद को बंदी बनाकर ले गया, तब पहली चिंता द्रुपद को थी कि मेरा कोई पुत्र नहीं है, अन्यथा वह मेरे अपमान का बदला अवश्य लेता।''

''कोई जरूरी नहीं कि पुत्र होता तो भी उनके अपमान का बदला ले लेता।'' सात्यकि बोला, ''इसके लिए पुत्र ही नहीं, पुत्र के साथ सामर्थ्य भी चाहिए।''

''द्रुपद की चिंता का आधार यह भी था।'' मैंने कहा, ''वे ऐसे पुत्र के आकांक्षी थे, जो उनके अपमान का बदला ले सके। दिन पर दिन उनकी यह चिंता बढ़ती गई। वे अनेक ऋषियों और याज्ञिकों से मिले। उन्होंने उन्हें इच्छापूर्ति और पुत्रेष्टि यज्ञ करने की सलाह दी। अब इस यज्ञ को करानेवाले की खोज आरंभ हुई।

''पहले तो इस यज्ञ के जानकार कम हैं और जो थे, वे भी तैयार नहीं हुए; क्योंकि यज्ञ के प्रयोजन के मूल में द्रोण से प्रतिशोध लेने की भावना थी। याज ने तो स्पष्ट कह दिया—'मैं द्रोण के विरुद्ध कुछ भी नहीं कर सकता।' तब उपयाज को द्रुपद ने अनेक प्रलोभन देकर मिलाया। वे यज्ञ के पुरोधा बनने के लिए तैयार हो गए। महाराज उन्हें बड़े स्वागत-सत्कार के साथ कांपिल्य ले आए।

''यहाँ दो यज्ञों—इच्छापूर्ति और पुत्रेष्टि की मिली-जुली व्यवस्था होने लगी। उपयाज ने बड़े विधि-विधान से वह यज्ञ आरंभ किया। कई दिनों तक यज्ञ चलता रहा। द्रुपद पत्नी सौत्रामणि हमेशा आलस्य और प्रमाद से भरी रहती थी। जिस समय वह यज्ञ समाप्त होने को था, उस समय भी वह सो रही थी। उसे बहुत जगाया गया, पर वह नहीं जागी। यज्ञ की समाप्ति पर यज्ञदेवता ने चारु प्रदान किया, जिसे ग्रहण करने के लिए सौत्रामणि को जाना चाहिए था; पर वह सोती रही।

''द्रुपद के अमर्ष का ठिकाना न रहा। उन्होंने क्रोध में उस चारु को यज्ञकुंड में ही पटक दिया। चारु टूटकर दो टुकड़े हो गया। थोड़ी देर बाद उसी यज्ञकुंड से एक कवच-कुंडलधारी दिव्य पुरुष का जन्म हुआ। वह धृष्टद्युम्न था, जो महाराज के साथ हम लोगों की अगवानी के लिए गंगातट पर आया था। इसके बाद उसी यज्ञकुंड से एक अतीव सुंदर, कृष्णवर्णी, तेजस्विनी बालिका पैदा हुई, जो कृष्णा (द्रौपदी) है। इस प्रकार ये दोनों संतानें द्रुपद की होकर भी सौत्रामणि की नहीं हैं।'' मैंने कहा।

''ओ, अब समझ गया!'' उद्धव बड़े व्यंग्य से बोला।

''क्या समझे?''

''यही कि वह शिखंडी ऐसा क्यों है!'' उद्धव ने मुसकराते हुए कहा, ''क्योंकि वह नितांत आलसी और प्रमादी सौत्रामणि की संतान है।''

''अरे पगले, इसके बाद सौत्रामणि की आठ संतानें और हुईं, जिनमें सबसे बड़ा सुमित्र है। शिखंडी को छोड़कर सभी ठीक-ठाक हैं।''

''उनमें कोई और लड़की है या नहीं?'' सात्यकि ने बड़े भाव से पूछा और जब उसे पता चला कि नहीं, तब उसने बड़े नाटकीय ढंग से मुँह लटका दिया।

मैंने हँसते हुए कहा, ''तुम बड़े दुःखी लगते हो!''

''दुःख है, तभी न दुःखी लगता हूँ।'' सात्यकि की नाटकीयता और प्रखर हुई—''आखिर अब हमारे मित्र उद्धव को हलदी कैसे लगेगी?''

सभी हँस पड़े।

इस हास-परिहास में हमें समय का ज्ञान ही नहीं रहा। वातायन से हम लोगों ने जब आकाश की ओर देखा, अरुंधती ऊपर आ गई थी। अतिथिगृह के भोजनालय के कर्मचारी कब से भोजन की व्यवस्था कर प्रतीक्षा कर रहे थे।

हम लोग भोजनोपरांत सोने चले गए।

प्रातः पूजन से अभी मैं निवृत्त नहीं हुआ था कि छंदक आ पहुँचा। उसके पहुँचते ही अब मेरे कान खड़े हुए। कोई नया समाचार सुनने को मिलेगा; जैसे वह छंदक नहीं, नारद हो।

मैंने उसे देखते ही कहा, ''तुम तो ऐसे अदृश्य हुए कि दिखाई नहीं पड़े।''

''जब अदृश्यों की खोज में निकला था तब दिखाई कैसे पड़ता!'' स्पष्ट लगा कि पांडवों के विषय में वह कुछ जानता है। फिर उसने स्वयं विस्तार से बताना आरंभ किया—''पहले मैंने इधर-उधर बहुत पता लगाया, दिन-दिन भर जंगलों में भटकता रहा; पर कहीं पता नहीं चला। हाँ, एक दिन मेरी भेंट महर्षि वेदव्यास से अवश्य हो गई।''

''तो उन्होंने कुछ बताया?'' मेरी जिज्ञासा जगी।

''पहले जब मैंने विनयपूर्वक पूछा तो वे मुसकराने लगे और फिर प्रतीकात्मक भाषा में बड़ी गंभीरता से बोले, 'यह तो तुम जानते ही हो कि धर्म कभी नष्ट नहीं होता। वह कल भी रहा है, आज भी है और उस समय भी रहेगा जब यह हस्तिनापुर नहीं होगा। जब धर्म की स्थिति यह है तब धर्मराज की हम लोग क्या चिंता करें? वे अग्नि के मुख में डाले जा सकते हैं; पर आग उन्हें निगल नहीं सकती। वे जंगल में भटकते रहेंगे। जंगल उन्हें ढकेगा अवश्य, पर वह उन्हें छिपा नहीं सकता। वे जंगल में भी मंगल करते रहेंगे। यह समय भी उनके मंगल का है।' ''

छंदक बोला, ''जब मैंने पुनः निवेदन किया कि महाराज, मैं बड़ी छोटी बुद्धि का मनुष्य हूँ, मैं आपको समझ नहीं पा रहा हूँ, तब वे हँसने लगे। फिर बोले, 'नवीन का सबसे मंगलदायी समय कब होता है?'

''मैं इस प्रश्न का क्या उत्तर देता? उन्होंने स्वयं उत्तर दिया— 'जब विपत्ति में साथ देनेवाली जीवनसंगिनी मिल जाए।'

'' 'यह कैसे हो सकता है, महाराज?'

'' 'यह तो मुझे नहीं मालूम, पर पांडवों के ग्रह-नक्षत्र की उद्घोषणा कुछ ऐसी ही है।'

'' 'पर अभी तो यह नहीं मालूम कि वे कहाँ हैं?'

'' 'जहाँ भी हैं, सकुशल हैं।' वेदव्यास बोले। इससे अधिक उन्होंने कुछ नहीं बताया।'' छंदक ने कहा।

वेदव्यासजी ने पांडवों के विवाह की बात कही। मैं सोचने लगा। मैंने कहा, ''जो जंगल-जंगल भटक रहा है, जिसे अपना ही तन भार हुआ है, कौन करेगा उससे विंवाह?''

''अरे, ऐसा मत कहिए।'' छंदक बोला, ''जंगल में सुंदरियों की कमी नहीं है।'' इसी प्रसंग में उसने बताया—''मैं आपके प्रमातामह के राज्य में गया था। उनके पुत्र कर्कोटक से भी मिला था। पूरा-का-पूरा प्रदेश आरण्यक है। उनमें अनेक जंगली और आदिवासी जातियाँ रहती हैं। उनकी स्त्रियाँ केवल एक पटुका पहनती हैं। खुले उरोजोंवाली वे विशाल नेत्रा अपनी सुघड़ शरीरयष्टि से आगंतुकों पर वज्रपात करती हैं।'' इतना कहते-कहते छंदक अपनी कल्पना में डूब गया।

''आखिर किस लोक में खो गए?'' मैंने उसकी चेतना को झकझोरा।

''केवल भाषा का संकट होगा।'' छंदक बोला, ''अन्यथा यहाँ की सुंदरियाँ न तो आपके भाइयों को छोड़ेंगी और न आपके भाई उन्हें छोड़ पाएँगे।''

उसका स्पष्ट संकेत अर्जुन की ओर था। वह उसकी दुर्बलता जानता था। वह बोलता गया—''वे नाग सुंदरियाँ अपने अंगों पर हरिद्रा का लेप लगाती हैं, जिससे उनका श्याम वर्ण स्वर्ण-सा चमकता है; जैसे नीलकमल पर प्रातःकालीन धूप पड़ी हो।''

''यदि तेरा वश चलता तो तू कई विवाह करता।'' मैंने हँसते हुए व्यंग्य किया।

''यदि जीवन एक स्थान पर स्थिर हो सकता, तब तो मैं वह क्षेत्र न छोड़ता। अप्सराओं के परिसर को गंधर्व भले ही छोड़ दें, पर मेरे जैसे मनुष्य में ऐसी शक्ति कहाँ!'' छंदक बोला।

मेरे व्यंग्य पर वह गंभीर हो गया। उसने उसी गंभीरता में कहा, ''जानते हैं, आपकी पितामही मारिषा भी ऐसी ही अनिंद्य सुंदरी थीं, तभी तो आपके पितामह शूर ने उन्हें अपनी जीवनसंगिनी बनाया था। और आप भी अपनी पितामही पर ही गए हैं।''

वह तो नहीं हँसा, पर मुझे हँसी आ गई। सोचने लगा, नारी सौंदर्य वह वशीकरण मंत्र है, जो पुरुष को भेंड़ा बना सकता है।

इसी समय महाराज के यहाँ से निमंत्रण लेकर एक प्रतिहारी आया।

□

मेरी और छंदक की बातें अभी समाप्त नहीं हुई थीं। मुझे यह भी लग रहा था कि अभी इसके पास कहने को बहुत कुछ है। आज उसकी वाणी में, उसकी मुद्रा में—या यों कहूँ, उसके संपूर्ण व्यक्तित्व में रहस्यमयता अधिक थी। जंगल-जंगल घूमने के बाद भी वह थका-हारा नहीं लगता था। उसकी आकृति पर संतोष की एक आभा थी। ऐसा नहीं लगता था कि वह अपने लक्ष्य से निराश है या पांडवों के संबंध में उसे कोई जानकारी नहीं है।

इसीसे महाराज के यहाँ चलते समय मैंने उसे ले चलना चाहा। सोचा, मार्ग में ही उसे कुछ खोलने की चेष्टा करूँगा। पर यह कहकर वह मेरे साथ नहीं चला कि वहाँ मात्र आपकी बुलाहट है। जो आपके साथ यहाँ आए हैं, वे लोग भी वहाँ नहीं जा रहे हैं, तब मैं ही दाल-भात में मूसलचंद क्यों बनूँ?

□

जब मैं राजप्रासाद में पहुँचा तब मुझे महल में नहीं ले जाया गया। महल के पीछे उद्यान के दक्षिण एक विशाल आम्रकुंज में मेरे मिलने की व्यवस्था की गई थी। महाराज के साथ उनके महामात्य उद्भाष तथा उनका पुत्र धृष्टद्युम्न भी था। मेरे पहुँचते ही महामात्य उठकर चले गए। स्पष्ट लगा कि बातें नितांत व्यक्तिगत स्तर पर होंगी।

खड़े होकर बड़ी आत्मीयता से मेरी अगवानी की गई। थोड़ी देर में पार्श्व कुंज से कुछ सुंदरियाँ मैरेय के आकर्षक कुंभों के साथ निकलीं और स्वर्ण चषकों में मैरेय उड़ेलने लगीं।

जब मेरी ओर चषक बढ़ाया जाने लगा तब मैंने बड़ी विनम्रता से कहा, ''मैं तो नहीं लेता। आप लोग ग्रहण करें।''

जैसे उन्हें विश्वास ही न हो। धृष्टद्युम्न ने पूछा, ''सचमुच आप नहीं लेते?''

''नहीं।'' मैंने मुसकराते हुए कहा, ''हाँ, मेरे भैया होते तो आपका साथ देते।''

''तब तो मुझे उन्हींको बुलाना चाहिए था; क्योंकि इस समय मुझे अपना साथ देनेवाले की आवश्यकता है।'' द्रुपद बोल तो गए, पर उन्होंने शीघ्र ही अनुभव किया कि मुझे ऐसा नहीं कहना चाहिए था। मेरे कथन में आमंत्रित के प्रति उपेक्षा का भाव है। उन्होंने तुरंत क्षमा माँगते हुए कहा, ''लगता है, आजकल मेरी बुद्धि ठिकाने नहीं है। कहना कुछ चाहता हूँ और मुख से निकल कुछ और जाता है।''

मैंने मुसकराते हुए उनकी लाचारी समझी; कुछ बोला नहीं। पर मेरे मन ने कहा, 'जो मुँह से निकल जाता है, वही तो हृदय की बात है। 'कहना चाहने' में तो मस्तिष्क का योगदान होता है, जिसमें यथार्थ भी हो सकता है और दिखावा भी, अपेक्षाएँ भी हो सकती हैं और अभिनय भी; पर स्वत:स्फूर्त वाणी में होता है हृदय का सहज चित्र।' इस समय सचमुच द्रुपद को ऐसे व्यक्ति की तलाश थी, जो उनका साथ दे सके।

उन्होंने चषक खाली करते हुए कहा, ''अब मैं स्वयं को इन्हीं चषकों में डुबोए रखता हूँ।''

मैंने मुसकराते हुए पूछा, ''क्यों?''

''क्योंकि संसार जैसा है, मैं उसे वैसा देखना नहीं चाहता। इसमें डूब जाने पर संसार अपने मन का दिखाई देता है।''

''दिखाई देने से क्या होता है; पर वह रहता वैसा ही है जैसा वह है।'' मैंने कहा तो अवश्य, पर द्रुपद की मानसिकता मुझे उस भयातुर बच्चे जैसे लगी, जो रात्रि में भूत के भय से आस्तरण में अपना मुँह ढक लेता है।

बातें करते-करते ही उन्होंने एक के बाद कई चषक अपने भीतर उड़ेल लिये। कई बार मेरी ओर देखा भी। धृष्टद्युम्न से संकेत में कुछ कहा भी। स्पष्ट लगा कि वे जो कहना चाहते हैं, उसे कहने का साहस नहीं जुटा पा रहे हैं।

फिर बहुत धीरे से पूछा, ''आचार्य सांदीपनि ने आपसे कुछ कहा था?''

''हाँ, कहा तो था।'' मैंने संदर्भ सोचते हुए वैसी ही टूटी आवाज में उत्तर दिया।

''तो मैंने उसी प्रस्ताव को दुहराने के लिए आपको बुलाया है।'' द्रुपद ने कहा, ''मैं स्वयं इसके लिए द्वारका आता; किंतु इस समय कांपिल्य छोड़ पाने की स्थिति में नहीं हूँ।...आप तो देखते ही हैं कि गंगा के इस पार मैं हूँ और उस पार मेरा सबसे बड़ा शत्रु।''

इसी प्रसंग में कई बार की सुनी-सुनाई अपने एवं द्रोण के संबंध की कथा उन्होंने बड़ी वेदना व अमर्ष के साथ सुनाई और कथा का अंत करते-करते वे आवेश में खड़े हो गए।

धृष्टद्युम्न ने उन्हें सँभाला; क्योंकि मैरेय का प्रभाव अब उनपर होने लगा था।

मैंने भी उनका हाथ पकड़कर बैठाया और ढाढ़स बँधाते हुए बोला, ''द्रोण ने अच्छा नहीं किया। ब्राह्मण का आभूषण है क्षमा और दया।''

मैं अपनी बात पूरी नहीं कर पाया था कि वे पुन: आवेश में आ गए—''क्या कहते हो? अब मैं द्रोण की दया पर जीवित रहूँगा! इससे अच्छा तो मर जाना है।''

''मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं था। मैं तो कह रहा था कि ब्राह्मण का

वास्तविक बल तो उसकी क्षमा और दया है। क्रोध के वशीभूत होने और हिंसा का सहारा लेने पर तो उसकी अस्मिता मर जाती है।''

''यदि ऐसा ही होता तो परशुराम कब का समाप्त हो गया होता; पर उसकी परंपरा अब तक जीवित है।...और वह दुष्ट स्वयं को परशुराम का शिष्य कहता है!''

मैंने अनुभव किया कि प्रतिहिंसा की ज्वाला में द्रुपद का सारा व्यक्तित्व सुलग रहा है। उनका ताप उन्हें बड़ी गहराई से व्यग्र किए हुए है। यह व्यग्रता समझाने-बुझाने से शांत होने वाली नहीं है। उन्हें अपने अपमान का प्रतिदान चाहिए, अन्यथा वह प्रतिहिंसा की अपनी ही आग में जलकर भस्म हो जाएँगे।

अब जैसे उनसे रहा नहीं गया। जो बात उनके भीतर से निकलने के लिए छटपटा रही थी, वह बिना किसी भूमिका या लाग-लपेट के निकल आई—''मैं तुम्हें अपना जामाता बनाना चाहता हूँ। मेरे मन में यह विचार बहुत पहले से आया था। जब मैं तुम्हारे राज्याभिषेक में द्वारका गया था, तभी तुम्हारे समक्ष यह प्रस्ताव रखना चाहता था; पर उस समय वहाँ अर्जुन आदि तुम्हारे फुफेरे भाइयों को देखकर मैं मौन ही रह गया। फिर मैंने तुम्हारे गुरु सांदीपनि से यह प्रस्ताव भिजवाया था।'' मेरी प्रतिक्रिया जानने के लिए वे थोड़ा रुके। पर मैं मौन ही रहा।

''तो तुमने इस संबंध में क्या सोचा?'' उन्होंने स्पष्ट पूछा।

''क्या सोचूँ?'' मैं मुसकराने लगा—''यह तो आप जानते ही हैं कि मेरा विवाह हो चुका है।''

''जानता हूँ।'' वे बड़े आवेश में थे—''यह जानते हुए भी मैंने तुम्हें जामाता बनाने का निश्चय किया है।''

''आखिर ऐसी कृपा मुझपर ही क्यों?''

''क्योंकि तुम्हीं मेरे जामाता होने की शर्त पूरी कर सकते हो।''

जानकर भी मेरी इच्छा हुई कि मैं पूछूँ कि आपकी शर्त क्या है, तब तक वह बोल पड़े—''मेरा जामाता वही हो सकता है, जो द्रोण से मेरे अपमान का बदला ले सके।''

''इसलिए आप अपने जामाता को मात्र अपनी पुत्री ही नहीं देंगे वरन् अपना प्रतिशोध और ईर्ष्या भी उसे सौंपेंगे।''

''सो तो है ही। क्या ये बातें आचार्यजी ने नहीं कही थीं?''

''हाँ, कुछ संकेत तो किया था।'' मैंने कहा। फिर मैं कुछ सोचते हुए बोला, ''आप अपनी प्रतिशोध की अग्नि में अपनी पुत्री के भविष्य की हवि देना चाहते हैं; पर क्या आपने इसके संबंध में कभी अपनी पुत्री से पूछा है?''

''क्यों, तुम क्या यह समझते हो कि मैं बिना सोचे-समझे ही यह कार्य कर रहा

हूँ?'' उनकी आवाज कुछ और तेज हुई—''अरे, अग्निदेवता ने मेरा संकल्प पूरा करने के लिए ही उसे मुझे प्रदान किया है।''

''पर कभी आपने सोचा है, राजन्!'' अब मेरी भी ध्वनि दार्शनिकों जैसी गंभीर हुई—''कि आग से आग नहीं बुझाई जा सकती। तलवार से लिये गए प्रतिशोध से तलवार ही जन्म लेती है—और इसका परिणाम होता है महाविनाश! इसलिए आपको अपने संकल्प के लिए कोई विकल्प ढूँढ़ना होगा। मैं नहीं चाहता कि राजाओं की ईर्ष्याग्नि प्रजा के सुख-चैन को भस्म कर दे।''

महाराज पहले चुप थे। फिर बड़े विगलित होकर बोले, ''तुमने बाह्य देखा है, मेरे अंतरंग में झाँकने की चेष्टा नहीं की।''

''नहीं, महाराज, ऐसा नहीं है। मैं आपकी व्यग्रता समझता हूँ।''

''उस व्यग्रता के ताप का भी अनुभव करते हो?''

''करता हूँ।''

''तब उसका निराकरण क्या सोचा है?''

''मेरे विचार से तो आर्यावर्त्त के किसी ऐसे वृद्ध और अनुभवी व्यक्ति को अपनी समस्या सौंप दें, जो आप और द्रोण को समान रूप से स्वीकार्य हो। उस व्यक्ति का सद्‌भाव शायद कोई मार्ग निकाल सके।''

''कौन है इस समय आर्यावर्त्त में ऐसा व्यक्ति, जो स्वीकार किया जा सके? हर व्यक्ति तो किसी-न-किसी शिविर में बँट चुका है। इस समय आर्यावर्त्त में अनेक विभाजन रेखाएँ हैं, जो लक्ष्मण रेखा हो चुकी हैं; जिन्हें पार करना असंभव है।''

''क्यों? भीष्म पितामह को आप दोनों अपना मध्यस्थ नहीं बना सकते?'' मैंने पूछा।

पितामह का नाम सुनते ही द्रुपद जैसे भभक पड़े—''तुम उस व्यक्ति को मध्यस्थ बनाने के लिए कहते हो, जो मेरा परम शत्रु है। जो पांडवों का होकर भी पांडवों का नहीं रहा। दुर्योधन के षड्‌यंत्र में शामिल होकर उन्हें लाक्षागृह में भस्म करवा दिया। हर निर्णायक स्थिति में उसने अपनी आँखें मूँद लीं। ऐसा नीच हमारा मध्यस्थ होगा!'' द्रुपद आवेश में बोलते गए—''हस्तिनापुर से हमारा पुराना वैर है। और इस समय तो वह और भी शक्तिशाली हो गया है। यह ठीक है कि पांडवों ने हमें अपमानित किया था; पर पांडवों के रहने से हस्तिनापुर का शक्ति संतुलन ठीक था। इस समय दुर्योधन चौगुना शक्तिशाली हो गया है। भीष्म और द्रोण दोनों उसकी दाईं-बाईं मुट्‌ठी में हैं। ऐसे में वह हमारी मध्यस्थता क्या करेगा! इसलिए आप इधर-उधर की बातें छोड़कर मेरे प्रस्ताव पर विचार करें और शीघ्र निर्णय सुनाएँ।''

अब मैं बड़ी द्विविधा में पड़ा। मैं 'हाँ' करने की स्थिति में भी नहीं था और

'नहीं' करके द्रुपद की आशाओं पर अचानक पानी भी नहीं फेर सकता था। उनकी मेरे प्रति आस्था मुझमें द्रोण को पराजित करने की शक्ति भी देखती थी। यह मेरे लिए गौरव की बात थी। तब मैं अचानक उनका मन कैसे तोड़ सकता था। मैंने एक प्रश्न और उछाला—"बिना आपका जामाता हुए एक मित्र की तरह मैं आपके संकल्प का क्या भागीदार नहीं हो सकता?"

"नहीं।" द्रुपद ने बड़ी स्पष्टता से कहा, "मित्र होने पर मेरा संकल्प तुम्हारे लिए मित्र का संकल्प होगा और जामाता होने पर मेरा संकल्प तुम्हारे परिवार का संकल्प होगा। मित्रता टूट भी सकती है—जैसे मेरी और द्रोण की टूट गई। पर एक बार जामाता होने पर तुम किसी भी स्थिति में रहो, हमारे लिए जामाता ही रहोगे।"

द्रुपद का तर्क मुझे चुप कर देने के लिए पर्याप्त था।

"तुम द्विविधा में मत पड़ो, स्पष्ट बताओ। या फिर मैं दूसरा रास्ता देखूँ।"

मैंने अनुभव किया कि अब द्रुपद पर मैरेय अच्छी तरह सवार हो गई है।

मैंने कहा, "मुझे आपके प्रस्ताव पर विचार करने के लिए कुछ समय चाहिए।"

"मेरा जामाता बनने के लिए भी तुम्हें सोचना पड़ेगा!" द्रुपद जोर से हँसे—"अरे, मेरी पुत्री कोई ऐसी-वैसी नहीं है। सुंदरी है, अनिंद्य सुंदरी। जो उसे एक बार देखता है, देखता ही रह जाता है।" इतना कहते हुए उन्होंने धृष्टद्युम्न की ओर देखा; जैसे कहना चाह रहे हों कि वह इसीकी बहन है।

"नहीं-नहीं, यह बात नहीं है।" मैंने कहा।

"तब कौन सी बात है?"

"सोचता हूँ, आपका जामाता होने के बाद भी द्रोण से प्रतिशोध न ले सका तो?"

"न ले सको, यह और बात है।" द्रुपद ने छूटते ही कहा, "पर तुम ले सकने में समर्थ नहीं हो, इसे सोचा भी नहीं जा सकता। जिसने कंस का वध किया हो, अपने को स्वयं वासुदेव घोषित करनेवाले शृंगलव को क्षण भर में यमलोक पहुँचा दिया हो, महा पराक्रमी कालयवन को मृत्यु की गोद में सुला दिया हो, गोमांतक से जरासंध का गर्व चूर किया हो, जरासंध और शिशुपाल के रहते जिसने रुक्मिणी का हरण किया हो, जो यमपुर जाकर भी सकुशल लौट आया हो, जिसने ककुद्मिन का सपना पूरा किया हो—वह मेरा सपना पूरा नहीं कर सकता? इसे मैं क्या, कोई भी नहीं सोच सकता। यह बात दूसरी है कि तुम द्रोण से मेरा प्रतिशोध न ले सको! इसमें तुम्हारे सामर्थ्य की नहीं, तुम्हारी इच्छा शक्ति की कमी हो सकती है।...और फिर अर्जुन के ममेरे भाई जो हो! द्रोण के उस परम प्रिय शिष्य के विरुद्ध तुम कैसे जा सकते हो!" इस बीच द्रुपद जैसे झूमने-से लगे। मैरेय का एक गहरा झोंका आया

और वे बोले, ''पर अब अर्जुन है कहाँ? वह तो भस्म हो गया। उसका-तुम्हारा रिश्ता भी उसी लाक्षागृह में जल गया। अब तुम्हारे मन में कैसी द्विविधा? हा-हा-हा!'' मैरेय में डूबी एक छल्लेदार हँसी हवा में तैरती निकल गई।

इस संदर्भ को इतनी सरलता से समाप्त करने के पक्ष में मैं नहीं था। मैं समय टालना चाहता था। बहुत सारी समस्याएँ कुछ समय के लिए टाल देने से या तो वे समाप्त हो जाती हैं या हलकी पड़ जाती हैं।

''मुझे तो आपके प्रस्ताव पर कोई आपत्ति नहीं है; पर मैं चाहता हूँ कि इस विषय में मैं कृष्णा से भी मिलूँ और देखूँ कि उसके क्या विचार हैं!''

''उसके विचार बहुत ऊँचे हैं।'' द्रुपद ने छूटते ही कहा, ''तुम चाहते हो तो मिल लो; पर निश्चय यही होना चाहिए।''

''क्यों, हम स्वयंवर का विचार नहीं कर सकते?'' मैंने बात को दूसरी ओर मोड़ने का प्रयास किया और तर्क दिया कि महिलाओं पर अपने विचार लादने से उत्तम उन्हें अपने विचार के अनुसार पति चुनने का अवसर देना है। इसलिए आर्यों ने स्वयंवर की व्यवस्था की थी।''

''व्यवस्था की थी; पर अब उस व्यवस्था की पवित्रता है कहाँ! अब तो स्वयंवर एक नाटक हो गया है। पहले से सबकुछ निश्चित रहता है और समय पर नाटक के पात्र आकर भूमिकाओं का निर्वाह करते हैं। और कभी-कभी उस नाटक में तुम्हारे जैसा खलनायक भी नायक बन जाता है।'' फिर वे जोर से हँसे। उनकी वह उन्मुक्त हँसी रुक्मिणी के स्वयंवर की ओर संकेत कर रही थी।

हँसी थमते ही फिर वे बोलने लगे—''अपने मनोनुकूल वर चुनने के नारियों के अधिकार पर तो हमारे पूर्वजों ने ही कुठाराघात किया है। न धृतराष्ट्र का विवाह स्वयंवर से हुआ था, न शांतनु का, न विचित्रवीर्य का और न तुम्हारे पिता का; फिर तुम नाटक की ओर क्यों विचार करते हो?''

''क्योंकि मैं इसे नाटक नहीं समझता। इसे योग्यतम वर के चुनाव की प्रक्रिया मानता हूँ। आपको परम पराक्रमी और योद्धा वर चाहिए। आप धनुर्विद्या की कठोरतम परीक्षा की व्यवस्था करें। जो उस परीक्षा में उत्तीर्ण हो, उसे अपनी कन्या सौंप दें।''

''क्यों? क्या यह आवश्यक है कि परीक्षा उत्तीर्ण होनेवाला व्यक्ति मेरे प्रतिशोध का भी संकल्प ले सके?''

''जामाता होने पर तो यह संकल्प आपके साथ उसका भी हो जाएगा, ऐसा आपने ही कहा है।''

द्रुपद अपनी ही बात में फँस गए थे। वे क्षण भर के लिए मौन हो गए। फिर उन्होंने दूसरी शंका उठाई—''यदि कोई इस परीक्षा में उत्तीर्ण न हुआ तो?''

''तब देखा जाएगा।'' मैं कहते हुए मुसकराया।

मेरी मुसकराहट को उन्होंने स्वीकृति के रूप में देखा और मुसकराने लगे। उन्होंने पूर्ण आश्वस्त होते हुए कहा, ''यदि तुम चाहो तो कृष्णा से मिल सकते हो। वह तुमसे मिलकर प्रसन्न होगी।''

□

बातों के क्रम में मध्याह्न कब खिसक गया, पता नहीं। पर जब हम लोगों ने भोजन किया, सूर्य पश्चिम की ओर ढुलक चुका था। कार्तिक की धूप ठंडी पड़ चुकी थी। अतिथिभवन में आते-आते हवा के शीतल झोंके संध्या के आने की सूचना देने लगे थे।

''अरे मित्र, तुमने दिन ही बिता दिया।'' प्रतीक्षा में बैठे मेरे मित्रों का समवेत स्वर था।

''क्या हुआ, बात पक्की हो गई?'' सात्यकि ने परिहास के स्वर में पूछा।

''किस बात की?''

''अपने विवाह की।'' फिर एक विस्फोटक हँसी हमारे ऊपर बरसी।

''लगता है, अब महर्षियों की वाणी भी अपना स्थान बदल देती है। विवाह किसका होना चाहिए और हो रहा है किसका!'' छंदक परिहास के बहाव में बोल तो गया, पर शीघ्र ही उसे लगा कि कहीं ऐसा न हो कि मैं खुल जाऊँ। उसने तुरंत अपने को समेट लिया। लोगों ने लाख उसे खोलने की चेष्टा की, पर वह एकदम नहीं खुला। जब लोगों ने बहुत जोर दिया तब उसने झुँझलाते हुए कहा, ''मैं अपने विवाह की बात कर रहा था। एक ऋषि ने कहा था कि तुम्हारा विवाह होने वाला है।''

लोगों ने समझ लिया कि छंदक बात बना रहा है; पर लोग चुप हो गए।

अब लोगों ने मुझे घेरा। मैंने दिन की बातों का सारांश उन्हें बताया।

''तब हो सकता है, उस स्वयंवर का तीर छंदक ही मार ले।'' फिर माहौल हँसी में सराबोर हो गया।

छंदक की प्रसन्नता के पीछे मुझे किसी रहस्य का आभास कल भी लगा था और आज भी लगा था। मैंने संकेत से उसे अलग बुलाया और दूसरे कक्ष में ले जाकर उसकी पिछली कही हुई बातों को उधेड़ने लगा—''तुमने कहा था कि मैंने नागक्षेत्र का भ्रमण किया और जंगलों में भी गया।''

''पर घने जंगलों में नहीं गया था। वह राक्षसों का क्षेत्र है।'' वह कहता गया—''राक्षस, जो हमारे जैसे मनुष्यों को कच्चा चबा जाते हैं। वे मोटे ओठ, छोटी आँखें और विशालकाय होते हैं। उन्हें मनुष्य की गंध दूर से ही लगती है। इसलिए मैं उनके घ्राणक्षेत्र से दूर ही रहा।''

"फिर भी तुम्हें पांडव कहीं नहीं मिले?"

मेरे इस प्रश्न पर वह मुसकराया। मैं उसकी मुसकराहट में और झाँकूँ, इसके पहले वह बोलने लगा—"हाँ, वृकोदर से भेंट हुई थी।"

"यह वृकोदर कौन है?"

"राक्षसों का राजा।" उसकी ध्वनि रहस्यमय मुसकराहट में ही लिपटी रही।

"तब वह भी राक्षस ही होगा!"

"पर वह तो मानव ही था।"

"तुम क्या समझते हो मानव को?"

फिर उसने मुसकराते हुए वृकोदर का वर्णन सुनाया—"उसका वर्ण गौर, शरीरयष्टि सुपुष्ट और काया राक्षसों से भी विशाल। कहते हैं, उसमें हजार हाथियों का बल है।"

इतना सुनते ही मेरे मन में भीम का व्यक्तित्व उभर आया। मैंने तुरंत कहा, "तब तू क्यों नहीं कहता कि तू भीम से मिला था?"

"पर उसने तो अपना नाम वृकोदर बताया—और हर राक्षस महाराज वृकोदर का ही शरणागत था।"

अब मुझे याद आया कि भीम के उदर में सदा वृक (वज्राग्नि) जलती थी। इसलिए वह हमेशा खाता रहता था। इस समय आर्यावर्त्त में ऐसा खाने और पचानेवाला दूसरा व्यक्ति नहीं था। भीम की इसी विशेषता के कारण कुछ लोग उसे परिहास में वृकोदर कहते थे।

मुझे भीम की बुद्धि पर आश्चर्य है कि उसने राक्षसों के बीच जाकर अपने को भी राक्षसों जैसा ही बना लिया। मैं प्रसन्न था, पांडवों का पता तो चला—और उसीके द्वारा, जिसे मैं इस काम के योग्य समझता था। पर मैंने छंदक को इस विजय के लिए बधाई न देकर उसे लताड़ना शुरू किया—"छंदक! तुम मेरी दृष्टि से छिप नहीं सके और न छिप सकोगे; यद्यपि तुमने स्वयं को बहुत छिपाने की कोशिश की।"

"मैं जानता हूँ कि आपसे कुछ छिप नहीं सकता। फिर भी मैंने यह कलाबाजी की; क्योंकि मुझे बात औरों से छिपानी थी।" उसका संकेत मेरे मित्रों की ओर था।

"पर वे तो यहाँ नहीं हैं।" मैंने कहा।

"फिर भी मैं अपना अभ्यास बनाए रखना चाहता हूँ।"

मुझे हँसी आ गई। मैंने पूछा, "ऐसी सजगता क्यों?"

"क्योंकि मैं नहीं चाहता कि उनके वनवास की कहानी किसी तरह खुल जाए; क्योंकि वे अभी भी सुरक्षित नहीं हैं।"

''तो बता, तुझे और क्या मालूम है?''

''उतना ही मालूम है जितना वृकोदर ने बताया है; क्योंकि मैं उसके अतिरिक्त और किसीसे मिल नहीं पाया।''

फिर उसने जो कुछ बताया, वह किसी मनगढ़ंत कहानी से कहीं अद्‌भुत और आश्चर्यजनक था। उसने बताया—''विदुर चाचा की व्यवस्था के अनुसार नौका से गंगा पार कर वे लोग जंगल में घुस चले। दिन-रात चलते रहे।''

''पर कुंती बुआ कैसे चल पाई होंगी?''

''उन्हें भीम ने अपने सिर पर बैठा लिया था। उनसे अधिक तो नकुल और सहदेव थक गए थे। उन्हें उसने कंधों पर बैठा लिया था और युधिष्ठिर तथा अर्जुन को अपनी बाँहों का सहारा देकर आगे बढ़ता रहा।''

''उनके साथ तो महर्षि धौम्य भी थे। क्या वे पैदल ही चलते रहे?''

''यह तो मैं नहीं जानता—और न मैंने उनके विषय में कुछ पूछा ही।'' छंदक बोला। फिर भीम की बताई कहानी की डोर उसने पुन: पकड़ ली—''उसका कहना था कि दूसरी ही रात वे लोग राक्षसों से घिर गए। एक हाथ में मशाल और दूसरे हाथ में कुंत (माला) नुमा पत्थर तथा धातु के हथियार लिये वे विकृत आकृतियोंवाले राक्षस और भी भयानक लग रहे थे। वह उन लोगों को घेरकर मारे खुशी में नाचने और गाने लगे। इसी प्रसंग में भीम ने बताया कि उन लोगों को मनुष्य का मांस बड़ा अच्छा लगता है। इसके लिए वे तरसते रहते हैं; क्योंकि उन जंगलों में कोई मनुष्य डर के मारे कभी नहीं जाता—और न कोई किसीको जाने देता है। यह तो वे लोग रात को घुस आए। भीम का कहना था कि जंगल के बाहरी प्रदेश के लोगों ने घुसते देखा भी नहीं, अन्यथा वे कभी उन्हें इस क्षेत्र में आने न देते।''

''इसका तात्पर्य है कि महर्षि धौम्य उनके साथ नहीं हैं।'' मैंने कहा।

''इस संबंध में मैं अभी कुछ नहीं कह सकता।''

''तो क्या बाद में कहोगे?''

''चेष्टा करूँगा!'' छंदक फिर मुसकराया।

हर बात को रहस्यमय बनाकर कहने की उसकी प्रकृति थी। उसका व्यक्तित्व भी बड़ा रहस्यमय था। जिज्ञासा होते हुए भी महर्षि के संबंध में मैंने जोर नहीं दिया। उसे अपने ढंग से कहने दिया।

छंदक ने कहा, ''भीम ने बताया कि उन लोगों के आने की गंध ज्यों ही राक्षसों को लगी, उन्होंने इसकी सूचना अपने राजा को दी। वह बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने अपनी बहन से कहा कि आज मानुष का मांस खाने को मिलेगा। उसकी बहन ने स्वीकार किया कि मुझे भी मानुष की गंध संध्या से ही लग रही थी।''

''राजा ने बहन को सूचना दी और अपनी रानी को नहीं?'' मैंने पूछा।

''यह तो मैं नहीं जानता।''

''उस राक्षस राजा की रानी है या नहीं?''

''यह भी मैं नहीं जानता।''

मुझे हँसी आ गई। मैंने छंदक को लताड़ते हुए कहा, ''तब तू जानता क्या है?''

''बस उतना ही जानता हूँ जितना भीम ने बताया।''

''इसका मतलब है कि तुमने और कुछ जानने की कोशिश नहीं की।''

''यदि की होती तो मैं भी किसी राक्षस के पेट में होता।'' छंदक ने ऐसे नाटकीय ढंग से कहा कि मुझे फिर हँसी आ गई।

''हो सकता है, राक्षसों में विवाह की व्यवस्था ही न हो।'' मैंने कहा।

''नहीं-नहीं, व्यवस्था है।'' छंदक ने बड़े विश्वास से कहा।

''कुछ न जानकर भी तू जानता है।'' मैं पुनः हँसते हुए बोला।

मैं अपनी जिज्ञासा से अधिक इस बात से परेशान था कि दूसरे कक्ष में बैठे मेरे साथी क्या सोच रहे होंगे कि मैं कौन सी ऐसी मंत्रणा में उलझा हूँ, जो समाप्त होने का नाम ही नहीं लेती।

मैंने छंदक से कहा, ''अच्छा, जो जानता हो, वही बता ले जा।''

''हाँ, तो भीम ने बताया कि संध्या से ही उसे समारोहपूर्वक खाने की व्यवस्था राक्षसों ने आरंभ की। उन्होंने अपने राजा की आज्ञा से जंगल के राक्षसों को नगाड़ा बजाकर इकट्ठा किया। इसके बाद वे उन्हें पकड़ने के लिए आए। इसी बीच उनके कुछ साथियों ने एक समतल स्थान पर बहुत सारी लकड़ियाँ एकत्रित कीं। परंपरा के अनुसार वे लकड़ियाँ जलाई जातीं और उनके ऊपर उन्हें सिर नीचा कर बाँध दिया जाता। जो भी मानुष उनके चंगुल में आ जाता है, उसके साथ वे ऐसा ही व्यवहार करते हैं।

''भीम का कहना था कि वे उनकी दृष्टि में विशिष्ट थे। अतएव इस अवसर पर राक्षसों ने अपने राजा को भी बुलाया। मदिरा से भरे कुंभ-के-कुंभ लाए गए। राक्षस उस मदिरा को पी-पीकर नाचते हुए अग्नि की प्रदक्षिणा करते। इधर वे पेड़ से लटके छटपटाते हुए भुनते रहते।''

इतना सुनते ही मेरा मन भर आया। प्रश्न उठता है, क्या मानव की आदिम संस्कृति यही थी? आखिर ये राक्षस उसीके प्रतीक तो हैं।

छंदक बोलता जा रहा था—''वे लोग उन्हें भूनने के बाद अपने देवता को चढ़ाते। फिर उनके मांस का समूह भोज होता।...इस भयानक स्थिति की कल्पना

कर कुंती बुआ अचेत हो चली थीं। उन्हें घेरकर नाचते समूह को देखकर नकुल और सहदेव काँपने लगे थे। युधिष्ठिर ने भी इसे नियति की विडंबना मान इसके समक्ष सिर झुका दिया था। एकमात्र अर्जुन ही था, जिसने अपने धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाई और कहा कि इन सबके लिए उसका एक बाण पर्याप्त है।''

छंदक ने बताया—''भीम ने अपने भाइयों से कहा कि आप सब लोग चुपचाप तमाशा देखिए। मैं राक्षसों का उत्तर राक्षसी पद्धति से देता हूँ। फिर उसने एक विशाल वृक्ष को उखाड़ा और लगा उसीसे प्रहार करने। जिसपर भी उस वृक्ष का मोटा तना पड़ता, वह वहीं शेष हो जाता। कुछ देर में बहुत सारे राक्षस यमलोक सिधार गए। जो बचे थे, वे अपने प्राण लेकर भागे और आकर अपने राजा से सारा हाल कहा, 'एक दुर्दांत मानव आया है, जिसके सामने हम राक्षसों की एक नहीं चली।'

''राजा अचरज में पड़ा। उसने कहा, 'तुम सबको भ्रम है। मानव कभी इतना बली नहीं हो सकता। अच्छा, मैं ही उसे देखूँगा।' ''

मैंने कुतूहलवश पूछा, ''कौन है उन राक्षसों का राजा, जरा मैं भी नाम सुनूँ?''

''है नहीं, था।'' छंदक बोला, ''अब तो राक्षसों का राजा भीम ही है।'' छंदक सिर खुजलाते हुए कुछ सोचने लगा; जैसे किसी भूली बात को याद कर रहा हो—''उसका नाम तो भीम ने कुछ बताया था। बड़ा विचित्र था उसका नाम, हिम··· नहीं।···हाँ, याद आया—'हिडिंब'।''

''हाँ, तो तू जल्दी से अपनी कहानी समाप्त कर।''

''वही तो मैं कर रहा था। आपकी जिज्ञासा ही मेरे प्रवाह में बाँध बनकर खड़ी हो जाती है।'' मुझे हँसी आ गई। वह कहता रहा—''हाँ, तो राक्षसों से उनकी विपत्ति का हाल सुनकर दूसरी रात राक्षसों का राजा हिडिंब आया।'' इसी क्रम में छंदक ने एक रहस्य और बताया—''रात के समय राक्षसों की शक्ति स्वयं दोगुनी हो जाती है, इसीसे वे अपने आक्रमण की योजना रात को ही बनाते हैं।···इस बार भी हिडिंब ने रात का ही समय चुना था। उस समय कुंती बुआ के साथ सभी पांडव थककर सो रहे थे। केवल भीम जागकर पहरा दे रहा था। गरजता हुआ हिडिंब आया। पहले तो वह भीम की काया देखकर ही चकित रह गया। उसने कभी भी इतना शक्तिशाली मनुष्य नहीं देखा था।

''हिडिंब ने गरजते हुए पूछा, 'तुमने मेरे प्रजाजनों को क्यों मारा?'

''भीम कुछ समझ नहीं पाया। उसके सामने भाषा का संकट था। वह राक्षसों की बोली से परिचित नहीं। उसने संकेत से अपनी असमर्थता व्यक्त की। फिर दोनों की बातें संकेत में ही होती रहीं। काफी देर तक झमेला चला। इसके बाद घबराई हुई उसकी बहन हिडिंबा भी आ गई।

''भीम बता रहा था कि हिडिंबा आई तो थी किसी आशंका से आतंकित होकर, पर आते ही उसकी दृष्टि उसपर पड़ी और पहली ही दृष्टि में उसका सौंदर्यगर्वित दहाड़ता पौरुष हिडिंबा के मन पर छा गया। उसने अपनी भाषा में अपने भाई से कुछ कहा।

''भीम का अनुमान था कि हिडिंबा ने उसे न मारकर बंदी बनाने के लिए कहा था। पर बहुत से राक्षसों ने हिडिंबा के कथन का विरोध किया।

''हिडिंब ने उसकी ओर एक जलती दृष्टि डाली। हिडिंबा का विरोध सिकुड़कर अपनी सुरक्षा के बिल में समा गया। राक्षसराज ने अपनी प्रजा की बात मानी और भीम पर आक्रमण कर दिया। युद्ध हुआ। प्रभात होते-होते राक्षसों की शक्ति भी घटने लगी। इसका लाभ उठाकर भीम ने हिडिंब को चीरकर दो टुकड़े कर दिए। सारे राक्षस भीम की जय-जयकार करने लगे।''

''उनका राजा मारा गया और वे उसके शत्रु की जय-जयकार करने लगे! कैसी-कैसी कथा तुम भी गढ़ लेते हो, छंदक!''

''यह गढ़ी हुई कथा नहीं वरन् सत्य है।'' छंदक ने बताया—''उन राक्षसों के यहाँ यही प्रथा है। वे युद्ध में मरनेवाले के प्रति दु:खी नहीं होते और मारनेवाले के लिए जयकारा लगाते हैं; और राजा को मारने या पराजित करनेवाले को अपना राजा मान लेते हैं। राक्षस अपने राजा में दैवी शक्ति का वास मानते हैं। उनका देवता 'विरोचन' राजा में निवास करता है। बिना विरोचन की इच्छा से कोई राजा मारा नहीं जा सकता।

''हिडिंब की मृत्यु को भी राक्षसों ने अपने आराध्य की इच्छा के परिणाम के रूप में ही स्वीकार किया। इसलिए हिडिंब के मरते ही राक्षसों ने भीम के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की और उसे अपना राजा मान लिया।''

''फिर हिडिंबा ने क्या किया?'' मेरी जिज्ञासा थी।

''वह भी भीम की शरणागत हुई। उसने उसे सादर ले जाकर हिडिंब के सिंहासन पर बैठाया और समारोह मनाया। उसमें कुंती बुआ आदि भी शामिल हुईं।''

मैं मन-ही-मन सोचने लगा कि अद्‌भुत हैं ये राक्षस भी। इनके यहाँ मृत्यु कोई गंभीर घटना नहीं बनती। वह दु:ख की छाया भी नहीं छोड़ती। राक्षस हमसे अधिक जीवन को रस के साथ जीना चाहते हैं। शायद इसलिए कि हमारी बौद्धिकता उन तक नहीं पहुँची है। उनके पास चिंतन का उलझाव नहीं है। वे जीवन को बड़े सहज भाव से जीते हैं।

इसके बाद मैंने पूछा, ''इसका तात्पर्य है कि पांडव अब वहीं चैन की वंशी बजा रहे हैं?''

"देखिए, आपने एक प्रश्न उठा दिया; जबकि हमारी कहानी अभी समाप्त नहीं हुई।"

"तो जल्दी-से-जल्दी अपनी कहानी समाप्त करो।"

"तब इसके बाद हिडिंबा भीम के पीछे पड़ी। उसने भीम से विवाह का प्रस्ताव किया। इस प्रस्ताव के पीछे जहाँ उसका भीम के प्रति आकर्षण था, वहीं राक्षसों की प्रथा का दबाव भी था। राक्षसों की रीति के अनुसार, राजा को पराजित करनेवाले को ही राजा की पत्नी या बहन पति के रूप में वरण करती है। उसके लिए ऐसा करना दैवी आज्ञा होती है।

"पर पांडवों में से कोई भी इस प्रस्ताव के पक्ष में नहीं था। अब हिडिंबा मोहक रूप धरकर भीम को रिझाने लगी। उसने माता कुंती से भी अर्चना की। अंत में उन्होंने अनुमति दे दी। भीम जल्दी तैयार नहीं हो रहा था। फिर भी वह एक शर्त पर राजी हो गया।"

"वह शर्त क्या थी?"

"भीम ने उससे कहा, 'पुत्र न होने तक मेरा-तुम्हारा शारीरिक संबंध रहेगा। पुत्र होते ही मैं तुम्हें छोड़ दूँगा।' "

"भीम ने चाहे जो शर्त मनवा ली हो, पर हमारे यहाँ तो विवाह संबंध शारीरिक कम और आत्मिक अधिक होता है। हम जीवन भर पति-पत्नी बने रहते हैं।" मैंने कहा।

छंदक हँस पड़ा—"वैवाहिक संबंध विच्छेद की बात तो शर्त में थी ही नहीं। शर्त तो मात्र शारीरिक संबंध में थी। पति-पत्नी का संबंध कहाँ टूटता है?"

"तो इस प्रकार की शर्त का उद्‌देश्य क्या है?"

"हिडिंबा से मुक्ति पाना।" छंदक ने यह भी बताया—"भीम शीघ्र ही मुक्ति पा जाएगा और कदाचित् महीने भर में ही राक्षसों की सत्ता राक्षसों को सौंपकर चल देगा; क्योंकि हिडिंबा गर्भवती है।"

फिर भी मैं समझने लगा कि इस सफलता के बाद भी पांडव सुखी नहीं रहेंगे। मेरी मौन मुद्रा पर चिंतन की रेखाएँ खिंचने लगीं।

"आखिर आप इतने गंभीर क्यों हो गए?" छंदक बोला।

"सोचता हूँ कि राक्षसों की सत्ता छोड़ने के बाद पांडवों को फिर दाने-दाने के लाले पड़ जाएँगे। उन्हें पेट पालना मुश्किल हो जाएगा।"

छंदक मेरे सोच पर हँस पड़ा—"आप सोचते हैं कि सारे संसार की चिंता आपको ही है!"

मुझे लगा कि मेरे भीतर उठ रहे अहं को किसीने एक चाँटा खींचकर मारा।

मैं तुरंत बोल पड़ा—''नहीं, मैं ऐसा कभी नहीं सोचता।''

''तब सुनिए, पांडवों की चिंता औरों को भी है।'' छंदक ने बताया—''जब भीम राक्षसों की सत्ता भोग रहा था तब आचार्य धौम्य ने पांडवों को बुलवाया था।''

''बुलवाया था!'' मुझे आश्चर्य हुआ—''क्या वे पांडवों के साथ नहीं थे?''

''थे तो साथ ही, पर वे राक्षस क्षेत्र में नहीं गए थे। उन्होंने स्पष्ट कहा कि आचार्य और ऋषि के लिए राक्षस क्षेत्र वर्जित है। यदि ऐसा न होता तो इस राक्षसावर्त्त में ऋषियों और आचार्यों के आश्रम होते। प्रकृति की यह सभ्यता उन्हें आकृष्ट किए बिना न रहती।''

मेरी शंका उभरी—''पर अनेक ऋषियों ने राक्षसों का वध किया है!''

''वह तब, जब राक्षस ऋषियों के क्षेत्र में गए हैं।'' छंदक बोला और मैं चुप हो गया।

वह फिर अपनी कहानी सुनाने लगा—''तब महर्षि धौम्य ने युधिष्ठिर से कहा, 'तुम सूर्य की आराधना करो। सूर्य की आराधना ही तुम्हें सभी कष्टों से मुक्ति दिला सकती है।' ''

मुझे स्मरण आया कि श्रीराम ने रावण से युद्ध करने के पहले सूर्य की आराधना की थी और वे संकट से पार हुए थे।

छंदक कहता जा रहा था—''तब से युधिष्ठिर ने कई महीने तक लगातार सूर्य की आराधना की। प्रसन्न होकर सूर्य ने उन्हें एक अक्षय पात्र दिया है, जिसमें बनाया हुआ भोजन कभी समाप्त नहीं होता। हम, आप, आपके साथी, आपकी सेना—सभी उसमें बनाए हुए भोजन से तृप्त हो जाएँगे; फिर भी भोजन बचा रह जाएगा।'' छंदक मुसकराया—''है न अद्‌भुत वस्तु! शायद आपको विश्वास न हो।''

''नहीं, मुझे विश्वास है।'' मैंने कहा, ''हमारी दृष्टि एक सीमा तक ही देख सकती है। हम अपनी सीमित दृष्टि से ही असीमित को देखने की चेष्टा करते हैं और पूरे सत्य को देख नहीं पाते, तभी हम उसे चमत्कार की संज्ञा दे देते हैं।''

पूरी कथा जान लेने के बाद मेरा तनाव ढीला पड़ा। हम दोनों का यह स्पष्ट निश्चय था कि इन सभी बातों को अभी रहस्य ही बना रहने दिया जाए।

हमें बगल के कक्ष में भी चलने की जल्दी थी। मेरे मित्र वहीं बैठकर मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। वे क्या सोच रहे होंगे कि छंदक से ऐसी कौन सी बात हो रही है कि लोग इतने तल्लीन हैं?

कक्ष में पहुँचते ही उद्धव की परिहासपूर्ण आक्रामक मुद्रा का सामना करना पड़ा—''भैया, यदि कृष्णा के साथ रहते तो कोई शंका न होती, पर छंदक से ऐसा चिपकना शंकास्पद है!''

लोग हँस पड़े। मैंने उन्हींके स्वर में स्वर मिलाते हुए कहा, "अभी तुम लोगों ने छंदक को समझा नहीं है। वह ऐसा भँवर जाल है कि उसमें एक बार पड़ जाने के बाद फिर निकलना कठिन हो जाता है।"

एक बार फिर हँसी फूटी और हमीं लोगों पर झड़कर समाप्त हो गई।

□

आज पूर्वाह्न में धृष्टद्युम्न को मुझे लेने आना था। अंत:पुर में मेरे भोजन की व्यवस्था की गई थी। मेरे मित्र आमंत्रित नहीं थे। वे प्रात: से ही मुझे बनाने लगे।

"लगता है, हम लोगों का यहाँ आना बेकार हुआ। यहाँ तो केवल भैया की ही पूछ हो रही है।" उद्धव बोला।

"भाई, यह तो संसार का नियम ही है कि भरे को ही लोग भरते हैं।" सात्यकि बोला, "सब जानते हैं कि कन्हैया का विवाह हो चुका है। फिर भी उन्हींके विवाह के लिए महाराज दबाव पर दबाव दिए जा रहे हैं; जबकि उद्धव अभी तक कुँआरा और कोरा है।"

"यह कोरा क्या होता है जी?" मैंने पूछा और सभी हँस पड़े।

"अरे, जब आप ही नहीं जानते तो इस शब्द का जन्म लेना बेकार है।" यह तीर श्वेतकेतु का था, जो परिहास के घट में सीधे लगा और छलछलाती हुई हँसी बिखर गई।

"इसके लिए आप क्या कर सकते हैं?" उद्धव ने इस माहौल को अपने ढंग से छेड़ा—"अरे भाई, सबका भाग्य समान तो होता नहीं। भैया के भाग्य में पत्नियाँ-ही-पत्नियाँ लिखी हैं और मेरे भाग्य में भाभियाँ-ही-भाभियाँ। चलिए, कोई बात नहीं। लोग भले ही मुझे वर बनाना न चाहें, पर मेरे द्विजवर (देवर) के अधिकार से तो वंचित नहीं कर सकते।"

"तुम भी ठीक सोचते हो, भाई।" सात्यकि बोला, "बुद्धिमान लोग कहते हैं, सबकुछ जाने की स्थिति में आधे बचे पर ही संतोष कर लेना चाहिए।"

"आखिर बात समझ में नहीं आती कि पांचाली कन्हैया से ही, वह भी अकेले में ही क्यों मिलना चाहती है!" परिहास का नया द्वार खोलते हुए श्वेतकेतु बोला।

"यह बात या तो पांचाली जाने या कन्हैया! हम तो दो पगों के बीच मात्र कंदुक हैं। इधर से मारे गए तो उधर गए, उधर से मारे गए तो इधर आए। खेल केवल कन्हैया और पांचाली का है।" फिर एक जोरदार ठहाका।

इसी बीच धृष्टद्युम्न आ गया। आते ही उसने विलंब के लिए क्षमा माँगी। मैं तैयार तो था ही, अपने मित्रों को अभिवादन कर चल पड़ा।

पर सात्यकि अपनी आदत से बाज नहीं आया। उसने चलते समय मुसकराते

हुए कहा, ''हम लोग आशा करते हैं कि आप लौटकर आएँगे ही।''

फिर एक हँसी हुई।

पर संदर्भ न समझने के कारण धृष्टद्युम्न गंभीर हो गया। उसने सात्यकि के कथन को मेरी सुरक्षा के संबंध में लिया और सहजभाव से बोला, ''डरने की कोई बात नहीं है, वहाँ पूरी सुरक्षा व्यवस्था रहेगी।''

उसके इस कथन पर और जोर की हँसी हुई।

अंत:पुर में ले जाकर धृष्टद्युम्न भी मुझसे दूर हो गया। इस समय मैं अपने स्वाभाविक वेश और मुद्रा में था। मोर मुकुट, पीतांबर, घुटनों तक लहराता स्वर्णिम उत्तरीय, राधा की दी हुई वंशी, कुब्जा की दी हुई गुंजों की माला और अपना सुदर्शन चक्र धारण किए जब मैं अंत:पुर के प्रांगण में पहुँचा तो परिचारिकाएँ मुझे देखती रह गईं। बोलीं नहीं; पर उन्होंने पांचाली के कक्ष की ओर संकेत किया।

जब मैं कक्ष में पहुँचा तब पांचाली अपनी प्रिय सेविकाओं के साथ मेरी प्रतीक्षा कर रही थी। उसे देखते ही मेरे मन पर उसके सौंदर्य और शरीरयष्टि का प्रथम दबाव ही काफी गहरा पड़ा। अरुणाभ रेशमी वस्त्रों से सुसज्जित उसकी नीलवर्णी काया खिलती श्याम कुमुदिनी सूर्यास्त की अरुणिमा से परिवेष्ठित जान पड़ी। उसका भभकता सौंदर्य याज्ञसेनी (यज्ञ से उत्पन्न उसका दूसरा नाम) होने का परिचायक था। वह मुझे देखते ही मुसकराई और मेरे अधरों पर भी मुसकान की एक रेखा उभर आई। फलत: हमारी मुसकानों का मिलन मेरे-उसके मिलन से पहले हुआ।

पहुँचते ही स्वर्ण थाल में जल रहे दीपकों से उसने मेरी आरती उतारी। इस समय भी नयनों का नयनों से सम्मिलन, गोपन संभाषण हम दोनों से बहुत कुछ कह गया।

आरती के बाद उसने मुझपर अक्षत छिड़का। पर न माला पहनाई, न चंदन लगाया। जब सेविकाओं ने पुष्पहार उसकी ओर बढ़ाया तब उसने उसे हटाते हुए कहा, ''अभी नहीं।''

फिर खिलखिलाकर ऐसे मौन हो गई जैसे कोई नागिन डसकर उलट जाए।

इसके पश्चात् उसने अपने सामने ही एक भव्य सिंहासन पर मुझे बिठाया और बड़े ध्यान से देखते हुए बोली, ''मैंने आपके बारे में जैसा सुना था वैसा ही पाया।''

''यही बात मैं आपके संबंध में भी कह सकता हूँ।'' मैं भी हँसा और वह भी।

फिर उसने करतलध्वनि कर अपनी सेविकाओं को चले जाने का संकेत किया।

अब हम दोनों उस विशाल कक्ष में अकेले थे। मैंने कहा, ''आपने उन्हें हटाकर ठीक नहीं किया।''

''क्यों?''

''इससे उनमें हमारे प्रति कुतूहल जगेगा और आपको भी उन्हें हटाने का लाभ

नहीं मिलेगा। उनकी जिज्ञासा लुक-छिपकर ताक-झाँक करती रहेगी।''

''वे ताक-झाँक करें या न करें,'' पांचाली बोली, ''इस संदर्भ में आपके मन में उठा भय हमारे लिए बड़े काम का है।''

''क्यों?''

''हम दोनों अपनी मर्यादाओं में रहेंगे।'' फिर वह जोर से हँसी।

मुझे लगा, मेरी बुद्धि की चौपड़ पर बिछी एक गोटी उसने मार दी।

कुछ क्षणों तक हम एक-दूसरे को देखते हुए मौन थे। मैं सोच रहा था कि कैसे बात शुरू करूँ। पर वही बोल बैठी—''अच्छा बताइए, आपने यहाँ पधारने की कैसे कृपा की?''

अब मैं क्या कहता! किसी सम्मानित आगंतुक से ऐसा प्रश्न नहीं करना चाहिए। मेरा अहं थोड़ा सुगबुगाया—''मैं अनाहूत तो नहीं हूँ।''

''पर मैंने आहूत भी नहीं किया है।'' पांचाली पुनः मुसकराई। उसे लगा जैसे उसने वह कह दिया; जो उसे नहीं कहना चाहिए। उसने स्वयं को सँभाला—''पर आपसे मिलने की बड़ी इच्छा थी। आचार्य सांदीपनि ने आपके बारे में जो बताया था, उससे आपके विषय में जिज्ञासा बहुत बढ़ गई थी। उन्होंने आपसे मेरे संबंध में भी कुछ कहा होगा!''

''आपके संबंध में तो उतना नहीं कहा जितना आपको लेकर आपके पिताश्री के संबंध में कहा।''

''आपका तात्पर्य?''

''तात्पर्य यही कि मेरा पांचाल से संबंध स्थापित हो जाए।'' फिर मैंने सारी कथा बताते हुए धीरे-धीरे बड़ी मर्यादा के साथ विवाह की भी बात कही। इसके बाद मैंने जानना चाहा कि इसमें सहमति है या नहीं।

वह मुसकराई। बड़े नाटकीय ढंग से बोली, ''इस एकांत का आप एक उचित लाभ उठा सकते हैं।''

मैं एकदम सकते में आ गया। मेरी मुद्रा पूछ बैठी—'क्या?'

''आप मुझे 'आप' के स्तर से उतारकर 'तुम' के स्तर पर ला सकते हैं।''

मुझे हँसी आ गई। वह मुसकराती रही। मैंने अनुभव किया कि बातों में इसे पराजित करना कठिन है।

''तो आप मेरी सहमति के संबंध में पूछ रहे थे।'' उसने वार्त्तालाप के पुराने क्रम को पुनः पकड़ा और बोली, ''यदि मेरी सहमति न होती तो पिताजी आपसे प्रस्ताव न करते। अब बताइए, आपकी सहमति है या नहीं?''

मैं एकदम चुप हो गया। मेरी मुद्रा चिंतन में डूब गई।

"अब क्या सोचने लगे?"

"सोच रहा हूँ कि आज आर्यावर्त्त को क्या हो गया है!" मेरी आवाज दार्शनिकों जैसी गंभीर हुई—"आपसी संबंधों और राजनीति के स्वार्थ के लिए आज नारियों की अस्मिता दाँव पर क्यों लगाई जा रही है? उधर जरासंध केवल राजनीतिक लाभ के लिए अपनी पौत्री अप्नवी रुक्मी को सौंपना चाहता था। उधर रुक्मी अपनी बहन को शिशुपाल से बाँधना चाहता था। और यहाँ देखता हूँ, तुम्हारे पिताश्री तुम्हें मुझे देना चाहते हैं।"

"इन 'देने' में देने से कहीं अधिक लेने का प्रयत्न है।" पांचाली ने बड़े स्वाभाविक ढंग से कहा, "वह मुझे देने से अधिक आपको लेना चाहते हैं।"

"यह तो तुम्हें दिए बिना भी वे कर सकते हैं। मैंने स्वयं को उनके समक्ष समर्पित कर दिया है।"

पांचाली गंभीर हुई। उसने बड़े प्रभावशाली ढंग से कहा, "जानते हो, कन्हैया, एकतरफा समर्पण आधा और अधूरा होता है। ऐसे समर्पण की विश्वसनीयता भी बड़ी दुर्बल होती है। ऐसे एकतरफा समर्पित बहुत से लोग पिताजी के पास आते-जाते रहे हैं। उन्होंने हर स्थिति में उनका साथ देने का संकल्प किया था; पर ककुद्मिन की तरह आज तक वे अपने बलराम को पा नहीं सके, जो अपमान की अग्नि को शांत कर पाता।"

"अपमान की अग्नि का शमन सामान्य नहीं है, पांचाली!" मैंने कहा, "उसे बुझाने के लिए संतोष का जल और आत्मचिंतन की शीतल बयार चाहिए, प्रतिशोध की समिधा नहीं।"

"आपको उस स्थिति की कल्पना तक नहीं है, जिसमें अर्जुन ने मेरे पिता को बंदी बनाया था। कहते हैं, उस समय पिताजी वट के नीचे बैठे एक प्रकृति-पूजन कर रहे थे कि अचानक अर्जुन आ गया। उसने एक बाण उनके मुकुट में मारा। वह हवा में उड़ गया। पिताजी तो हक्का-बक्का रह गए कि यह क्या हुआ। तब तक उसका दूसरा बाण उनके पैर में लगा। वे गिर पड़े। वे समझें, इसके पहले ही अर्जुन अपने साथियों के साथ उनपर गिद्ध की तरह झपटा और उन्हें बाँधकर खिंचवा ले गया। यह सब इतना शीघ्र और आनन-फानन में हुआ कि कोई कुछ न कर सका।" इतना कहते-कहते पांचाली एकदम आवेश में आ गई—"क्या यह न्यायसंगत था? बड़े-से-बड़ा शत्रु भी अपने प्रतिपक्षी को सावधान करता है, उसे सँभलने का अवसर देता है; पर यह क्या था? यदि उस समय आप होते और देखते, तो क्या आपके रक्त में उबाल न आता?…और मैं तो इसी प्रतिशोध की अग्नि से जनमी हूँ। मेरे मन की स्थिति का आप अनुमान लगाइए।" इसके बाद उसके तन में जैसे

कराली काली का प्रवेश हो आया—''मैं पिताश्री के अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए कुछ भी कर सकती हूँ।''

''कुछ भी।'' मैंने मुसकराने की चेष्टा की।

पर मेरी मुसकराहट जलते तवे पर बूँद की तरह छनछनाकर रह गई।

पांचाली ने उसी आवेश में कहा, ''हाँ, कुछ भी। यदि आप मेरा प्रस्ताव स्वीकार नहीं करेंगे तो मैं मेघसंधि से विवाह करूँगी और जरासंध की शक्ति को साथ लेकर द्रोण पर आक्रमण करूँगी। और तब तक शांत न बैठूँगी जब तक उसे बाँधकर अपने पिताश्री के चरणों में न डाल दूँगी।''

इसके बाद भी वह कुछ समय तक काफी आवेश में थी। फिर उसने करतल ध्वनि की। एक सेविका उपस्थित हुई। उसने उससे जल मँगवाया। मैंने अनुभव किया कि वह स्वयं अपने आक्रोश पर नियंत्रण कर रही है।

हम दोनों ने जल पीया और प्रकृतिस्थ होने की चेष्टा की।

''क्या सोचने लगे?'' वह बोली।

''सोचता हूँ कि द्रोण का अपराध अक्षम्य है।'' मैंने कहा, ''ब्राह्मण को कभी क्रोध नहीं करना चाहिए। क्रोधाग्नि में पहले उसका ब्राह्मणत्व जलता है, बाद में और कुछ। द्रोण का ब्राह्मणत्व तो उसी समय भस्म हो गया, जिस समय उन्होंने अपने प्रतिशोध के लिए अर्जुन को भेजा था। अब हम बदला लेंगे तो उनके घायल क्षत्रियत्व से और उन्हींके स्तर पर आकर।''

''आप कहना क्या चाह रहे हैं?''

''क्या हम सबकी महानता उन्हें क्षमा नहीं कर सकती? कभी-कभी क्षमा भी दंड से भारी पड़ती है।''

''किस त्रेता युग की बात करते हैं आप! जिस युग में आप जी रहे हैं, उस युग में क्षमा कायरता समझी जाती है—और हम कायर नहीं हैं।''

''इसे मैं समझता हूँ।''

मैंने अनुभव किया कि मेरा ज्ञानगर्वित प्रवचन पांचाली के अमर्ष के समक्ष असफल हो रहा है। मैंने तुरंत उसीकी मानसिकता के साथ होने का निर्णय लिया; क्योंकि डूबने के खतरे से अच्छा होता है धारा के साथ बह चलना।

मैंने कहा, ''हम द्रोण से बदला अवश्य लेना चाहते हैं।''

वह एकदम खिल उठी—''तो आप तैयार हैं?''

''तैयार तो मैं पहले भी था और अब भी हूँ; पर तुम्हारे पिता का जामाता बनकर नहीं, तुम्हारा भाई बनकर।''

'भाई' शब्द का प्रयोग करते ही ज्वालामुखी पर जैसे हिमपात हो गया। वह

एकदम ठंडी पड़ गई।

अब मैंने अपनी बुद्धि के निषंग से दूसरा बाण निकाला—''क्यों, ऐसा नहीं हो सकता कि मुझसे भी अच्छा तुम्हें कोई दूसरा पति मिल जाए, जो तुम्हारे कंधे से कंधा मिलाकर तुम्हारा संकल्प पूरा करे?''

''अभी तक तो आपसे अच्छा कोई दिखाई नहीं देता।'' उसने सलज्जभाव से कहा।

''तुमने देखने की चेष्टा नहीं की तो दिखाई कैसे पड़ता!'' मैंने कहा, ''संसार बड़ा विशाल है। हमारी दृष्टि परिधि में न तो उसकी विशालता आती है और न विलक्षणता। ऐसी स्थिति में उसकी विलक्षणता को अपनी दृष्टि सीमा में आने के लिए आमंत्रित करना चाहिए।''

''मैं आपके कथन का तात्पर्य न समझ सकी।''

''मेरा आग्रह था कि कांपिल्य में एक विशाल स्वयंवर का आयोजन हो।''

''इससे क्या होगा? मैं किसके गले में अपनी माला पहनाऊँगी? और किसी गलत कंठ में मेरी माला पड़ गई तो?''

''इसीलिए तो मैं कह रहा था कि तुमको पति चुनने के लिए धनुर्विद्या की कठिनतम परीक्षा रखनी चाहिए। उसे उत्तीर्ण करनेवाला ही तुमको पाने का अधिकारी होगा।''

वह सोचने लगी। उसके सोच का आधार था कि ऐसी कौन सी परीक्षा हो सकती है? और यदि ऐसी परीक्षा हो भी जाए तो क्या विश्वास है कि उसमें उत्तीर्ण होनेवाला व्यक्ति हमारे संकल्प का भागीदार भी होगा। फिर यदि कोई उत्तीर्ण न हुआ तो?

''यह सब तुम मेरे ऊपर छोड़ दो।'' मुझे याद है, मैं उसी मुद्रा में और उसी अधिकार से उससे बोला, जिस मुद्रा में युद्धस्थल में खड़े मोहग्रस्त अर्जुन से बोला था—'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'। वह चुपचाप मेरा मुँह देखती रही।

मैंने अपने प्रस्ताव को विस्तृत रूप दिया—''स्वयंवर की तिथि चार-पाँच महीने बाद रखी जाए, जिससे आर्यावर्त्त और उसके बाहर के सभी राजाओं को निमंत्रण भेजा जा सके—और राजाओं को क्यों, संपूर्ण जनता को आमंत्रित किया जाए।''

''आप क्या समझते हैं कि सामान्य जनता में भी कोई पराक्रमी हो सकता है?''

''पराक्रम और प्रतिभा न तो उत्तराधिकार के आश्रित रही है, न उसने कोई जातीय बंधन स्वीकार किया है—और न वह किसी वैभव के घेरे में बंदी हुई है।'' इतना कहते-कहते मेरे मस्तिष्क में विद्युत् किरण की तरह एकलव्य का व्यक्तित्व चमका। मैं बोल पड़ा—''आखिर तुम्हीं बताओ, एकलव्य किस राजा का बेटा है?

किसी आचार्य ने उसे अपना शिष्य भी नहीं बनाया। और जिस आचार्य की मूर्ति बनाकर उसने उसके समक्ष अपना शिष्यत्व समर्पित किया, उसी आचार्य ने उसका अँगूठा कटवा लिया।''

''कितना नीच है वह आचार्य!'' पांचाली एकदम भभक पड़ी।

उसके चिंतन को एक आश्रय मिला। उसने सोचा कि कोई मिले, चाहे न मिले; पर एकलव्य ऐसा धनुर्धर है, जिसके मन में द्रोण और अर्जुन—दोनों के विरुद्ध प्रतिशोध जगाया जा सकता है।

वह लगभग खिल उठी—''यह तो आपने ठीक सोचा। उसके मन की धरती हमारी प्रतिहिंसा के पौधे के लिए काफी उर्वर है।''

मुझे हँसी आ गई। जुआरी को अपना दाँव ही दिखाई देता है। मैंने हँसते हुए कहा, ''पौधे के जमने के लिए धरती की उर्वरता ही पर्याप्त नहीं होती। जल और मौसम की अनुकूलता भी चाहिए। पर तुम केवल एकलव्य के संदर्भ में ही क्यों सोचती हो? एकलव्य तो उन सारे धरतीपुत्रों का प्रतीक है, जिन्होंने वैभव से दूर रहकर पराक्रम और शौर्य की साधना की है। ऐसे अनेक धरतीपुत्र हैं, जिन्हें हम नहीं जानते तथा जो हमारे स्वयंवर में एकत्र हो सकते हैं।''

पांचाली अब स्वयंवर के लिए सिद्धांत रूप से राजी थी। अब स्वयंवर के प्रकार, तिथि एवं स्थान के संबंध में निश्चय करना था। इसके लिए द्रुपद, धृष्टद्युम्न और उनके अमात्यों से विचार अपेक्षित था।

जब चलने लगा तब पांचाली मुझे द्वार तक छोड़ने आई। उसकी तनावमुक्त आकृति अब पहले से ज्यादा आकर्षक लगी। उसने चलते-चलते मुसकराते हुए कहा, ''स्वयंवर का सारा नाटक रचने के बाद भी मुझे लगता है कि माला आपके ही गले में डालनी पड़ेगी।''

''हाँ, बहन की माला भाई के कंठ में भी सुशोभित होती है।''

पांचाली की आकृति पर संध्या की अरुणिमा में डूबी एक सलज्ज मुसकराहट उभर आई।

□

चार
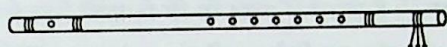
पांचाली का स्वयंवर निश्चित हो गया। स्वयंवर की योग्यता के लिए धनुर्विद्या की प्रतियोगिता होगी। जो इस प्रतियोगिता में उत्तीर्ण होगा, उसे ही पांचाली वरमाला डालेगी। प्रतियोगिता की तिथि और स्थान का निश्चय महाराज द्रुपद पर छोड़ा गया। उनकी घोषणा के बाद निमंत्रण आर्यावर्त्त और उसके बाहर प्रत्येक राजा-रंक के लिए प्रसारित करने की व्यवस्था थी।

इस योजना के संबंध में सुनने के बाद छंदक कुछ खिन्न लगा और बोला, ''मैं तो आज-कल में ही पांचाली के साथ आपके विवाह के संबंध में सोच रहा था।''

''तुम तो सदा हमारे विवाह के संबंध में ही सोचते हो।'' मैंने हँसते हुए कहा, ''पर जानते हो, विवाह में केवल पत्नी ही नहीं मिला करती।''

''हाँ, दहेज भी मिलता है।'' छंदक ने इस बार व्यंग्य किया।

''किंतु इस विवाह में ऐसी वस्तु मिलने वाली थी, जो मुझपर भारी पड़ती।''

इस प्रसंग में मैंने द्रुपद की आकांक्षा, उनकी प्रतिज्ञा और संकल्प को विस्तार से बताया। यद्यपि छंदक सब जानता था। उसने छूटते ही कहा, ''जब आप ककुद्मिन के संकल्प को अपना बना सकते हैं, तब द्रुपद के इस मामूली संकल्प में क्या है!''

''दोनों में बड़ा अंतर है। दोनों की परिस्थितियाँ काफी भिन्न हैं।'' मैंने कहा, ''उस समय हमारे पास कोई राज्य नहीं था। हम उखड़े हुए लोग यायावर की जिंदगी जी रहे थे। हमें आर्यावर्त्त में स्थापित होने के लिए राज्य चाहिए था, इसलिए हम लोगों ने ककुद्मिन के संकल्प को सिर-माथे ले लिया। भैया ने विवाह किया था ककुद्मिन के संकल्प से, उसके हताशाजन्य वैराग्य से—और दहेज में मिल गई रेवती। और यहाँ विवाह तो करना नहीं, दहेज में मिल रही है द्रुपद की प्रतिहिंसा। वह भी मुझे किससे विरोध लेना है—द्रोण से, अर्जुन से। क्या मैं अर्जुन जैसे अपने भ्राता के विरुद्ध खड़ा हो सकूँगा?''

''फिर इस झमेले से ही दूर रहना चाहिए था!''

''वह भी तो नहीं रह सकता था।'' मैंने अपनी असमर्थता व्यक्त की—''मैं

जहाँ इस संदर्भ से दूर हुआ कि पांचाल मेरे स्थायी शत्रु जरासंध की मुट्ठी में आ जाएगा। तब वह पांचाल को लेकर सीधे हस्तिनापुर पर चढ़ाई करेगा। आर्यावर्त्त का सारा शक्ति संतुलन विकृत हो जाएगा।''

छंदक मेरी बात में गहराई का अनुभव करने लगा। वह बोला, ''देखिए, परिस्थितियाँ कैसे बदलती हैं! आपको याद होगा, यही द्रुपद हैं, जिन्होंने मथुरा पर आक्रमण के लिए जरासंध को मार्ग नहीं दिया था और आज उसीके पौत्र को अपनी कन्या दे रहे हैं।''

''प्रतिशोध की अग्नि का विवेक नहीं होता, छंदक! वह केवल जलना और जलाना जानती है। द्रुपद तो उसमें जल ही रहा है, वह द्रोण को भी जलाना चाहता है। पांचाली का उपयोग तो वह समिधा की तरह करेगा।''

''आपका तात्पर्य?''

''मेरा तात्पर्य स्पष्ट है। मुझे पांचाली भी उसमें जलती हुई दिखाई दे रही है। मैं उसे विद्वेष की अग्नि को शांत करने का माध्यम बनाना चाहता हूँ। इसीलिए मैंने इस समस्या को स्वयंवर तक टाल दिया है। तब तक कोई-न-कोई मार्ग तो निकल ही आएगा।''

''यदि ऐसा है तो स्वयंवर में शीघ्रता नहीं करनी चाहिए। यदि आठ-दस महीने का समय नहीं मिलेगा तो पूरे आर्यावर्त्त में सूचना ठीक से प्रसारित नहीं की जा सकती।'' छंदक ने कहा।

मुझे उसकी बात उचित लगी। मैं भी अधिक-से-अधिक समय चाहता था। बहुत से घाव समय स्वयं भर देता है और बहुत से समाधान उसके प्रकोष्ठ से स्वयं निकल आते हैं।

उसका समर्थन करते हुए मैंने कहा, ''अरे, अब तो पंद्रह-बीस दिनों में चातुर्मास आरंभ होने वाला है। इसमें तो कुछ होता नहीं। निमंत्रण भिजवाना भी उसके बाद ही संभव होगा।''

''पर तिथि तो महाराज अभी ही निश्चित कर देंगे।'' छंदक बोला।

''हाँ, मैंने भी सुना है कि इस विषय के विचारार्थ कल महाराज ने अपने पुरोधा को बुलाया है।''

उसी संध्या को मैंने महाराज से मिलना उचित समझा और तिथि के संबंध में अपनी धारणा उनसे बताई। उन्होंने कोई विवाद नहीं किया। लगता है, वे किसी दूसरी चिंता में थे। उन्होंने कहा, ''जब सारा जिम्मा तुम्हींने ले लिया है तब देर क्या, सबेर क्या!''

मेरी इच्छानुसार उन्होंने होलिकादहन के बाद ही कोई तिथि निश्चित करने के

लिए पुरोहित से परामर्श कर महामात्य से कहा; फिर अप्रत्याशित रूप से चुप हो गए और सिर पर हाथ रखे कुछ सोचते रहे।

धृष्टद्युम्न भी चुपचाप उनकी बगल में बैठा रहा। मेरी दृष्टि कभी धृष्टद्युम्न की ओर जाती और कभी उनकी ओर। पर किसीने मुझसे कुछ कहना उचित नहीं समझा।

मैंने ही बात चलाई—''लगता है, आप किसी चिंता में हैं?''

''विधाता ने सारी चिंता तो मेरे ही भाग्य में लिखी है।'' महाराज की आवाज और बोझिल हो गई।

''इस संदर्भ में मैं कुछ आपका हाथ बँटा सकता हूँ?'' मैंने कहा।

''मेरी किस-किस चिंता में तुम हाथ बँटाओगे? संप्रति तुम मुझे मेरे ही हाल पर छोड़ दो।''

मैंने अनुभव किया कि अवश्य ही कोई गंभीर समस्या है, जिसका उल्लेख वे मुझसे नहीं करना चाहते। अतएव मैं चुपचाप प्रणाम करके चला आया। पर मन तो उसीमें लगा रहा। ऐसी कौन सी बात हो गई कि महाराज इतने चिंतित हैं?

मेरी समझ में कुछ नहीं आया। किंतु राजभवन की ओर भाग-दौड़ से अवश्य लगा कि कोई बात जरूर है, जिससे सारा वातावरण कंपित है।

रात धीरे-धीरे सरकने लगी थी। समय से पूर्व आए मेघों से लुका-छिपी करता चंद्रमा रह-रहकर मेरे वातायन से झाँक लेता था। पर्यंक पर लेटा-लेटा मैं सोने की चेष्टा करता रहा; पर सो नहीं पाया। नींद मेरे आसपास टहलती रही।

इसे मेरे व्यक्तित्व की दुर्बलता कहिए या विशेषता कि मेरा स्वभाव ही अपने से अधिक दूसरों की चिंताओं को झेलने का अभ्यस्त होता जा रहा था। ऐसी स्थितियाँ मुझे व्यग्र नहीं करती थीं; पर मेरी जिज्ञासा को प्रगल्भ अवश्य कर देती थीं। इस समय मेरी जिज्ञासा ही नींद को पीछे ढकेलकर राजभवन के इस आतंकित माहौल में ताक-झाँक लगाए थी। इसी मानसिकता में एक छाया मेरे द्वार की ओर आती दिखाई दी। मेरी जिज्ञासा और बढ़ी।

द्वार खुला था। वह भीतर न आकर बाहर ही खड़ी रह गई; जैसे वह यह अनुमान लगाने की चेष्टा कर रही हो कि मैं जाग रहा हूँ या नहीं।

थोड़ी देर बाद ही उसने खुले दरवाजे को थपथपाना आरंभ किया। मैं एकदम उठ बैठा और ज्यों ही बाहर आने के लिए दो-चार पग बढ़ा होऊँगा कि मेरे मन ने अचानक कहा, 'अरे, यह तो शिखंडी है।'

वह स्त्रैण व्यक्तित्व उस अंधकार में भी कम आकर्षक नहीं था। अपने को पुरुष कहनेवाली यह शरीरयष्टि किसी कोमलांगी की थी।

''तुम इस समय यहाँ कैसे?'' मैंने पूछा।

''मरण का वरण करने के पहले मैं आपका आशीर्वाद लेने आई हूँ।'' उसने कहा।

मैं चकित हुआ। अभी तक स्वयं को 'आया हूँ' कहनेवाला यह व्यक्ति इस समय और वह भी रात के इस अँधेरे में 'आई हूँ' कैसे कह रहा है? मैं बड़ी उलझन में पड़ा।

स्वयं को एक आकर्षक नारी के रूप में प्रस्तुत करने में इसकी क्या मंशा हो सकती है, वह भी एकाकी मध्य रात्रि में? कहीं मुझे लांछित करने का कोई षड्यंत्र तो नहीं? क्योंकि इस समय आर्यावर्त्त में षड्यंत्र के ही ज्वालामुखी फूट रहे हैं। फिर पांचाली की मानसिकता कुछ भी करा सकती है।

भले ही ऐसा न रहा हो, पर मैं अपने मन की ही आशंका से परेशान हो उसे लेकर उद्यान में चला आया। आकाश में अब भी चंद्रमा मेघों से लुका-छिपी खेल रहा था। वायु के शीतल झोंकों से झूमती टहनियों और खड़खड़ाते पत्तों का स्वर बड़ा मादक था।

''लगता है, तुम बहुत घबराए हुए हो; फिर इस रात में मेरे पास क्यों चले आए?'' मैं अब भी उसके संबंध में पुल्लिग शब्दों का प्रयोग कर रहा था।

उसने स्पष्ट कहा, ''मैं पुरुष नहीं हूँ।''

''तुम पुरुष नहीं हो! मुझे आश्चर्य है। पर तुमने स्वयं को सदा पुरुष वेश में रखा है।''

''यही तो मेरे जीवन की विडंबना है, जो अब मेरे लिए अभिशाप बन गई है।'' उसने कहा।

पर मैं अब भी कुछ समझ नहीं पाया। मुझे लगा कि इसको कोइ परशान कर रहा है। इसपर किसीकी भोग दृष्टि पड़ चुकी है।

मैंने उसे आश्वस्त किया—''तुम निर्भय रहो। कौन चांडाल है, जो तुम्हारे पीछे लगा है? मैं अभी उसे समाप्त कर सकता हूँ।''

''यदि समाप्त करना ही है तो मुझे समाप्त कीजिए।'' उसने कहा, ''नियति ने मेरे साथ ऐसा खिलवाड़ किया है कि मैं ही अपने सामने शत्रु बनकर खड़ी हो गई हूँ।'' अब तक की उसकी बातों से मैं उलझता ही जा रहा था। मेरी जिज्ञासा चरम सीमा पर थी। उसने कहा, ''इस रात में आपसे इसलिए मिली हूँ कि शायद मैं अगला प्रभात न देख पाऊँ।''

''क्यों?''

''क्योंकि मैं अपने जीवन का अंत करने जा रही हूँ।''

"ऐसा कठोर निर्णय तुमने इतना शीघ्र कैसे ले लिया? इसके पहले तो तुम कभी इतना व्यग्र नहीं दिखीं। सदा खिलखिलाती रहीं और पुरुष वेश में अपने पिता के राज-काज में भी हिस्सा बँटाती रहीं। यों जब मैंने तुम्हें प्रथम बार देखा था तब मेरे मन में कुछ शंका उठी थी। जानते हुए भी मैंने महाराज से तुम्हारा परिचय पूछा था। उन्होंने बड़े तपाक से कहा था कि यह मेरा योग्य बेटा है। तब भी तुमने मेरा प्रतिवाद नहीं किया। इसके बाद भी तुम अनेक बार मुझसे मिली हो, पर कभी इस रहस्य का उद्घाटन नहीं किया।"

"तब मेरी विवशता थी। सोचती थी, इस विवशता को पाले हुए भी यह रहस्यमय जीवन जी लूँगी।"

"फिर अब क्या हुआ?"

"अब उस रहस्य का अंत आ गया है और वहीं मेरे जीवन का अंत होगा।" उसने भयातुर मुद्रा में बताया—"दशार्ण के राजा हिरण्यवर्मा की सेनाएँ पांचाल की ओर बढ़ रही हैं। सुना है, उसने द्रोण से भी संपर्क किया है। पिताजी बहुत चिंतित हैं।"

"हाँ, कल जब मैं उनसे मिला तो वे चिंतित अवश्य लगे थे। मैंने पूछना भी चाहा, पर वे कुछ खुले नहीं।"

"क्या खुलते! अपने हाथ से लगाई कालिख को स्वतः दिखाते!" उसने कहा।

मेरी जिज्ञासा अब चरम बिंदु पर पहुँच चुकी थी। मैंने स्पष्ट कहा, "तुम इतनी देर से इधर-उधर की बातें कर रही हो; परंतु तुमने यह नहीं बताया कि वास्तविक समस्या क्या है?"

अब भी वह मेरा मुँह देख रही थी। उसकी आँखों से टपकती निरीहता कह रही थी कि वह जिसे दिखाने जा रही है, वह कुठाँव का व्रण है। धीरे-धीरे एक-एक शब्द चबाते हुए उसने जो कुछ बताया, वह उसके जन्म के पूर्व की सुनी-सुनाई कथा थी—विचित्र और कुतूहलपूर्ण।

"मैं पिता की पहली संतान हूँ। मेरे जन्म के पूर्व से पिताजी पुत्र के लिए लालायित थे। कहते हैं, बड़ी कामना, बड़े पूजा-पाठ के बाद मैं अपनी माता के गर्भ में आई थी। इसके बाद पिता जब भी माताजी से मिले, वे उससे यही कहते रहे—'सौत्रामणि, तू पुत्र पैदा करेगी न? मुझे पुत्र चाहिए, जो मेरा प्रतिशोध ले सके।' माँ ने उन्हें बार-बार आश्वासन दिया कि मैं पुत्र ही जनूँगी।

"माँ के मन में भी पुत्र की चिंता और पिता के मन में भी पुत्र की चिंता। उनकी मानसिकता पुत्र की आकांक्षा से इतनी लिपट गई थी कि वे पुत्र के अतिरिक्त कुछ सोच भी नहीं सकते थे। किंतु एक रात माता ने स्वप्न देखा कि उन्होंने पुत्र पैदा किया

है; पर उसी समय एक यक्ष आया और उसे उठाकर एक कन्या दे गया।'' शिखंडिन कह रही थी—''महामात्य बता रहे थे कि माताजी उसी क्षण हड़बड़ाकर उठीं और चिल्लाने लगीं—'मैं लुट गई! मेरा सबकुछ चला गया!' दासियाँ दौड़ी हुई आईं। उन्होंने सोचा कि महारानी ने कोई भयानक स्वप्न देखा है।

''महारानी ने स्वीकार किया कि बड़ा भयानक स्वप्न था। एकदम भयानक! पर इस स्वप्न को बताने के पूर्व ही वे चेतनाशून्य हो गईं। महाराज आए। राजवैद्य बुलाए गए। उन्होंने बताया कि महारानी के हृदय पर गंभीर आघात लगा है।

''किसी तरह मेरी माँ की चेतना लौटी। उसने सबको हटाकर धीरे-धीरे महाराज को स्वप्न बताया और फिर उनकी गोद में ढुलककर रोने लगी।''

शिखंडिन का यह वर्णन इतना विस्तृत और जीवंत था जैसे उसने सारी घटना अपनी आँखों देखी हो।

मेरी उत्सुकता बढ़ती गई। मैंने पूछा, ''फिर क्या हुआ?''

उसने बताया—''पिताजी ने माँ को सांत्वना दी कि यह तो स्वप्न है। ऐसे ऊटपटाँग स्वप्न मन की व्याकुलता के परिणाम होते हैं। इनपर अधिक विश्वास नहीं करना चाहिए।...पर माँ जो घबराई, सो घबराती ही रही।

''उसने उसी घबराहट में पिताजी से पूछा, 'यदि यह स्वप्न सत्य हो गया तब क्या होगा?'

''पिताजी की मुद्रा अचानक बदल गई। वे बोले, 'तुम्हारे कहने का तात्पर्य?'

'' 'तात्पर्य यही कि यदि मैं तुम्हें पुत्र न दे पाई और मुझे पुत्री हुई, तब क्या होगा?'

'' 'तब उस पुत्री का वध होगा।' पिताजी एकदम आवेश में आ गए।

'' 'तो क्या आप अपना सारा प्रतिशोध उसी पुत्री के सिर उतारेंगे?'

''सुना है, पिताजी ने क्रोध में दाँत किटकिटाते हुए कहा था—'हाँ! मुझे पुत्री नहीं, पुत्र चाहिए।'

''तब से मेरी माँ डरी-डरी-सी अत्यंत भयग्रस्त रहने लगी। इससे उसके व्यक्तित्व पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। वह गंभीर अवसाद में श्लथ-सी कुम्हलाई पड़ी रहती थी। उसका जीवन सुस्त और आलस्यप्रधान हो गया। भीतर से टूटी हुई माँ बाहर से स्थूल होने लगी। सदा कुछ खोई-खोई-सी रहती। ऐसे में वह कुछ कम सुनती और कभी-कभी अनसुनी-सी रह जाती। पिताजी माँ की इस बदली हुई मनःस्थिति पर ध्यान न देकर उसे अपनी अवज्ञा का अपराधी भी मानने लगे थे।''

शिखंडिन कहती जा रही थी—''इस प्रकार मेरे माता-पिता में दूरी हो गई। ऐसी विकृत मानसिक अवस्था को झेलते हुए माँ ने मुझ अभागिन को जन्म दिया।''

इतना कहने के बाद वह रुकी। उसने आकाश की ओर देखा। रात्रि अपने तीसरे प्रहर में प्रविष्ट हो गई थी।

वह कुछ घबराई हुई बोली, "मैं देख रही हूँ कि ब्राह्म मुहूर्त हो जाएगा।"

"हो जाने दो।" मैंने कहा।

"पर मैं यह अगला प्रभात नहीं देखना चाहती।"

"आखिर क्यों?"

"मैं नहीं चाहती कि मैं जीवित रहूँ और हिरण्यवर्मा का पांचाल पर आक्रमण हो जाए।"

"फिर वही बात!" मैं झुँझलाया—"तुम वास्तविक समस्या बतातीं नहीं और पूरा इतिहास बताए जा रही हो।"

"बिना इतिहास के आप समस्या तक पहुँच नहीं सकते।" शिखंडिन ने कहा, "मैंने सुना है कि मेरे जन्म के समय मेरी माँ ने सभी दासियों को अपने पास से हटा दिया था। केवल अपनी एक अत्यधिक विश्वासपात्र दासी प्रियंका को अपने पास रखा था।"

उसने आगे कहा, "मेरे जन्म लेते ही मेरी माँ पर दुःखों का पहाड़ टूट पड़ा। पर उसने बड़े धीरज से काम लिया। मेरे पिता मेरा वध करें, इसके पहले ही उसने प्रचारित करवा दिया कि पुत्री नहीं, पुत्र का जन्म हुआ है।…एक ओर राजभवन में खुशियाँ मनाई जाने लगीं और दूसरी ओर मेरी माँ की मानसिकता भविष्य के अंधकार में भटकने लगी। मेरा लालन-पालन माँ और प्रियंका की ही देखरेख में हुआ, जो मेरी वास्तविकता को सदा अपने आँचल में ढँके रहीं।"

उसने मुझे बताया—"मेरे नामकरण के अवसर पर भी मेरी माँ ने मुझे अपनी गोद से हटने नहीं दिया।…जब पुरोधा मुझे देखकर बोले कि यह बड़ा सुंदर शिशु है, इसके बड़े-बड़े बाल तो लड़कियों जैसे हैं, तब माँ तुरंत बोली, 'जन्म से ही इसकी विशाल शिखा है।'

"बस मेरा नाम शिखंडी रख दिया गया विशाल शिखावाला। पर माँ की दृष्टि में मैं शिखंडी न होकर 'शिखंडिन' ही रही; भले ही वह और के समक्ष शिखंडी ही कहती थी।" इसके बाद शिखंडिन का स्वर कुछ श्लथ हुआ—"रहस्य में ही पैदा हुई, रहस्य में ही पली और आज तक रहस्य में ही जी रही हूँ। अब सोचती हूँ कि इसी रहस्य में इस धरती से बिदा भी लूँ।"

अब मैं समझ तो गया कि इसकी समस्या क्या है; पर यह नहीं समझ पाया कि जीवन त्यागने का इतना भयंकर और दृढ़ निश्चय इसने अचानक क्यों लिया।

मैंने सुझाव दिया—"जिस रहस्य को तुम अब तक पाले रहीं, अब भी

पालती रहो।''

''पर अब उसे पालना मेरे लिए कठिन है। यही तो संकट है।'' उसने आगे बताया—''इस रहस्य के खोल के भीतर कछुए की तरह जीवन दुबकता रहा और दशार्ण की राजकुमारी से मेरा विवाह हो गया। तब मेरी अवस्था मात्र नौ वर्ष की थी। पिताजी ने वधू को बिदा कराने के लिए द्विरागमन का प्रस्ताव रखा और दशार्ण के महाराज हिरण्यवर्मा ने उसे स्वीकार कर लिया।

''अब एक नई विपत्ति के जाल में मैं फँसा दी गई। मैं राजकुमारों के समान राजभवन में पलती रही। वैसी ही भाषा बोलती रही, वैसा ही लोगों से व्यवहार करती रही; पर समय के साथ-साथ अपनी शरीरयष्टि को छिपाना भी मेरे लिए कठिन हो चला। ज्यों-ज्यों दिन बीतते गए, मुझमें पुंसत्व टटोलती या मेरे नारीत्व की ओर आकर्षित होती हुई हर परिचित और अपरिचित दृष्टि मुझमें गड़ती गई। जब पुनः द्विरागमन की बात चली तब मेरा रहस्य संकट बनकर मेरे सामने खड़ा हो गया। माँ 'आज नहीं, फिर' कहती हुई द्विरागमन की तिथि टालती गई। पर उसकी भी एक सीमा थी। अंत में संकट राक्षस की तरह मुँह बाए खड़ा हो गया, जब हिरण्यवर्मा ने यह कहलाया कि अब यह तिथि नहीं टलेगी। पिताजी भी नहीं समझ पा रहे थे कि माँ यह तिथि क्यों टाल रही है। उन्हें भी दाल में कुछ काला दिखाई देने लगा। उन्होंने एक दिन एकांत में मेरी माँ से कहा, 'इसे टालने से क्या लाभ? शुभ कार्य जितना शीघ्र हो उतना ही अच्छा है।'

'' 'पर यह शुभ कार्य नहीं है।' माँ ने बताया और मुझपर से धीरे से रहस्य का परदा हटा दिया।

''पिताजी सुनते ही लाल हो गए—'तुमने इतने दिनों तक मुझे अंधकार में रखा।' उन्होंने कहा और अपना सिर पीट लिया। पर अब करते क्या! दशार्ण की राजकुमारी से हुए मेरे विवाह के विच्छेदन का छिपे-छिपे आधार खोजते रहे। जब कुछ समझ में नहीं आया और हिरण्यवर्मा का दबाव बढ़ता गया तब उन्होंने उसे यह कहलवा दिया कि तुम्हारी कन्या मेरे राज्य में आने के अनुकूल नहीं है। यह विवाह तोड़ने का अंतिम प्रयत्न था। पिताजी के इस व्यवहार की चारों ओर निंदा हुई। हिरण्यवर्मा तो आगबबूला हो गया। उसने हमारे सारे विरोधियों को मिलाया और अब हमारे राज्य पर चढ़ाई करने जा रहा है। अब मेरे सामने एक ही रास्ता है, ऐसी अदृश्य हो जाऊँ कि संसार मुझे देख ही न सके और रहस्य रहस्य ही रह जाए।''

''तो इसीलिए तुम मृत्यु का वरण कर रही हो? तुमने अदृश्य होने का यही एकमात्र तरीका सोचा है?'' मैंने कहा।

''मुझे तो यही लगता है।'' शिखंडिन बोली।

''आत्महत्या जहाँ धार्मिक दृष्टि से अपराध है, वहीं वह व्यावहारिक दृष्टि से भी जीवन से पलायन है।'' मेरी चिंतना ने जोर मारा—''मृत्यु तो अंतिम विकल्प है, वह कभी संकल्प नहीं होता—और जीवन संकल्प के साथ जीया जाता है। भागने से समस्या हल नहीं होती वरन् वह और भयंकरता के साथ पीछा करती है।''

बड़ी कातर दृष्टि थी शिखंडिन की। तारों की छाया में वह मुझे और भी निरीह लगी। उसने बड़ी निरीहता से पूछा, ''फिर क्या करूँ?''

''नए संकल्प के साथ जीने की चेष्टा करो।'' मैंने कहा, ''तुम्हारा यही अपराध है कि नारी होकर भी नर वेशधारी हो, तो इससे क्या हुआ? तुममें अपरिमित संभावनाएँ हैं। अदम्य सामर्थ्य है। तुम केवल उसे पहचान नहीं रही हो। अपने को पहचानने की चेष्टा करो और किसी ऐसे आचार्य के आश्रम में चली जाओ, जो तुम्हें शस्त्र और शास्त्र की शिक्षा देकर योग्य शासक बना सके।''

उसकी निराशा फिर उभरी—''पर यह भी सोचिए कि मैं लड़की हूँ।''

''अपाला, गार्गी, मैत्रेयी आदि क्या लड़कियाँ नहीं थीं; जिन्होंने अपनी शिक्षा और सामर्थ्य के बल पर पुरुषों के भी कान काट लिये थे?''

अब भी वह हताशा का आँचल छोड़ नहीं पा रही थी—''ऐसा कौन सा आश्रम है, जिसका द्वार मेरे लिए खुला होगा? और कौन ऐसा आचार्य है, जो मुझे अभीष्ट शिक्षा देगा?''

''यह पृथ्वी विपुला है, शिखंडिन! इसमें न ऐसे आश्रमों की कमी है और न ऐसे आचार्यों की। यदि कमी है तो तुम्हारे पास संकल्प की, जीवन के प्रति पूरी निष्ठा की।''

उसकी आँखों में एक चमक आई—''मैं संकल्प करती हूँ कि जीवन को पूर्ण आस्था के साथ जीऊँगी।''

''हुई न यह बात!'' मैं उसकी पीठ ठोंकते हुए मुसकराया और बोला, ''अब शपथ लो कि मैं जो भी कहूँगा, उसे विश्वासपूर्वक स्वीकार करोगी।''

''मैं शपथ लेती हूँ कि आप जो भी कहेंगे, उसे विश्वासपूर्वक करूँगी।''

''तो तुम्हें आर्यावर्त्त के एक महान् आचार्य के पास जाना चाहिए। वही तुम्हारी सारी समस्याओं का निदान प्रस्तुत करने में समर्थ हैं।''

''कौन, सांदीपनि?'' उसने अपनी बुद्धि के अनुसार बहुत सोचकर यह अनुमान लगाया।

मुझे हँसी आ गई। मैंने सांदीपनि के विषय में बताया—''वे आचार्य तो उच्च कोटि के हैं, पर वे तुम्हारी समस्या का हल प्रस्तुत नहीं कर सकते। तुम्हारी मुख्य समस्या तो इस समय यही है कि तुम नारी हो, तुम्हें नर कैसे बनाया जाए!''

वह एकदम मुझे देखने लगी मानो मेरी आकृति पर आचार्य का नाम पढ़ने की चेष्टा कर रही हो।

मैंने बड़े अप्रत्याशित ढंग से रहस्य का अवगुंठन खोला—''तुम्हें द्रोण के आश्रम में जाना होगा।''

द्रोण का नाम सुनते ही उसके नीचे की धरती जैसे काँप उठी—''यह क्या कह रहे हैं, श्रीमान? द्रोण तो हमारे पिता के सबसे बड़े शत्रु हैं। उनसे प्रतिशोध लेने की पीड़ा में मेरे पिता पागल होते जा रहे हैं—और मैं उन्हींकी शरण में जाऊँ?''

''जाना ही पड़ेगा; क्योंकि वे ही एकमात्र ऐसे सामर्थ्यवान् आचार्य हैं, जो तुम्हें शिक्षा भी दे सकते हैं और तुम्हारी नारी होने की समस्या का हल भी ढूँढ़ सकते हैं।''

''पर सबसे बड़ी समस्या है कि वे मुझे स्वीकार करेंगे?''

''तुम विश्वास करके जाओ कि तुम्हें स्वीकार करेंगे।'' मैंने कहा, ''यदि वे न स्वीकार करें या किसी प्रकार की हिचकिचाहट व्यक्त करें, तो मेरा नाम लेकर कहना कि उन्होंने बड़े विश्वास के साथ मुझे आपके पास भेजा है और कहा है कि आचार्य के प्रति तुम्हारी जो आस्था है, वह कभी ठुकराई नहीं जाएगी।''

फिर भी वह आचार्य के यहाँ जाने के लिए तैयार नहीं हो रही थी। उसकी मानसिकता पर्वत पर खोई पगडंडी के अंतिम छोर पर खड़ी थी। अब भी समस्या थी कि मृत्यु-वरण के निश्चय को छोड़ दिया जाए या स्वीकार किया जाए; फिर भी जीवन के प्रति मोह उसमें जागने लगा था। मेरी दी हुई दृष्टि से वह जीवन को जरूर देखने लगी थी; किंतु द्विविधा नहीं गई।

मैंने तुरंत एक दूसरा तर्क रखा—''आचार्य द्रोण के यहाँ जाने के बाद कोई भी तुम्हारा पता नहीं पा सकेगा। कोई कल्पना नहीं कर सकता कि तुम वहाँ भी जा सकती हो। उस आश्रम में तुम्हें छिपाने की क्षमता मृत्यु से भी अधिक है।''

अब भी वह समझ नहीं पा रही थी।

मैंने उसे पुनः समझाया—''मृत्यु तो तुम्हारे अस्तित्व को लेकर तुम्हारा शव संसार को देगी। उससे भी तुम्हारी वास्तविकता उजागर हो जाएगी। यह सब तुम्हारे माता-पिता की नासमझी समझी जाएगी। तुम्हारे पिता अभी प्रतिशोध की ज्वाला में झुलस ही रहे हैं कि आत्मग्लानि के अंगारे भी उनपर बरसने लगेंगे।...पर आचार्य द्रोण के आश्रम में यदि तुम गईं तो तुम्हारा कुछ भी जगत् के समक्ष नहीं रहेगा।...और तब पुत्र-वियोग की पीड़ा पांचाल को ऐसा घेर लेगी कि हिरण्यवर्मा का आक्रमण निरर्थक हो जाएगा।''

बात शिखंडिन की समझ में आ गई; पर उसकी शंका अब भी ज्यों-की-त्यों थी कि यदि आचार्य द्रोण ने स्वीकार नहीं किया तो?

''तब दूसरा विकल्प भी मेरे पास है।''

''वह क्या है ?''

''उसे मैं अभी नहीं बताऊँगा।'' मैंने कहा, ''क्योंकि विकल्प की जानकारी रहने पर संकल्प की दृढ़ता दुर्बल हो जाती है।''

उसने अब किसी तरह मेरी बात मान ली।

''मुझे इसी समय चल देना चाहिए। किंतु क्या मेरा अकेला जाना उचित होगा ? मार्ग भी तो मेरा देखा नहीं है।'' उसने कहा, ''कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है, जो द्रोण के आश्रम तक मुझे पहुँचा दे ?''

उसका यह प्रश्न उचित था। मैं सोचने लगा कि मेरे पास दो ही विश्वासपात्र व्यक्ति हैं—उद्धव और छंदक, जिन्हें शिखंडिन के साथ भेजा जा सकता है। पर उद्धव को भेजना मेरे लिए अधिक ठीक नहीं था। एक तो उसके अचानक गायब होने से उसको शिखंडिन को लेकर पांचाल में अफवाहों की आँधी चल पड़ती, दूसरे छंदक की राजनीतिक पकड़ उद्धव से अच्छी थी। अतएव मुझे यह निश्चित करने में अधिक समय नहीं लगा कि छंदक ही शिखंडिन का योग्य साथी बन सकता है।

मैंने शिखंडिन से कहा, ''मैं तुम्हारे लिए योग्य साथी की व्यवस्था करता हूँ। तुम कुछ समय तक इसी मल्लिका कुंज में बैठी रहो।''

वह इस समय मुझे छोड़ने में भी हिचकिचा रही थी; पर मुझे छोड़ने के अतिरिक्त कोई चारा भी तो नहीं था। वह चुपचाप मल्लिका कुंज में चली गई।

रात्रि ब्राह्म मुहूर्त की ओर खिसकती चली जा रही थी। मलयानिल बहने लगा।

मैं तुरंत छंदक के कक्ष की ओर गया। द्वार खुला रहा और वह पर्यंक पर खर्राटे भर रहा था। मैंने उसे बुलाकर जगाना उचित नहीं समझा। धीरे से उसकी भुजा हिलाई। आँखें खुलते ही उसके सामने 'मैं' था। उसे लगा कि आकाश झुक आया है। अवश्य कोई विशेष बात है। वह घबराया हुआ बोला, ''क्या बात है ?''

''चुपचाप बाहर चलो, तो बताता हूँ।'' मैंने कहा। वह हड़बड़ाकर बाहर आने लगा। ''ऐसे नहीं, पूरी तैयारी से बाहर निकलो। तुम्हें अभी, इसी समय पांचाल छोड़ना है।''

''क्यों ? क्या आक्रमण हो गया ?'' उसकी घबराहट और बढ़ी।

''कैसा आक्रमण ?''

''क्या आपको मालूम नहीं ?'' वह बोला, ''हिरण्यवर्मा आक्रमण करने वाला है।''

मुझे हँसी आ गई—''नहीं, अभी नहीं।''

मैंने कहा, ''यदि तुम यहाँ रहोगे तो आक्रमण हो जाएगा।''

''मुझसे आक्रमण का क्या लेना-देना?'' वह मेरे रहस्य को समझ नहीं पाया। फिर भी मेरा आदेश था। वह देखते-देखते तैयार हो गया। वह वहाँ से निकलकर उद्यान की ओर आया। मैंने उसे सारी कथा बता दी।

''तो मुझे शिखंडिन को लेकर आचार्य द्रोण के आश्रम में जाना होगा! आप भी कैसी-कैसी विपत्ति में मुझे डालते हैं! आप ही समझिए, क्या आचार्य द्रोण उसे स्वीकार करेंगे?''

''अवश्य स्वीकार करेंगे।'' मैंने कहा, ''इससे उनके अहं को बड़ी संतुष्टि मिलेगी। वे सोचेंगे, द्रुपद ने न सही, पर उसकी संतति ने तो मेरा चरण चुंबन किया ही, मेरा बौद्धिक आधिपत्य स्वीकार किया—और इससे मेरी राजनीति ठीक हो जाएगी। पांडवों के लिए हस्तिनापुर में सेंध लगाने का यह मेरा पहला प्रयत्न है। दूसरी ओर पांचाल में जरासंध के प्रभाव की धारा को रोकने के लिए एक दृढ़ चट्टान मुझे मिल जाएगी।''

मेरी बात सुनकर छंदक मुसकराने लगा—''फिर क्या शिखंडिन को वहाँ पहुँचाकर समाचार देने आपके पास आना पड़ेगा?''

''जैसा तुम उचित समझो।'' मैं मुसकराया।

अब अनिच्छा व्यक्त करते हुए उसने पुरानी बात फिर दुहराई—''बैठे-ठाले विपत्ति मोल लेना आपकी प्रकृति बन गई है।''

जब शिखंडिन को लेकर छंदक की नाव छूटी तब भोर का पहला तारा चू पड़ा था और मंदिरों में उष:काल के पूजन के घंटे बजने लगे थे।

आज रात भर मैं सो नहीं पाया। शिथिलता बढ़ गई थी। अपने कक्ष में आकर भीतर के द्वार बंद कर सो गया—और निर्विघ्न सोता रहा। अतिथिकक्ष के परिचर आए और द्वार बंद देखकर चले गए। मेरी नींद तब खुली जब द्वार पर लगातार खटखटाहट होती रही। मैं समझ गया कि यह मेरे मित्रों का ही काम है।

उठते ही मेरी दृष्टि वातायन की ओर गई। दिन काफी चढ़ आया था। मैंने द्वार खोला। देखा—उद्धव, सात्यकि, श्वेतकेतु—पूरी चंडाल चौकड़ी उपस्थित है।

''अरे मित्र, भीतर से बंद कर सो रहे थे!'' सात्यकि बोला, ''कोई और तो नहीं था?''

''पर दिखाई तो कोई और नहीं देता।'' उद्धव ने कहा। उसने चारों ओर दृष्टि भी दौड़ाई और बड़े नाटकीय ढंग से पर्यंक के नीचे भी झाँकने लगा।

''अरे, नीचे क्या देख रहे हो, भाई! कन्हैया मूर्ख थोड़े ही हैं। कोई रहा भी होगा तो तुम्हारे लिए अभी तक बैठा थोड़े ही रहेगा।'' यह आवाज श्वेतकेतु की थी।

''रात भर नींद नहीं आई थी। ब्राह्म मुहूर्त के बाद तो सो सका।'' मैंने कहा।

''क्या बात थी? भाभी की याद आ रही थी?'' सात्यकि बोला।

''या होनेवाली भाभी (पांचाली) पधारीं थीं?'' यह व्यंग्य बाण श्वेतकेतु का था।

''वह क्यों आएगी?''

''अंतिम साक्षात्कार करने।'' श्वेतकेतु ने मुसकराते हुए पुनः प्रहार किया—''मामूली सौदा भी लोग ठोंक-बजाकर लेते हैं। यहाँ तो जीवन साथी का प्रश्न है।''

इतना कहते ही एक समवेत ठहाका फूटा। यों तो श्वेतकेतु मेरे साथ बड़ा शालीन रहता है; पर मैंने देखा, इस समय उसकी सारी शालीनता झर गई थी और वह प्रगल्भ हो गया।

मैं कुछ न कहकर मुसकराता ही रहा। उन लोगों ने समझ लिया कि मैं कुछ छिपा रहा हूँ।

''क्या बात है? स्वास्थ्य तो ठीक है न?'' उद्धव ने बड़ी गंभीरता से मुझे खोलने की चेष्टा की।

''स्वस्थ तो हूँ ही, आप लोगों ने ही मुझे अस्वस्थ बना दिया।'' मैं फिर मुसकराया।

वे अभी भी व्यंग्य बाण चलाने के लिए अपने निषंग से निकाल ही रहे थे कि अपने कई साथियों के साथ महामात्य पधारे। वातावरण का चुहुलपन एकदम दुबक गया।

''महाराज प्रातः से ही आपको स्मरण कर रहे हैं।'' उसने कहा, ''मैं दो बार आकर आपके बंद द्वार से लौट चुका हूँ। मैंने खटखटाना उचित नहीं समझा था। महाराज चिंतित हैं कि कहीं आप अस्वस्थ तो नहीं हैं।''

''विलंब से आँखें लगीं, इसीलिए सोता रह गया। सब कुशल तो है?'' मैंने कहा।

''अभी तो कुशल ही है, पर यह कुशल रहने पाए तो।'' शब्दों से अधिक उसके स्वर और मुद्रा में आशंका थी। मैंने कुछ और जिज्ञासाएँ कीं; पर उसने कुछ बताया नहीं। इतना कहा कि महाराज आपसे मिलना चाहते हैं। कोई बात तो अवश्य ही होगी।

नित्यकर्म से निवृत्त होने और पूजन आदि करने में मुझे काफी देर हो गई। इस बीच महाराज के यहाँ से दो बार अनुचर आ चुके थे। उनकी व्यग्रता का अनुमान लगाना आसान था।

जब मैं अपने मित्रों के साथ पहुँचा तो महाराज अपने सिंहासन पर ढुलके पड़े थे। चिंता और व्यग्रता ने उन्हें श्लथ कर दिया था। वह उस व्यक्ति की भाँति हताश

दिखे, जो अपना सर्वनाश अपने सामने देख रहा होता है। धृष्टद्युम्न और महामात्य उन्हें बार-बार सांत्वना दिए जा रहे थे; पर उनकी अशांति कहीं से कम नहीं हो पा रही थी।

मैंने देखा कि सिंहासन के एक ओर मैरेय के पात्र और चषक ढुलके पड़े थे। लगता है, इनका सहारा लेने के बाद भी महाराज की व्यग्रता गई नहीं थी।

मुझे देखते ही उनकी व्याकुलता आँखों से बह चली—"मैं तो लुट गया, कन्हैया।"

मैं पूछूँ, समस्या क्या है, इसके पहले ही वे बोल पड़े—"आज प्रातः से ही शिखंडी का कहीं पता नहीं है। लगता है, हिरण्यवर्मा ने उसे जीवित यहाँ से उठा मँगवाया।"

सबकुछ जानते हुए भी मैं अनजान बना रहा और बड़े सहजभाव से बोला, "तो इसमें परेशानी क्या है? श्वसुर ने जामाता को अपने यहाँ मँगवा लिया, बस इतना ही न?"

"इतना ही नहीं।" द्रुपद की व्यग्रता चीख पड़ी—"परदे के पीछे बहुत कुछ है, जिसे तुम नहीं जानते।"

इतना कहने के बाद उन्होंने एक बार फिर मेरे मित्रों की ओर देखा; जैसे उनकी उपस्थिति में वे कहना न चाह रहे हों। फिर भी उनकी व्याकुलता ने उनके भीतर से छलाँग लगा ही दी—"शिखंडी नर नहीं, नारी है।"

"नारी है!" अपने मित्रों की ओर देखते हुए चकित होने का मैंने ऐसा भाव व्यक्त किया जैसे कुछ जानता ही न होऊँ। मेरे मित्र भी सकते में पड़ गए।

"देखने में वे कुछ स्त्रैण अवश्य दिखाई देते थे, फिर भी हम लोग उन्हें पुरुष ही समझते रहे।"

"संसार यही समझता है। और संसार के इस भ्रम के मूल में हमीं थे।" महाराज ने अपना सिर ठोंक लिया।

"जब नारी था तब आपने दशार्ण की राजकुमारी से उसका विवाह क्यों किया?" मैंने पूछा।

"तब मैं नहीं जानता था कि वह लड़की है।" महाराज ने कहा और बार-बार सिर पीटते हुए उसके जन्म की वह कथा सुनाई, जो मैं स्वयं शिखंडिन से सुन चुका था।

मेरे साथी तो चकित रह गए। संसार में ऐसा भी हो सकता है, उन्होंने कभी सोचा नहीं था।

अब मैं गंभीरतापूर्वक चिंतन की मुद्रा में आया—"यदि हिरण्यवर्मा ने उसे

मँगवा लिया होगा तो अब वह आक्रमण नहीं करेगा।''

''पहले तो वह वास्तविकता को समझते ही आगबबूला हो जाएगा। हो सकता है, वह शिखंडी की हत्या भी कर दे।'' इतना कहते-कहते महाराज का स्वर फिर भारी हो गया—''इतने पर भी वह हमसे बदला लेने से बाज नहीं आएगा।''

''क्यों?''

''क्योंकि मैंने उसे धोखा दिया। सुना है, उसने द्रोण से भी संपर्क स्थापित किया है। वह नीच उससे कुछ भी करा सकता है।''

मैंने अनुभव किया कि इस स्थिति में भी प्रतिशोध की आग ठंडी नहीं पड़ी है। द्रोण का नाम लेते ही उनकी शिराओं का रक्त उबलने लगता है। इस समय महाराज चुप थे। पूरे वातावरण पर एक गंभीर सन्नाटे की चादर पड़ गई थी।

मौन का यह अंतराल अधिक लंबा नहीं था। मैं चिंतन की मुद्रा में ही बोला, ''हो सकता है, आपके सोच के विपरीत स्थिति हो।''

''आपका तात्पर्य?'' महामात्य की यह पहली आवाज थी।

''क्यों? ऐसा नहीं हो सकता कि अपने रहस्य के खुलने का भय शिखंडी को हुआ हो, जिससे वह स्वयं भाग खड़ा हुआ?''

''आखिर वह भागकर कहाँ जाएगा?'' इस बार महाराज बोले।

''जीवन से भी दूर, मृत्यु की गोद में। अपने नारीत्व को छिपाने।'' मैंने कहा, ''क्या उसे यह ग्लानि नहीं हो सकती कि स्थिति के स्पष्ट होते ही संसार मुझे क्या कहेगा? नारी होकर भी तुमने नारी से विवाह किया। धिक्कार है तुम्हें!...इस स्थिति में तो वह आत्महत्या भी कर सकती है। वह यह भी सोच सकती है कि इससे मैं ही नहीं, मेरा परिवार भी कलंकित होने से बच जाएगा और हिरण्यवर्मा भी अपने आक्रमण की निरर्थकता का अनुभव करेगा।''

महाराज के चिंतन ने पुनः मौन का आस्तरण ओढ़ लिया।

''तो उसने आत्महत्या कर ली? समस्या का समाधान खोजने के पहले समस्या का ही अंत कर लिया?'' महाराज स्वगत बुदबुदाए।

''क्या तुम विश्वासपूर्वक यह कह सकते हो?'' उन्होंने मुझसे पूछा।

''विश्वासपूर्वक तो कुछ नहीं कहा जा सकता।'' मैंने कहा, ''क्या आप विश्वासपूर्वक कह सकते हैं, कल आप उसी स्थिति में रहेंगे जिस स्थिति में आज हैं? केवल संभावना की जा सकती है। इसी संभावना पर जगत् स्थित है और मैंने भी शिखंडी के संबंध में एक संभावना ही व्यक्त की थी।''

''तो आपकी दृष्टि में उसके जीवित रहने की संभावना नहीं है?''

''इसे कैसे कहा जा सकता है! इस विशाल संसार में कुछ भी संभव है और

कुछ भी संभव नहीं है। हम सब अस्ति-नास्ति के बीच ही झूल रहे हैं।''

''आपने तो विचित्र द्विविधा में डाल दिया।'' महाराज बोले।

मैंने मन-ही-मन मुसकराते हुए सोचा—यही तो मेरी नीति है। जब सत्य का उद्घाटन न किया जा सके तब सत्य की द्विविधा में व्यक्ति को उलझाए ही रखना चाहिए और परिस्थितियों को अपना काम करने देना चाहिए।

महाराज गहरी चिंता में थे। उन्हें कुछ सूझ नहीं रहा था कि वे करें तो क्या करें? एक ओर प्रतिशोध की ज्वाला शांत होना नहीं चाहती थी, दूसरी ओर एक और युद्ध सिर पर सवार था। उन्होंने सारी स्थिति की विवेचना की और उसीमें डूब गए। थोड़ी देर बाद उन्होंने मुझसे कहा, ''तुम्हीं कोई मार्ग ढूँढ़ो।''

''आप स्वयं को पूर्णरूप से नियति की धारा में छोड़ दीजिए। जब बहता-बहता शव भी किसी किनारे लग जाता है, तब आप तो चेतन पुरुष हैं। आपकी चिंतना स्वयं किनारे को अपने पास बुला लेगी।'' मैंने कहा।

इसी बीच एक परिचर दौड़ा हुआ आया और उसने सूचना दी कि दशार्ण का एक दूत आया है।

महाराज सोच ही रहे थे कि क्या किया जाए, तब तक मैंने कहा, ''उसे यहीं बुला लिया जाए।''

वैसा ही हुआ। वह वहीं बुला लिया गया। उसके आते ही मैं खड़ा हो गया। मुझे देखकर महाराज भी खड़े हो गए। हम दोनों ने खड़े होकर एक दूत की अगवानी की। यद्यपि यह राजकीय शिष्टाचार के अनुकूल नहीं था; पर मेरी मंशा दूत को अधिक-से-अधिक सम्मान देने के पक्ष में थी—और वही हुआ भी।

वह चकित था। बोला, ''आपने मेरे जैसे छोटे से व्यक्ति को यह सम्मान दिया! मैं नतमस्तक हूँ।''

''आप छोटे से क्यों हैं?'' महाराज का विवेक जाग्रत हुआ। सहजभाव से बोले, ''आप महाराज हिरण्यवर्मा के प्रतिनिधि हैं। वे मेरे समधी हैं। अतएव आप भी वैसे ही सम्मान के अधिकारी हैं।''

वस्तुतः उसे ऐसे सम्मान की आशा नहीं थी। उसकी मानसिकता तो अब तक दोनों संबंधियों के बीच तनाव ही देखती रही। यह सम्मान उसके लिए अप्रत्याशित था। उसकी मनःस्थिति ही बदल गई। उसने धीरे से एक पत्र निकाला और द्रुपद की ओर बढ़ाते हुए बड़े सहजभाव से बोला, ''महाराज ने आपकी सेवा में भेजा है।''

महाराज ने उसपर विचारकर शीघ्र ही उत्तर देने का आश्वासन देकर दूत को ससम्मान अतिथिभवन की ओर भेज दिया।

महाराज ने पढ़कर वह पत्र मेरी ओर बढ़ा दिया। पत्र की भाषा तो मुझे स्मरण

नहीं है, पर पत्र में जो कुछ लिखा था उसका सारांश यही था—

'हम अंतिम बार आपसे आग्रह करते हैं कि आप बहू को बिदा करा ले जाइए। यह तो आप जानते ही हैं कि मेरे यहाँ द्विरागमन की परंपरा नहीं थी। विवाह के साथ ही बिदाई हो जाती थी। उस समय आंपके आग्रह पर मैंने द्विरागमन की बात मान ली। इसका एक कारण यह भी था कि तब वर की आयु मात्र नौ वर्ष और वधू की आयु छह वर्ष थी। दोनों छोटे थे। यह विवाह भी एक संयोग था। किसी गंगा पर्व पर आपकी महारानी से मेरी महारानी की भेंट हो गई और दोनों ने पता नहीं किस मन:स्थिति में यह विवाह स्वीकार कर लिया। फिर जब सबकुछ तय हो गया तब मुझे ज्ञात हुआ।···अब मैं क्या कर सकता था! आप निश्चित समझिए, यदि मेरा वश चलता तो यह विवाह न होता। लगभग ग्यारह-बारह वर्ष से बहू द्विरागमन की प्रतीक्षा में है। यदि अब भी आपने इस ओर ध्यान नहीं दिया तो हम आग्रह और निवेदन की भाषा छोड़कर शक्ति का प्रयोग करेंगे—और इसकी सारी जिम्मेदारी आप पर होगी।'

मैंने वह पत्र महाराज को लौटाते हुए कहा, ''लीजिए, अब तो आपकी आशंका दूर हुई।''

''क्या?''

''यही कि शिखंडी को उसके श्वसुर ने यहाँ से पकड़ मँगवाया है।''

महाराज कुछ तनावमुक्त हुए; पर एक दूसरी आशंका ने जन्म लिया कि शिखंडी गया तो कहाँ गया? महाराज ने तुरंत आदेश दिया कि आसपास के कूपा, सरोवर, पुष्करिणियाँ, गंगातट, निर्जन और ऐसे एकांत स्थलों को छान डाला जाए जहाँ आत्महत्या की संभावना हो सकती है।

सारे सैनिक इस कार्य में लग गए। मैं मौन ही रहा। सोचा, इस पानी पीटने से भले ही कुछ न हो, पर महाराज को संतोष तो मिलेगा ही।

मुझे संध्या को पुन: बुलाया गया। मैंने भी अनुभव किया और मेरे मित्रों की भी धारणा थी कि मैं वैचारिक दृष्टि से महाराज के निकट होता जा रहा हूँ। इस समय भी उन्होंने सलाह लेने के लिए ही बुलाया था कि हिरण्यवर्मा को क्या उत्तर दिया जाए।

''उत्तर तो स्पष्ट है।'' मैंने कहा, ''सारा पत्र शिखंडी को लेकर ही है और शिखंडी ही नहीं है।''

महामात्य ने भी मेरी बात का समर्थन किया।

इसके बाद हिरण्यवर्मा के पत्र का एक संक्षिप्त उत्तर लिखाया गया, जो इस प्रकार था—

'प्रिय भाई,

'आपका कृपापत्र ऐसी स्थिति में मिला, जब पूरा पांचाल दुःखी है। राजभवन रो रहा है। मेरा प्रिय पुत्र और आपका स्नेहिल जामाता कल से ही अदृश्य है। राज्य का चप्पा-चप्पा खोज डाला गया, पर उसका कहीं पता नहीं। पहले तो सोचा गया, शायद वह आपके यहाँ चला गया हो; किंतु आपके पत्र से पता चलता है कि वह आपके यहाँ भी नहीं है। अब क्या करूँ? मन में तरह-तरह की अशुभ कल्पनाएँ उठ रही हैं। आशंका भरे अंधकार में कुछ देख नहीं पा रहा हूँ। कहीं उसे जीवन से विराग तो नहीं हो गया? भगवान् से प्रार्थना कीजिए की आपका और हमारा शिखंडी जीवित हो और हम आपके आदेशानुसार उसे लेकर आपकी सेवा में उपस्थित हो सकें। अपने दुःख में सम्मिलित करते हुए।

हम हैं आपके हितैषी

द्रुपद'।

इस पत्र की सभी ने प्रशंसा की, विशेषकर इसकी कूटनीतिक भाषा की। किंतु यह भाषा महाराज को जमती नहीं थी। इस भाषा को स्वीकार करने में उनका अहं कहीं-न-कहीं आड़े आ रहा था। उन्होंने स्पष्ट कहा कि मैंने कभी इतना झुककर उन्हें पत्र नहीं लिखा है।

''पर हम हिरण्यवर्मा के समक्ष कहाँ, हम तो परिस्थितियों के समक्ष झुक रहे हैं।'' मैंने उन्हें समझाया।

''वह नीच तो इस पत्र के माध्यम से हमें अपने समक्ष झुकता देखेगा।''

''देखा करे।'' मैंने उन्हें समझाया—''कोई भी हमारे कथन का कुछ भी निष्कर्ष निकालने के लिए स्वतंत्र है। हम उसकी यह स्वतंत्रता कैसे छीन सकते हैं? फिर यह स्पष्ट समझिए कि बाण को दूर तक मारने के लिए प्रत्यंचा को पीछे खींचना पड़ता है। धनुष को काफी झुकाना पड़ता है। झुकना सदा हीनता का द्योतक नहीं है, राजनीति का एक अस्त्र भी है।''

महाराज किसी तरह मान गए। हस्ताक्षर कराके वह पत्र दूत को दे दिया गया। मैंने महामात्य से कहकर दूत की बड़ी आवभगत कराई थी और समझाया था कि यह भी हमारी कूटनीति का एक अंग है।

मुझे याद आया कि जब उद्धव वृंदावन से लौटा था तब गोपियों ने उसे कोई पत्र नहीं दिया, किंतु बहुत कुछ उससे कहने को कहा था; पर मार्ग में वह सब भूल गया। केवल उसे देखकर ही मैंने गोपियों की मनःस्थिति का अनुमान लगा लिया था। मैं अब भी इस निष्कर्ष पर हूँ कि दूत का व्यक्तित्व ही उसको दिए पत्र और संदेश से अधिक अपने स्वामी से कह देता है। शायद इसीलिए महामात्य से कहकर

उस दूत के सम्मान में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी गई थी।

यदि महाराज का वश चलता तो ऐसा न होता। वह उसे अपमानित कर लौटा देते और युद्ध के बादलों को आमंत्रित करते।

दूसरे दिन सवेरे-सवेरे महामात्य उद्यान में मिले। मैं अपने साथियों के साथ प्रातः भ्रमण पर निकला था और मलयानिल का सुख ले रहा था।

अभिवादन के बाद जब महामात्य ने बातें आरंभ कीं तब मैंने पूछा, ''क्या आप भी प्रातः भ्रमण में निकलते हैं?''

''निकलता तो हूँ, पर इस उद्यान में नहीं आता। पर आज आपके साहचर्य सुख के लिए आ गया हूँ।'' महामात्य ने कहा।

''आप तो अपने आवास से निकले और साहचर्य सुख के लिए यहाँ चले आए। अरे, हमें देखिए, जो इसी सुख के पीछे दीवाने होकर द्वारका से चले आ रहे हैं।'' सात्यकि बोला और सब हँस पड़े।

''तुम लोग ऐसा क्यों सोचते हो?'' मैंने कहा, ''तुम हमारे जीवन के साथ लगे हो और हम तुम्हारे जीवन के साथ। हम सब जीवन साथी हैं।''

''यही तो हमारी विवशता भी है और सौभाग्य भी।'' सात्यकि फिर बोला, ''ऐसी सह्य स्थिति भी हमारे लिए असह्य हो जाती है, जब कोई तीसरा हमारे बीच आता है या आने को होता है।''

''तुम्हारा तात्पर्य?''

''हमारा तात्पर्य स्पष्ट है।'' सात्यकि मुसकराया—''हम जीवन साथियों के बीच जब कोई जीवनसंगिनी बनकर आने की चेष्टा करती है तब वह हमारे बीच में आड़ नहीं, पहाड़ हो जाती है।''

इस बार की हँसी और तेज थी।

ज्यों ही हँसी थमी त्यों ही महामात्य ने कहा, ''महाराज कल आपकी बड़ी प्रशंसा कर रहे थे। उनका कहना था कि इस विषम स्थिति को आपने बड़ी सरलता से नियंत्रण में ले लिया।''

''क्या उन्हें विश्वास है कि अब स्थिति नियंत्रण में हो गई है? क्या अब हिरण्यवर्मा आक्रमण नहीं करेगा?'' मैंने हँसते हुए पूछा।

''करना तो नहीं चाहिए। और यदि करेगा भी तो लोकमत उसके विरुद्ध होगा।'' महामात्य बोले।

''आप लोगों ने लोकमत की चिंता ही कब की!'' मैंने कहा, ''लोकमत शिखंडी के लापता होने से दुःखी अवश्य है। वह हिरण्यवर्मा के आक्रमण की आशंका से भयग्रस्त भी। इन स्थितियों ने महाराज के ऊपर से तनाव की एक परत

अवश्य उतार दी है।''

महामात्य को वास्तविक स्थिति का अनुभव हुआ। उन्होंने पूछा, ''फिर हमें क्या करना चाहिए?''

''बदली हुई स्थिति से प्रजा को अच्छी तरह अवगत कराकर उसे विश्वास में लेना चाहिए।''

''बिना प्रजा को विश्वास में लिये राजा क्या, सम्राट् भी केवल अपने बल पर किसी राष्ट्रीय विपत्ति का सामना नहीं कर सकता।'' मैंने कहा।

''पर इस समय तो मैं उलटी धारा देखता हूँ। आर्यावर्त्त के अनेक राजकुल ऐसे हैं, जो प्रजा की बिलकुल परवाह नहीं करते। अब हस्तिनापुर को ही देखिए, पांडवों की प्रजा की आँखें अभी गीली हैं—और राजकुल अपनी समृद्धि की नई योजनाएँ बना रहा है।'' इसी क्रम में महामात्य ने बताया—''दुर्योधन ने वृष्णि वंशी चेकितान पर आक्रमण कर उसे पराजित किया।'' फिर बोले, '' सुना है, द्रोण भी हस्तिनापुर की सीमाओं को दृढ़ करने की चेष्टा में लगे हैं।''

''इसीलिए तो वे विनाश के कगार पर हैं।''

महामात्य को जैसे मेरी बात का भरोसा ही नहीं था। वे बोले, ''आप कैसी बातें करते हैं!''

''मैं ठीक कह रहा हूँ।'' मैं मुसकराते हुए बोलता रहा—''मजबूत सीमाओं के भीतर असंतुष्ट प्रजा का रहना काष्ठ घट में अग्नि को बटोरना है।''

महामात्य मुसकराए। वह समझ गए कि हस्तिनापुर की सीमाओं की दृढ़ता को प्रजा की असंतोष की आग किसी भी समय भस्म कर सकती है। उन्होंने कहा, ''आपके इस विचार से महाराज बड़े प्रसन्न होंगे। अब बताइए, हिरण्यवर्मा के संदर्भ में हमें क्या करना चाहिए?'' उन्होंने स्पष्ट पूछा।

मैंने हँसते हुए कहा, ''महाराज जब पूछेंगे तब बताऊँगा।''

वह भी मुसकराने लगे। उनकी मुसकराहट में मेरी बौद्धिक विलक्षणता की स्वीकृति थी। उन्होंने मुसकराते हुए ही कहा, ''महाराज को चाहिए कि आपको अपना महामात्य बना लें।''

सात्यकि को अवसर मिला। वह बोल पड़ा—''आप भी क्या सोचते हैं! अरे, महाराज इन्हें अपना जामाता बनाना चाहते हैं और आप कहते हैं कि इन्हें महामात्य बना लें!''

इस बार की जोर की हँसी ने महामात्य को लज्जित कर दिया।

□

चेकितान पराजित हो गया। पुष्कर को दुर्योधन ने अपने अधिकार में ले लिया।

इस सूचना से मैं बड़ा चिंतित हुआ। एक तो वह बड़ा सज्जन था, फिर मेरा निकट संबंधी भी था। वह कम पराक्रमी भी नहीं था कि उसे कोई निवाले की तरह निगल ले। अवश्य ही उसपर पांडवों के अभाव के साथ ही हस्तिनापुर के वैभव और भीष्म, द्रोण आदि के व्यक्तित्वों का मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ा होगा, जो उसके पैर उखड़ गए।

महामात्य ने जब यह अशुभ सूचना दी तो मैं कुछ बोला नहीं। वस्तुतः मेरी कूटनीति ने अधरों पर अँगुली धर दी। मेरा बोलना पांचाल के हित में न होता। वह यों ही हस्तिनापुर से भयग्रस्त है। मैं उसकी भयाग्नि में घृत छोड़ने के पक्ष में नहीं था। अतएव चुप था और बाद में भी चुप रह गया।

किंतु भीतर-ही-भीतर दिन भर इसपर सोचता रहा। इच्छा यह थी कि मैं स्वयं चेकितान से मिलूँ; पर यहाँ से तुरंत निकल पाना भी तो संभव नहीं था। फिर मन छंदक की ओर भी लगा था। हो सकता है, वह दो-एक दिनों में आ जाए। देखें, क्या समाचार लाता है।

ऐसी ही मानसिकता में दिन डूबने को आया। इसी समय महाराज के यहाँ से मेरी बुलाहट हुई। चर ने यह तो नहीं कहा कि अभी ही चलिए, पर वह यह अवश्य बोला कि कई लोग आ गए हैं।

मैं तुरंत अपने मित्रों के साथ चल पड़ा। संध्या की रंगीनी अपनी चरम सीमा पर थी। महाराज धृष्टद्युम्न, पांचाली, महामात्य आदि के साथ बैठे मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे।

यों तो महाराज सदा मेरा आदर करते थे, पर इस समय का उनका सम्मान कुछ विशेष ही था। मुझे देखते ही वे उठकर खड़े हो गए। पांचाली ने भी मुसकराकर मेरा अभिवादन किया।

पांचाली से मेरे मित्रों का यह पहला निकट से साक्षात्कार था। ऐसा धधकता सौंदर्य उन्होंने जीवन में कम ही देखा था और देखते ही रह गए।

"महामात्य ने आपके विचारों से मुझे अवगत कराया। सचमुच मैं आपकी बुद्धि की विलक्षणता का कायल हो गया। पहले तो मैं आपको परम प्रतापी, पराक्रमी, योगिराज एवं संगीतज्ञ ही समझता था; पर आप महान् कूटनीतिज्ञ भी हैं, इसे अब जाना। आपमें विकट-से-विकट समस्या का समाधान बड़ी सहजता से प्रस्तुत करने का अद्‌भुत सामर्थ्य है। हमारा परम सौभाग्य है कि आप जैसे महानुभाव का हमें निर्देश मिल रहा है।" महाराज बोले।

"तो आपने मेरी प्रशंसा करने के लिए मुझे बुलाया है!" मैंने हँसते हुए कहा, "पहले तो आपने जो कुछ कहा है, मैं उसके योग्य नहीं हूँ। फिर यह प्रशंसा मेरे मुँह

पर न की गई होती तो अधिक अच्छा होता। किसी व्यक्ति के मुँह पर की गई प्रशंसा उसकी क्रियमाण शक्ति की खड़ी फसल पर तुषारपात है।''

सभी मेरा मुँह देखने लगे।

थोड़ी देर बाद ही महाराज ने ही मौन भंग किया—''मैंने आपको एक विशेष कार्य के लिए ही बुलाया था। अब हमें हिरण्यवर्मा के संदर्भ में क्या करना चाहिए?''

''मेरे विचार से तो आपको यथाशीघ्र प्रजा परिषद् बुलानी चाहिए और उसके सामने सारी स्थिति स्पष्ट कर देनी चाहिए। इससे आप प्रजा को विश्वास में ले सकेंगे और प्रजा भी आपकी समस्या में स्वयं को भागीदार समझेगी।''

महाराज कुछ सोचने लगे। लगा, इस कार्य में उनके समक्ष कोई बाधा है। उन्होंने एक दृष्टि मेरे साथियों पर डाली। शायद उनकी उपस्थिति उनके अनुकूल नहीं पड़ रही थी। फिर भी द्विविधा में उन्होंने कहा, ''यदि प्रजा परिषद् में किसीने पूछ लिया कि जब शिखंडी लड़की था तो आपने उसका विवाह एक राजकुमारी से कैसे किया, तो मैं क्या उत्तर दूँगा?''

''क्या इस सत्य को प्रजा जानती है?'' मैंने पूछा।

''जानती तो न होगी। पर अग्नि को छिपाकर रखनेवाले हर व्यक्ति को यह संदेह होता है कि उसका धुआँ कोई देख तो नहीं रहा है।''

मैंने अनुभव किया कि महाराज का संदेह आशंका का रूप ले चुका है।

''यदि ऐसा हो तो आपको अपनी भूल के लिए प्रजा से क्षमायाचना करनी चाहिए।''

''पर यह भूल मेरी नहीं है। मुझे भी गहरे अंधकार में रखा गया।'' उन्होंने फिर शिखंडी के जन्म के संदर्भ में संकेत दिया।

''तब तो आप स्पष्ट कह सकते हैं कि जैसे आप अंधकार में थे वैसे मैं भी अंधकार में रखा गया। इसमें किसीका दोष नहीं है। यह सब नियति का खेल है और हम उसीके खिलौने हैं।'' मैंने कहा, ''आपको प्रजा परिषद् में एक प्रभावशाली भाषण देना चाहिए। कभी हीनभावना से ग्रस्त मत होइएगा कि मैंने यह भूल की है। यदि ऐसा कुछ हुआ तो प्रजा आप पर हावी हो जाएगी—और यह स्थिति सिंहासन के नीचे विषधर को आश्रय देने जैसी होगी।''

महाराज फिर चिंता में डूब गए। उन्होंने धीरे से कहा, ''आप तो प्रजा परिषद् में रहिएगा ही?''

''मेरा रहना उचित नहीं होगा।'' मैंने कहा, ''न तो मैं आपकी प्रजा हूँ और न अधिकारी तथा न ही विदेशी परामर्शदाता।''

''सचमुच आप यहाँ कोई नहीं हैं!'' पांचाली बीच में ही बोल पड़ी। उसकी

विचित्र दृष्टि बड़ी गहराई तक धँसती चली गई।

''यदि आप नहीं रहेंगे तो सभा में मुझे सँभालेगा कौन?'' महाराज बोले।

''इसके लिए महामात्य तो हैं ही।'' मैंने कहा और उन्हें समझाया—''यदि मैं इस तरह खुलकर सामने आ जाऊँगा तो द्रोण से प्रतिशोध में आपका सहायक होना मेरे लिए असंभव हो जाएगा। जहाँ आचार्य को हमारे और आपके घनिष्ठ होते संबंधों का आभास लगेगा, वे सीधे मुझे बुला लेंगे और मैं आपके लिए कुछ भी न कर पाऊँगा। ऐसी स्थिति में मुझे नेपथ्य में ही रहने दीजिए।''

इस समय भी सात्यकि अपनी आदत से बाज नहीं आया। उसने उद्धव के कान में कहा, ''देखो, कितना चालाक है! नेपथ्य से ही तीर चलाएगा।''

मैंने सुन लिया; पर ऐसी स्थिति में था कि मुसकरा भी नहीं सका।

मैंने बात को दूसरी ओर बढ़ाते हुए महाराज से कहा, ''इसी प्रजा परिषद् में आप पांचाली के स्वयंवर की घोषणा कर दीजिएगा।''

''क्या घोषणा करूँगा? अभी तक तो इस संबंध में कुछ निश्चित नहीं हो पाया।''

''अब क्या निश्चित करना है? तिथि तो आपके पुरोधा ने बता ही दी होगी।''

''हाँ, उन्होंने अगले वर्ष चैत्र में ही शुभ मुहूर्त निकाला है।''

''चलिए, यह ठीक हुआ। काफी समय मिल जाएगा स्वयंवर की उद्घोषणा के प्रसारण के लिए।''

''पर स्पर्धा कैसी होगी, यह तो आपको बताना था।''

''बताया न कि धनुर्विद्या की प्रतिस्पर्धा होगी।''

''उसमें क्या होगा?''

''यह गोपनीय रहेगा।'' मैंने कहा।

''यदि इसका उद्घाटन कर दिया गया तो लोग अपने यहाँ अभ्यास आरंभ कर देंगे। हमारा मूल उद्देश्य ही गड़बड़ा जाएगा। अतएव हम स्पर्धा के दो-एक दिन पहले निश्चित करेंगे कि धनुर्विद्या की कैसी परीक्षा ली जाए; फिर भी उसे गोपनीय रखेंगे और निश्चित समय पर ही उसका उद्घाटन किया जाएगा।''

इस बार भी मेरे कथन का सिक्का जमा।

''और उस धनुष स्पर्धा में यदि कोई उत्तीर्ण न हो सका, तो?'' अनेक बार उठाई शंका पांचाली ने पुनः उठाई और बड़ी आत्मीयता से मुझे देखती रही।

□

छंदक को गए दस-पंद्रह दिन हो गए। अभी तक उसका कोई समाचार नहीं मिला। आचार्य द्रोण ने यदि शिखंडी को न स्वीकार किया तो विकट स्थिति होगी।

शिखंडी को अपने जीवन का अंत करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं रहेगा। इधर महाराज की बुलाई प्रजा परिषद् ने भी शिखंडी के अदृश्य होने के समाचार को बड़ी गंभीरता से लिया। राज्य स्तर पर उसकी खोज आरंभ हो गई।

मैं अपनी शय्या पर पड़ा-पड़ा यही सोच रहा था। रात्रि का प्रथम प्रहर बीतने को था। आकाश अचानक मेघाच्छन्न हो गया। शिखंडी की तरह आज चंद्रमा भी लुप्त था। हवा तेज थी और बीच-बीच में धक्के मारकर वातायनों से घुसते उसके झोंके शयनकक्ष में जलते दीपों को कँपा देते थे। कुछ दीप तो बुझ भी गए थे। अंत में एक अकेला टिमटिमाता दीप इस झंझावात से संघर्ष करता रह गया। रात भर अंधकार पीने के लिए संकल्पबद्ध उस दीप की जिजीविषा में मुझे अपना ही चित्र दिखाई दिया। शायद इसीलिए वह मेरा आत्मीय हो गया था। मेरी दृष्टि उसी पर लगी रही। वायु के प्रहार से जूझता वह कभी-कभी ऐसा लगता था कि अब बुझा, तब बुझा। फिर वह जी उठता था।

दूसरी ओर मेरी एक और दुर्बलता थी। जब घना अंधकार छाता, मेघ घिरते, इसी तरह मादक हवा चलती, बादल पसीजते, ऋतु भीगती और धरती से सोंधी-सोंधी गंध उड़ती, तब मेरा मन करील के कुंजों में चला जाता। राधा से रास रचता। कभी मेरे अधर पर वंशी होती और कभी राधा के अधर पर।

बात यद्यपि कितनी पुरानी हो चुकी है। तब से यमुना का कितना पानी बह गया होगा। संसार कितना बदल गया; पर मैं अपनी मानसिकता बदल नहीं पाया, अपनी यह दुर्बलता छोड़ नहीं पाया। प्रकृति के परिवेश बदलते ही मैं एक ऐसे संसार में चला जाता हूँ जहाँ न दुःख है, न व्यग्रता है, न चिंता है, न राजनीति है और न यहाँ की झंझटें। वहाँ केवल राधा है और मैं हूँ। प्रकृति की सरसता है और है सरसता की प्रकृति।

ऐसे में राधा आकर चुपचाप मेरी स्मृति से चिपक जाती है। वह तो सदा मेरी आत्मा से चिपकी ही है। रुक्मिणी मेरी स्वकीया है। मैंने उससे परिणय किया है; पर वह मेरे तन तक ही पहुँच पाई है, वह मेरे मन तक न पहुँच सकी। यह उसकी दुर्बलता है या मेरी अनीति? क्योंकि विवाह करके भी मैं उसे अपने मन के सिंहासन पर बिठा नहीं पाया।

इसलिए बाँह में रुक्मिणी के रहते हुए भी आह में राधा ही रहती है। रुक्मिणी मेरे जीवन के साथ है और राधा मेरी आत्मा के साथ। जीवन समाप्त हो जाने के बाद रुक्मिणी का संबंध समाप्त हो जाएगा; पर राधा का संबंध जन्म-जन्मांतर तक चलता रहेगा।

इस समय भी राधा मुझसे दूर नहीं थी। उसकी मादक स्थिति ने मुझे सहलाना

शुरू किया और मैं सो गया। फिर स्वप्न भी मुझे उन्हीं कुंजों में ले गए। वही बरसते बादल, वही स्पंदित करती वायु, वही हमें छिपा लेनेवाला घना काला अंधकार और वही खिलखिलाती राधा।

'तुम अँधेरे में ऐसे खो जाते हो कि दिखाई नहीं देते।' राधा मेरी आँखों को पीछे से बंद करती हुई बोली, 'फिर भी मैं तुम्हें देख लेती हूँ।'

'लगता है, भगवान् ने तुम्हें बिल्ली की आँखें लगा दी हैं, जो दिन में भी देखती हैं और रात में भी।' मैंने कहा।

वह अपनी प्रकृति के अनुसार खिलखिलाई—'यदि भगवान् बिल्ली की आँखें भी न लगाता, तो भी तुम्हें देख लेती।' उसने इठलाते हुए कहा और मेरी वंशी लेकर बजाने लगी।

मैं उसे छीनने की चेष्टा करता हूँ। वह मुझसे और दूर भागती है। इस भाग-दौड़ में मैं जितना खोता जाता हूँ उतना ही सोता जाता हूँ—और पूरी तरह नींद के चपेट में आ जाता हूँ।

जब प्रातः आँखें खुलती हैं तब न कहीं राधा होती है, न वह भाग-दौड़। आकाश के बादल भी छँट गए होते हैं। पर वृक्षों की पत्तियों पर अब भी राधा के आँसू बिखरे दिखाई देते हैं, जो वायु के झोंकों का सहारा लेकर सूखने से कहीं उत्तम ढुलकना समझते हैं।

मैं अपने वातायन में खड़ा निकट के पाकड़ के पत्ते से झरते राधा के आँसुओं को देखने में तल्लीन हूँ कि पिछवाड़े के खुले द्वार से छंदक प्रवेश करता है। इसके पहले कि मैं उसे देख पाऊँ, वह मुझे अभिवादन कर अपनी अप्रत्याशित उपस्थिति से चकित कर देता है।

मैंने उसे देखते ही कहा, "मैं कई दिनों से तुम्हें स्मरण कर रहा था।"

"तभी तो मैं आ गया।"

"इसका तो तात्पर्य है कि यदि मैं तुम्हें स्मरण न करता तो तुम न आते!"

"हो सकता है।" उसने बड़ी गंभीरता से कहा।

"क्योंकि मैं वहाँ से नाग प्रदेश चला गया था।"

"प्रमातामह के यहाँ?"

"हाँ।" छंदक बोला, "और संप्रति वहाँ से आ पाना मेरे लिए संभव नहीं था।"

मैंने यह नहीं पूछा कि 'क्यों?'

यद्यपि मैं अपने प्रमातामह के यहाँ के समाचार के प्रति कम जिज्ञासु नहीं था; फिर भी मेरी प्रबल जिज्ञासा शिखंडिन के संबंध में थी—"अच्छा, यह बताओ कि जिस काम के लिए तुम्हें भेजा गया था, उस काम का क्या हुआ?"

"अरे, कुछ मत पूछिए। ऐसी विषम स्थिति का सामना अपने जीवन में मुझे कभी करना नहीं पड़ा था। पहले तो शिखंडिन पूरी यात्रा भर न सोई और न मुझे सोने दिया। आशंकाओं का तूफान उसे झकझोरता रहा। ऐसा होगा तो क्या होगा? वैसा होगा तो क्या होगा? तरह-तरह के प्रश्नों की झड़ी लगाती रही, जिनमें से सभी के उत्तर मेरे पास नहीं थे।

"जब मैं उसके प्रश्नों की बौछार से झुँझला उठा तब मैंने उसे एक ही मंत्र दिया—'साहस रखो और वासुदेव का स्मरण करती रहो। सारी समस्याएँ हल हो जाएँगी।'

" 'तुम तो ऐसा कहते हो जैसे वासुदेव कोई भगवान् हों, जो उनका नाम लेने से सारी समस्याएँ समाप्त हो जाएँगी!' वह बोली।

" 'तुम्हारे लिए तो वे भगवान् हैं ही।' मैंने कहा और वह चुप हो गई। थोड़ी देर बाद वह सोचते हुए बोली, 'अवश्य ही वे मेरे लिए भगवान् हैं।' "

मुझे हँसी आ गई। मैंने छंदक से कहा, "आखिर उसके समक्ष भी तुमने मेरा ईश्वरत्व खड़ा कर ही दिया।"

"इसे चाहे आप जो समझें, पर इसके बाद वह कुछ शांत लगी।" छंदक बोला।

"फिर भी जब मेरी नाव आश्रम के पास पहुँची और मैंने उससे उतरने को कहा। वह अपना साहस नहीं जुटा पा रही थी। वह बड़े असमंजस में थी। 'वे मुझे देखकर क्या कहेंगे? कैसा बरताव करेंगे? मेरे पिता के विरोधी हैं। मुझे देखकर आगबबूला तो नहीं होंगे? मुझे देखते ही आश्रम से निकल जाने के लिए तो नहीं कहेंगे।' वह अपनी आशंकाओं में डूबती-उतराती रही।

"मैंने उसे बहुत समझाया कि 'तुम एकदम मत घबराओ। कहीं भी यदि विपत्ति में फँसने की स्थिति में आओ तो बस वासुदेव का स्मरण करो।' " छंदक ने बताया—"इतना कहने पर भी वह नाव से स्वयं उतरकर जाने के लिए अपने को तैयार नहीं कर पा रही थी। उसने कहा, 'आप भी मेरे साथ चलिए।'

" 'पर शिक्षार्थी को अकेले आश्रम में जाना पड़ता है।' मैंने शिखंडिन को समझाया—'आचार्य के समक्ष शिक्षार्थी की मानसिकता होनी चाहिए कि प्रभो, मैं संसार छोड़कर आपके समक्ष आया हूँ। आप ही मेरे सबकुछ हैं। आप ही मेरा उद्धार करें।' मैंने स्पष्ट कहा कि तुम्हारे साथ मेरे जाने पर संसार तुमसे छूटेगा नहीं, मैं तो रहूँगा ही।

"इतना कहने पर भी वह तब तैयार हुई जब मैंने आश्वस्त किया कि 'मैं तुम्हारे साथ न चलूँगा, पर जब आवश्यकता पड़ेगी, मैं उपस्थित हो जाऊँगा।'

''फिर भी वह विश्वास न कर पा रही थी। किंतु जब मैं उसके उतरते ही नाव से उतरा तब वह विश्वास कर पाई।'' छंदक बोला।

''फिर क्या हुआ? आखिर आचार्य ने उसे स्वीकार कैसे किया?'' मेरी जिज्ञासा चरम सीमा पर थी।

छंदक हँसा—''अरे, क्या बताऊँ! वह जब आश्रम में गई, सारे ब्रह्मचारी उसे घूरकर देखने लगे जैसे जीवन में उन्होंने ऐसा जीव देखा ही न हो। मैं आश्रम के अरण्य परिवेश में छिपकर यह सारा तमाशा देखता रहा।

''आश्रम के ब्रह्मचारियों ने जाते ही उससे प्रश्न किया—'यहाँ आप कैसे आई हैं?' ''

''क्या उन्होंने समझ लिया कि यह लड़की है?'' मैंने पूछा।

''समझ लिया होगा, तभी न!'' छंदक हँसा—''किंतु उसने इस अवसर पर बड़ा संयम दिखाया—'मैं आचार्य के श्रीचरणों में आया हूँ।'

'' 'आया हूँ!' ब्रह्मचारी एकदम सकते में आ गए। उन्होंने ऐसा पुरुष कदाचित् देखा ही नहीं था। वे उसे तुरंत आचार्य के समक्ष ले गए।

''आचार्य ने उसे देखते ही कहा, 'क्या बात है?'

'' 'मैं आपके श्रीचरणों में शिक्षा ग्रहण करने आया हूँ।' आचार्य ने उसकी आवाज सुनी और बड़े गौर से देखा। फिर बोले, 'मेरे आश्रम में प्रवेश के लिए एक परीक्षा होती है। तुम्हें वह परीक्षा देनी होगी।'

'' 'मैं प्रस्तुत हूँ।' शिखंडिन बोली।

'' 'तुमने धनुर्विद्या में अभ्यास किया है?'

'' 'थोड़ा तो किया ही है।'

'' 'अश्वारोहण और रथ-संचालन का अनुभव है?'

'' 'थोड़ा-बहुत तो है ही।'

'' 'और मल्लयुद्ध का?' आचार्य ने पूछा।''

छंदक ने बताया—''शिखंडिन इस प्रश्न के उत्तर में एकदम मौन हो गई। अब स्पष्ट लगा कि वास्तविकता नग्न हो जाएगी; क्योंकि घबराहट में उसके पैर काँपने लगे थे।

'' 'और गदायुद्ध का कुछ अभ्यास किया है?' आचार्य ने पुनः पूछा।

'' 'मल्लयुद्ध और गदायुद्ध में मैं शून्य हूँ।' लगा, शिखंडिन अपनी व्यग्रता पर अब नियंत्रण कर रही है।

'' 'क्या मैं पूछ सकता हूँ कि ऐसा क्यों है?' आचार्य बोले।

'' 'क्योंकि मैं नारी हूँ।' शिखंडिन ने अपने ऊपर पड़ा परदा एकदम उठाकर

फेंक दिया।

" 'पर तुमने तो वेश पुरुष का बनाया है और बातें भी वैसी ही आरंभ की थीं?"

" 'यही तो मेरी विडंबना है।' शिखंडिन बोली।

"आचार्यजी ने फिर उसे ऊपर से नीचे तक देखा और अपने मुख्य प्रश्न पर आए—'तुम आई कहाँ से हो?'

" 'मैं ऐसे स्थान से आई हूँ, जिसका नाम सुनते ही आप चौंक पड़ेंगे।' बड़ा साहस दिखाया शिखंडिन ने।

"फिर भी आचार्यजी की मुद्रा नहीं बदली। वे बड़े सहजभाव से बोले, 'आखिर ऐसा कौन सा स्थान है?'

"शिखंडिन ने साहस बटोरा और तुरंत बोल पड़ी—'पांचाल।'

"पांचाल का नाम सुनते ही आचार्य द्रोण की आँखों में खून उतर आया। उनकी आवाज एकदम तेज हो गई—'नाम क्या है तुम्हारे पिता का?'

" 'महाराज द्रुपद।'

" 'अच्छा, तो तुम द्रुपद की संतान हो!' अब शिखंडिन से अधिक आचार्य क्रोध से काँपने लगे थे—'तो मेरे यहाँ गुप्तचरी करने आई हो?'

" 'नहीं।' शिखंडिन अब काफी निर्भय लग रही थी—'आप गलत समझ रहे हैं।'

" 'मैं गलत समझ रहा हूँ!' अमर्ष से उनके दाँत बजने लगे—'यह बताओ, मेरे यहाँ तुम्हें भेजा किसने है?'

"आचार्य द्रोण की कड़कती आवाज के सामने शिखंडिन आश्चर्यजनक रूप से सहज रही—'वासुदेव श्रीकृष्ण ने।'

"आपका नाम सुनते ही आचार्य एकदम ठंडे पड़ गए—'तो तुम्हें तुम्हारे पिताजी ने नहीं भेजा?'

" 'नहीं।' शिखंडिन बोली, 'मैं यहाँ आई हूँ, यह भी उन्हें नहीं मालूम है।'

" 'तब इस समय वह तुम्हारे विषय में क्या सोचता होगा?'

" 'यह तो मैं नहीं कह सकती।' शिखंडिन बोली, 'पर मेरा अप्रत्याशित रूप से पांचाल से लुप्त होना पिताजी के लिए चिंता का कारण होगा।'

" 'तो यह सारी राजनीति वासुदेव की है! अद्भुत हैं वह!' आचार्यजी प्रकृतिस्थ होते हुए बोले।

" 'यह वासुदेव की राजनीति नहीं, आचार्य, यह मेरे ऊपर उनकी कृपा है।' शिखंडिन ने कहा, 'मैंने सारी समस्या उनके सामने रखी। उनसे आग्रह किया। रोई-गिड़गिड़ाई, तब उन्होंने बड़ी कृपा कर कहा कि इस समय आर्यावर्त्त में एक ही

आचार्य हैं, जो तुम्हारी सारी समस्याओं का समाधान प्रस्तुत कर सकते हैं।...तब मैंने अपनी मूल समस्या की ओर पुनः ध्यान दिलाया और पूछा कि मैं नारी हूँ, क्या वे मुझे पुरुष बना सकते हैं? तब उन्होंने बड़े विश्वास के साथ कहा था कि आर्यावर्त्त में वही एक आचार्य हैं, जो सबकुछ कर सकते हैं।'

" 'वासुदेव का मेरे ऊपर इतना विश्वास!' आचार्यजी परम गद्गद हो गए। वे कुछ समय तक पता नहीं किस चिंतन में डूबे रहे। फिर बोले, 'अच्छा, यह बताओ, वासुदेव तुम्हारे यहाँ पहुँचे कैसे? क्या द्रुपद ने उन्हें बुलाया था?'

" 'यह तो मैं नहीं कह सकती।' शिखंडिन बोली, 'हाँ, चलते समय मैंने शंका की थी कि कहीं पिताजी का नाम सुनते ही आचार्यजी मुझे आश्रम से निकाल तो नहीं देंगे!'

" 'तब वासुदेव ने क्या कहा?' अब आचार्यजी की जिज्ञासा प्रगल्भ हुई।

" 'वासुदेवजी ने स्पष्ट कहा कि आचार्य द्रोण ऐसे नहीं हैं।'

"शिखंडिन बड़े सहजभाव से बोलती जा रही थी—'जो कुछ भी उनके साथ किया गया, उससे उनमें प्रतिशोध का जगना स्वाभाविक था। वह जगा भी और अपनी चरम परिणति तक भी पहुँचा; पर इसके बाद भी आचार्य के मन पर कुछ रहा नहीं होगा। वह ब्राह्मण गंगा की तरह निर्मल है।' शिखंडिन ने कहा, 'ये शब्द आपके लिए वासुदेव के हैं।'

"आचार्य पुनः गद्गद हुए—'वासुदेव का मेरे संबंध में यह विचार! मैं सचमुच भाग्यशाली हूँ!' वे कुछ देर तक आकाश की ओर देखते रहे।

"फिर अचानक आचार्य की मुद्रा बदली। वे बोल पड़े—'इसका क्या प्रमाण है कि मेरे प्रति ये विचार वासुदेव के ही हैं और तुम्हें वासुदेव ने ही भेजा है?'

" 'यदि मेरा कहना प्रमाण नहीं है, तब मेरे पास कोई प्रमाण नहीं है।' शिखंडिन ने कहा, 'महाराज वासुदेव तो आपको त्रिकालदर्शी कहते थे। उनका कहना था कि वे तुम्हें देखते ही सबकुछ समझ जाएँगे। तुम डरो मत। तुम्हें कुछ कहने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।...क्या आपका मन अब भी मेरी बात का विश्वास नहीं करता?' "

शिखंडिन के इस साहस पर मुझे आश्चर्य था। मैंने छंदक से पूछा, "क्या सचमुच इतना कह गई? बड़ा कमाल किया उसने! उसके व्यक्तित्व से तो मुझे कभी भी ऐसी आशा न थी।"

"मनुष्य क्या कर सकता है! परिस्थितियाँ सब कराती हैं।" छंदक बोला।

फिर उसने बताया—"ऐसी स्थिति में अरण्य परिवेश से निकलकर मैं आचार्यजी के सम्मुख उपस्थित हुआ। 'तुम भी आए हो!' वे मुझे देखकर एकदम

आश्चर्य में पड़ गए।

"'जब विश्वास का संकट उत्पन्न हो जाता है तभी तो मैं उपस्थित होता हूँ।' मैंने कहा। इतना सुनते ही आचार्य की दृष्टि नीची हो गई। उन्होंने अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा, 'राजनीतिक मानसिकता विश्वास के संकट में ही जीती है। आज आर्यावर्त्त में चारों ओर विश्वास का यही संकट है। और हस्तिनापुर! वहाँ तो यह संकट और भी घना हो गया है। फिर मेरा मन इस स्थिति में कैसे उबरता!' इसके बाद ही आचार्यजी की आवाज पश्चात्ताप में डूब गई—'वासुदेव ने मुझपर इतना विश्वास किया और मैं उनपर विश्वास न कर पाया।'

"'इसीसे तो मैं उपस्थित हुआ।' मैं बोला। शिखंडिन ने भी अपनी स्थिति बताई कि 'मेरा साहस भी आपके समक्ष आने का नहीं हो रहा था। ये आप ही (छंदक) थे, जिन्होंने मुझे साहस बँधाया और कहा कि मैं तुम्हारे साथ तो नहीं चल सकता, हाँ, यदि तुमपर कोई संकट पड़ेगा तो मैं अवश्य उपस्थित होऊँगा। और इन्होंने अपने वचन का पालन किया।'

"आचार्यजी फिर गंभीर हो गए। वे बहुत देर तक कुछ सोचते रहे। आकाश पर चढ़ते सूर्य ने ऊष्मा की वर्षा आरंभ कर दी थी। एक ब्रह्मचारी धीरे से बोला, 'अग्निहोत्र का समय बीता जा रहा है।' पर उसकी आवाज जैसे अनसुनी रह गई।

"अब आचार्य का चिंतन धरातल पर आया। उन्होंने पुनः अपनी विवशता व्यक्त की—'आज तक किसी नारी को मैंने शिष्य नहीं बनाया। मेरे आश्रम में तो नारी का प्रवेश भी वर्जित है।'

"'पर वासुदेव ने बड़े विश्वास के साथ इसे आपके पास भेजा है।' मैं बोला।

"'यही तो मैं सोच रहा हूँ।' आचार्य ने कहा। फिर उन्होंने मुझसे पूछा, 'आप एक काम कर सकते हैं?'

"'क्या?'

"'आप इसे लेकर स्थूणाकर्ण यक्ष के पास चले जाइए। वहीं इसका उद्धार होगा। उस यक्ष को नारी से नर बनाने की कला आती है।' "

छंदक ने बताया—"अब मैं इस झमेले में अधिक नहीं पड़ना चाहता था। मैंने स्पष्ट कहा, 'मुझे तो कन्हैया का इतना ही आदेश था कि मैं इसे आपके आश्रम के द्वार तक छोड़ आऊँ। वहीं इसका उद्धार होगा। मुझे तो आपके समक्ष भी नहीं आना चाहिए था। मैं अपने नायक के आदेश की उपेक्षा कर आपके सामने उपस्थित हुआ। अब आप मुझे इस झमेले से मुक्त कीजिए।'

"'अच्छी बात है।' उन्होंने तुरंत एक ब्रह्मचारी को बुलाया और उसे स्थूणाकर्ण यक्ष के पास ले जाने का आदेश दिया।

'' 'यदि मैं संध्या को अपनी यात्रा आरंभ करूँ तो?' ब्रह्मचारी ने पूछा।

'' 'तब तुम परेशानी में पड़ जाओगे।' आचार्यजी बोले, 'स्थूणाकर्ण यक्ष ने यहाँ से बीस योजन पर ही एक शिविर लगाया है। शल्य चिकित्सा का यह शिविर आज या कल ही समाप्त होने वाला है। इसलिए आवश्यक पाथेय की व्यवस्था कर इसी समय प्रस्थान करो।'

''ब्रह्मचारी यात्रा की व्यवस्था कर शिखंडिन को लेकर चलने को हुआ, तब आचार्य ने उसे रोका और आदेशमूलक स्वर में उससे कहा, 'यह तो तुम जानते ही हो कि तुम ब्रह्मचारी हो।'

''वह कुछ बोला नहीं, केवल सिर हिलाकर संकेत किया, 'जानता हूँ।'

'' 'तब तो तुम यह भी जानते होगे कि किसी नारी का संपर्क क्या, स्पर्श भी तुम्हें वर्जित है।'

'' 'जी हाँ।'

'' 'तब तुम इसे किस भाव से ले जा रहे हो?'

'' 'मित्रभाव से।' ब्रह्मचारी बोला।

'' 'मित्रभाव तो तुम्हारे मन में उस समय उत्पन्न होना चाहिए, जब यह नारी से नर हो जाएगा।'

''ब्रह्मचारी बड़े ध्यान से आचार्य की ओर देखने लगा; जैसे वह पूछ रहा हो कि फिर किस भाव से इसके साथ जाऊँ।

''आचार्यजी ने उसे सावधान करते हुए पुनः कहा, 'याद रखना, यह तुम्हारे पास मेरी धरोहर है—और धरोहर की तरह ही इसे अपने साथ ले जाना तथा स्थूणाकर्ण को समर्पित कर देना। फिर चले आना।'

'' 'बाद में यह आएगी कैसे?'

'' 'यह सोचना स्थूणाकर्ण का काम है।' आचार्य ने कहा।

''शिखंडिन और ब्रह्मचारी दोनों अभिवादन कर चल पड़े। मैं चुपचाप अन्य लोगों के साथ वहीं खड़ा रहा। शिखंडिन बहुत दूर तक कनखियों से मुझे देखती रही। उसकी दृष्टि शायद साथ चलने के लिए ही आग्रह कर रही थी।'' छंदक ने बताया—''उस समय मैं कुछ भी कहने की स्थिति में नहीं था।''

☐

मैं बड़ा प्रसन्न था कि मेरा बाण लक्ष्य पर लग गया। द्रुपद और द्रोण की प्रतिहिंसा की खाई पर मैं कोई सेतु तो नहीं बना पाया और न ऐसी कोई मेरी संप्रति योजना ही थी; फिर भी मुझे लग रहा था कि उस खाई के ऊपर संभावना की एक रेखा अवश्य खिंच गई है, जो किसी योजना का आधार हो सकती है।

पूरा पांचाल शिखंडिन के अदृश्य होने से दुःखी था। इतनी खोजाई होने पर भी उसका कोई पता नहीं चला। राजभवन के परिसर में यदि कोई प्रसन्न था, तो मैं। पर मैं भी अपनी प्रसन्नता पर एक गंभीरता की चादर ओढ़े रहता था। कई बार तो पांचाली ने भी भरे नयनों से मुझसे शिखंडिन की चर्चा की; पर मैं उसके आँसू पोंछ नहीं पाया। केवल इतना ही कहकर संतोष दिलाता रहा कि ''ईश्वर जो करता है, अच्छा ही करता है। हो सकता है, शिखंडिन के अदृश्य होने के पीछे भी कोई अच्छाई छिपी हो।''

''यदि वह अदृश्य है तब भी संतोष है।'' पांचाली बोली, ''कहीं उसने संसार से बिदा न ले ली हो?''

''मृत्यु का वरण भी नियति की इच्छा का ही परिणाम है। उसकी इच्छा के बिना मृत्यु आपका स्पर्श भी नहीं कर सकती।'' मैंने पांचाली को समझाया– ''नियति के समक्ष हम निरीह हैं। मरे हुए को बचाया नहीं जा सकता, बचे हुए को मारा नहीं जा सकता।''

''जब सबकुछ नियति के ही हाथ में है तब हम ऐसी स्थितियों में दुःखी क्यों होते हैं?'' अनेक ऋषि-मुनियों से समय-समय पर पूछा गया यह प्रश्न बड़े भरे मन से पांचाली ने किया।

''क्योंकि हम मोह के वश में हैं। और मोह हमारे अज्ञान का मूल है।'' मैंने कहा और इसके बाद पांचाली चुपचाप मेरे पास से चली गई।

मेरे मित्रों को कुछ ऐसा आभास लग रहा था कि मैं पांचाल के इस दुःख में शामिल नहीं हूँ। इसी सिलसिले में एक दिन श्वेतकेतु मुझसे बोला, ''लगता है, पांचाल का यह दुःखद वातावरण आपके अनुकूल नहीं पड़ रहा है; क्योंकि आप भीतर से हमेशा मुसकराते रहते हैं।''

''बाहर का मुसकराना तो देखा जा सकता है, पर तुमने भीतर का मुसकराना कैसे देख लिया?'' मैंने मुसकराते हुए ही पूछा।

''बात यह है कि कभी-कभी भीतर का मुसकराना भी बाहर छलक आता है।'' श्वेतकेतु बोला।

''लगता है, शिखंडिन को इन्होंने वृंदावन भेज दिया है; जैसे एक बार उद्धव को भेजा था।'' सात्यकि बोला।

''इस समय तो वैसी परिस्थितियाँ नहीं हैं जैसी मेरे वृंदावन भेजे जाने के समय थीं।'' उद्धव ने कहा, ''हो सकता है, कोई दूसरी स्थिति पैदा हो गई हो, जिसे हम न जानते हों।''

''हाँ, आप लोगों में से कोई नहीं जानता।'' अचानक छंदक प्रकट हुआ

और बोला।

''सुना है, शिखंडिन भाप बनकर उड़ी और यक्षलोक में पहुँच गई।'' बड़े नाटकीय ढंग से उसने कहा।

मैं डरा, कहीं भावातिरेक में यह सत्य उद्घाटित न कर दे।

मैंने तरेरते हुए उसकी ओर देखा और बोला, ''तुम कहना क्या चाहते हो?''

''यही कहना चाहता हूँ कि जब पांचाल की सारी सैन्य शक्ति उसका पता न लगा सकी तो वह भाप ही बनकर उड़ गई होगी।'' उसने झट से अपनी बात बदल दी और हम सभी हँस पड़े।

फिर छंदक मित्रों से बातों में उलझ गया। कब आए? कहाँ रहे? और क्या समाचार हैं? आदि प्रश्नों का उलटा-सीधा उत्तर देता रहा।

वह माहौल इसी तरह समाप्त हुआ।

अब संध्या होने को आई। महाराज से यह मेरे मिलने का समय था। छंदक अब मेरे पास आया।

''सबने मेरी यात्रा के बारे में बहुत कुछ पूछा, पर आपने कोई विशेष जिज्ञासा व्यक्त नहीं की?''

''यों ही तुमने शिखंडिन के बारे में सारी बातें मुझे बता दी हैं, फिर जिज्ञासा क्या करता?''

''शिखंडिन के बारे में ही बताई हैं। उसके अतिरिक्त भी बहुत कुछ बताने को है।'' इतना कहकर छंदक स्वयं खुलने लगा—''द्रोण के आश्रम से लौटने के बाद मैं नाग प्रदेश की ओर चला गया था।''

''अच्छा, तभी तुम्हें लौटने में विलंब हुआ।'' मैंने कहा, ''तब तो तुम पांडवों से भी मिले होगे?''

''नहीं, पांडवों से भेंट नहीं हो सकी; पर उससे भेंट हुई थी।''

''उससे किससे?''

''अरे वही हिडिंबा से, भीम की पत्नी से।''

''वहाँ भी भीम नहीं था?''

''नहीं। वह अपनी शर्त के अनुसार चला गया था। हिडिंबा ने उसकी शर्त की बात दुहराते हुए कहा कि उन्होंने कहा था कि जब तुम्हें पुत्र हो जाएगा तब मैं चला जाऊँगा। पुत्र होते ही वे अपनी माँ और भाइयों के साथ चले गए।''

छंदक ने कहा, ''हिडिंबा रोते हुए बोली, 'उन्हें मैं क्या, पुत्र का मोह भी रोक नहीं सका।' इसके बाद वह भीतर से अपना पुत्र ले आई और मेरी गोद में डाल दिया। काफी हृष्ट-पुष्ट और एकदम भीम जैसा ही है।''

मुझे हँसी आ गई। मैंने कहा, "जब भीम का पुत्र है तब उस जैसा तो होगा ही—आत्मा वैजायते पुत्रः।"

"पर उसकी आकृति भीम से नहीं मिलती।" छंदक बोला, "और उसके सिर पर एक भी बाल नहीं है।"

"नाम क्या रखा है उसका?"

"घटोत्कच!" छंदक ने बताया।

"तब तो उसका नाम उसके रूप के अनुसार ही है।" मैंने कहा, "घटोत्कच, अर्थात् गंजा घड़ा।" मैं फिर हँसा—"लगता है, यह नाम भी उसके चाचा या पिता ने ही रखा है। बड़ा सोच-समझकर रखा है। राक्षसों को इतनी बुद्धि कहाँ! पर छंदक! तेरी बुद्धि भी किसी राक्षस से अधिक नहीं है।"

"क्यों? ऐसा कैसे आप कह सकते हैं?"

"तुमने उस बच्चे को गोद में लेते हुए भी कुछ उसे दिया तो नहीं होगा? यह तो तू मानेगा ही कि चाहे राक्षसी के गर्भ से वह पैदा हुआ हो, फिर भी वह तेरा भ्रातृज है।"

"यह आप कैसे समझते हैं कि मैंने अपने कर्तव्य का निर्वाह नहीं किया?" छंदक बोला, "पहले तो मैं उसे लेते ही उसके भार से चकित हो गया। इतना वजनी कि मैं शिला पर पटक दूँ तो वह भी टूट जाए।"

मैं हँसने लगा। मेरे मन ने कहा, आखिर भीम का ही बेटा है न!

"वास्तव में उस समय मेरे पास देने योग्य कुछ था नहीं।" छंदक ने अपनी बात पूरी की—"मैंने अपनी मुद्रिका उतारकर उसे दे दी।"

"तेरी मुद्रिका उसे हो गई?"

"हो तो नहीं गई, पर उसने बड़े प्रेम से हथेली में लिया और जोर से मुट्ठी बंद कर ली। आप विश्वास नहीं करेंगे, मैं उसकी मुट्ठी खोल नहीं पाया। यह देखकर उसकी माँ हँसने लगी। बोली, 'यह समझ रहा है कि उसे आप ले लेंगे। अब यह देगा नहीं।' "

छंदक घटोत्कच को देखकर बड़ा खुश था। उसका विचार था कि भीम को उसे छोड़ना नहीं चाहिए। ऐसा पराक्रमी बेटा बड़े भाग्यवान् को ही मिलता है। पर उसे साथ लेने का अर्थ था हिडिंबा को भी साथ ले चलना—और यह संभव नहीं था।

"इतना समय तुमने हिडिंबा के यहाँ ही लगा दिया?" मैंने पूछा।

"मैंने कहा न कि मैं नाग प्रदेश गया था। वहाँ आपके परनाना से मिला था।... आजकल वे बीमार हैं। आयु भी एक सौ दस के आसपास हो गई है। वय और रुग्णता ने उन्हें एकदम जर्जर कर दिया है। वे आपसे मिलना चाहते हैं। उन्होंने बड़ी

व्यग्रता से कहा था कि देह छोड़ने से पहले एक बार वासुदेव को देख पाता।''

छंदक ने कहा, ''पर नानाजी अब कुछ ही दिनों के मेहमान हैं। इसलिए हमें चातुर्मास आरंभ होने के पहले ही चल देना चाहिए।''

मैंने भी अभी तक अपने प्रमातामह (परनाना) को देखा नहीं था। सुना है, वे मेरे यज्ञोपवीत में आए थे। तब भी अस्वस्थ थे। अपनी भिक्षा अपनी पुत्री और मेरी पितामही मारिषा से भिजवाकर लौट गए थे। अतएव उन्हें देखने की इच्छा प्रबल हो उठी।

दूसरे दिन प्रातः ही मैं महाराज द्रुपद से मिला। मेरे साथ छंदक को छोड़कर मेरे सभी साथी थे। मैंने विनयपूर्वक महाराज से कहा, ''आपके आतिथ्य में बहुत दिन हो गए। अब मुझे यहाँ से चलने की अनुमति दीजिए।''

महाराज इस अप्रत्याशित सूचना पर चकित रह गए। वे बोले, ''अचानक ऐसा मन कैसे बना लिया? अभी तो नाव मझधार में ही है। मेरा प्रतिशोध अभी भी अपनी जगह धुआँ उगल रहा है। उधर शिखंडिन का भी कहीं पता नहीं चला। फिर कृष्णा के स्वयंवर की सूचना भी चतुर्दिक् भेज दी गई है। पर उस आयोजन में स्पर्धा का स्वरूप क्या होगा, अभी निश्चित नहीं हो पाया है—और आप जा रहे हैं। ऐसी भी जल्दी क्या है?''

''बात यह है कि मेरे प्रमातामह मृत्यु-शय्या पर हैं, उन्होंने मुझे स्मरण किया है।'' मैंने कहा।

महाराज गंभीर हो गए। उनकी मुद्रा से लगा कि वे मेरे जाने की अनिवार्यता के समक्ष विवश हैं। उन्होंने टूटे स्वर में पूछा, ''फिर कब जाने का विचार है?''

''यथाशीघ्र, जिससे हम चातुर्मास के पूर्व वहाँ पहुँच जाएँ।''

''तब आप प्रतिस्पर्धा का रूप निश्चित कर दीजिए, अन्यथा मैं बड़े संकट में पड़ जाऊँगा।''

मुझे मन-ही-मन हँसी आ गई। मेरे मन ने कहा, 'आप तो संकट में अभी भी हैं।'

पर मैं कुछ बोला नहीं। बड़ी शालीनता से इतना ही कहा, ''आप इसकी चिंता मत कीजिए। मैं कृष्णा (द्रौपदी) से एकांत में मिलकर सब निश्चित कर दूँगा।''

कृष्णा वहीं बैठी थी। इतना सुनते ही वह बड़े विचित्र ढंग से मुसकराई।

मेरे मित्रों को भी चुटकी लेने का मौका मिला। पर इस समय वे कुछ विशेष कह नहीं पाए। मैंने तुरंत बात आगे बढ़ा दी और महाराज से कहा, ''देखिए, हम सब निश्चित तो कर देंगे; पर आप उस प्रतिस्पर्धा को एकदम गोपनीय रखिएगा, तभी हम सफल हो पाएँगे।''

यद्यपि इस संदर्भ में मैंने उन्हें कई बार सावधान किया था।

फिर भी उन्होंने कुछ सोचते हुए कहा, "आखिर उसे कुछ लोग तो जानेंगे ही।"

"हाँ, मैं, आप और पांचाली।" मैंने कहा, "और हो सकता है, शस्त्रागार के राजकीय लौहकार को भी बताना पड़े।"

"क्या किसी विशेष यंत्र या शस्त्र की आवश्यकता पड़ेगी?"

"पड़ सकती है।"

"तब बात कैसे गोपनीय रह सकती है?"

"इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि प्रतिस्पर्धा के चार दिन पूर्व ही इस संबंध में सोचा जाए। तब बात यदि खुल भी जाएगी तो कोई विशेष हानि नहीं होगी।"

बात चल ही रही थी कि अचानक नगर प्रहरी ने प्रवेश की अनुमति माँगी। उसने बताया कि नगर द्वार पर महाराज हिरण्यवर्मा आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

इतना सुनते ही हम सबके होश उड़ गए। आखिर बात क्या है कि बिना किसी आमंत्रण के तथा बिना कोई पूर्व सूचना दिए हिरण्यवर्मा आ धमके।

"उनके साथ कितनी सेना है?" द्रुपद के मन का चोर पहले बोला।

"सेना तो कोई विशेष नहीं है। होंगे बीस-पच्चीस घुड़सवार।" नगर प्रहरी ने बताया। फिर बोला, "उन्होंने आपसे मिलने की इच्छा व्यक्त की है।"

"तो यह आक्रमण नहीं है।"

महाराज आश्वस्त हुए। उन्होंने तुरंत सारथि को बुलाया और रथ ठीक कराकर चल पड़े। साथ में महामात्य और धृष्टद्युम्न आदि हो लिये। हम लोग चुपचाप अपने अतिथिगृह में आ गए थे; क्योंकि उनके साथ हमारा जाना उचित नहीं था। यद्यपि जिज्ञासा तो हमारी भी जोर मार रही थी।

नगर द्वार पर पहुँचने के पूर्व ही, राजकीय नियम के अनुसार महाराज रथ से उतरकर अपने समधी की अगवानी में पैदल चल पड़े।

जिस किसीने इन लोगों को पैदल चलते देखा, वे सब साथ हो गए। हिरण्यवर्मा के निकट पहुँचते-पहुँचते एक अच्छी-खासी भीड़ जुट गई।

हिरण्यवर्मा भी रथ से उतरकर अपने समधी से गले मिला। अभी कल तक आक्रमण की चर्चा थी। आतंक से पूरा पांचाल थरथरा रहा था। उसमें यह अप्रत्याशित परिवर्तन आश्चर्य के साथ-साथ हमारे हर्ष का कारण बना।

द्रुपद ने बड़ी विनम्रता से कहा, "आप पधारे, हमारा सौभाग्य है! यदि इसकी पूर्व सूचना हमें मिली होती तो हम आपके स्वागत की यथोचित तैयारी करते।"

"मैं स्वागत कराने नहीं आया हूँ वरन् आपकी उस महान् विपदा में सम्मिलित होने आया हूँ, जो राजकुमार शिखंडी के अदृश्य होने से आप पर अचानक आ पड़ी

है।...वस्तुतः यह विपदा आपकी ही नहीं, हमारी भी है।''

द्रुपद की आँखें भर आईं। मन में बैठा शत्रु जब अचानक मित्र दिखाई देता है तब आँखें भी अपना बाँध तोड़ देती हैं। मन भावुक हो जाता है। ऐसी ही स्थिति द्रुपद की थी। यों भी शिखंडी का दुःख तो उन्हें था ही।

हिरण्यवर्मा के पहुँचते ही राजकर्मचारियों के कई दल अतिथिभवन में आ गए थे। सैनिक स्तर पर सफाई आदि की व्यवस्था आरंभ हो गई थी। हिरण्यवर्मा को ठहराने की व्यवस्था यहीं की जा रही थी।

पर स्थिति कुछ विचित्र थी। अतिथिभवन का सबसे अच्छा कक्ष मेरे पास था; किंतु मुझसे खाली कराने का किसीको साहस नहीं हो रहा था। कई अधिकारियों ने मेरे कक्ष में झाँक-झूँक लगाई भी; पर कोई कुछ बोल नहीं पाया।

अंत में महाराज द्रुपद अपने सम्मान्य अतिथि को लेकर सबसे पहले मेरे कक्ष में ही उपस्थित हुए। मैं तो स्थिति समझ ही गया था। मैंने तुरंत कहा, ''आइए, आइए, मैं आपकी ही प्रतीक्षा कर रहा था।''

फिर मैंने अपने सेवकों से कहा कि तुम हमारा सामान निकालकर किसी अन्य कक्ष में रख दो।

''क्यों-क्यों? ऐसा क्यों?'' शायद वह मुझे मेरे मोर मुकुट और वंशी से पहचान चुके थे।

मैंने कहा, ''अतिथिदेवो भव! अतिथि हमारे लिए देवता होता है।''

''अतिथि आपके लिए देवता होते हैं और आप हम सबके लिए स्वयं देवता हैं।'' हिरण्यवर्मा बोले। फिर अपनी द्विविधा दूर करते हुए उन्होंने महाराज द्रुपद के कान में धीरे से कहा, ''ये द्वारकाधीश हैं न?''

द्रुपद ने मुसकराते हुए सिर हिला दिया। फिर तो हिरण्यवर्मा मेरे चरणों की ओर झुकने लगे।

''अरे, यह क्या? आप तो हमारे वरेण्य हैं!''

''यह आपकी महानता है, पर संसार के वरेण्य आप हैं।''

मैंने अनुभव किया कि मैं कभी वहाँ पहुँचा होऊँ या न पहुँचा होऊँ, पर मेरा ईश्वरत्व महाराज हिरण्यवर्मा के यहाँ पहुँच चुका है।

''आप यहाँ हैं और राजकुमार अदृश्य हो गए? मुझे आश्चर्य है! आपकी इच्छा के बिना तो एक पत्ता भी नहीं हिलता।''

''तो क्या आप समझते हैं कि राजकुमार के अदृश्य होने में मुख्य भूमिका मेरी इच्छा की है?'' इतना कहते हुए मैंने वह मायावी अट्टहास लगाया कि दोनों मेरा मुँह देखते रह गए। और उस हँसी में वह तथ्य भी उड़ गया, जिधर हिरण्यवर्मा ने

अनजाने में संकेत किया था।

इसके बाद मेरे पार्श्व के कक्ष में उन्हें ठहराया गया। द्रुपद की इच्छा थी कि समधी के स्वागत में प्रजा परिषद् आहूत की जाए। पर हिरण्यवर्मा ने स्पष्ट कहा, ''न तो इस समय इसकी आवश्यकता है और न अवसर। जब राजकुमार आ जाएँगे तब आप हमें बुलाइएगा—और उस समय जो कुछ भी कीजिएगा, हमें शिरोधार्य होगा और उचित भी।''

''तो क्या हमारा शिखंडी आ भी सकता है?'' महाराज द्रुपद की बाँछें खिल गईं। उन्हें तो मरुभूमि में कमल उगता दिखाई दिया। घने अंधकार में उन्हें एक किरण मिली।

''यह आप कैसे कह सकते हैं कि वह लौटेगा?'' द्रुपद की शंकाकुल जिज्ञासा प्रगल्भ हुई।

''मैं कैसे कह सकता हूँ, यह तो बाद में बताऊँगा। पहले कुछ खिलाइए-पिलाइए।'' हिरण्यवंर्मा के कथन में सहजता से अधिक आत्मीयता थी।

द्रुपद एकदम झेंप गए। वे उलझी हुई मन:स्थिति में सबकुछ भूल गए। उन्होंने तुरंत जलपान की व्यवस्था कराई और मध्याह्न भोजन का उपक्रम आरंभ कराया।

हिरण्यवर्मा का कहना था—''मैं बिना किसीको सूचित किए अचानक आ गया हूँ। मैंने अपने महामात्य तक को यहाँ आने की खबर नहीं दी है। मैं यदि संध्या तक नहीं लौटा तो मेरी भी राजकुमार शिखंडी की तरह खोजाई आरंभ हो जाएगी।'' इतना कहकर वे स्वयं हँसे और अपनी हँसी में उन्होंने औरों को भी सम्मिलित कर लिया।

फिर जलपान के समय हिरण्यवर्मा ने मुझे अपने कक्ष में बुलाया। मैं अपने साथियों के साथ उपस्थित हुआ। मैंने उद्धव, सात्यकि और श्वेतकेतु का परिचय कराया। मेरे पीछे रक्ताक्ष भी खड़ा था।

वे बड़े प्रसन्न हुए। बोले, ''मैं सचमुच बड़ी भूल कर रहा था।''

''किस संदर्भ में?'' मैंने पूछा।

उन्होंने कहा, ''मैं पांचाल पर आक्रमण करने वाला था। मुझे क्या पता था कि इस समय यहाँ ऐसे योद्धा हैं।'' उन्होंने मेरे मित्रों की ओर संकेत करते हुए कहा, ''क्या इनके रहते हमारी विजय हो पाती?''

मैंने अनुभव किया कि हिरण्यवर्मा का चिंतन संस्कारी है। उनके बात करने के ढंग से स्पष्ट लगा कि उनकी समझ द्रुपद से कम नहीं है।

फिर उन्होंने अपने समधी को संबोधित करते हुए कहा, ''आपका राजकुमार उपस्थित रहकर वह कार्य नहीं कर सकता था, जो उसने अदृश्य होकर किया।''

'क्या?' द्रुपद की मुद्रा प्रश्नवाचक हो गई।

''यही कि अदृश्य होकर उसने दो साथियों के बीच की टकराहट को हमेशा के लिए मिटा दिया।''

लोगों ने इस तर्क को बड़ी गंभीरता से लिया।

द्रुपद की भीतर-ही-भीतर उबल रही जिज्ञासा पुन: छलक पड़ी—''आप कैसे कह सकते हैं कि वह लौटकर आ जाएगा?''

''बात यह है कि हमें ऐसी सूचना मिली है।'' हिरण्यवर्मा ने बताया।

''जब आपका पत्र मिला तो मैंने अपने सैनिकों को राजकुमार शिखंडी की खोज में छोड़ा। कुछ ही दिनों बाद मुझे सूचना मिली कि वे स्थूणाकर्ण यक्ष के शिविर में देखे गए थे।''

''तब आपने वहाँ सैनिक नहीं भेजे?'' इस बार धृष्टद्युम्न बोला।

''ऐसा कैसे हो सकता है कि मैं सैनिक न भेजता!'' हिरण्यवर्मा ने कहा, ''किंतु जब तक सैनिक वहाँ पहुँचे, वह शिविर समाप्त हो चुका था। लोग वहाँ से जा चुके थे।''

ऐसा लगा कि हाथ में आया शुक अचानक उड़ गया।

''वह शिविर कैसा था?'' द्रुपद ने पूछा।

''विस्तार से तो मैं नहीं जानता; पर लोगों का कहना था कि वह शल्य चिकित्सा का शिविर था।''

''फिर उसमें शिखंडी क्यों गया?'' द्रुपद कुछ सोचते हुए बोले।

''यही तो मैं नहीं समझ पाता।'' हिरण्यवर्मा ने कहा।

''वह शिविर लगा कहाँ था?''

''अहिच्छत्र से लगभग बीस योजन दूर।''

''तभी तो हमारे सैनिक वहाँ नहीं जा पाए। वह मेरे शत्रु द्रोण का शासनक्षेत्र है।'' द्रुपद बोले, ''पर उस क्षेत्र में मेरा पुत्र गया, आश्चर्य है मुझे!''

''इसमें आश्चर्य की क्या बात है?'' अब मुझसे रहा नहीं गया—''आपके शत्रु का शासनक्षेत्र होगा, आपके पुत्र के शत्रु का तो नहीं।''

''क्या मेरा शत्रु मेरे पुत्र का शत्रु नहीं होगा?'' द्रुपद बोला।

मैंने मुसकराते हुए कहा, ''शत्रुता को उत्तराधिकार में मत दीजिए। जब संततियाँ प्रतिशोध और बदले की भावना उत्तराधिकार में पाएँगी, तब एक-न-एक दिन यह धरती घृणा, द्वेष और प्रतिहिंसा से भर जाएगी। सौहार्द और प्रेम के लिए वह बड़ा दुर्भाग्यशाली दिन होगा।''

मेरे इतना कहते ही दोनों समधी एकदम शांत हो गए।

संध्या होते-होते हिरण्यवर्मा चले गए। फिर मैंने महाराज द्रुपद से कहा, ''अब

हमारी-आपकी एक गुप्त बैठक हो जाए, तब आप हमें छुट्टी दीजिए।''

''अब आप आज रात कहाँ जाइएगा? कल प्रातः ही बैठक रखिए।'' द्रुपद ने कहा और मैंने भी यही उपयुक्त समझा।

रात को महाराज ने हम लोगों के सम्मान में एक भोज दिया। उसमें पूरा अमात्य मंडल और सभी उच्च राजकीय कर्मचारी उपस्थित थे। अब पांचाल तनावमुक्त था। न किसी प्रकार के आक्रमण की आशंका थी और न शिखंडी के न मिलने का भय। जब तक भोजन चलता रहा, महाराज मेरी प्रशंसा ही करते रहे। अनेक बार तो उन्होंने मेरे प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की और आशा भी व्यक्त की कि अब वे अपने प्रतिशोध को जीवित लेकर नहीं मरेंगे।

उनके इस कथन पर मुझे मन-ही-मन हँसी आ गई। यदि मैं कह सकता तो कहता—'प्रतिशोध तभी तक जीवित है जब तक आप उसे हृदय से लगाए हैं। उसे छोड़ दीजिए, वह अपनी मौत मर जाएगा।' पर मैंने कुछ कहना उचित नहीं समझा; क्योंकि क्रोध और प्रतिशोध को जितना छेड़ा जाता है, वे उतना ही भभकते हैं।

उस समय तो बात खत्म हुई; पर मैं शीघ्र ही बुला लिया गया। रात का प्रथम प्रहर चल रहा था। मेरी सलाह के अनुसार केवल पांचाली वहाँ उपस्थित थी। बात स्वयंवर में होनेवाली स्पर्धा के संबंध में उठाई गई।

मैंने कहा, ''यह तो निश्चित है कि परीक्षा धनुर्विद्या की ही ली जाएगी।''

''तब यह भी निश्चित है कि उसमें कोई द्रोण का शिष्य ही विजयी होगा।'' द्रुपद ने कहा, ''क्योंकि उनसे बड़ा धनुर्धर इस समय आर्यावर्त्त में कोई दूसरा नहीं है।''

''आपका मन तो हर बात में शंकाकुल हो उठता है।'' मैंने कहा, ''शंकाकुल मन से आज तक किसी लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हुई। यह तो आप जानते ही हैं कि योद्धा की प्रमुख शक्ति उसकी धनुर्विद्या ही है। फिर कोई आवश्यक नहीं कि द्रोण का शिष्य ही हमारी परीक्षा में उत्तीर्ण हो।...और यह भी समझिए, वह द्रोण का शिष्य एकलव्य भी हो सकता है।''

महाराज ने मुसकराते हुए मेरी ओर देखा। उन्हें लगा कि मैं ठीक कह रहा हूँ।

मैं कहता गया—''फिर आज के आचार्य द्रोण पहलेवाले आचार्य द्रोण नहीं हैं। ईर्ष्या और द्रोह से उनका ब्राह्मणत्व नष्ट हो चुका है। उनकी तेजस्विता छूट चुकी है। केवल आचार्यत्व रह गया है। ब्राह्मणत्वविहीन आचार्यत्व पानी उतरी तलवार की तरह निरर्थक हो जाता है।''

अब महाराज चुप हो गए। बात ले-देकर फिर प्रतिस्पर्धा पर आई।

मैंने कहा, ''इसके लिए मैंने जो सोचा है, उसके अनुसार आपको एक लौह यंत्र

बनवाना पड़ेगा। एक बड़ी लौहयष्टि के ऊपरी सिरे पर एक मछली लगानी पड़ेगी। मछली के नीचे एक बड़ा चक्र चलता रहेगा। लौहयष्टि का निचला सिरा एक बड़ी लौह कड़ाही के मध्य से जुड़ा रहेगा। कड़ाही में तेल भरा रहेगा। तेल में मछली की परछाईं को देखकर लक्ष्य—मछली की आँख को वेधना होगा।''.

''और चक्र चलता रहेगा?'' महाराज का कुतूहल बीच में बोल पड़ा।

मैंने कहा, ''हाँ।''

''तब तो यह बड़ा कठिन है!''

''कठिन है, पर असंभव नहीं।'' मैंने कहा, ''हाँ, एक बात और। इसके लिए धनुष भी विशेष रहेगा। वह भी लौह का होगा और उसकी प्रत्यंचा भी लौह तंतु की होगी।'' मैंने बताया—''पहले योद्धा को धनुष चढ़ाना होगा, फिर लक्ष्य-वेधन करना होगा।''

''तब तो हो चुका कृष्णा का विवाह!'' महाराज बोले।

''मैंने कहा न कि आप हर बात पर शंका करते हैं। आप अपनी इस प्रवृत्ति को तिलांजलि दीजिए, अन्यथा सफलताएँ भी आप पर शंका करेंगी।''

महाराज क्षण भर शांत रहे, फिर अपनी प्रकृति के अनुसार बोले, ''यदि कोई लक्ष्यवेध न कर सका तो?''

''आप प्रयत्न तो कीजिए। फल की चिंता मुझपर छोड़िए।'' मेरे इतना कहते ही पांचाली की मुसकराती दृष्टि ने मुझे बड़ी आत्मीयता से देखा।

जब मैं महाराज के कक्ष से निकला तब भी पांचाली मेरे साथ ही थी। बाहरी द्वार पर आते ही उसने बड़े कातर स्वर में पूछा, ''सचमुच कल आप चले जाएँगे?''

''सोचा तो यही है।'' मैंने मुसकराते हुए कहा और चल पड़ा।

फिर भी वह मुझे देखती रही। ऐसा लगा जैसे उसकी आँखों से निकलकर आत्मीयता की कोई अदृश्य डोर मुझे बाँधने की चेष्टा कर रही है।

□

पाँच
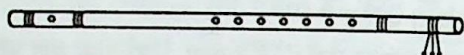
कांपिल्य से जब मैं बिदा हुआ तब राज समाज के साथ-साथ पूरे नगर ने मुझे भावभीनी बिदाई दी। महाराज द्रुपद ने मुझे पच्चीस घुड़सवार, चार रथ और कुछ गायें भेंट की थीं। उधर नगरवासी भी बहुत सी भेंटें लेकर आ गए। उन सबको स्वीकार करना और उन्हें साथ ले चलना मेरे लिए कठिन था।

मैंने प्रजाजनों को संबोधित करते हुए कहा, ''पांचालवासियो, मैं आपकी आत्मीयता से भावविभोर हूँ। आप सबके प्रेमाश्रुओं को ही बटोरने में मैं विह्वल हो गया हूँ। ऐसे में आपके ये सारे उपहार ले जा पाना मेरे लिए कठिन है; पर इन्हें अस्वीकार करने का न तो मुझमें साहस है और न सामर्थ्य ही। इन उपहारों के साथ आप जो अपनी आत्मीयता मुझे दे रहे हैं, वही हमारी अमूल्य निधि है। उन्हें हम सिर-माथे स्वीकार करते हुए बड़ी विनम्रता से निवेदन कर रहे हैं कि आप उपहार की वस्तुएँ ग्रहण करने का अभी आग्रह न करें। दूर की यात्रा और चातुर्मास सामने। मार्ग में कैसा पड़े, कैसा न पड़े! यों भी महाराज का प्रतिशोध, पांचाली के हृदय की धड़कन और शिखंडी का आशंकित भविष्य हमारे लिए कम भारी नहीं है; फिर भी हम आपकी आत्मीयता, प्रेमाश्रु और आशीर्वाद ले ही जा रहे हैं। यही हमारे पाथेय भी हैं और पथ-प्रदर्शक भी। फिर कुछ महीने बाद तो मैं आ ही रहा हूँ।''

इतना कहते-कहते मेरी दृष्टि सहज ही द्रौपदी की ओर गई। उसके नेत्रों में संतोष की एक आभा मुसकराती दिखी।

मैंने आग्रह किया कि तब तक इन उपहारों को आप हमारी धरोहर के रूप में अपने पास सुरक्षित रखें।

इतना सुनते ही पांचाल प्रजा के 'द्वारकाधीश की जय' के उद्घोष से गगन गूँज उठा।

यों तो ब्राह्म मुहूर्त में हमें यात्रा आरंभ कर देनी थी; पर लोगों का ममत्व ऐसा घेरे रहा कि सूर्योदय के बाद ही मैं कांपिल्य छोड़ सका। महाराज द्रुपद की दी हुई सैनिकों की टुकड़ी भी हमारे साथ थी। रथों की संख्या भी बढ़ गई। एकदम

करवीरपुर जैसी प्रयाण की स्थिति थी। अंतर इतना ही था कि उस समय शैव्या थी और इस समय मेरे साथ पांचाली की स्मृति। न शैव्या मेरी अपनी और न पांचाली। दोनों की तेजस्विता भी समान थी। दोनों को मैंने भगिनी के ही आसन पर बैठाया था।

यह लंबी यात्रा दिन-रात चलते हुए हम लोगों ने सात दिनों में समाप्त की। इंद्रदेव की कृपा थी, मार्ग में कहीं वर्षा नहीं हुई। जब हम नागकूट पहुँचे तब आकाश ने पसीजना आरंभ कर दिया था और राजभवन में पहुँचते-पहुँचते तो आसमान फट पड़ा।

हमारी यह यात्रा नागकूटवासियों के लिए तो अप्रत्याशित रही। यों महाराज ने ही हमें बुलाया था; पर वे सोच भी नहीं रहे थे कि हम इतने शीघ्र ही उनकी सेवा में उपस्थित हो जाएँगे। यद्यपि वे शय्याशायी रहे। उठ नहीं सकते थे, फिर भी वे शिविका में लेटकर किसी तरह मेरी अगवानी करने आ रहे थे।

यह सूचना मिलते ही मैं रथ से उतर पड़ा। अपने साथियों के साथ पैदल ही आगे बढ़ा। इस स्थिति की सूचना पाकर मेरी पितामही के भाई कर्कोटक अपने रथ से उतरकर पैदल ही मेरी ओर चले। मैंने देखा, वे भी काफी बूढ़े हो चुके हैं, सिर का एक बाल भी काला नहीं है। आकृति पर झुर्रियाँ उभर आई हैं। तब इनके पिता आर्यक की क्या स्थिति होगी!

हम लोगों की इस उमड़ती हुई आत्मीयता की लहर में अनेक नाग बहते चले आ रहे थे। स्त्री, पुरुष, बालक—जो जिस स्थिति में था वैसे ही। देखते-देखते जन-समुद्र उमड़ पड़ा। इनमें आत्मीयता तो थी ही, पर कुतूहल भी कम नहीं था। लगता है, यहाँ के हर प्रबुद्ध निवासी ने मेरा नाम सुना, पर देखा नहीं था।

भीड़ की आँखों का कुतूहल एकदम मुझपर गड़ा था। ऐसे व्यक्तित्व की उन्होंने कल्पना तक नहीं की थी, जिसपर मोर मुकुट तो उन्हें अपना लगे और मेरा सारा वेश पराया। जो सुनता, वही चला आ रहा था। भीड़ को नियंत्रित करने की कोई राजकीय व्यवस्था नहीं थी। वस्तुतः नागों के नगर प्रशासन के पास शांति और सुरक्षा के लिए अपना कोई संगठन नहीं था। फिर भी हमने अनुभव किया कि नाग हमारी अपेक्षा अधिक स्वशासित हैं।

मेरी पितामही मारिषा पहले ही दिवंगत हो चुकी थीं। कर्कोटक की वृद्धता हमने देखी ही थी। अब हम परम वृद्ध के शिविर की ओर बढ़ रहे थे। निकट पहुँचते ही मध्य मार्ग में शिविका उतार दी गई। हम लोग उनके चरण छूने के लिए लपके। प्रमातामह की बुझती आँखों में एक चमक आई। वे उठकर बैठने की चेष्टा में थोड़ा हिले-डुले; पर अशक्तता ने उन्हें उठने नहीं दिया और हम लोगों ने भी उनसे लेटे रहने का आग्रह किया। फिर भी उनके काँपते दोनों हाथ उठे ही थे। मैं उनकी छाती

पर ढुलक गया।

वे दोनों हाथों से मुझे दबाकर अश्रुपूरित नेत्रों से एकटक देखते रहे। ऐसा लगा जैसे वे गहरे धुँधलके में किसी भूले-बिसरे अतीत को अपनी ओर आता देख रहे हैं। उनकी रुक-रुककर धड़कती साँसों में मुझे हिलोरें लेते हुए ममता के सागर का गर्जन सुनाई पड़ा।

प्रमातामह की पकड़ ढीली पड़ते ही मैंने स्वयं को उनके वक्ष पर से उठाया। मैंने अनुभव किया कि मोह का यह बोझ उनके शरीर पर भारी पड़ रहा है; पर अब भी उनका मन भरा नहीं है। उनके काँपते ओठों ने कहा, "आखिर तुम तब मिले जब छाती से लगाने की भी मुझमें शक्ति नहीं रही।"

मैं कुछ बोला नहीं। वे कुछ क्षणों तक मुझे देखते रहे और मैं उनपर अपनी स्मिति की मंद ज्योत्स्ना बिखेरता रहा।

मैं समझ रहा था कि मुझे छोड़कर वे किसीको पहचान नहीं रहे हैं, अन्यथा उद्धव भी तो उनका वही था, जो मैं था; पर उस तक उनकी दृष्टि भी नहीं पहुँची।

इस बार उनकी शिविका हम लोगों ने स्वयं उठाई। ईषा (वह विशाल दंड, जिसे पकड़कर शिविका उठाई जाती है) के मुख पर मैं था और सबसे पीछे रक्ताक्ष तथा बीच में उद्धव, सात्यकि, श्वेतकेतु आदि। शिविका चली और भीतर से एक लड़खड़ाती आवाज आई—"जय पशुपतिनाथ की!"

कुछ दूर चलने पर यह शिविका हम लोगों से नागकूट के विशिष्ट नागों ने अपने कंधों पर ले ली।

यह राजभवन भी बड़ा विचित्र था—पूरा लकड़ी का बना हुआ। नारियल के खोल के समान लकड़ी की गोलाकार आकृतियाँ लोहे की कीलों से प्रवेश द्वार पर ठोंकी हुई ऐसी मालूम हो रही थीं जैसे इन कपाटों पर अनेक उरोज उग आए हों।

राजभवन में प्रवेश करते ही महिलाओं ने परंपरागत ढंग से हमारी आरती उतारी। हम अतिथिशाला में ससम्मान ठहराए गए। हमारे साथ पांचाल नरेश के घुड़सवार भी थे। उद्धव ने जिज्ञासा की—"ये लोग भी क्या हमारे साथ ही रहेंगे?"

मैं कुछ कहता, इसके पहले ही पीछे से आवाज आई—"क्या कीजिएगा, नागों की कोई व्यवस्थित सेना नहीं है और न उनका शिविर ही।"

यह आवाज छंदक की थी। वह यहाँ हमसे पहले ही आ गया था।

"तब हमारे अश्व कहाँ रखे जाएँगे?" साथ आए एक सैनिक ने पूछा।

"यहाँ इसकी भी समस्या है। अश्व-पालन अभी नागों में विकसित नहीं है।" छंदक बोला।

''क्यों ?''

''अश्व को यहाँ जीवनोपयोगी वस्तु नहीं मानते। आधुनिक युद्ध कला से अभी नाग परिचित नहीं हैं।'' छंदक बोला।

तब तक कर्कोटक के पुत्र, अर्थात् मेरे मातुल मणिभान पधारे। उन्होंने बताया कि अश्वों को गोशाला की बगल में बाँध दिया गया है।

मामाजी भी वय में मुझसे बहुत बड़े थे। उन्नत ललाट, प्रशस्त वक्ष और सुघड़ शरीरयष्टि की शिराओं में दौड़ती तेजस्विता सहज ही अपनी ओर आकर्षित करती थी। उन्होंने हमें सूचित किया—''आप लोग जलपान आदि से निवृत्त होकर पितामह से अवश्य मिल लीजिए।''

''उन्हींसे मिलने तो हम लोग यहाँ आए हैं।'' उद्धव बोला।

''क्या हम लोगों से मिलने नहीं ? अरे, हम भी आप लोगों के कुछ हैं।'' इतना कहते हुए मणिभान मुसकराए—''पर हम लोग तो आपसे मिलकर परम सौभाग्य का अनुभव करते हैं।''

उद्धव की आकृति पर लज्जा दौड़ गई। उसने अनुभव किया कि वह बोलने में चूक गया।

हम लोग जब प्रमातामह के कक्ष में पहुँचे तब वे कई उपधानों (तकिये) के सहारे श्लथ-से बैठे थे। हमें देखते ही उनकी बाँछें खिल गईं। अब मैंने उन्हें ध्यान से देखा। अस्थि-पंजर को छोड़कर एकदम झूल गई उनकी त्वचा प्राचीन ग्रंथों पर बँधे हुए उन जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों की याद दिलाती थी, जो खोलते ही फटने लगने की आशंका की धूल से ढके पड़े रहते हैं। आप विश्वास करें, उनकी स्थिति को देखकर शरीर के लिए वस्त्र की उपमा मेरे मन में बैठ गई थी और वही कालांतर में अर्जुन के सामने 'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय' के रूप में अवतरित हुई थी।

किसी प्राचीन मंदिर के भग्नावशेष की तरह पवित्र और इतिहास की एक लंबी परंपरा को अपनी धड़कनों में समाए प्रमातामह हम सबके लिए आकर्षण एवं सम्मान के केंद्र थे। हम सब उन्हें घेरे हुए खड़े थे।

फिर मैंने अपने साथियों का धीरे-धीरे परिचय कराया। उद्धव की बारी आते ही वे एकदम खिल उठे—''अरे, यह तो हमारा ही नाती है! मैंने तो इसे पहचाना ही नहीं।'' फिर उसका हाथ पकड़कर उसे बहुत देर तक देखते रहे।

''मुझे तो आशा ही नहीं थी कि इस जीवन में तुम लोगों से भेंट हो सकेगी।'' और काँपती आवाज में बोलते गए—''लगता था, तुम लोगों के मिलने की व्यग्रता लिये हुए ही मुझे यह शरीर छोड़ना पड़ेगा।''

''फिर क्या होता ? मैं तो आपसे मिलता ही; क्योंकि हमारा-आपका मिलन

केवल शारीरिक मिलन ही नहीं है।'' मैंने कहा।

मेरे कथन पर वे गंभीर हो गए। शायद वे वह समझ नहीं पाए, जो मैं कहना चाहता था।

फिर उन्होंने अपनी बात जारी रखी—''अब सारी व्यग्रता तुम्हें सौंपकर मुक्त हो रहा हूँ।''

मैं अब भी मौन था। समझने की चेष्टा कर रहा था कि आखिर प्रमातामह की व्यग्रता क्या है।

वे स्वयं बोले, ''जब तक जीवन है तब तक मोह है, ममता है, माया है—और इसीसे मैं परेशान हूँ। कभी अपने परिवार के संबंध में सोचता हूँ और कभी प्रजाजनों की ओर ध्यान जाता है। लगता है, इन सभी का अस्तित्व गंभीर संकट में है।''

''क्यों?''

वे कुछ बोलें, इसके पहले ही उन्होंने स्वर्ण पात्र में रखे जल की ओर संकेत किया। उनका गला सूखने लगा था। कर्कोटक ने उनके गले में जल की कुछ बूँदें उतारीं। फिर वे बोलने लगे थे—

''बात यह है कि हस्तिनापुर और पांचाल तो हमें पहले से ही परेशान कर रहे थे, अब चेकितान भी उन्हींमें सम्मिलित हो गया।'' इतना कहते-कहते वे आवेश में आने लगे। मैंने बड़े प्रेम से शांत रहने का उनसे आग्रह किया।

''अब आप ही बताइए कि बात क्या है?''

''अब आपको कष्ट करने की आवश्यकता नहीं है।'' मैंने कर्कोटक से कहा।

कर्कोटक ने जो बताया, उसका सारांश था कि जब चाहते हैं तब पांचाल और हस्तिनापुर हमारे नाग प्रदेश में घुस आते हैं। हमारी गायें हर ले जाते हैं। हमारी भूमि का अधिग्रहण कर लेते हैं।

''आप लोग उनका विरोध नहीं करते?''

''कैसे करें, उनके पास व्यवस्थित सेना है, अश्वारोही हैं, द्रुतगामी रथ हैं। उनके आक्रमण की आशंका से ही नागकूटवासी अपने घरों को छोड़कर जंगल में भाग जाते हैं। यदि कोई भूल-भटककर पकड़ा जाता है तो उसे सब दास बनाकर ले जाते हैं।''

मुझे तुरंत याद आया कि पांचाली की जो सेविकाएँ मैंने देखी थीं, वे सब नाग युवतियाँ ही थीं। बड़ा तीखा सौंदर्य था उनमें। ऐसी नाग युवतियाँ यदि दुर्योधन के वासनागृह की शोभा बढ़ा रही हों तो इसमें आश्चर्य क्या!

पर मैंने बातों का सिलसिला नहीं छोड़ा—''ऐसे आक्रामकों का सामना करने के लिए आपके यहाँ कोई व्यवस्था नहीं?''

''मैंने बताया न कि हम असमर्थ हैं।'' और फिर कर्कोटक ने दूसरी ओर संकेत किया—''अब तक तो हम इन्हीं दो का आक्रमण झेलते रहे; लेकिन अब चेकितान भी झपट्टा मारता है। जब से दुर्योधन ने उसे पराजित कर उसका राज्य अपने राज्य में मिला लिया है तब से वह भूखे भेड़िए-सा हमीं पर तो लपकता है और हमारे विशाल भू-प्रदेश पर अधिकार कर अपना एक नया राज्य स्थापित करना चाहता है।''

हम सब चुप हो गए। निदान तो यही था कि ऐसे आक्रमणों का सामना करने के लिए हम कुछ स्थायी व्यवस्था करें; पर यह तो दीर्घकालीन योजना होगी। हमें तो कोई समाधान तुरंत निकालना है।

हमारी इस गंभीरता का प्रभाव हमारे इस बूढ़े प्रमातामह पर कुछ विपरीत-सा पड़ा। उन्हें अपनी तरह हम भी निरुपाय लगे। उनकी लड़खड़ाती आवाज ने पूछा, ''आपको भी मेरी तरह कोई मार्ग नहीं सूझ रहा है क्या?''

''नहीं-नहीं, ऐसी बात नहीं है।'' मैंने मुसकराते हुए बड़े सहजभाव से कहा, ''मैं तो सोच रहा था कि आपने मुझे पहले क्यों नहीं बुलाया!''

''सोचा तो हमने कई बार, पर संयोग ही नहीं बन पाता था। फिर तुम्हारा एक स्थान पर स्थिर होना भी तो कठिन है। हम खोजते भी तो कहाँ खोजते?''

''खोजी तो वह वस्तु जाती है, जो खो गई हो। मैं तो आपके लिए कभी खोया ही नहीं।'' मैंने कहा। मुझे फिर लगा कि मेरे प्रमातामह ने पुनः मेरी बात नहीं समझी। वे अत्यंत सरल व्यक्ति थे। वे सही अर्थों में प्रकृति के साहचर्य में पली उस नाग जाति का प्रतिनिधित्व करते थे, जिसमें न छल था, न प्रपंच। शांतिप्रियता इतनी कि झगड़े-झंझट से दूर। मामूली मुठभेड़ ही हुआ करती थी। और उनमें भी वही पत्थर, लकड़ी और धातु के परंपरागत हथियार काम आते थे। यद्यपि ये धनुष-बाण का भी उपयोग करते थे, इनके निशाने अचूक थे; पर इनके धनुष-बाण युगों पुराने थे। वस्तुतः समय की आधुनिकता ने उनका स्पर्श नहीं किया था—न रहन-सहन में, न वेशभूषा में, न जीवन शैली में।

उन्होंने अपनी बात जारी रखी—''जब तुमने द्वारका की स्थापना की थी तब कर्कोटक एक सिंह द्वारा घायल कर दिया गया था, मणिभान को भी ज्वर था। अतएव हमने अपना एक दूत भेजा था। उसे भी तुम्हें बुलाने के लिए निर्देश देने वाला था। पर मेरे अपने ही लोगों ने कहा कि इस समय तो वह स्वयं ही परेशान होंगे। अभी-अभी नए राज्य की स्थापना की है। समस्याओं में उलझना स्वाभाविक है। उन्हें बुलाना इस समय उचित नहीं होगा। तब मैं मौन रह गया।''

कुछ रुककर वे पुनः बोलने लगे—''यदि तुम्हारा वह मित्र…'' फिर लगा जैसे

केवल शारीरिक मिलन ही नहीं है।'' मैंने कहा।

मेरे कथन पर वे गंभीर हो गए। शायद वे वह समझ नहीं पाए, जो मैं कहना चाहता था।

फिर उन्होंने अपनी बात जारी रखी—''अब सारी व्यग्रता तुम्हें सौंपकर मुक्त हो रहा हूँ।''

मैं अब भी मौन था। समझने की चेष्टा कर रहा था कि आखिर प्रमातामह की व्यग्रता क्या है।

वे स्वयं बोले, ''जब तक जीवन है तब तक मोह है, ममता है, माया है—और इसीसे मैं परेशान हूँ। कभी अपने परिवार के संबंध में सोचता हूँ और कभी प्रजाजनों की ओर ध्यान जाता है। लगता है, इन सभी का अस्तित्व गंभीर संकट में है।''

''क्यों?''

वे कुछ बोलें, इसके पहले ही उन्होंने स्वर्ण पात्र में रखे जल की ओर संकेत किया। उनका गला सूखने लगा था। कर्कोटक ने उनके गले में जल की कुछ बूँदें उतारीं। फिर वे बोलने लगे थे—

''बात यह है कि हस्तिनापुर और पांचाल तो हमें पहले से ही परेशान कर रहे थे, अब चेकितान भी उन्हींमें सम्मिलित हो गया।'' इतना कहते-कहते वे आवेश में आने लगे। मैंने बड़े प्रेम से शांत रहने का उनसे आग्रह किया।

''अब आप ही बताइए कि बात क्या है?''

''अब आपको कष्ट करने की आवश्यकता नहीं है।'' मैंने कर्कोटक से कहा।

कर्कोटक ने जो बताया, उसका सारांश था कि जब चाहते हैं तब पांचाल और हस्तिनापुर हमारे नाग प्रदेश में घुस आते हैं। हमारी गायें हर ले जाते हैं। हमारी भूमि का अधिग्रहण कर लेते हैं।

''आप लोग उनका विरोध नहीं करते?''

''कैसे करें, उनके पास व्यवस्थित सेना है, अश्वारोही हैं, द्रुतगामी रथ हैं। उनके आक्रमण की आशंका से ही नागकूटवासी अपने घरों को छोड़कर जंगल में भाग जाते हैं। यदि कोई भूल-भटककर पकड़ा जाता है तो उसे सब दास बनाकर ले जाते हैं।''

मुझे तुरंत याद आया कि पांचाली की जो सेविकाएँ मैंने देखी थीं, वे सब नाग युवतियाँ ही थीं। बड़ा तीखा सौंदर्य था उनमें। ऐसी नाग युवतियाँ यदि दुर्योधन के वासनागृह की शोभा बढ़ा रही हों तो इसमें आश्चर्य क्या!

पर मैंने बातों का सिलसिला नहीं छोड़ा—''ऐसे आक्रामकों का सामना करने के लिए आपके यहाँ कोई व्यवस्था नहीं?''

"मैंने बताया न कि हम असमर्थ हैं।" और फिर कर्कोटक ने दूसरी ओर संकेत किया—"अब तक तो हम इन्हीं दो का आक्रमण झेलते रहे; लेकिन अब चेकितान भी झपट्टा मारता है। जब से दुर्योधन ने उसे पराजित कर उसका राज्य अपने राज्य में मिला लिया है तब से वह भूखे भेड़िए-सा हमीं पर तो लपकता है और हमारे विशाल भू-प्रदेश पर अधिकार कर अपना एक नया राज्य स्थापित करना चाहता है।"

हम सब चुप हो गए। निदान तो यही था कि ऐसे आक्रमणों का सामना करने के लिए हम कुछ स्थायी व्यवस्था करें; पर यह तो दीर्घकालीन योजना होगी। हमें तो कोई समाधान तुरंत निकालना है।

हमारी इस गंभीरता का प्रभाव हमारे इस बूढ़े प्रमातामह पर कुछ विपरीत-सा पड़ा। उन्हें अपनी तरह हम भी निरुपाय लगे। उनकी लड़खड़ाती आवाज ने पूछा, "आपको भी मेरी तरह कोई मार्ग नहीं सूझ रहा है क्या?"

"नहीं-नहीं, ऐसी बात नहीं है।" मैंने मुसकराते हुए बड़े सहजभाव से कहा, "मैं तो सोच रहा था कि आपने मुझे पहले क्यों नहीं बुलाया!"

"सोचा तो हमने कई बार, पर संयोग ही नहीं बन पाता था। फिर तुम्हारा एक स्थान पर स्थिर होना भी तो कठिन है। हम खोजते भी तो कहाँ खोजते?"

"खोजी तो वह वस्तु जाती है, जो खो गई हो। मैं तो आपके लिए कभी खोया ही नहीं।" मैंने कहा। मुझे फिर लगा कि मेरे प्रमातामह ने पुनः मेरी बात नहीं समझी। वे अत्यंत सरल व्यक्ति थे। वे सही अर्थों में प्रकृति के साहचर्य में पली उस नाग जाति का प्रतिनिधित्व करते थे, जिसमें न छल था, न प्रपंच। शांतिप्रियता इतनी कि झगड़े-झंझट से दूर। मामूली मुठभेड़ ही हुआ करती थी। और उनमें भी वही पत्थर, लकड़ी और धातु के परंपरागत हथियार काम आते थे। यद्यपि ये धनुष-बाण का भी उपयोग करते थे, इनके निशाने अचूक थे; पर इनके धनुष-बाण युगों पुराने थे। वस्तुतः समय की आधुनिकता ने उनका स्पर्श नहीं किया था—न रहन-सहन में, न वेशभूषा में, न जीवन शैली में।

उन्होंने अपनी बात जारी रखी—"जब तुमने द्वारका की स्थापना की थी तब कर्कोटक एक सिंह द्वारा घायल कर दिया गया था, मणिभान को भी ज्वर था। अतएव हमने अपना एक दूत भेजा था। उसे भी तुम्हें बुलाने के लिए निर्देश देने वाला था। पर मेरे अपने ही लोगों ने कहा कि इस समय तो वह स्वयं ही परेशान होंगे। अभी-अभी नए राज्य की स्थापना की है। समस्याओं में उलझना स्वाभाविक है। उन्हें बुलाना इस समय उचित नहीं होगा। तब मैं मौन रह गया।"

कुछ रुककर वे पुनः बोलने लगे—"यदि तुम्हारा वह मित्र··" फिर लगा जैसे

वह उसका नाम याद कर रहे हैं।

तब तक पीछे से छंदक बोला, ''हाँ, नानाजी, मैं यहीं खड़ा हूँ।''

पहली बार एक विवशता भरी हँसी उस वृद्ध की आकृति पर उभरी—''देखो, मैंने तुम्हें देखा ही नहीं। मेरी दृष्टि इतना भी काम नहीं करती।...अब करना ही क्या है? एक दिन मृत्यु की गोद में चुपचाप ढुलक जाना है।''

उनके स्वर से मुझे स्पष्ट लगा कि प्रमातामह अपनी क्षेत्रीय समस्याओं से उतने चिंतित नहीं हैं, जितने मृत्यु से आक्रांत हैं।

मैंने मुसकराते हुए बड़ी गंभीरता से कहा, ''आपने सारी समस्याएँ मुझपर छोड़ दी हैं, पर एक समस्या आप मुझपर छोड़ नहीं पाए।''

वे गंभीर हुए और सोचने लगे कि ऐसी समस्या क्या हो सकती है।

मैंने तुरंत कहा, ''मृत्यु की समस्या।''

वे हँसने लगे। उनकी आकृति की त्वचा के खोल के नीचे पड़ी सारी तीलियाँ चरमराईं—''यह क्या कहते हो, वत्स? मृत्यु तो मेरी अपनी समस्या है। यह तुमपर कैसे छोड़ सकता हूँ?''

''वस्तुतः मृत्यु कोई समस्या नहीं है। हम सब उसे समस्या समझते हैं, यही सबसे बड़ी समस्या है। मृत्यु तो एकमात्र द्वार है, मार्ग नहीं। मार्ग तो जीवन है। इस मार्ग से ही जीवन आया है और इसी द्वार से वह पुनः नए जीवन में प्रवेश करेगा। फिर द्वार समस्या बने, बात कुछ समझ में नहीं आती। समस्या तो मार्ग को बनना चाहिए, जीवन को बनना चाहिए।''

वे अब भी मौन मेरी ओर देखते रहे; जैसे मुझे समझने की चेष्टा कर रहे हों।

मैं कहता गया—''आप मृत्यु के द्वार पर खड़े हैं। नए जीवन में प्रवेश करेंगे। इसमें दुःख क्या है? हाँ, मृत्यु के द्वार में यह शरीर नहीं प्रवेश करेगा। शरीर तो उस द्वार से आया ही नहीं है। यह तो यहीं का है और यहीं के तत्त्वों से बना है। उसे उतारकर यहाँ के तत्त्वों को देना पड़ेगा। कोई भी भद्र पुरुष किसीकी वस्तु लेकर जाता नहीं। वह जिसकी है, उसे देकर ही जाता है।'' इतना कहकर मैं हँसने लगा।

उनके भी कुम्हलाए अधरों पर स्मिति की एक क्षीण रेखा उग आई।

□

वर्षा अपने पूर्ण यौवन पर थी। आज दो दिनों से फुहार पड़ रही थी। यह भीगा सवेरा उस नायिका के समान मादक और सुहावना था, जिसका आँचल तो हवा में लहरा रहा हो, पर जिसका झीना वस्त्र उसके शरीर से लिपटकर एकाकार हो गया हो। इस ऋतु की जीवंतता का अनुभव मुझे या तो वृंदावन में हुआ था या फिर नागकूट के इस अरण्य प्रदेश में हुआ।

जब फुहार थमी, दिन कुछ और उग आया, तब मेरे सभी मित्र मेरे कक्ष में आ गए; पर उनमें उद्धव नहीं था। मैंने तत्क्षण उसके संबंध में जिज्ञासा की। पता चला कि वह मुँहअँधेरे ही कक्ष से निकल गया था।

"इस वर्षा में भी?"

"लगता तो यही है।" सात्यकि ने कहा, "जब से वह यहाँ आया है तब से वह अधिकतर हम लोगों के साथ नहीं रहता। और यदि रहता भी है तो कटा-कटा-सा, कुछ खोया-खोया-सा। हम लोग तो सोचते थे कि वह आपके साथ रहता होगा।"

"मेरे साथ! मेरे साथ तो वह इधर कई दिनों से नहीं है। हाँ, भोजन आदि अवसरों पर बस उससे भेंट हो जाती है।...आखिर उसकी उदासी का कारण क्या हो सकता है?"

"कारण बस एक ही हो सकता है, इस नाग प्रदेश की हवा।" छंदक ने कहा और फिर हँसते हुए बोला, "इस प्रदेश की हवा में जब हमारे पूर्वज भी अपना रास्ता भूल गए, तो फिर हमारी क्या हस्ती है!"

छंदक का सीधा व्यंग्य मेरे पितामह पर था। मेरी पितामही यहीं की नागपुत्री थीं। मैंने छंदक को उत्तर देते हुए कहा, "हमारे पूर्वज यहाँ रास्ता नहीं भूले थे वरन् उन्होंने अपना रास्ता खोज लिया था।"

"वैसे ही उद्धव भी अपना रास्ता खोज रहा होगा।" छंदक बोला और हम सब हँस पड़े।

हँसी थमते ही मैंने कहा, "चाहे जो हो, पर हमें एक-दूसरे का ध्यान रखना चाहिए।"

"मैंने परसों की रात मणिभान को उनके कक्ष में देखा था।" रक्ताक्ष ने कहा, "कक्ष में किसी नारी के होने का अनुमान लग रहा था; पर मैंने झाँका नहीं।"

"अरे मित्र, झाँककर देख ही लेते तो क्या होता?" सात्यकि बोला।

रक्ताक्ष की आकृति पर लज्जा की अरुणिमा दौड़ गई। वह मौन हो गया। वास्तव में वह हम लोगों के बीच चुप ही रहता है। वह भूल नहीं पाता कि मैं एक सामान्य सैनिक हूँ और इन लोगों से मेरी काफी दूरी है। इस दूरी को पाटना तो दूर, उसने कभी इसे लाँघने की भी चेष्टा नहीं की।

मैंने हँसते-हँसते उसे और खुलने के लिए कहा, "बात तो अधूरी रह गई, रक्ताक्ष! यदि तुमने और कुछ देखा होता तो बात पूरी हो जाती।"

"देखा तो नहीं, महाराज!" रक्ताक्ष अधरों के बीच में ही मुसकराया—"पर जो कुछ सुना है, वह भी अधूरा ही है।"

"क्या सुना है?"

"उद्धव भैया मणिभान से कह रहे थे कि इस संबंध में मैं कोई निर्णय नहीं ले सकता। निर्णय तो भैया को ही करना है। मैंने उनके कक्ष से गुजरते हुए बस इतना ही सुना था; यद्यपि सुनने में मेरी कोई रुचि नहीं थी।"

"अरे मित्र, रुचि पैदा करो। इतिहास स्वयं को दुहराने जा रहा है।" छंदक ने इस ढंग से कहा कि लोग फिर हँस पड़े।

इसी बीच उद्धव ने अचानक प्रवेश किया। उसके भीगे व्यक्तित्व को वायु के झोंकों ने काफी सुखा दिया था। फिर भी ऐसा लग रहा था कि वह कहीं से नहाकर आया हो।

उसे देखते ही छंदक का व्यंग्य बाण चला—"लगता है, कहीं से डुबकी लगाकर आए हो!"

फिर एक बार हँसी उभरी।

उद्धव उस हँसी में शामिल नहीं हुआ; वरन् उसे दूसरी ओर ढकेलते हुए बड़े सामान्य ढंग से बोला, "आप सभी अपना कक्ष छोड़कर चल दिए। मैं आप लोगों को ढूँढ़ते हुए यहाँ आ गया।"

"और हम लोग तुम्हें खोजते हुए यहाँ आ गए। आज मुँहअँधेरे ही तुम बारिश में किधर निकल गए थे?" सात्यकि बोला।

"डुबकी लगाने।" छंदक ने धीरे से कहा और फिर लोग हँस पड़े।

इसी बीच बंद द्वार के कपाट पर हलकी सी खड़खड़ाहट हुई। लगा जैसे कोई द्वार के दराज से झाँक रहा है। मैंने तुरंत किवाड़ खुलवाया। एक अनिंद्य सुंदरी वहाँ खड़ी थी।

मैंने भीतर बुलाया और पूछा, "आप किससे मिलना चाहती हैं?"

उसकी बक दृष्टि उद्धव की ओर मुड़ी।

और छंदक बोल पड़ा—"देखिए, यह भी उद्धव को खोजते हुए यहीं चली आई है।"

पर इस समय किसीकी हँसी उभरी नहीं। लोग भीतर-ही-भीतर खिलखिलाकर रह गए।

अब हर व्यक्ति की दृष्टि उस सुंदरी पर थी। नपी-तुली सुघड़ शरीरयष्टि में ऐसी चंचल और मादक आँखों पर सिर के घने काले बाल—मानो काम की दो मछलियों को पकड़ने के लिए मेघों का एक टुकड़ा आकाश से उसके सिर पर उतर आया हो।

लोगों को उसे विस्फारित नेत्रों से देखते हुए उद्धव तुरंत बोल पड़ा—"यह मामाजी की पुत्री है—पल्लवी।"

"मैं तो तुम्हें पहचानता हूँ।" मैंने कहा।

वह कुतूहल से मुझे देखने लगी।

मैंने उससे पूछा, "उस दिन जब हमारा रथ आ रहा था, तब तू चिल्लाती हुई जंगल में क्यों भाग गई थी?"

उसने सकपकाई आँखों से उद्धव की ओर देखा और बड़े धीरे से बोली, "उस समय मैं कहाँ थी?"

"तू नहीं थी?" मैंने पुनः जोर दिया।

"नहीं।"

"तब मुझे भ्रम हो रहा है?"

"हो सकता है। पुष्पवी रही होगी।" उद्धव ने सँभाला—"पुष्पवी इसकी सहोदरा है और एकदम इसके जैसी है। दोनों जुड़वाँ पैदा हुई हैं।"

"तब तो भ्रम होना स्वाभाविक है।" छंदक मुसकराया और उद्धव पर दूसरा व्यंग्य बाण चलाया—"यदि ऐसा आपको होगा तो खतरा ही समझिए।"

"चाहे खतरा हो या जो हो।...मैं भी भ्रम में पड़ जाता हूँ।" उद्धव बोला और सब मुसकराने लगे।

हमारी भाषा पूरी न समझते हुए पल्लवी यह तो समझ ही रही थी कि सारी बातें उन्हींके संबंध में हो रही हैं। नारी-सुलभ लज्जा से वह गड़ी जा रही थी। यह वातावरण उसे और बोझिल हो जाए, मैं यह नहीं चाहता था। मैंने छंदक को आँखों से मौन रहने का संकेत किया। बातों का सिलसिला दूसरी ओर बढ़ा—"चाहे तुम रही हो या पुष्पवी, मैं अभी तक यह सोच नहीं पाया कि वह हम लोगों को देखकर चिल्लाती हुई भाग क्यों गई?"

"बात यह है कि जब हम लोग किसी सेना को अपने प्रदेश में आते हुए देखते हैं, तब चिल्लाते हुए जंगल में भाग जाते हैं।" पल्लवी ने बताया—"जिससे दूसरे भी सावधान हो जाएँ और हम भी सुरक्षित रहें; क्योंकि वे सैनिक हमें पकड़कर उठा ले जाते हैं।"

"यह तो बड़ा अनर्थ है! कभी ऐसी घटना तुम्हारे साथ भी घटी है?"

"यदि मेरे साथ घटी होती तो मैं यहाँ कैसे रह जाती?" एक निर्दोष मुसकराहट उसके अधरों पर उग गई। उसने बताया—"मेरी कई सखियाँ ऐसे हर ली गई हैं।" वह थोड़ा सा गंभीर हुई, फिर सहजभाव से बोली, "पर यदि मैं होती तो आपको देखकर कभी न भागती।"

"क्यों?" मैंने मुसकराते हुए पूछा।

"क्योंकि आप तो बहुत कुछ हम लोगों जैसे लगते हैं।" फिर उसने कुछ

विस्तार से बताया—"हमारे यहाँ भी लोग सिर पर मोर पंख बाँधते हैं। आप भी मोर मुकुट पहने हैं। आपके हाथ में अस्त्र नहीं दिखता और दिखती है वंशी। हम लोग भी वंशी खूब बजाते हैं।"

मैंने अनुभव किया कि ये लोग जीवन को जीना जानते हैं; पर आज की स्थिति में उसे सुरक्षित रखना नहीं जानते और यही इनकी मूल समस्या है।

फिर भी मैंने बातों के क्रम को टूटने नहीं दिया। मैंने पल्लवी से पूछा, "हाँ, तो तू यहाँ कैसे आई?"

"हम लोग लुका-छिपी खेल रहे थे। इन्हींको खोजती हुई यहाँ चली आई।" उसने उद्धव की ओर संकेत करके कहा।

"इन्हींको! क्या तू इनका नाम नहीं जानती?"

पल्लवी के सलज्ज नेत्र उद्धव की ओर उठे। फिर उसने धीरे से कहा, "जानती हूँ।"

"तब तू इन्हें इनके नाम से क्यों नहीं बुलाती?"

वह मुसकराई। फिर उसकी दृष्टि नीची हो गई। मैंने देखा कि उससे अधिक तो उद्धव गड़ा जा रहा था।

फिर मैंने कहा, "जानती हो, यह तुम्हारा भाई है!"

"अभी तक तो हैं ही।"

"इसका क्या यह तात्पर्य है कि आगे यह भाई नहीं रहेगा?"

पल्लवी कुछ नहीं बोली। उसकी दृष्टि जो नीचे गड़ी थी, वह ऊपर उठ नहीं पाई। और उद्धव पर तो मानो हजारों घड़े पानी पड़ गया था।

मेरे मन में अभी वह उद्धव ब्रासी नहीं पड़ा था, जो कभी शैव्या के सौंदर्यजाल में फँसा था। यहाँ भी उसके चारों ओर ऐसे ही जाल बिछा दिए गए थे। यह उसके व्यक्तित्व की सबसे बड़ी दुर्बलता थी। मुझे कुछ ऐसा लगता है कि गोकुल में भी गोपियों के तर्क इतने प्रभावी नहीं थे, जितनी उनकी प्रेमिल सौंदर्य की सहजता। तभी तो वह मथुरा न आकर वहीं रह जाना चाहता था।

इस समय मैं इस प्रसंग को ज्यादा बढ़ाना नहीं चाहता था। मैंने पल्लवी से कहा, "इसे खोजने आई थी न? अब तो यह मिल गया। ले जाओ इसे।"

वह तुरंत उठी और उद्धव का हाथ पकड़कर ले चली। उद्धव भी एक निरीह गाय की तरह उसकी प्रीति डोर से बँधा हुआ उसके पीछे चला गया।

□

मृत्यु से साक्षात्कार कर रहे व्यक्ति के लिए जीवन का मोह अधिक हो जाता है। जीवन जब छूटने को होता है तो वह और अधिक चिपकता है। यह स्थिति उतनी

दु:खद नहीं होती, जितनी पीड़ादायक होती है। ऐसी स्थिति में उसके चिंतन को आंदोलित करने की आवश्यकता पड़ती है। इसीलिए मैं अपने प्रमातामह से एक बार फिर मिलना चाहता था। मैंने अनुभव किया है कि मुझसे मिलकर उन्हें बड़ी शांति मिलती है।

संध्या हो चली थी। मेघ छँट गए थे। चातुर्मास का आरंभ था। वर्षा ऋतु एक बालिका की तरह कभी किलकारी भरती आती थी और कभी भागकर छिप जाती थी। इस समय भी संध्या की अरुणिमा ओढ़े छोटे-छोटे मेघशावक आकाश में इधर-उधर बिखरे पड़े थे।

मैं तैयारी कर ही रहा था कि मेरे मामा मणिभान पधारे।

''मैं अभी आपके पितामह के यहाँ ही चल रहा था।'' मैंने कहा।

''तब चलिए।'' उनकी ध्वनि से ऐसा लगा जैसे वह किसी और काम से आए हों।

मैं अकेले ही उनके साथ निकल पड़ा और पैदल ही चला। मेरा मोर मुकुट और पीतांबर के कटिबंध में खोंसी हुई वंशी नागकूटवासियों के आकर्षण का कारण थी। मार्ग में जो मिलता, वही उस ओर मुसकराकर संकेत करता दिखाई देता।

मैंने मणिभान से बिना किसी भूमिका के बात की—''लगता है, आप किसी प्रयोजन से आए थे और मेरे साथ चल पड़े।''

मामाजी मौन ही रहे। पर उनकी मुसकराहट ने मेरे अनुमान का समर्थन किया।

''तब कहिए, मेरे योग्य क्या सेवा है?''

मणिभान ने बड़े संकोच से कहा, ''पल्लवी के विवाह का प्रस्ताव लेकर आया हूँ।''

''पल्लवी के विवाह का!'' मैं कुछ समझ तो रहा था, पर कुछ सोचने लगा।

''मैंने उद्धव से बातें की थीं। उसका कहना था कि सारा निर्णय भैया करेंगे।'' मुझे अचानक रक्ताक्ष की दी हुई सूचना याद आई।

''पहले आप देखिए कि इस प्रस्ताव से होनेवाले वर-वधू सहमत हैं?''

''सहमत हैं, तभी न मैं तुम्हारे पास आया हूँ!'' मामाजी ने बताया—''दोनों एक-दूसरे को बहुत चाहते हैं। यदि तुमने अनुमति नहीं दी तो दो प्रेमी हृदयों को बड़ा आघात लगेगा।''

''किसीको आघात पहुँचाना मेरा काम नहीं है। अभी हमें यहाँ आए सात दिन भी नहीं हुए और दोनों आकर्षण की डोर से इतने जकड़ गए!'' मैंने मुसकराते हुए कहा।

''यही तो मुझे भी आश्चर्य है।'' मणिभान बोले, ''पल्लवी और पुष्पवी—दोनों

उसकी ओर आकृष्ट हैं; पर पल्लवी तो एक क्षण भी उसे छोड़ना नहीं चाहती।''

''हाँ, मैं भी ऐसा ही अनुभव करता हूँ। भोजन के समय भी उद्धव बहुधा दिखाई नहीं देता।'' मैंने कहा और पूछा, ''पल्लवी तो मेरी बहन लगेगी और उद्धव की भी। क्या बहन से विवाह हो सकता है?''

मणिभान ने बताया—''हमारे यहाँ मामा की लड़की से विवाह सबसे पवित्र विवाह माना जाता है।''

मैं गंभीर हो सोचने लगा कि विवाह गुड्डे-गुड़ियों का खेल तो नहीं। फिर मैं उद्धव के माता-पिता की राय लिये बिना कुछ कर डालूँ, तो वे लोग क्या कहेंगे? उन्होंने तो उसे भेजा था वारणावत का समाचार लाने और वह पड़ गया परिणय के चक्कर में। क्या सोचेंगे वे?…पर मैं इस स्थिति को अस्वीकार करने की दशा में नहीं था। इसे टालने के अतिरिक्त मेरे पास कोई चारा नहीं था।

''ठीक है, मामाजी, आप कहते हैं तो विचार करूँगा; पर अभी तो चातुर्मास है। हम लोगों के यहाँ चातुर्मास में विवाह नहीं होता।'' मैंने कहा।

''पर हम लोग तो इसे बड़ा हरा-भरा दिन मानते हैं। हमारे यहाँ विवाह आदि शुभ कार्य इन्हीं दिनों में होते हैं। इसलिए वर्षा ऋतु हमारे यहाँ बाधक नहीं होती, वरन् इसकी मादकता इस शुभ कार्य में सहायक ही होती है।''

इतना कहते ही उन्हें हँसी आ गई और मैं भी हँसने लगा।

अब मैं प्रमातामह के आवास पर पहुँच चुका था। मुझे देखते ही वहाँ खड़े एक व्यक्ति से वे बोल पड़े—''लो, वह आ गया।''

फिर उन्होंने मुझे बताया कि ये तुम्हारे ही बारे में पूछ रहे थे।

कर्कोटक वहाँ पहले से उपस्थित थे। उन्होंने बताया कि आगंतुक चेकितान का भेजा गया दूत है। चेकितान तुमसे मिलना चाहते हैं।

वह नाग युवक मुसकराने लगा। यों हर स्थिति में मुसकराते रहना नाग जाति की सामान्य विशेषता है।

''आप कहीं छिप सकते हैं! ज्यों ही आपने इस प्रदेश में पग रखा, आपकी सुगंधि महाराज (चेकितान) को लग गई।'' उसने बड़े सहजभाव से कहा।

इसके बाद उससे मैंने कई प्रश्न किए और यह भी पूछा कि तुम लोग नाग हो और चेकितान यादव नायक। तुम्हें उसने अपना दूत कैसे बनाया?

उसने जो कुछ बताया, उसका सारांश था कि 'इस समय चेकितान के विश्वस्त सेवकों में अधिकांश नाग हैं; क्योंकि हम नागों का अपना एक चरित्र है। हम किसीको धोखा नहीं देते। जहाँ तक होता है, सत्य बोलते हैं और अपनी जिम्मेदारी पूरी ईमानदारी से निभाते हैं।' इसी क्रम में उसने यह भी बताया कि 'जब हमारे प्रदेश

पर महाराज चेकितान का आक्रमण हुआ था तब हम बंदी बना लिये गए थे। हम यहीं के रहनेवाले हैं।'

अब तक चुप खड़े कर्कोटक बोल पड़े—"इसीलिए तो इसके स्वामी ने यहाँ भेजा है। यदि कोई यादव आता तो वह या तो हमारे बाण का शिकार होता या हम उसे पकड़कर किसी पेड़ में बाँध देते।"

"...या उसे अपने प्रेमपाश में जकड़ लेते।" मैंने बात बीच में काटकर मणिभान से कहा। वे उद्धव का संदर्भ तुरंत ताड़ गए और हँसने लगे।

पर कर्कोटक इस प्रपंच से अनभिज्ञ थे। वे स्पष्ट बोले, "यादवों ने उनपर इतना अत्याचार किया है कि वे उन्हें अपना मित्र नहीं समझ सकते।"

"पर अपना रिश्तेदार तो समझ सकते हैं।" मैंने हँसते हुए कहा। अब उन्होंने समझा और मुझे गले लगा लिया। मैंने प्रमातामह की ओर देखा। उनकी आकृति की प्रत्येक झुर्री मुसकरा रही थी।

चेकितान का दूत चला गया। लोग इसपर गंभीर थे कि चेकितान ने मुझसे ही मिलने की इच्छा व्यक्त की थी। लोग तरह-तरह की संभावनाएँ एवं आशंकाएँ व्यक्त कर रहे थे। मैंने एकदम नई बात चलाई।

मैंने कर्कोटक से पूछा, "रोज-रोज नाग प्रदेश पर होनेवाले आक्रमण के विषय में आपने कुछ सोचा है?"

"क्या सोचूँ?" किंकर्तव्यविमूढ़-से वे बोले।

"यदि ऐसी स्थिति रही तो एक दिन आपके अस्तित्व पर भी संकट आ जाएगा।"

"यही तो मैं भी सोचता हूँ।"

पर प्रमातामह की लड़खड़ाती आवाज विवशता से भरी थी—"इसीलिए तो मैं तुम्हें याद कर रहा था।"

"इसके लिए हमने सोचा है।" मैंने कहा, "कि हमें आक्रमण का सामना करने के लिए एक व्यवस्थित सैन्य शक्ति का विकास करना पड़ेगा।"

"पर यह होगा कैसे?" कर्कोटक ने कहा।

"हर नाग युवक को अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए खड़ा होना होगा। उसे व्यवस्थित सैन्य प्रशिक्षण देना होगा। अस्त्र-शस्त्रों की व्यवस्था करनी होगी। आपमें अच्छे धनुर्धर हैं, लक्ष्य-वेधन अचूक है; पर आधुनिक धनुर्विद्या का आप लोगों को ज्ञान नहीं है।...और नाग प्रदेश में गो-पालन के साथ-साथ अश्व-पालन को भी विकसित करना पड़ेगा।"

लोग मौन हो मुझे सुनते रहे। प्रतिक्रियाशून्य आकृतियों पर एक निरुपाय निराशा

छा गई थी। मैं कहता गया—"आरण्यक जीवन जीकर आज कोई सुरक्षित नहीं रह सकता।"

"इसके लिए हम क्या कर सकते हैं?"

"हम नाग प्रदेश में आश्रम खोल सकते हैं।"

"पर हमारे यहाँ किसी आचार्य ने आश्रम खोलने की इच्छा व्यक्त नहीं की।"

"क्यों इच्छा व्यक्त करते?" मैंने कहा, "जब आप अपनी ही सुरक्षा नहीं कर पा रहे हैं, तब आप आश्रम की क्या सुरक्षा करते!"

"हमसे तो उन्हें कोई खतरा नहीं है और आक्रामकों के लिए भी आश्रमक्षेत्र वर्जित रहता है।" कर्कोटक ने कहा।

"पर राक्षस इस वर्जन को नहीं मानते। आपकी सीमा से ही राक्षसावर्त्त की सीमा लगी है। इनसे हमें आश्रमों की सुरक्षा का प्रबंध करना होगा।"

मैंने इस विवाद में अधिक न पड़कर कुछ आचार्यों से संवाद करने की इच्छा व्यक्त की और उन्हें साग्रह आमंत्रित करने के लिए कहा।

इस विषय में मेरे प्रमातामह के पास पहला नाम सांदीपनि का था। वे सोचते थे कि वे मेरे आचार्य रहे हैं। मैं उन्हें आसानी से बुला सकता हूँ। मैंने उन्हें बताया कि अब वे संन्यस्त हैं। उन्होंने अपना ही आश्रम छोड़ दिया है। हाँ, कभी-कभी देख-रेख के लिए उन्हें बुलाया जा सकता है।

इस विषय में हम लोग काफी देर तक चर्चा करते रहे। लोग सिद्धांत रूप से मेरे सुझाव से सहमत थे। प्रश्न उसको कार्यान्वित करने का था। मैंने यह भी अनुभव किया कि सभी लोग मुझपर ही निर्भर हैं। जिसने सच्चे मन से मुझपर भरोसा किया, मैंने कभी उसे निराश नहीं किया।

अचानक मेरे मन में आया कि करवीरपुर से प्राप्त हुए कुछ सैनिकों से तो हमने द्वारका की सैन्य शक्ति की नींव रखी थी, तब क्यों नहीं पांचाल से प्राप्त सैनिकों से नागक्षेत्र की सैन्य शक्ति का बीजारोपण करूँ।

मैंने बड़े उत्साह में कहा, "तो मैं इसी समय से अपना कार्य आरंभ करता हूँ। पांचाल से मिली सैनिक टुकड़ी से मैं नागक्षेत्र की सेना का बीजारोपण करता हूँ।" मैंने मामाजी से कहा, "आप हमारे साथ आए सैनिकों में से सेनभद्र को अभी बुलाइए।"

"अभी ही!" मणिभान ने सुखद आश्चर्य व्यक्त किया—"तुमने ही कहा था कि चातुर्मास में हम लोगों के लिए शुभ कार्य वर्जित है।"

"हमारे यहाँ वर्जित है न!" मैंने कहा, "पर आप लोग तो इस हरे-भरे दिन में विवाह भी करते हैं, तब सेना की स्थापना क्यों नहीं!"

इतना सुनते ही मणिभान वहाँ से तीर की तरह छूटे। मैंने ऐसा प्रसंग छेड़ दिया था, जिसे वे गोपनीय ही रखना चाहते थे। क्योंकि उनके जाते ही कर्कोटक ने पूछा, ''किसका विवाह किससे विवाह?''

मैं समझ गया कि उद्धव और पल्लवी प्रसंग अभी अपने में ही सीमित है। फिर मैं उसे क्यों उधेड़ूँ? मैं एकदम टाल गया और बोला कि जब इस समय आपके यहाँ विवाह हो सकता है, तब और काम क्यों नहीं हो सकते?

सेनभद्र के आते ही मैंने बड़े नाटकीय ढंग से कहा, ''आओ, सेनापति!''

वह सकते में आ गया। उसकी अचंभित मुद्रा जैसे पूछ रही हो—'कौन सेनापति और कहाँ का सेनापति?'

''आज से तुम्हें इस नाग प्रदेश का सेनापति बनाया जाता है।'' मैंने मुसकराते हुए कहा, ''हम लोगों की बधाई स्वीकार करो।''

''पर महाराज, बिना सेना के मैं सेनापति कैसा?''

''तुम्हें अपनी सेना स्वयं बनानी पड़ेगी। हम सबको तुम्हारे सामर्थ्य पर विश्वास है। इस महत्त्वपूर्ण कार्य में तुम्हारे साथ आए अन्य सैनिक तुम्हारा साथ देंगे। और फिर मामाजी तो हैं ही। वे सदा तुम्हारे निर्देश की प्रतीक्षा में रहेंगे।''

''न हमारे पास शस्त्र हैं और न यहाँ शस्त्रागार है। न अश्व हैं, न अश्वशाला और न इस प्रदेश में अश्व-पालन की व्यवस्था है।'' सेनभद्र बोलता जा रहा था—''सेना तो दूर, हमारे पास युवक भी नहीं हैं। आखिर किन्हें प्रशिक्षित किया जाएगा?''

''युवकों को तो कल से ही मामाजी जुटाना आरंभ कर देंगे—और रह गई अश्व तथा शस्त्रों की बात, मैं उसपर विचार कर रहा हूँ। आप इस समय एक व्यवस्थित योजना बनाकर मामाजी के समक्ष रखें।'' मैंने कहा।

सेनभद्र चलने को हुआ। उसकी मुद्रा से लग रहा था कि यह कार्य उसे दुष्कर प्रतीत हो रहा है। मैंने तुरंत उससे कहा, ''देखो सेनभद्र! तुम मात्र सेनापति ही नहीं हो वरन् नाग प्रदेश की सेना के नियामक भी हो।''

ऐसा लगा जैसे बुझते दीप में घृत पड़ गया हो। उसकी आकृति एकदम भभक पड़ी।

□

दूसरे ही दिन मैंने कर्कोटक से आग्रह किया कि वे धौम्य ऋषि के आश्रम में कुछ नाग युवकों को लेकर जाएँ और उनसे उन्हें आश्रम में प्रवेश लेने की प्रार्थना करें। यद्यपि यह कार्य सरल नहीं था; क्योंकि नाग जाति सामाजिक दृष्टि से व्रात्य और उपेक्षित थी। आश्रम प्रवेश उनके लिए वर्जित था। इस तथ्य से कर्कोटक अच्छी तरह परिचित थे।

यद्यपि महर्षि धौम्य के यहाँ मुझे इस कार्य के लिए स्वयं जाना चाहिए था; पर प्रमातामह मुझे एक दिन के लिए भी अब अपने से अलग करना नहीं चाहते थे। दूसरे, चेकितान भी आने वाला था। इसलिए मैंने कर्कोटक को ही खूब समझा-बुझाकर भेजा। मैंने स्पष्ट कहा कि कोई बाधा पड़े तो आप मेरी चर्चा कीजिएगा; पर यह मत बताइएगा कि वे इस समय हम लोगों के साथ हैं। नहीं तो ऋषिवर मेरे स्वयं न उपस्थित होने को अन्यथा ले सकते हैं।

इधर सैन्य संगठन के क्षेत्र में श्वेतकेतु को भी लगाया गया। नाग युवकों में मातृभूमि के प्रति सर्वस्व न्योछावर कर देने की भावना भरी जाने लगी। एक प्रकृति सहज मानव समाज को आधुनिक रण-कौशल के उपयुक्त बनाने का युद्ध स्तर पर प्रयास आरंभ हुआ।

मुझे देखकर आश्चर्य हुआ कि युवक तो युवक, युवतियाँ भी अभ्यास में भाग लेने के लिए उद्यत थीं। मैंने इस संबंध में पल्लवी से पूछा। उसने कई बार कही गई बात को पुनः दुहराया—''पुरुषों से अधिक हम युवतियों को ही आक्रामकों की विपत्ति झेलनी पड़ती है। उनकी दृष्टि हमीं लोगों पर रहती है। वे मौका पाते ही हम लोगों को उठा ले जाते हैं।''

मुझे याद है, इतना कहते-कहते वह गंभीर हो गई थी—''आज हमारी कितनी बहनें इन आक्रामकों की दासियाँ या सेविकाएँ होंगी! प्रभु जानें, वे किस स्थिति में होंगी! वस्तुतः हम किसी पर आक्रमण करने के लिए नहीं वरन् अपनी सुरक्षा के लिए रण-कौशल सीखना चाहती हैं।''

मैंने सोचा, जिस प्रदेश की नारियों की यह मानसिकता हो, उस प्रदेश को अब आक्रामकों की विपदा नहीं झेलनी पड़ेगी।

छंदक भी इस स्थिति से बहुत प्रसन्न था। उसने कहा—''मैं नहीं समझता था कि परिस्थितियाँ इतनी अनुकूल होंगी। बस, एक चिनगारी लगाने भर की देर थी, सारा नाग प्रदेश भभक उठा।''

इतने प्रशिक्षार्थी हो गए कि हमारे पास उतने प्रशिक्षक नहीं थे। पांचाल सैनिकों की न्यून संख्या फिर भी बाधक हो जाती थी। सारा प्रशिक्षण खुले आकाश के नीचे ही चलता था। जहाँ वर्षा शुरू होती, सबकुछ ठप हो जाता। बादल छँटते ही कार्यक्रम पुनः शुरू!

दिन का तीसरा प्रहर चल रहा था। आकाश साफ था। मैं प्रशिक्षण देखने जाने वाला था कि मुझे सूचना मिली, चेकितान पधार रहे हैं। मैंने तुरंत एक सेवक को नानाजी (कर्कोटक) को बुलाने के लिए दौड़ाया; क्योंकि चेकितान से निर्णायक बातचीत के लिए उनकी आवश्यकता पड़ सकती थी। पर मुझे संदेह था कि कहीं वे

मेरे निर्देशानुसार नाग युवकों को लेकर महर्षि धौम्य के आश्रम के लिए प्रस्थान न कर चुके हों।

पर ऐसा था नहीं। नानाजी अभी गए नहीं थे। सेवक ने सूचना दी कि वे अभी आ रहे हैं।

बेचारे यथाशीघ्र पधारे। वे कुछ जिज्ञासा करें, इसके पहले ही मैंने कहा, ''चेकितान आ रहा है। उसके स्वागत की भव्य तैयारी होनी चाहिए।''

''हमें क्या करना चाहिए?'' नानाजी ने पूछा।

''कम-से-कम वह सब तो करना ही चाहिए, जो आपने मेरी अगवानी में किया था। मेरा चलना तो उचित नहीं होगा। आप मेरे सभी साथियों को ले जा सकते हैं। साथ ही, उनको दो-एक दिन यहाँ रहने की भी आपको उचित व्यवस्था करनी होगी।''

''यह सब तो हो जाएगा, पर मूल कठिनाई यह है कि हममें से कोई उन्हें पहचानता नहीं है।'' नानाजी सोचते हुए बोले।

''इसके लिए आप परेशान न हों। छंदक को लेते जाइए। वह केवल उन्हें पहचानता ही नहीं वरन् पुष्कर में उनका अतिथि भी रह आया है। और उद्धव को भी अवश्य लेते जाइए। वह मेरा प्रतिनिधित्व करेगा और आपकी ओर से सारी व्यवस्था भी।''

जैसा मैं सोचता था, चेकितान का वैसा ही भव्य स्वागत किया गया। नाग युवकों ने उसकी आरती उतारी। परंपरागत वाद्य बजाए गए। नृत्य और गान हुए।

चेकितान सीधे पहले मेरे आवास पर ही आया। वह बड़ा प्रसन्न था; पर ग्लानि-युक्त भी। उसने आते ही कहा, ''किसी पराजित राजा का ऐसा स्वागत न तो मैंने देखा था, न सुना था।''

''जय-पराजय तो लगी ही रहती है, चेकितान!'' मैंने उसे गले लगाते हुए कहा, ''एक भीरु और निर्बल के लिए पराजय मृत्यु बनकर आती है; पर एक पराक्रमी के लिए पराजय ही नए विजय की संदेशवाहिका बनती है।''

''किंतु इस समय तो वह मेरी मृत्यु बनकर ही आई है।'' चेकितान ने कहा और अपने साथ आए लोगों के आवास की व्यवस्था करने को कहकर उन्हें अपने पास से हटाया। अंत में हम ही रह गए।

संध्या डूब चली थी। उसकी लालिमा पर चेकितान की ग्लानि की कालिमा चढ़ने लगी थी।

उस एकांत में बातें आरंभ हुईं। चेकितान ने कहा, ''जो कुछ हुआ, उसे तो आपने सुना ही होगा?''

''सुना तो है, पर सबसे बड़ा आश्चर्य यह है कि तुम्हारे जैसा पराक्रमी दुर्योधन से हार गया!'' मैं थोड़ा गंभीर हुआ।

''मेरे साथ धोखा हुआ, कन्हैया!'' चेकितान बोला, ''वस्तुतः मैं शस्त्रयुद्ध में नहीं, कूटयुद्ध में हार गया।'' उसने विस्तार से बताया—''मेरा राज्य तो छोटा ही था; पर हस्तिनापुर और सौराष्ट्र के बीच के सारे भूखंड मेरी देखरेख में थे। इसके लिए मैंने इस प्रदेश को अनेक छोटे-छोटे भागों में बाँटकर उसके प्रधान नियुक्त कर दिए थे। उनसे सामान्यतः वार्षिक कराधान करता था। यह बात हस्तिनापुर की आँखों में बहुत पहले से खटकती रही। पर जब तक पांडव थे, कहीं कुछ नहीं हुआ। मैंने सुना है कि युधिष्ठिर के युवराज होने पर दुर्योधन ने मंत्रिपरिषद् के समक्ष एक प्रस्ताव रखा था कि यदि चेकितान को पराजित कर लिया जाए, तो एक बहुत बड़ा भूखंड हमारे आधिपत्य में आ जाएगा।

''तब युधिष्ठिर ने कहा था कि राज्यलिप्सा तो एक मरीचिका है। यदि हम उसके पीछे दौड़ने लगेंगे तो हमारे हाथ से कर्तव्य की डोर भी छूट जाएगी। इससे अच्छा है कि जो राज्य हमारे पास है, उसीमें सुख-चैन की वर्षा करें। युधिष्ठिर के इस कथन का महामात्य विदुर ने भी समर्थन किया। उस समय तो बात दब गई, पर पांडवों के विरुद्ध दुर्योधन का षड्यंत्र सफल होते ही अब तो वह निरंकुश हो गया है। उसकी महत्त्वाकांक्षा में घी डालता है उसका मामा शकुनि। अब वह लपटें उगलने लगा है।''

''पर तुम तो किसी कूटयुद्ध की बात कर रहे थे।'' मैंने उसकी बातों के पिछले छोर को पुनः पकड़ा।

वह बोल पड़ा—''हाँ, यह बात तो छूट ही गई थी।'' फिर उसने बताया—''हस्तिनापुर के गुप्तचरों ने, हमारे राज्य और राज्य के बाहर भी, यह मौखिक प्रचार आरंभ किया कि पुष्कर पर कौरवों का एक बड़ा आक्रमण होने वाला है। सेना में भी इसकी चर्चा हो चली। यहाँ तक कि मेरे सेनापति ने बताया कि हमारे राज्य के उत्तर से पितामह भीष्म आक्रमण करेंगे। दक्षिण से आचार्य द्रोण के नेतृत्व में सेनाएँ प्रवेश करेंगी और पूर्व से होनेवाले विशाल हमले की बागडोर दुर्योधन एवं शकुनि के हाथ में होगी।''

''ऐसी स्थिति में आपके गुप्तचर क्या करते रहे? उनकी सूचना क्या थी?''

''दुर्भाग्य यही था कि हमारे गुप्तचर भी हस्तिनापुर के प्रचार में आ गए।''

''इसका तात्पर्य तो यह था कि आपकी गुप्तचर व्यवस्था पहले पराजित हुई और आप बाद में।''

''आप जो समझें।'' चेकितान मौन हो गया।

तब मैं और गंभीर हुआ—''जानते हो, चेकितान, कि किसी राज्य की गुप्तचर व्यवस्था उस राज्य की आँख होती है। यदि आँख ही नहीं, तो अंधा राज्य कुछ नहीं कर सकता।''

''पर मैं तो अंधे से ही पराजित हुआ, महाराज।'' इतना कहते-कहते उसका स्वर भारी हो गया और आँखें पसीजने लगीं।

मैंने उसे ढाढ़स बँधाते हुए कहा, ''राज्य चले जाने से क्या हुआ? पर मन नहीं पराजित होना चाहिए।''

फिर वह जब थोड़ा प्रकृतिस्थ हुआ तब मैंने उससे वस्तुस्थिति जाननी चाही।

उसने बताया—''न पितामह के नेतृत्व में सेना आई और न आचार्य द्रोण के नेतृत्व में। केवल इनका ऐसा गहरा आतंक आया कि दुर्योधन के सामने ही हमारी सेना के पैर उखड़ गए।''

इसके बाद मौन का एक गंभीर अंतराल हमें घेरे रहा।

फिर मैंने ही बात चलाई—''अब क्या स्थिति है हस्तिनापुर की?''

''लोग चिंतित हैं।'' चेकितान ने बताया—''मैं अहिच्छत्र गया था। मैंने आचार्य द्रोण से स्पष्ट पूछा कि मैंने आपका क्या बिगाड़ा था, जो आपने मुझपर आक्रमण की योजना बनाई थी?

''उनका साफ उत्तर था कि तुमपर हुए आक्रमण से मेरा कोई संबंध नहीं है। मुझे तो ज्ञात भी नहीं होने दिया गया कि तुमपर आक्रमण किया जा रहा है। यही स्थिति पितामह की भी थी।'' चेकितान ने कहा।

''क्या आप पितामह से भी मिले थे?'' मैंने पूछा।

''नहीं। मैं उनसे तो नहीं मिल सका, पर आचार्यजी ने उनके बारे में बताया कि पितामह बड़े दुःखी हैं। वे इस आक्रमण की आचार्यजी से भर्त्सना कर रहे थे कि पांडवों के दिवंगत होते ही दुर्योधन की महत्त्वाकांक्षा उन्मत्त हो गई है। चेकितान पर तो उसे आक्रमण करना ही नहीं चाहिए था। उसके साथ हमारी सुरक्षा संधि थी और उसने संधि की शर्तों का उल्लंघन भी नहीं किया था।''

अचानक मैं आवेश में आ गया—''क्या यही बात वे दुर्योधन या धृतराष्ट्र से कह सकते हैं?''

''यदि कहने की स्थिति में होते तो यह दशा क्यों होती?'' चेकितान बोला।

''पितामह की यह अशक्तता समझ में नहीं आती।'' मेरे मुँह से निकला—''वस्तुतः हस्तिनापुर को दुर्योधन की नीचता से उतना खतरा नहीं है, जितना पितामह की इस असमर्थता से।''

इसी सिलसिले में चेकितान ने यह भी बताया—''आचार्य द्रोण का कहना है

कि तुमपर विजय के बाद तो उसका अहं एकदम फुफकारने लगा है। मुझे तो क्रीत दास समझता है। महामात्य से भी अधिक बोलचाल नहीं है। यदि उसके अहं को अभी दबाया नहीं गया तो यह अनर्थ का कारण हो सकता है।''

''तो उसके अहं को दबाने में आचार्यजी क्या कर सकते हैं, तुमने यह नहीं पूछा?''

''क्या करता पूछकर! यदि उनमें कुछ करने की शक्ति होती तो आज हस्तिनापुर की यह हालत न होती।''

मैंने अनुभव किया कि चारों ओर आग जल रही है। बीच में दुर्योधन की महत्त्वाकांक्षा हिमखंड की तरह पड़ी है। जहाँ पिघलना शुरू हुई कि पानी होते देर नहीं लगेगी।

चेकितान की इन बातों में उतना रस नहीं था, जितना वह अपने विषय में चिंतित था। उसने स्पष्ट कहा, ''अब क्या करूँ? पहले तो सोचा था कि इसी नाग प्रदेश की भूमि हड़पकर एक छोटे से राज्य की स्थापना कर नई शक्ति का सर्जन करूँगा। यदि संभव हुआ तो किसी दिन दुर्योधन से प्रतिशोध लेकर रहूँगा; पर आपकी उपस्थिति ने तो यह सपना भी चूर कर दिया।''

''सपना कभी चूर नहीं होता, यदि उसे संकल्प में बदल दिया जाए।'' मैंने कहा और उसके कंधे पर एक आत्मीय धौल जमाते हुए बोला, ''तुम संकल्प करो। मैं तुम्हारी सहायता करूँगा।''

''सच!'' उसकी बाँछें खिल गईं। उसके व्यक्तित्व पर से निराशा पुरइन के पत्ते पर से जल की तरह झर गई।

मैंने पुनः उससे कहा, ''तुम नाग प्रदेश की भूमि हड़पने वाले थे न! यदि मैं तुम्हें पूरा नाग प्रदेश दिलवा दूँ तो?''

वह एकदम खिल गया। उसकी आकृति पर एक आभा दौड़ आई। फिर भी उसे विश्वास नहीं था। उसके मुख से निकला—''यह कैसे हो सकता है?''

''पहले तुम स्वयं को नाग प्रदेश को समर्पित करो, नाग प्रदेश स्वयं तुम्हें समर्पित हो जाएगा।''

वह मेरे कथन से आश्वस्त तो हुआ; पर उसे अब भी यह सबकुछ सपना लग रहा था।

बातों में समय का ज्ञान नहीं रहा। रात का प्रथम प्रहर बीत चला। नानाजी इस समय चेकितान को भोजन पर आमंत्रित करने आने वाले थे। मैंने उसे अपने निवास पर ही बैठाए रखा। मैंनें कहा, ''नानाजी आते ही होंगे। इसी समय आपकी समस्या का समाधान खोज लिया जाएगा।''

नानाजी के आते ही मैंने चेकितान का विस्तार से परिचय दिया और कहा, ''हम लोग एक गंभीर मंत्रणा में व्यस्त थे। मुझे लग रहा था कि कुआँ स्वयं प्यासे के पास आ गया है। तब आप लोग नाग प्रदेश की सुरक्षा की सारी जिम्मेदारी इन्हें सौंप दीजिए और तनावमुक्त रहिए।''

नानाजी बड़े असमंजस में पड़े। उनके मुख से निकला—''इनसे कभी हमारा कोई संबंध नहीं रहा।''

मैंने देखा, नानाजी गड़बड़ाने की मुद्रा में हैं। मैंने तुरंत अपनी दार्शनिक मुद्रा का सहारा लिया—''यहाँ किससे किसका संबंध रहा है? सारे संबंध परिस्थितियों ने बनाए हैं। परिस्थितियाँ आप दोनों को भी संबंधी बना रही हैं।...यों भी ये मेरे मित्र हैं। अतएव ये भी आपके नाती हुए और आप इनके नाना। अब इनका धर्म है कि ये इस प्रदेश को ज़ितना शीघ्र हो, राज्य में बदल दें।''

फिर मैंने बातें और स्पष्ट कीं। चेकितान से कहा, ''नाग प्रदेश तो नाग लोगों का ही रहेगा। वही इसके राजा रहेंगे—जैसे इस समय हैं। आप इनके महामात्य होंगे। राजसी कार्य में आपकी सलाह मानना अनिवार्य नहीं वरन् आवश्यक होगा।''

''इसका तात्पर्य है कि कभी ऐसी स्थिति भी हो सकती है, जब मेरी सलाह न मानी जाए?'' चेकितान ने कहा।

''हो सकती है। पर दोनों पक्षों का यह कर्तव्य होगा कि यथासंभव यह स्थिति न आने दी जाए।''

''पर यह कैसे संभव है?''

''अब आप दोनों इस प्रदेश की भलाई चाहेंगे, या यों कहिए, जब आप दोनों अपने स्वार्थ को इस प्रदेश के स्वार्थ की वेदी पर चढ़ा देंगे, तब ऐसी टकराहट नहीं होगी।'' मेरी इस बात को लोगों ने बड़ी गंभीरता से लिया।

चेकितान का मन इसे मानने की स्थिति में नहीं था। वह तो सोचते थे कि छोटे से भूखंड का ही सही, मैं राजा ही रहूँगा। पर मेरा प्रस्ताव तो महामात्य के लिए था। किंतु वह कर क्या सकता था! लाचारी में उसने मेरा प्रस्ताव मान लिया। यद्यपि मैंने उसे संकेत किया कि मैं आपकी विवशता समझता हूँ। मैं उस संबंध में भी कुछ करूँगा।

प्रमातामह से भी चेकितान को मिलाया गया। उन्हें भी सारी स्थिति से अवगत कराया गया। उनकी भी स्वीकृति मिल गई और आनन-फानन में एक प्राकृत प्रदेश राज्य में परिवर्तित होने लगा। सेना, दुर्ग, कोष, अमात्य मंडल आदि राज्य के आवश्यक अंगों का निर्माण आरंभ हुआ।

□

छह
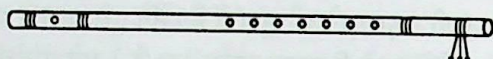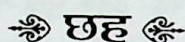
धीरे-धीरे समय बीतता गया। नाग प्रदेश का संस्कार बदलने लगा। वर्षा के व्यवधान के होते हुए भी चेकितान और उनके साथियों के प्रयत्न में कोई कमी नहीं आई। प्रकृति अपना काम करती रही। हम अपना काम करते रहे और उद्धव तथा पल्लवी अपना।

एक दिन एक विशेष घटना घटी।

मध्याह्न भोजन के बाद मैं अपनी शय्या पर ढुलका था। मघा झकझोर-झकझोर कर बरस रहा था। वातायन से आते झोंकों में फुहार की मात्रा इतनी अधिक थी कि ऐसा लग रहा था, मैं किसी प्रपात के निकट ही सोया हूँ। निकट मंचक पर बैठा सात्यकि उद्धव और पल्लवी के प्रेम-प्रसंगों के अनेक संदर्भ सुना रहा था।

उसने बताया—"अब तो स्थिति यहाँ तक आ गई है कि पल्लवी दिन-दिन भर उद्धव के कक्ष में पड़ी रहती है।"

"दिन ही भर न, रात भर तो नहीं?" मैंने मुसकराते हुए पूछा।

"दिन में तो सबकुछ सामने रहता है। रात में तो ऐसा होता नहीं।" सात्यकि बोला।

मैंने हँसते हुए कहा, "कैसी बात कहते हो, सात्यकि! दिन में वर्षा हो रही हो तो ऐसे में क्रौंच के जोड़े भी अपने नीड़ में चले आते हैं।"

सात्यकि हँसा। मैंने फिर कहा, "और वहीं वे सुरक्षित अनुभव भी करते हैं। उन्हें क्या मालूम कि तुम्हारे जैसे बधिकों की दृष्टि यहाँ भी उनका पीछा करती है!"

"पर मैं बधिक नहीं हूँ।"

मैंने कहा, "तब तो यह अशुभ समाचार है।" मुझे हँसी आ गई—"यदि बधिक कोई दूसरा होगा तो तुम वाल्मीकि हो जाओगे। धरती पर एक महाकवि और पैदा हो जाएगा।"

सात्यकि को इस व्यंग्य से ऐसा लगा कि मैं उसकी बातों का मजाक उड़ा रहा हूँ, पर तथ्य में रुचि नहीं है। अपने छोटे भाई के प्रेम-प्रसंग में मैं क्या रुचि लेता?

मेरी आँखें झपती देखकर वह अभिवादन कर चला गया। मुझे नींद आ गई। थोड़ी ही देर बाद मुझे एक भीषण कोलाहल ने झकझोरा। जब मैं उठा तो मुझे लगा कि अतिथिशाला के बाहर भीड़ लगी है। मैंने वातायन से देखा, वर्षा बंद हो गई थी।

मैं उठकर बाहर निकलने वाला था कि अतिथिशाला का प्रहरी हड़बड़ाकर कक्ष में घुसा।

''क्या बात है?'' मैंने पूछा।

''एक राक्षस पकड़ा गया है। उसको लेकर लोग आपके पास आ रहे हैं।''

''पर राक्षस तो कभी इधर आते नहीं थे!''

''आते थे, पर रात्रि में। वह भी भोजन की खोज में। गाय-बैल और जो भी चौपाया मिलता, उसे उठाकर पकड़ ले जाते थे। पर इस बार तो यह दिन में ही आ गया है।''

'तब कोई विशेष बात होगी।' मैं सोचने लगा। मैं तुरंत अतिथिकक्ष के बाहर आया। देखा, दो राक्षसों को एक मोटी डोर से बाँधकर कई लोग इतनी मजबूती से पकड़े हैं मानो जंगल का कोई हिंस्र पशु हो। लोग उन्हें कुतूहल, भय और घृणा से देख रहे थे। उन दोनों के सिर और कंधों से रक्तस्राव हो रहा था। लोगों ने उन्हें पत्थरों से मारकर घायल कर दिया था। मेरे देखते-देखते उनपर दो-तीन पत्थर और पड़े। मैंने भीड़ को नियंत्रित किया और उनके बंधन खोलने को कहा।

''नहीं-नहीं, ऐसा मत कीजिए, अन्यथा ये भाग जाएँगे।'' भीड़ से आवाज आई।

उन दोनों में से एक बोला, ''यदि भागना होता तो मैं आता क्यों?''

यह राक्षस बहुत कुछ नागों की भाषा में बोल रहा था। दूसरे राक्षस ने भी कुछ कहा; पर उसकी बात समझ में नहीं आई। तब तक पहले राक्षस ने उसकी कही बात को समझाया—''हम लोग आपको एक शुभ समाचार देने आए हैं।''

''तुम लोग हत्यारे हो। हमें मारकर कच्चा मांस खा जाते हो। तुम्हारा शुभ समाचार भी हमारे लिए अशुभ होगा।'' भीड़ का यह समवेत स्वर था।

भीड़ अब भी कसमसा रही थी। उसकी सामूहिक दृष्टि क्रोध उगल रही थी। लग रहा था कि उन दोनों को कच्चा चबा जाएगी।

मैंने अपनी मायावी हँसी बिखेरी—''आप सबने समाचार जानने के पहले ही शुभ-अशुभ का निर्णय कैसे कर लिया है?''

लोग एकदम शांत हो गए और उन राक्षसों का बंधन खुलते हुए देखते रहे।

जब उनके बंधन खुल गए तब मैंने उन दोनों को अपने पास बुलाया। मैं अतिथिभवन के द्वार पर था और उन्हें लगभग चार सीढ़ियाँ चढ़कर मुझ तक आना

था। मैंने अनुभव किया कि उन्हें सीढ़ी चढ़ने में बड़ी पीड़ा हो रही है। उन्हें चोट काफी लगी है। मैंने उन्हें सहारे के लिए हाथ बढ़ाया, तब तक अनेक हाथ उनकी सहायता में आगे आ चुके थे। निकट आते ही उन्होंने मेरे समक्ष प्रणिपात किया। इतनी पीड़ा में भी वे दोनों मुसकरा रहे थे। किसी राक्षस को नाग प्रदेश में इतनी आत्मीयता पहली बार मिली थी।

उसी ऊँचाई से खड़े होकर उन्होंने घोषणा की—''अब राक्षस मानव मांस नहीं खाएँगे।''

''नहीं-नहीं, यह झूठ बोल रहा है।'' भीड़ चीख उठी—''ऐसा कभी हो सकता है कि सर्प विष छोड़ दे, अग्नि ताप त्याग दे और सिंह शाकाहारी हो जाए!''

''सकुशल छूट जाने के लिए यह बातें बना रहा है।'' भीड़ की यह दूसरी प्रतिक्रिया थी।

उन राक्षसों ने बड़ी दयनीय दृष्टि से अब मेरी ओर देखा। फिर विश्वास भरे स्वर में उन दोनों में से एक ने कहा, ''हम राक्षस कभी झूठ नहीं बोलते। अपने प्राणों की रक्षा के लिए भी हम झूठ का सहारा नहीं लेते। फिर भी यदि आपको विश्वास न हो तो हम भगवान् विरोचन की शपथ लेकर कहते हैं कि हमारे राक्षसावर्त्त का अब एक भी राक्षस मानव मांस नहीं खाएगा।''

''यह विरोचन कौन है?'' भीड़ में से ही किसीने पूछा।

''विरोचन हमारे भगवान् हैं। उनकी इच्छा के बिना हमारे राक्षसावर्त्त का एक पत्ता भी नहीं हिलता।''

''तो क्या तुम्हारे भगवान् यह शुभ आदेश देने के लिए स्वयं पधारे थे?'' भीड़ से ही यह व्यंग्य वाणी आई थी और लोग इसपर हँस पड़े थे।

मुझे बहुत अच्छा नहीं लगा। भीड़ की मानसिकता व्यक्ति की मानसिकता से कुछ दूसरी ही होती है। इसलिए मैं कुछ बोला नहीं। पर मेरी गंभीरता ने बता दिया कि यह जो कुछ हो रहा है, वह उचित नहीं है।

एक बार फिर गहरी शांति छा गई। राक्षसों ने कहा, ''यह हमारे राजा की आज्ञा है और हम लोग राजा की आज्ञा को भगवान् विरोचन की आज्ञा ही मानते हैं।''

''आजकल कौन है आपका राजा?'' मैंने उनसे धीरे से पूछा।

''महाराज वृकोदर।''

''वृकोदर!'' मुझे तो विश्वास ही नहीं हुआ—''सुना है, वे अपने पुत्र और पत्नी को छोड़कर चले गए हैं?'' मैंने कहा।

''हाँ, गए अवश्य थे, पर हम लोगों की प्रार्थना पर पुनः चले आए।''

अब मेरी जिज्ञासा बढ़ी; पर सबके सामने कुछ और पूछना उचित नहीं था। तब

तक भीड़ से फिर वही उद्दंड आवाज मारी गई—"तो आप हमें यही सूचना देने आए हैं कि हम लोग अब आपका भोजन नहीं करेंगे?"

"नहीं, हम आपको मात्र यह सूचना देने ही नहीं आए हैं वरन् आपकी ओर मित्रता का हाथ बढ़ाने भी आए हैं। हमें हमारे महाराजा ने अपना दूत बनाकर आपके पास भेजा है।"

इतना सुनते ही मुझसे रहा नहीं गया। मेरी आवाज सामान्य से तेज हो गई—"देखा, आप लोगों ने पूर्वग्रहित धारणाओं के आवेश में आकर कैसी भूल कर दी? आप तो जानते ही हैं, दूत हर स्थिति में अवध्य होता है—चाहे मित्र का दूत हो या शत्रु का, मानव का दूत हो या राक्षस का। और आपने इन राजदूतों पर आक्रमण किया! क्या सोचेंगे राक्षसराज कि आज के मानव को क्या हो गया है? वह राजनीति की सामान्य नैतिकता का भी निर्वाह नहीं कर सकता!" मैंने एक क्षण रुककर पुनः कहा, "आप सबको अपने कर्मों के लिए इन राजदूतों से क्षमा माँगनी चाहिए।"

भीड़ शांत थी। फिर भी एक आवाज धीरे से रेंग गई—"राजदूतों को भी चाहिए कि वह राजदूत की तरह आएँ, चोरों की तरह नहीं।"

सुनाई तो लगभग सबको पड़ी होगी; पर यह आवाज किधर से आई और किधर निकल गई, किसीको नहीं मालूम। इसके बाद भीड़ स्वतः छँटने लगी। मैं उन दोनों राक्षसों को ससम्मान अपने कक्ष में ले आया।

पहले प्रमातामह के निजी चिकित्सक को बुलाया गया और उनकी मरहम-पट्टी की गई। मधु और ओषधिमिश्रित दूध उन्हें पिलाया गया। फिर उनके आराम की व्यवस्था की गई। इस सबमें छंदक और सात्यकि ने मेरा साथ दिया। बाद में मणिभानजी भी आ गए।...और जब मामाजी आ गए तब उद्धव क्यों नहीं आता!

जब वे दोनों भय और वेदना से मुक्त हुए तब मैंने पूछा, "हम लोगों ने सुना था कि वृकोदर आपके राज्य से चले गए हैं। फिर आपसे पता चला कि उन्होंने पुनः सत्ता सँभाल ली है।"

"हाँ, आपने ठीक सुना था।" छंदक द्वारा सुनाई कथा को उस दुभाषिए ने दुहराया और कहा, "महारानी से की गई शर्त के अनुसार, राजकुमार के पैदा होते ही एक रात चुपचाप अपनी माता और भाइयों के साथ चले गए थे। प्रातः हम लोगों को पता चला। हम बड़े चिंतित हुए। हमारी चिंता का मुख्य कारण था कि अब राक्षसावर्त्त पर शासन कौन करेगा? हम लोगों ने तुरंत उनकी खोज आरंभ की।"

वह कहता रहा—"अभी वे बहुत दूर नहीं गए थे। दोपहर होते-होते हम लोगों ने उन्हें खोज निकाला। उन्होंने वही बात कही, 'अपनी शर्त के अनुसार मैं जा रहा हूँ।' हमारे सरदार ने कहा, 'यह शर्त आपकी व्यक्तिगत थी। आपके और

महारानी के बीच थी। एक पति-पत्नी की शर्त थी। पर राजा की वास्तविक शर्त तो प्रजा के साथ होती है, परंपरा और व्यवस्था के साथ होती है।' ''

''आपके सरदार ने तो मौलिक प्रश्न उठाया। वे बड़े बुद्धिमान मालूम होते हैं। कौन हैं आपके सरदार?'' मैंने कहा।

उसने बगल में पड़े अपने घायल साथी की ओर संकेत किया। उस पीड़ा में भी उसकी आकृति पर एक प्रकार के स्वाभिमान की आभा थी।

''क्षमा कीजिएगा। हमारा तो आपसे परिचय था ही नहीं। अनजाने में हम आपका वह स्वागत न कर सके, जो राक्षसावर्त्त के सरदार का हमें करना चाहिए था। हम सब आपका अभिवादन करते हैं।''

इसी समय मामा मणिभान भी बोल पड़े—''और हम अपनी तथा जनता की ओर से एक बार फिर क्षमा माँगते हैं।''

यद्यपि सरदार ने पूरी भाषा तो समझी न होगी, फिर भी उसने गर्व से सिर हिलाया। इसी बीच चेकितान भी आ गया। हमने उसका परिचय कराया। सरदार और भी गौरवान्वित हुआ।

मैंने पुनः बातों की डोर पकड़ ली—''तो क्या कहा आपके सरदार के तर्क पर वृकोदर ने?''

''कहते हैं, वे निरुत्तर थे।'' दुभाषिया बोला, ''यह सत्य है कि उनके पराक्रम व शौर्य ने उन्हें राक्षसावर्त्त का उत्तराधिकारी बनाया; पर गद्दी पर बैठाया तो हमीं ने। प्रजा ने राजा को मुकुट पहनाया था, इसलिए हमें सुनना उनका कर्तव्य था।''

''अच्छा हुआ, जो आप लोगों की बात उन्होंने मान ली।'' मैंने उसे कुछ और खोलने के लिए कहा।

वह खुलने लगा—''अरे महाराज, वे ऐसे कहाँ मानने वाले थे। जल्दी तैयार नहीं हो रहे थे। जब हमारे सरदार ने यह कहा कि जब राजा अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता तब प्रजा को अधिकार है कि वह उसका विरोध करे। तब उनके भाइयों ने भी उन्हें समझाया। माताजी ने भी कहा कि तुम्हें राजसत्ता सँभालनी चाहिए और राजपरिषद् को बुलाकर अपनी स्थिति स्पष्ट करनी चाहिए। तब कहीं वृकोदर पुनः गद्दी पर आए।''

हम सभी बड़े ध्यान से उनकी बातें सुनते रहे। अंत में मैंने पूछा, ''तो क्या आप लोगों की राजपरिषद् की बैठक हुई?''

''हुई थी, तभी न!'' उसने बताया—''लोगों ने महाराज से स्पष्ट पूछा कि आप हमपर शासन क्यों नहीं करना चाहते?

'' 'क्योंकि आप मानव मांस खाते हैं। एक दिन ऐसा भी हो सकता है, जब

आपकी भूख मुझे खाने के लिए उतावली हो जाए।' तब हम लोग एकदम सकते में आ गए। सारा राक्षस समुदाय एक-दूसरे का मुँह देखने लगा।

" 'तब आपकी क्या आज्ञा है?' राक्षसों ने वृकोदर महाराज से पूछा।

" 'आप लोग मानव मांस खाना छोड़ दीजिए।'

" 'एवमस्तु।' हम लोगों ने स्वीकार कर लिया।

"क्या करते! महाराज की आज्ञा थी। हम लोग मानते हैं कि महाराज के मुख से हमारा भगवान् विरोचन ही बोलता है।"

हमारे साथी बड़े आश्चर्य से उसे सुन रहे थे। छंदक ने तुरंत जिज्ञासा की— "ऐसा संकल्प करने के बाद आपको कैसा लग रहा है?"

"लग क्या रहा है! हम एक भयंकर संकट के द्वार पर हैं। इस संकल्प से हमारे यहाँ भुखमरी की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी।" दुभाषिए ने कहा, "इसीलिए महाराज ने हम सबको कृषि-कर्म सीखने का उपदेश दिया है।"

उसने यह भी बताया—"मुख्य रूप से हम इसी संदर्भ में संधि का एक प्रस्ताव लेकर आए थे। इसके अनुसार, हम आपसे मित्रता के अभिलाषी हैं। आप हमें कृषि-कर्म और पशु-पालन की शिक्षा दें।"

"आप लोग पशु-पालन भी नहीं करते?" छंदक ने साश्चर्य पूछा। क्योंकि जब वह गया था तो दूध और नवनीत से उसका स्वागत किया गया था।

"हम न पशु पालते हैं, न वृक्ष लगाते हैं और न कृषि-कर्म करते हैं। हम लोग केवल प्रकृति को निचोड़ते हैं। जंगल में जो फल मिल गया, वह हमारा। जो पशु मिल गए, वह हमारे। चाहा तो उन्हें मारकर खा लिया। दूध मिल सका तो दुह लिया।" दुभाषियों ने बड़े विस्तार से अपनी राक्षसी जीवन शैली की चर्चा की और कहा, "लगता है, प्रभु की अब इच्छा यही है कि हम मानव जीवन जीएँ।"

मैंने तुरंत मामाजी से इनकी बातें कराने के लिए कहा। संकेत भी दिया कि हमें इनका प्रस्ताव मान लेना चाहिए; क्योंकि शांति और संघर्षहीन स्थिति विकास के लिए बड़ी सहायक होती है।

वे लोग भी बातचीत करके अविलंब लौट जाना चाहते थे; क्योंकि अब तक नागों और राक्षसों के बीच दुर्भावना, घृणा, हिंसा एवं शंका का ही संबंध रहा है। इन लोगों के लौटने में थोड़ा सा भी विलंब होने पर राक्षसों का शंकाकुल हो उठना स्वाभाविक था, जिसका परिणाम घातक हो सकता था।

इसीलिए मैंने मामाजी के साथ चेकितान को भी भेजा। उसे मैंने एकांत में ले जाकर समझाया भी कि परिस्थितियाँ हमारे अनुकूल हैं। यह प्रभु की कृपा है कि नाग प्रदेश के विकास के साथ-साथ राक्षसावर्त्त भी अपने संस्कार के लिए तत्पर है।

कालांतर में दोनों प्रदेश एक हो सकते हैं।

उन लोगों के चले जाने के बाद छंदक ने कहा, ''मुझे तो विश्वास नहीं होता कि वृकोदर अचानक इतना समझदार हो जाएगा कि राक्षसों से मानव मांस न खाने का संकल्प करा सके।''

मुझे हँसी आ गई—''तो तुम भीम को भोजनभट्ट ही समझते हो!''

''मैं क्या, जो उसे जानता है, वह यही समझता है। मुझे तो लगता है कि यह चाल अर्जुन ने ही चली होगी। सोचा होगा, न राक्षस मानव मांस खाना बंद करेंगे और न हमारी यहाँ रहने की बाध्यता होगी। पर वह फँस गया अपने ही बिछाए जाल में।'' छंदक बोला।

वर्षा से भीगे और लथपथ दिन तेजी से फिसलते हुए बढ़ते रहे। उससे भी तीव्र परिस्थितियों के परिवर्तन की हवा चलती रही। एक दिन ऐसा भी आया, जिस दिन पल्लवी और पुष्पवी—दोनों ने उद्धव के हाथ पकड़ लिये। पर किसने दाहिना पकड़ा और किसने बायाँ—मैं यह नहीं कह सकता।

यह भी मेरे जीवन की एक अभूतपूर्व घटना थी, जब मैं अपने पक्ष का एकमात्र अकेला, छोटे भाई के परिणय का साक्षी बन रहा था। न कोई उत्सव और न कोई विराट् आयोजन। केवल परिवार के लोगों और पुरजनों के बीच संपन्न होनेवाला यह परिणय संस्कार स्वयं में अद्‌भुत था।

आज सुबह-सुबह उद्धव मेरे पास आया। उसकी खोई-खोई आँखें और बोझिल व्यक्तित्व से स्पष्ट लग रहा था कि वह आज रात सोया नहीं है। वह आकर चुपचाप मेरे पर्यंक के निकट मंचक पर बैठ गया। कुछ बोला नहीं। कभी धरती की ओर, कभी मेरी ओर और कभी सामने खुले वातायन की ओर उसकी चकपकाई आँखें बराबर आती-जाती रहीं। ऐसा लगा कि वह बहुत कुछ कहना चाह रहा है, पर कुछ कह नहीं पा रहा है।

मैंने ही कहा, ''कहो, स्वास्थ्य तो ठीक है?''

उसने धीरे से 'हाँ' कहकर सिर हिला दिया। फिर कुछ देर बाद अपना सारा साहस बटोरकर बोला, ''मैं आपसे अनुमति लेने आया हूँ।''

''किस बात की?''

वह अब भी चुप था।

''हाँ, बोलो-बोलो, हमारे-तुम्हारे बीच संकोच कैसा?'' मैंने बड़े सहजभाव से कहा।

वह धीरे से बोला, ''मामाजी ने भेजा है।''

मैं तो समझ ही गया था। फिर भी पूछा, ''कुछ कहा मामाजी ने?''

"आपसे अनुमति लेने के लिए।" इसके बाद सबकुछ उसने अपनी मुद्रा से कह दिया।

मुझे हँसी आ गई। मैं कहूँ भी तो क्या कहूँ! मैं न माता, न पिता, न सगा भाई-बंधु। फिर विवाह की अनुमति देनेवाला मैं कौन होता हूँ? और द्वारका लौटने पर लोग पूछेंगे तो मैं क्या उत्तर दूँगा कि तुम अपने साथ उद्धव को इसीलिए ले गए थे।

मैं बड़ी द्विविधा में पड़ा। निर्णय लेने में ऐसी हिचकिचाहट मुझे कभी नहीं हुई थी। कुछ समय तक मैं छत की ओर ऊपर देखता और सोचता ही रह गया। फिर अचानक मेरी दृष्टि द्वार की ओर गई। द्वार अधखुला था। दोनों कपाटों के पीछे से एक-एक जोड़ी आँखें झाँकती दिखाई पड़ीं; जिनमें प्रेम की ललक थी, निश्चय और अनिश्चय के बीच झूलती हुई प्रतीक्षा थी।

प्रेम के इतने प्रगाढ़ आग्रह के समक्ष मेरी द्विविधा लड़खड़ाई। मैंने सोचा, उद्धव मेरे बड़कपन के लिहाज में उलझ गया है, अन्यथा वह मुझसे अनुमति न भी लेता तो मैं क्या करता!

मैंने तुरंत कहा, "तुम्हारी प्रसन्नता में ही मेरी प्रसन्नता है।"

इतना कहते हुए ही द्वार के कपाटों के पीछे से एक भागती हुई खिलखिलाहट की अनुभूति हुई। इसके बाद उद्धव भी मेरे चरण छूकर चला गया।

मैंने वातायन से देखा, प्रकृति भी बिहँस रही थी।

इसके दूसरे ही दिन अग्नि को साक्षी मानकर उद्धव के जीवन का एक नया अध्याय शुरू हुआ। तत्पुरुष द्वंद्व समास हो गया।

वर्षा के मेघ अब टुकड़े-टुकड़े होकर अदृश्य होना आरंभ हो गए थे। बगलों की पाँतें बादलों के श्वेत छौनों में बदलकर शरद् के आगमन की सूचना देने लगी थी। आश्विन आ गया। नदियों का उन्माद ठंडा पड़ा। मार्गों और पगडंडियों को भी वर्षा के पागलपन में छूनेवाली पुष्करिणियों ने अपने पंख सिकोड़ लिये थे। रास्ते मुक्त हो गए थे। पगडंडियाँ चलने लगी थीं।

नाग प्रदेश में आए मुझे कई महीने हो चले थे और एक दिन भी यहाँ शांति से नहीं बैठ पाया था। जीवन को चौपड़ की बाजी की तरह खेलना मेरा स्वभाव बन गया था, जिसकी हार-जीत पर मेरा अधिकार नहीं था। यह बात दूसरी है कि अब तक जीत ही मेरे हाथ लगी थी।

मेरे मित्र भी अब यहाँ से लगभग ऊब चुके थे। इधर नाग प्रदेश का निर्माण और विकास भी व्यवस्थित हो चला था। मैं प्रमातामह से मिलकर यहाँ से चलने की योजना बनाने लगा। पर अब भी मुझे कई क्षेत्रों में कई अनिवार्य कार्य करने थे।

मैं सीधे छंदक के कक्ष में गया। वह अचानक मुझे देखकर कुछ चिंतित भी

हुआ और सकपकाया भी। मैंने उसे चुपचाप बाहर चलने का संकेत किया।

"मैं तुम्हें इसलिए बाहर ले आया कि मैं तुमसे कुछ गोपनीय मंत्रणाएँ कर सकूँ। अतिथिकक्ष में उसकी गोपनीयता संकटग्रस्त हो सकती थी।"

वह मौन किसी गंभीर प्रस्ताव की प्रतीक्षा करते हुए मेरे साथ चलता रहा।

"मेरी राय है कि आज या कल में, जब भी तुम उचित समझो, एक रात चुपचाप राक्षसावर्त्त के लिए प्रस्थान करो।" मैंने कहा और उसे समझाया—"तुम सीधे वृकोदर से मिलना और उसे द्रौपदी स्वयंवर की सारी योजना बताना। कहना कि स्वयंवर का निमंत्रण आता ही होगा या हो सकता है, आ भी गया हो। सभी भाइयों के साथ उसमें उपस्थित होना आवश्यक है।"

"पर जब वह अपने राज्य से मुक्त हो पाएगा, तब न?"

"इसीलिए तो मैं तुम्हें भेज रहा हूँ। तुम्हारे जैसा योग्य व्यक्ति ही यहं कार्य कर सकता है। तुम्हें अत्यंत गोपनीय ढंग से उससे मिलना होगा और वहाँ से निकल चलने की योजना भी तुम्हें उसे बतानी पड़ेगी।" मैंने कहा।

"तो मैं क्या बताऊँगा उसे?"

"उससे कहना कि वह यथानियम अपनी राजपरिषद् को बुलाए और उसके सामने इस प्रकार का वक्तव्य दे।" इतना कहते हुए मैंने तालपत्र पर लिखा एक संक्षिप्त भाषण उसे थमाया, जिसे देखकर वह मुसकराने लगा।

"लगता है, संपूर्ण आर्यावर्त्त इस समय आपकी बुद्धि की पकड़ में है!" इतना कहते हुए भी वह मुसकराया और पत्र पढ़ने लगा।

"क्या इससे भीमसेन मुक्त हो पाएगा?"

"क्यों नहीं मुक्त हो पाएगा!" मैंने कहा, "जब वे राजपरिषद् से कहेंगे कि स्वप्न में भगवान् विरोचन ने मुझसे कहा है कि तुम अपने शिशु को गद्दी सौंप दो और अपने पाँच वरिष्ठ सरदारों से कहो कि उसके युवराज होने तक वे सत्ता की देखभाल करें। इस बीच भगवान् ने मुझे राक्षसावर्त्त से दूर ही रहने का आदेश दिया है।"

"यदि अपने महाराज की बात पर राक्षसों को विश्वास न हुआ तो?"

"विश्वास क्यों नहीं होगा?" मैंने समझाया—"पहले तो यह उनके महाराज का आदेश नहीं है। यों भी वे महाराज के आदेश को भी विरोचन का आदेश ही समझते हैं।...पर यह आदेश तो उन्हें सीधे विरोचन से मिल रहा है। और फिर जब भीमसेन स्पष्ट कहेगा कि भगवान् का आदेश है कि मैं शीघ्रातिशीघ्र यह प्रदेश छोड़ दूँ, अन्यथा इसपर संकट के बादल घिर सकते हैं, तब कोई भी राक्षस उसे रोकने का साहस नहीं करेगा।"

छंदक एक बार फिर मेरी बुद्धि पर मुसकराया और बड़ी विलक्षण दृष्टि से चलते-चलते रुककर देखने लगा। मैंने उसे तुरंत रोका—''ऐसे क्या देखते हो? सारी योजना तभी सफल होगी जब तुम उसकी गोपनीयता का निर्वाह गंभीरता से करोगे। यही समझो कि मेरी इस योजना की गंध तक हिडिंबा को नहीं लगनी चाहिए।''

''ऐसा ही होगा।'' उसने तुरंत मुसकराते हुए आश्वासन दिया।

''एक बात और!'' मैंने उसे पुनः सावधान किया।

''क्या?''

''राक्षसावर्त्त से निकलने के बाद भी पांडवों की असलियत का किसीको आभास तक न लगे।''

''तब वे द्रौपदी स्वयंवर में कैसे पहुँचेंगे?''

''दर्शक के रूप में।''

''क्या दर्शक को स्वयंवर की प्रतिस्पर्धा में भाग लेने का अधिकार होगा?''

''यह देखना मेरा काम है।'' मैंने तुरंत उसके सोच की सीमा निर्धारित की। फिर कुछ और स्पष्ट निर्देश दिए—''जैसे वे ब्राह्मणों के वेश में थे वैसे ही उन्हें वहाँ से निकलना और वैसे ही स्वयंवर में उपस्थित भी होना चाहिए। इससे राक्षसों को भी उनपर संदेह नहीं होगा और...'' इतना कहकर मैं कुछ सोचते हुए रुक गया।

''लगता है, आप कुछ सोचने लगे।'' छंदक ने तुरंत टोका।

''यही सोच रहा था कि यदि ऐसा हुआ तो स्वयंवर में चमत्कार होगा।'' मैंने मुसकराते हुए कहा।

इसके बाद हम अतिथिभवन की ओर लौटे। मार्ग में मेरे सोच में एक बात और आई। मैंने छंदक से कहा, ''सोचता हूँ, एक रहस्य तुमसे और उद्घाटित कर दूँ। यदि तुम उचित समझना तो अर्जुन को इसका संकेत कर देना।''

छंदक चलते-चलते फिर रुक गया और उसकी प्रश्नवाचक मुद्रा पुनः मेरी आकृति पर अटक गई।

मैंने फिर कहा, ''यद्यपि अर्जुन को इसकी आवश्यकता नहीं होगी। उसकी धनुर्विद्या पर मुझे पूरा विश्वास है। फिर भी मेरा लक्ष्य न चूके, इसलिए यह बात मेरे मन में आ रही है।''

''आखिर वह बात तो सुनूँ?'' छंदक की जिज्ञासा ने जोर मारा।

मैंने उस सुनसान मार्ग में भी, बहुत धीरे से, लगभग उसके कान में बताया कि द्रौपदी स्वयंवर में धनुर्विद्या की कैसी प्रतिस्पर्धा होगी। यदि उस समय कोई तीसरा व्यक्ति मुझे देखता तो वह यही सोचता कि छंदक से कही जानेवाली बात मैं हवा से

भी छिपा रहा हूँ।

छंदक मेरी बात पर मुसकराने लगा और बोला, ''आपने ऐसी घेराबंदी की है कि तीर लक्ष्य पर ही लगेगा।''

जैसी योजना थी वैसा ही हुआ। दूसरी रात को ही छंदक अदृश्य हो गया। किसीको कुछ पता नहीं कि वह कहाँ गया। लोगों ने मुझसे पूछा। मैंने भी अपनी अनभिज्ञता जाहिर की।

''वह ऐसा ही है। रहेगा-रहेगा, अचानक उपस्थित हो जाएगा। और रहेगा-रहेगा, एकदम गायब।'' उद्धव ने सात्यकि से कहा, ''छंदक को समझना बड़ा कठिन है।''

''न समझ में आकर भी वह जितना समझ में आता है, उतना ही अद्‌भुत है।'' सात्यकि बोला।

सबको छंदक के अप्रत्याशित अदृश्य होने पर आश्चर्य था, पर दुःखी केवल चेकितान लगा; क्योंकि वह छंदक की प्रकृति से परिचित नहीं था। चेकितान ने अपना दुःख सीधे मुझसे व्यक्त किया। उसका मन छंदक के अदृश्य होने के पीछे अधिक आतंकित था।

ऐसे अवसरों पर बात टालने हेतु मैं बहुधा अपनी दार्शनिकता का सहारा लेता था। इस समय भी मैंने वैसा ही किया। मैं बड़ी गंभीरता से बोला, ''हम सभी अदृश्य होने वाले हैं, चेकितान। अंतर यही है कि छंदक का जो कुछ दृश्य है, वही अदृश्य हुआ है और हम सबकी अदृश्यता ही अदृश्य होगी। दृश्य धरा रह जाएगा।''

''अदृश्य का अदृश्य होना तो एक प्राकृतिक परिदृश्य है, अनिवार्य प्रक्रिया है। पर दृश्य का अदृश्य होना एक घटना है। इसीसे मैं दुःखी हूँ और चकित भी।'' चेकितान से ऐसे उत्तर की मुझे आशा नहीं थी। मेरा अहं एक बार टूट-सा गया कि मैं जिसे चाहूँ, उसे अपने दार्शनिकता में उलझा सकता हूँ।

फिर भी छंदक का संदर्भ तो टल ही गया। मैंने एक दूसरी ही बात छेड़ दी।

''यदि मैं तुम्हारे प्रसंग को लेकर उद्धव को हस्तिनापुर भेजूँ तो कैसा हो?''

पर चेकितान पर पराजय का इतना गहरा प्रभाव पड़ा था कि सहज उपलब्धि की उसमें कोई संभावना ही नहीं रह गई थी।

उसने सीधे-सीधे पूछा, ''वहाँ जाकर उद्धव क्या करेंगे?''

''उद्धव जाकर महाराज धृतराष्ट्र से कहेगा कि पुष्कर चेकितान को लौटा दें।''

''तो क्या वे पुष्कर हमें लौटा देंगे?'' चेकितान को यह कार्य ऐसा सरल नहीं लग रहा था। वह बोला,''जीता हुआ राज्य और हरण कर लाई गई युवती शायद ही कोई लौटाता हो।''

"क्यों नहीं लौटाते?" मैंने जोर दिया—"लोग लौटाते हैं भय से, आतंक से और अनिष्ट की आशंका से। अब पहले जैसी तुम्हारी स्थिति नहीं रही। सारा राक्षसावर्त्त, नाग प्रदेश और द्वारका तुम्हारे साथ है।" मैंने उसे समझाया।

वह कुछ बोला नहीं। शायद द्वारका का नाम ले लिया था इसलिए, अन्यथा वह कह सकता था कि राक्षसावर्त्त और नाग प्रदेश का साथ होना, न होना बराबर है।

मैंने उससे कहा, "यह तो तुम जानते ही हो कि धृतराष्ट्र और दुर्योधन के साथ पूरा हस्तिनापुर नहीं है। तुम्हारे संदर्भ में न पितामह उसके साथ होंगे और न द्रोण ही। विदुरजी का तो कहना ही क्या है!"

"पर ये लोग दुर्योधन के मुँह पर तो कुछ बोल नहीं सकते।"

"मुँह पर न बोल सकते हों तो इससे क्या हुआ? धधकते ज्वालामुखी से शांत पड़ा ज्वालामुखी अधिक खतरनाक होता है। धधकते ज्वालामुखी से तो लोग अपना बचाव कर लेते हैं; पर शांत ज्वालामुखी जब धधकता है तो कोई रास्ता नहीं सूझता।"

"पर मुझे तो लगता है, वे मृत ज्वालामुखी हैं, जिनपर दुर्योधन अपने मन की हरियाली उगाता रहता है।"

मैंने फिर जोर देकर अपनी बात दुहराई—"तुमने अपनी सूचना से मुझे भी अवगत कराया था कि लोग तुम्हारे बारे में उतना निष्क्रिय नहीं रहेंगे जितना तुम सोचते हो। तुम्हारी पराजय के बाद द्रोण स्वयं दुर्योधन की बढ़ी हुई शक्ति से चिंतित हैं। उन्होंने स्वयं कई लोगों से कहा है कि इस स्थिति ने युवराज के अहं के नाग को और अधिक विषैला बना दिया है। अब तो उसकी फुफकार से हम लोग भी नहीं बचेंगे।"

मैंने चेकितान को बताया—"यह भी मैंने सुना है कि तुमपर अपनी विजय की डींग जब दुर्योधन मंत्रिपरिषद् में मार रहा था तब विदुरजी ने स्पष्ट कहा, 'राजकुमार का यह कार्य नीतिसंगत नहीं है।'

"तब दुर्योधन अपनी प्रकृति के अनुसार गरजा था—'नीतिसंगत क्यों नहीं है? अब हम किसी भी राज्य पर सीधे आक्रमण कर सकते हैं।'

" 'और कोई भी राज्य आप पर भी सीधे आक्रमण कर सकता है।' विदुरजी तुरंत बोले, 'राजनीति कहती है कि यदि शांति से रहना हो तो अपने राज्य की सीमा से लगे किसी भी मित्र राज्य को पराजित कर अपने में मिलाना नहीं चाहिए, वरन् उन्हें मित्र बनाकर रखना चाहिए। उन्हें विजित करना सीमा पर बनी सुरक्षा दीवार को अपने हाथों तोड़ देना है।' "

"मुझे इस घटना की जानकारी है।" चेकितान बोला, "और मुझे यह भी

मालूम है कि उस समय दुर्योधन ने ललकारते हुए कहा था—'मैं शांति-अशांति की परवाह नहीं करता, महामात्य, मेरा ध्यान तो इस समय राज्य विस्तार की ओर लगा है।' सुना है, दुर्योधन की यह ललकार सभी पर भारी पड़ी। उस समय सभी चुप हो गए थे।''

चेकितान की हताशा मेरे प्रयत्न को निरर्थक समझती थी और मैं एक तीर से कई लक्ष्य भेदने की चेष्टा में था। एक ओर मैं दुर्योधन को धमकाना चाहता था और दूसरी ओर पितामह, द्रोण, विदुर आदि को यह दिखाना चाहता था कि दुर्योधन किस तरह आप लोगों का नाम लेकर अनर्थ कर रहा है। यदि आपने हस्तक्षेप नहीं किया तो यह हस्तिनापुर का नाश कर देगा।

मेरी नीति ऐसी स्थिति पैदा करने की थी कि दुर्योधन अपने घर में ही अलग-थलग पड़ जाए। यदि वे लोग पुष्कर लौटा देते हैं, तब मैं हस्तिनापुर की सीमा पर ही विरोध सुलगा दूँगा। आसपास के राज्य उसे हवा देने के लिए पहले से ही तैयार थे। क्योंकि अनायास पुष्कर पर चढ़ाई कर उसे अपने राज्य में मिलाने का दुर्योधन का कार्य किसीको अच्छा नहीं लगा था। हस्तिनापुर की इस बढ़ती हुई शक्ति से भी सभी स्वयं को खतरे के निकट पाते थे।

मैंने चेकितान को पुनः समझाया—''मान लो वे पुष्कर नहीं लौटाते, तब भी हमें उद्धव को भेजने में हानि क्या है?''

''यदि ऐसा नहीं होता तो लाभ क्या है?''

''लाभ! यह तो समय आने पर ही पता चलेगा।'' मैं मुसकराया।

चेकितान मान तो गया, पर इस कार्य में उसने कोई उत्सुकता नहीं दिखाई।

उद्धव वैवाहिक जीवन के आनंद में मस्त था। इधर उससे मेरी मुलाकात भी कम हो पाती थी—और यदि होती भी थी तो वह भी औपचारिक एवं संक्षिप्त सी। केवल नमस्कार-प्रणाम तक।

इसीलिए जब मैंने उसे बुलाया और आज ही मिलने का संदेश भेजा तो उसने इस अप्रत्याशित आह्वान को बड़ी गंभीरता से लिया। संध्या होते-होते वह मेरे कक्ष में उपस्थित हो गया। संयोग था कि कक्ष में उस समय कोई और था नहीं। आते ही मैंने कहा, ''जरा कक्ष के द्वार बंद कर दो और अच्छी तरह देख लो कि कपाटों के छिद्रों से किन्हीं आँखों की व्यग्रता झाँक तो नहीं रही है।''

मेरे इतना कहने से वह कटकर रह गया। यह पूछने की स्थिति में भी नहीं रहा कि आपने मुझे बुलाया किसलिए है।

मैंने ही कहा, ''मैंने तुम्हें इसलिए बुलाया है कि अब इस प्रदेश में तुम्हीं मेरे नितांत आत्मीय रह गए हो और यह कार्य तुम्हीं कर सकते हो।''

मुझे निरंतर निहारती उसकी आँखें प्रश्नवाची हो गईं।

''तुम्हें यथाशीघ्र हस्तिनापुर जाना पड़ेगा। वहाँ दुर्योधन के विरुद्ध एक वातावरण बनाना होगा।'' मैंने कहा। उसने सोचा, शायद पांडवों के संदर्भ में यह करना है; पर जब मैंने उसे बताया कि इस राजनीति का मूल केंद्र चेकितान और उसकी पराजय होगा, तो वह आश्चर्य में पड़ गया।

''इसके लिए तुम्हें आचार्य द्रोण, पितामह तथा विदुरजी आदि से अलग-अलग मिलना होगा और सबको समझाना होगा कि ऐसा करते समय दुर्योधन ने न हस्तिनापुर के हित का ध्यान रखा, न आप सबकी प्रतिष्ठा का और न मित्र के प्रति किसी नीति का।''

फिर इस प्रसंग में मिली जानकारी से भी मैंने उसे अवगत कराया और कहा, ''वातावरण एकदम तैयार है, केवल उसे सुलगाना है। असंतोष के कर्पूर की गंध तो मुझे यहाँ से मिल रही है, बस उसे एक चिनगारी चाहिए।''

मैंने उससे यह भी कहा, ''इसके लिए तुम्हें मेरा दूत बनकर जाना है और दुर्योधन से स्पष्ट कहना है कि यह द्वारका का आदेश है। मित्र के प्रति यदि शक्तिशाली राष्ट्र ही ऐसा करेंगे तो राजकीय संधियों पर से लोगों का विश्वास उठ जाएगा।''

उद्धव की आकृति पर गंभीरता उभर आई। मैंने उसे धीरे से बताया—''छंदक को मैं भीम के पास भेज चुका हूँ। यदि वह यहाँ होता तो मैं तुम्हें न भेजता। नव परिणीता से अलग करने का पाप मैं न लेता।''

उद्धव की आकृति पर लज्जा मुसकराहट बनकर उभर आई और मेरे अधरों को छूती हुई निकल गई।

''क्या मैं जान सकता हूँ कि छंदक को भीम के यहाँ क्यों भेजा गया है?'' उद्धव ने पूछा।

''समय आने पर स्वयं जान जाओगे। देखो, पांडवों के जीवित रहने की किसीको भनक तक न लगे।'' मैंने कहा और उसे सावधान भी किया।

''यदि विदुरजी और प्रपितामही ने पूछा तो?''

''पहले तो वे तुमसे पूछेंगे नहीं, यदि पूछें भी तो स्वयं को इन सारे संदर्भों से निर्लिप्त रखना।''

फिर मैं उद्धव को इस प्रसंग के दूसरे पहलुओं की ओर ले गया—''दुर्योधन की पत्नी भानुमती से तो तुम्हारा अच्छा परिचय है?''

''अच्छा परिचय क्या, हाँ, जानता हूँ।''

''तो तुम्हें उससे भी मिलना होगा।'' मैंने कहा, ''तुम्हें पूरा माहौल बनाने में

कई दिन हस्तिनापुर में लग सकते हैं। इसलिए पूरी तैयारी करके जाना होगा।''

''भानुमती से मिलने का प्रयोजन?''

''अरे, वह तुम्हारी भाभी है और सुंदरी भी।'' मैंने व्यंग्य में कहा और बात उसे बड़ी गहराई तक छू गई; क्योंकि जब वह हस्तिनापुर जाता था तब भानुमती से अवश्य मिलता था। मैंने उसकी दुर्बलता पर अँगुली रख दी थी।

वह कुछ बोला नहीं, केवल मुसकराता रहा।

अब मैंने उसे बताया—''हो सकता है, द्रौपदी के स्वयंवर का निमंत्रण वहाँ पहुँच गया हो या पहुँच रहा हो। इस संबंध में तुम्हें एक ओर दुर्योधन तथा अन्य कौरवों को पांचाल आने के लिए प्रच्छन्न रूप से प्रेरित करना होगा और दूसरी ओर भानुमती को समझाना पड़ेगा कि भैया द्रौपदी के रूपजाल में बेतरह फँसे हैं। वह किसी प्रकार पांचाली स्वयंवर की स्पर्धा जीतना चाहते हैं।''

''तो इसका परिणाम क्या होगा?''

''परिणाम होगा—कलह। आंतरिक कलह, बाह्य कलह। कलह, कलह, कलह! ऐसा करो कि दुर्योधन की मानसिकता सामान्य न रहे। कलह में पूरी तरह डूब जाए।'' मैंने बड़े आवेश में कहा।

''इसका मतलब है कि मैं हस्तिनापुर में कूटनीति के मोहरे बैठाने के लिए भेजा जा रहा हूँ।''

''इसीलिए तो तुम्हें अपना दूत बनाकर भेज रहा हूँ। मेरे दूत होकर कूटनीति नहीं करोगे तो क्या करोगे?'' मैंने मुसकराते हुए कहा।

''गाय चराऊँगा। एक बार आपका दूत बनकर गोकुल गया था। ज्ञान के मोहरे बिछाने। जो दशा हुई, वह जग-जाहिर है। अब हस्तिनापुर जा रहा हूँ कूटनीति के मोहरे बिछाने। परिणाम भगवान् के हाथ है।'' उद्धव हँसते हुए बोला।

''उसे भगवान् के ही हाथ में रहने दो।'' मैंने कहा।

वह अब भी सोचता रहा।

एक-एक दिन करके नाग प्रदेश में काफी दिन गुजर गए। रोज ही सोचता रहा कि अब हमें चल देना चाहिए; क्योंकि द्वारका की जो सूचनाएँ मिल रही थीं, वे अच्छी नहीं थीं। पर नव विवाहित के लिए ससुराल का और हमारे लिए ननिहाल का आकर्षण कम नहीं था। यह आकर्षण ही हमें बाँधे था। फिर इस बंधन में चेकितान के अपने स्वार्थ ने एक गाँठ और डाल दी थी। उसकी मंशा थी कि हस्तिनापुर से उद्धव के लौटने के बाद ही मैं द्वारका के लिए प्रस्थान करूँ।

मेरा कहना था कि द्वारका में मुझे अधिक दिनों तक नहीं रहना है। पांचाल के स्वयंवर में उपस्थित होने के लिए तो हमें आना ही है और तुम सबको लेकर ही मैं

द्रुपद के उस महोत्सव में चलूँगा।

पर चेकितान की आशंका थी कि उद्धव द्वारा आपका संदेश पाकर दुर्योधन की गंभीर प्रतिक्रिया होगी। और ऐसे में यदि उसे यह पता चला कि द्वारकाधीश नाग प्रदेश से जा चुके हैं, तब तो हो सकता है, वह नाग प्रदेश पर ही चढ़ाई कर दे। उस स्थिति में मैं अकेला पड़ जाऊँगा। मेरी स्थिति भी बिखर चुकी है और नाग प्रदेश का सैन्य संगठन भी अभी बन नहीं पाया है।

दुर्योधन की प्रकृति को देखते हुए चेकितान की आशंका भी निर्मूल नहीं थी। पर मुझे ऐसा नहीं लगता था; क्योंकि प्रश्न मेरे सम्मान और मेरी प्रतिष्ठा का था। उद्धव मेरा संदेश लेकर गया था। उसकी प्रतिक्रिया चाहे जो हो, पर आक्रमण तो नहीं ही होना चाहिए।

यदि मूर्खता पर सवार उसके अहं ने आक्रमण कर ही दिया, तो क्या होगा? चेकितान का जो कुछ होना है, वह तो होगा ही। यहाँ आने पर वह राक्षसावर्त्त के समाचार से भी भिज्ञ हो जाएगा। फिर उसे यह समझते देर नहीं लगेगी कि वृकोदर कौन है। उधर प्रमातामह का मोह मुझे छोड़ना नहीं चाहता था। जीवन का आनेवाला हर क्षण उन्हें अपना अंतिम क्षण दिखाई दे रहा था। जैसे डूबता हुआ व्यक्ति किसी सहारे को दबोचकर पकड़ता है वैसे ही मृत्यु के अंतिम क्षणों में मोह की जकड़न अपने अंतिम उत्कर्ष पर होती है। हर वस्तु उससे छूटती हुई मालूम होती है और हर वस्तु को वह जोर से जकड़ना चाहता है। प्रमातामह की उसी जकड़न में मैं भी आ गया था।

एक दिन मुसकराते हुए मैंने उनसे कहा, ''उस विषाक्त दह में जब मैं कूदा था तब क़ालिय की जकड़ से तो मैं बड़ी आसानी से मुक्त हो गया था, पर आपका मोह मुझे जल्दी नहीं छोड़ पा रहा है।''

''मैं छोड़ूँ चाहे न छोड़ूँ, पर मौत तो सबसे छीनकर मुझे ले जाएगी।'' प्रमातामह बोले।

''तब आप मृत्यु को ऐसा मौका क्यों देते हैं?'' मैंने बड़ी गंभीरता से कहा, ''वह सबसे आपको छीने, इसके पहले ही आप सबको छोड़कर उसका स्वागत करने के लिए तैयार हो जाइए। जब अंत में सब छूटना ही है तो अभी से सबको क्यों न छोड़ दिया जाए!''

मुझे याद है कि इतना कहते ही प्रमातामह की आँखें बंद हो गई थीं और वे सोचने लगे थे। मैंने अनेक बार कही गई बात को पुनः दुहराया—''न मृत्यु कुछ है और न जीवन कुछ है। यह मात्र वस्त्र बदलना है। जो वस्त्र पुराना होकर जीर्ण-शीर्ण हो गया है, जिसमें स्वयं को ढकने की सामर्थ्य नहीं है, उसे तो बदलना ही होगा।

इसमें दुःख क्या, सुख क्या! कर जब-जब अपने कागर (पंख) बदलता है या सर्प जब-जब अपनी केंचुल छोड़ता है, तो क्या वह दुःखी होता है? नितांत सहजभाव से होनेवाली ये प्राकृतिक क्रियाएँ हैं। इनमें कोई व्यवधान नहीं, बाधा नहीं। जैसे सूर्य का उदित होना, अस्त होना स्वाभाविक है, एक अनिवार्य प्रवृत्ति है। इसके लिए बहुत परेशान होने की आवश्यकता नहीं है।''

''मैं परेशान नहीं हूँ। मेरी मात्र इतनी ही इच्छा है कि मृत्यु के समय तुम मेरे पास रहो।'' प्रमातामह बोले और मुझे हँसी आ गई। मैंने उसी अट्टहास के बीच कहा, ''मैं तो आपके पास हूँ ही और रहूँगा भी; पर आप मुझसे अधिक मेरे शरीर को अपने पास रखना चाहते हैं।''

इतना कहकर मैं फिर हँसने लगा। प्रमातामह मेरा मुख देखते रह गए। उनके मुँह से निकला—''सचमुच कन्हैया, जीना कोई तुमसे सीखे।''

''मैं तो जीना नहीं, मरना सिखाता हूँ। जिसे मरना आता है, उसे जीना सिखाने की आवश्यकता नहीं पड़ती।''

इसी बीच मुझे सूचना मिली कि कोई आपसे मिलना चाहता है। अतिथिगृह के प्रतिहारी ने यह भी बताया कि आगंतुक इस प्रदेश का नहीं लगता।

''तुमने उससे परिचय नहीं पूछा?''

''मैंने पूछा था। उसने कहा कि मैं कन्हैया से ही जो कुछ कहना होगा, कहूँगा। मेरे स्वामी का यही आदेश है।''

''तब तो लगता है कि वह कहीं का दूत है।''

''मैं भी ऐसा ही समझता हूँ।'' प्रतिहारी बोला, ''मैंने उससे अतिथिगृह में आपकी प्रतीक्षा करने के लिए कहा भी। तब वह कहने लगा—'मेरे पास प्रतीक्षा करने का समय नहीं है। मैं इसी समय उनसे मिलकर चले जाना चाहता हूँ।' ''

मेरा मन अनुमान के काल्पनिक क्षेत्र में दौड़ते हुए हस्तिनापुर में उद्धव के पीछे लगा। कुछ समय तक सोचता रहा। फिर प्रमातामह के चरण छूकर एकदम बाहर निकल आया।

अश्व से आया यह व्यक्ति दूत जैसा नहीं लग रहा था। हो सकता है, कोई गुप्तचर हो। उसकी चेष्टाएँ भी कुछ ऐसी ही थीं। वह मुझे देखते हुए कुछ समय तक चुप खड़ा रहा। जैसे वह पहचान न रहा हो या पहचानने की चेष्टा कर रहा हो।

इसी बीच प्रतिहारी ने संकेत से उसे बताया कि ये वे ही हैं, जिन्हें तुम खोज रहे थे।

इसके बाद ही उसने मेरे समक्ष प्रणिपात किया तथा मेरे और निकट आकर बड़ी सावधानी से कहा, ''मैं अग्रवाण (आगरा) से आ रहा हूँ।''

अग्रवाण! मेरी चिंतना पुनः सक्रिय हुई—"कहो, चारुदेष्णा का क्या हाल है?"

कुछ कहने के पहले दूत ने अपनी दृष्टि चारों ओर दौड़ाई। उसे प्रतिहारी की उपस्थिति भी खटक रही थी। मैंने समझ लिया और उसे लेकर तुरंत अतिथिगृह की ओर चला।

मेरे सामने पहली कठिनाई उसके पहचान की थी। इसका क्या प्रमाण था कि वह अग्रवाण से ही आया है और चारुदेष्णा ने उसे भेजा है। इसीलिए अतिथिगृह में पहुँचते ही मैंने उससे पूछा, "आपके महाराज ने कोई पत्र दिया है?"

"पत्र तो नहीं दिया है, पर मौखिक संदेश भेजा है।" दूत बोला और मेरा चिंतन पुनः अपने मार्ग पर अग्रसर हुआ। कदाचित् दूत ने मेरी मुखमुद्रा से समझ लिया और तुरंत हँसते हुए बोला, "शायद आपके समक्ष विश्वास का संकट उत्पन्न हो गया है।"

उसने तुरंत अपनी थैली में हाथ डाला और मोर पंख मेरी ओर बढ़ाते हुए कहा, "आप जब पिछली बार अग्रवाण आए थे, तो यह आपके मुकुट से गिर पड़ा था। महाराज ने इसे उठाकर रखा था और चलते समय पहचान के लिए आपको देने के लिए दिया है।"

मैंने वह मोर पंख तो ले लिया, पर मेरा संकट अब भी ज्यों-का-त्यों था। ऐसे मोर पंख तो बहुत से हो सकते हैं। फिर यह मेरी समस्या का समाधान कैसे बन सकता है? यह सारा अविश्वास का विष आर्यावर्त्त की वर्तमान दूषित राजनीति ने समूचे वातावरण में घोल दिया था, जिसका परिणाम था कि मेरे जैसा अशंकित व्यक्ति भी शंकित हो उठता था। फिर भी मैं कुछ बोला नहीं।

मैं देख रहा था कि वह अपनी थैली में कुछ और खोज रहा है। फिर उसने निकालकर एक मरकत मणि मेरी हथेली पर रखी—"पहचान के लिए महाराज ने यह मणि भी आपको देने के लिए दी है। उनका कहना था कि मोर पंख के साथ यह मणि भी आपके मुकुट से ही गिरी थी।"

अब विश्वास का कोई संकट नहीं था। बातें बड़ी सहजता से आरंभ हुईं। उसने बताया कि चेकितान के पराजित हो जाने के बाद महाराज स्वयं को अकेला अनुभव कर रहे हैं। कौरवों के आतंक की छाया उन्हें अपने ऊपर मँडराती दिखाई दे रही है।

"क्यों? चेकितान की पराजय के बाद कोई नई बात हुई है क्या?"

"बात हुई नहीं है, पर हो सकती है।" दूत बोला, "दुर्योधन ने उन्हें हस्तिनापुर बुलाया था; पर हमारे महाराज गए नहीं।"

"क्यों नहीं गए?" मैंने कहा, "ऐसे राजनीतिक आमंत्रण अस्वीकार नहीं किए जाते।"

''यह तो ठीक है, पर महाराज को गुप्तचरों ने सूचना दी थी कि इस आमंत्रण के पीछे दुर्योधन की योजना महाराज चारुदेष्णा को बंदी बनाकर अग्रवाण पर अपना अधिकार घोषित करने की है।''

''दुर्योधन का अहं और उसकी महत्त्वाकांक्षा किस सीमा तक जा सकती है!'' मेरे भीतर-ही-भीतर एक उबाल आया—''तब चारुदेष्णा ने हस्तिनापुर न जाकर अच्छा ही किया।''

''पर दुर्योधन ने इस घटना को महाराज द्वारा हस्तिनापुर को अपमानित करने के रूप में प्रचारित किया।'' दूत ने कहा और बताया—''हमारे महाराज बड़े चिंतित हैं। उनका सोचना है कि यदि दुर्योधन ने इसी तरह पितामह और द्रोण को भी उलटा-सीधा समझा लिया, तब तो वह सीधा आक्रमण ही कर देगा।''

''तब इस विषय में आपके महाराज की मुझसे क्या अपेक्षा है?''

''महाराज की इच्छा है कि इस विषय में आप हस्तक्षेप करें, अन्यथा अग्रवाण का भविष्य अंधकारमय है।''

''अंधकारमय तो पूरे आर्यावर्त्त का भविष्य है, मित्र!'' मेरे मुख से निकला। मैंने अनुभव किया कि चारुदेष्णा सचमुच अलग-थलग पड़ गया है। उसका निरुत्साहित होना स्वाभाविक है। फिर भी मैंने दूत से कहा, ''दुर्योधन की महत्त्वाकांक्षा चारों ओर आग लगाती जा रही है। कहीं वह उसमें स्वयं भस्म न हो जाए।''

दूत चुप था। उसकी मौन मुद्रा मानो कह रही थी कि अभी तो ऐसा होता नहीं दिखता। पांडवों की सदाशयता सबको सहारा थी। अब वह अंकुश भी दुर्योधन के मस्तक पर नहीं रहा। मैंने पुनः अपनी बात दुहराई—''महत्त्वाकांक्षा वह अग्नि है, जो जब दूसरे को नहीं जला पाती तो स्वयं ही जलकर राख हो जाती है।'' इसी क्रम में मैंने उसे आर्यावर्त्त की वर्तमान स्थिति से अवगत कराया और उसे बताया कि चेकितान भी आजकल यहीं है।

''चेकितान यहीं हैं! पर हमारे यहाँ तो यह प्रचारित है कि वह कौरवों के बंदीगृह में हैं!'' दूत को आश्चर्य हुआ।

''लगता है, तुम्हारे यहाँ की गुप्तचर व्यवस्था भी काफी दुर्बल हो गई है।''

''गुप्तचरों ने बहुत पता लगाया, पर उलटे चेकितान का कहीं पता नहीं चला। इसलिए उनका भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचना स्वाभाविक था।''

रात्रि में चेकितान से दूत की भेंट कराई गई। विपत्ति के समान स्तर पर एक-दूसरे को देखकर बड़ा संतोष होता है। चेकितान को भी कुछ ऐसा ही संतोष हुआ। पर वह यह जानकर बड़ा विचलित था कि आर्यावर्त्त में यह प्रचारित कर दिया गया है कि मैं कौरवों के बंदीगृह में हूँ। अब उसने इस संदर्भ में मुझसे सलाह ली।

मैंने उसे बताया—''इसके लिए तुम्हें घबराने की आवश्यकता नहीं है। जब लोग असलियत जानेंगे तो स्वयं वे दुर्योधन की इस नीचता पर थूकेंगे। इसके लिए तुम्हें चाहिए कि तुम यथाशीघ्र जनता को वास्तविकता से परिचित कराओ।''

''यह कैसे संभव होगा?'' उसने पूछा।

''इसके लिए आवश्यक है कि तुम चारुदेष्णा से एक सहयोग संधि करो।'' मैंने उसे सावधान करते हुए कहा, ''संधिपत्र की शब्दावली न तो बहुत जटिल हो और न बहुत विस्तृत। सीधा-सीधा लिखो—'अपने प्रदेशों की संप्रभुता की रक्षा करते हुए हम शांति और विपत्ति में एक-दूसरे के सहयोगी रहें।' ''

एक पंक्ति का यह संधि प्रस्ताव चेकितान को पसंद आया। पर उसने ऐसी संक्षिप्त संधि न कभी की थी, न देखी थी और न सुनी थी। शायद इसीलिए उसकी जिज्ञासा उसे रोक न पाई। उसने हँसते हुए पूछा, ''संधि की इस संक्षिप्तता का कोई विशेष कारण है क्या, कन्हैया?''

''हाँ, है।'' मैंने स्पष्ट किया—''इस संक्षिप्त शब्दावली पर किसी भी संधिकर्ता को बहुत सोचना या समझना नहीं पड़ेगा और न उसके अहं को ही कोई ठेस पहुँचेगी। इसके विपरीत उसको अपने चारों ओर एक सुरक्षा की दीवार स्वयं उठती हुई दिखाई देगी। इस संधि में कोई भी अपने को असुरक्षित नहीं देखेगा। और हो सकता है कि यह संक्षिप्त शब्दावली हस्तिनापुर के विरुद्ध निर्मित होनेवाले महासंघ का बीज रूप बन जाए।''

चेकितान ने अब मेरी कूटनीति को समझा। बड़ा प्रसन्न हुआ। अब उसने अनुभव किया कि बिखरों को एकजुट करने की इसके अतिरिक्त और कोई दूसरी युक्ति नहीं हो सकती।

मैंने उस दूत के समक्ष ही चेकितान से कहा, ''अच्छा होता, तुम यहाँ से थोड़ा समय निकालकर स्वयं अग्रवाण जाते। चारुदेष्णा को अपनी योजना समझाते और यह भी बताते कि इस संबंध में कन्हैया क्या सोचते हैं। इससे एक लाभ यह भी होगा कि वे स्वयं देख लेंगे कि तुम किसीके बंदीगृह में नहीं हो वरन् मुक्त पक्षी की तरह आकाश में चक्कर काटते हो।...और वह दिन दूर नहीं, जब बाज बनकर हस्तिनापुर की महत्त्वाकांक्षा पर झपट पड़ोगे।''

□

सात
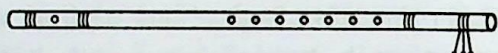
मेरी ध्वनि का आरोह-अवरोह मेरी शब्दावली से अधिक प्रभावशाली था। वे मेरा मुँह देखते रह गए।

एक दिन भोरे-भोरे अपने ननिहाल को सादर प्रणाम कर अपनी सारी सेना वहीं छोड़ निकल पड़ा। शरद् का दुग्ध धवल परिवेश लहराने लगा था। आकाश में बादलों के चीथड़े आवारा की तरह इधर-उधर भटकने लगे थे। पारिजात फूलने लगा था। नदियों और जलाशयों का उन्माद ठंडा पड़ चुका था। उन्होंने निगले गए भागों को उगल दिया था।

हम लोग सामान्य गति से चले जा रहे थे कि सात्यकि ने अचानक एक चिंता व्यक्त की—''आर्यावर्त्त की जो परिस्थिति है, उसमें कभी कुछ भी हो सकता है और हम दो-चार व्यक्ति अकेले क्या कर सकते हैं?''

''मुझे आश्चर्य है कि यह प्रश्न वह व्यक्ति कर रहा है, जिसने कभी मथुरा के पश्चिमी नगर द्वार से जरासंध को अकेले खदेड़ दिया था।'' मैंने कहा, ''मनुष्य को एकाकीपन का ध्यान उसी समय आता है, जब उसे अपनी किसी दुर्बलता का आभास होता है।''

सात्यकि चुप हो गया और मुझे देखता रह गया।

वस्तुतः उद्धव भी साथ में नहीं था। वह हस्तिनापुर में अपने कर्तव्य के निर्वाह में लगा रहा। मैंने नानाजी से उसके लिए कहा था कि जब भी वह आए, उसे यहीं रोक लीजिएगा। स्वयंवर के लिए पांचाल आते समय हम लोग उसे यहाँ से ही लेते चले जाएँगे। मैंने चेकितान को भी अपने कर्तव्य में लगे रहते हुए सचेत रहने की सलाह दी और उद्धव के आते ही सारी व्यवस्था उसपर छोड़कर, अपने संधिपत्र पर हस्ताक्षर कराने अग्रवाण जाने का निर्देश दिया।

''यों तो संधिपत्र उनका ही दूत ले गया है,'' मैंने कहा, ''पर वह तुम्हारे जाए बिना हस्ताक्षर करेंगे नहीं। मैं उनकी प्रकृति जानता हूँ।''

वह मौन ही रहा और स्पष्ट लगा कि कुछ कहना चाहता है; पर संकोच ने

उसके अधरों पर अँगुली धर दी थी।

मैंने बिना किसी भूमिका के कहा, "जो कुछ कहना चाहते हो, स्पष्ट कहो। अब विलंब करना मेरे लिए संभव नहीं है।"

इसपर उसने कुछ शब्दों और संकेतों का सहारा लेते हुए कहा, "किस हैसियत से यह संधिपत्र लेकर जाऊँगा; क्योंकि यह संधि दो या दो से अधिक राजाओं के बीच होनी है। मैं तो अब कहीं का राजा नहीं रहा।"

मैंने अनुभव किया कि चेकितान का अहं नाग प्रदेश का महामात्य होने में संतुष्ट नहीं है वरन् उसकी मानसिकता हीन वृत्ति का शिकार हो गई है।

मैंने तुरंत कहा, "तुम जहाँ के राजा थे वहीं का स्वयं को समझो। किसी वस्तु को छीनने से वह उस व्यक्ति की तब तक नहीं हो जाती जब तक उसका पूर्व स्वामी उसपर से अपना अधिकार नहीं छोड़ता। यह ठीक है कि छीननेवाले के पास तुम्हारा राज्य कुछ समय तक रहेगा। बाद में तो वह तुम्हारा ही होने वाला है।"

इतना सुनते ही उसकी बाँछें खिल गईं। अंधा क्या चाहे, दो आँखें। अंत में उसने आश्वासन ले ही लिया कि मैं तुम्हारा राज्य तुम्हें अवश्य दिलाऊँगा।

चेकितान अब परम प्रसन्न था। वह बहुत दूर तक मुझे छोड़ने भी आया। मैंने उसे पुन: सावधान किया कि उद्धव के आते ही हस्तिनापुर का सारा समाचार मेरे यहाँ भेजने की व्यवस्था करना; किंतु उद्धव को मत भेजना।

उसने सहर्ष स्वीकार किया। अब उसकी मानसिकता सामान्य धरातल पर थी।

उधर छंदक राक्षसावर्त्त में अपने ढंग से हमारी ही राजनीति में लगा था। उसके लिए भी मैंने चेकितान से कहा, "वह जो कुछ कहे और जैसी सूचना भेजे, उसे आँख मूँदकर स्वीकार करना तथा उसके आदेश को मेरा ही आदेश मानना।"

उसने इस बार भी सिर हिलाकर अपनी स्वीकृति प्रदान की।

मैंने मुसकराते हुए व्यंग्य किया—"पर एक बात से सचेत रहना।"

"क्या?"

"बस वैसी गलती मत करना जैसी उद्धव ने की है।"

चेकितान इस बार खुलकर हँसा।

"तुम जानते नहीं, चेकितान, ये नाग कन्याएँ जब काटती हैं तब प्रेम का नशा नहीं वरन् ऐसा विष चढ़ता है कि मनुष्य तो जीवित रहता है, पर उसकी बुद्धि मारी जाती है।"

"यह मात्र वर्तमान का ही अनुभव नहीं है, यह तो ऐतिहासिक सत्य है, कन्हैया!" चेकितान ने मेरा ही बाण मुझपर चला दिया और मेरी दो पीढ़ी ऊपर तक हँसी उछाल दी।

बाद में मैंने उसे यह भी बताया—''जाते समय मार्ग थोड़ा लंबा हो जाएगा; पर मैं अग्रवाण होता जाऊँगा। सारी बातें उसे बताऊँगा। तब तुम्हारी राह सरल हो जाएगी और उसके सामने भी नए क्षितिज के द्वार खुलेंगे।''

चेकितान लौट गया और हम लोग अग्रवाण की ओर बढ़े।

अब हमारे सामने था बस एक कार्य, एक लक्ष्य, एक ध्येय—चलना, चलना, चलना।

हम दिन-रात चलते गए। मार्ग में पड़नेवाले गाँवों से भी मुँह फेरकर आगे बढ़ते रहे। जहाँ पहचान लिये जाते थे वहीं कुछ क्षणों के लिए रुकते थे। इसीको भोजन-पानी का अंतराल या अवकाश समझ लीजिए। और इन्हीं गाँवों से हम रात के लिए मशालों की भी व्यवस्था कर लेते थे।

इस प्रकार निरंतर चलते रहने पर हम दो दिन और दो रात के बाद अग्रवाण पहुँचे।

अग्रवाण में मेरा यह आगमन अप्रत्याशित था। हम लोग नगर से दूर आरण्यक प्रदेश में ही यमुना के किनारे नित्यकर्म से निवृत्त होकर सीधे नगर द्वार में प्रवेश कर गए। दिन का प्रथम प्रहर बीत चुका था।

नगर की मानसिकता हमें कुछ विचित्र सी लगी। चहल-पहल को कुचल देनेवाली भयग्रस्त आशंका से डूबा-डूबा-सा वातावरण। न हँसी, न उल्लास, न कोई किसीसे खुलकर बात करता दिखाई दिया। सब बस अपने में बुझे-बुझे-से। कैसे कहूँ कि नगर में किसीने हमें जैसे पहचाना ही नहीं। लोगों की हमपर दृष्टि ही नहीं पड़ी या सचमुच हम उनके लिए अनचीन्हे या अनपहचाने ही थे।

आपको जानकर आश्चर्य होगा कि हमारे आने की सूचना तक चारुदेष्णा को उनके गुप्तचर न दे पाए, तब प्रशासनिक अधिकारी अंधकार में रह गए तो आश्चर्य क्या!

राजभवन से कुछ दूरी पर ही हमने रथ रुकवाया। सारथि से अपने आने का संदेश भेजा। जब राजभवन के प्रहरी से कहा गया कि द्वारकाधीश पधारे हैं, तब उसे आश्चर्य हुआ। उसने सारथि का परिहास उड़ाते हुए कहा, ''पागल तो नहीं हो गए हो! यहाँ द्वारकाधीश का क्या काम? यदि कहो कि महाराज दुर्योधन आए हैं, तो बात कुछ समझ में आती है।...और यदि वे आए होते तो अब तक हलचल मच गई होती।''

यह केवल राजभवन के प्रहरी की ही मनःस्थिति नहीं थी। सारा अग्रवाण दुर्योधन की पहचान और मेरी अनपहचान की स्थिति में था। दुर्योधन के किसी भी समय आ जाने की आशंका पंगु के समक्ष मुँह बाए सिंह की तरह हर दम

खड़ी थी।

सारथि ने प्रतिहारी से कहा, ''आपको विश्वास न हो तो आप स्वयं चलकर देख लें।''

तब वह प्रतिहारी सचमुच मुझे देखने आया। यहाँ भी मेरी पहचान की रक्षा की मेरे मोर मुकुट ने। वह मुझे देखते ही स्तंभित हो गया। उसकी इस दशा को देखकर हम लोगों की छूटी हँसी ने उसे झकझोरा। फिर तो वह वानरों-सा किलकारी मारता और छलाँगें लगाता उड़ चला।

राजभवन में हलचल मच गई। किसी आनंदोत्सव की सूचना देनेवाली शंख और मादल की ध्वनियों ने अग्रवाणों को चकित कर दिया। उनकी जिज्ञासा राजभवन की ओर बढ़ी। महाराज जिस स्थिति में थे उसी स्थिति में द्वार पर हमारी अगवानी के लिए पधारे।

अपने सिरों पर उठाए, दो जल भरे स्वर्ण कलशों पर नारियल धरे हुए आगे-आगे दो बालाएँ थीं और उनके पीछे थीं आरती की थाल लिये नौ कुमारियाँ। फिर महाराज और उनका परिवार। प्रसन्न इतने कि हँसी जैसे उनके अधरों में थम नहीं पा रही थी।

''मुझे विश्वास नहीं था कि आप पधारेंगे—और वह भी इतना शीघ्र! दो ही दिन हुए हैं, जब दूत आपके यहाँ से लौटा है। उसने आपके आगमन का संकेत तक नहीं दिया था।'' चारुदेष्णा ने कहा।

''मेरे आने की कोई संभावना थी नहीं। पर मैं नहीं समझ पा रहा हूँ कि मैं यहाँ कैसे चला आया!''

''पर मैं तो आपको बहुत याद क़र रहा था।''

''बस तुम्हारी याद ने हीं मुझे खींच लिया।'' मैंने बड़े विश्वास से अनेक संदर्भों में कही हुई अपनी बात दुहराई—''जो मुझे हृदय से याद करता है, मैं उसे अवश्य मिलता हूँ।''

चारुदेष्णा की आकृति पर एक बार फिर प्रसन्नता उभर आई। मैंने उससे स्पष्ट कहा, ''मैं यहाँ ठहरने या विश्राम करनें नहीं आया हूँ। संध्या होते-होते यहाँ से प्रस्थान कर दूँगा। मुझे यथाशीघ्र द्वारका पहुँचना है।''

इसका परिणाम था कि महाराज मुझे भोजन के बाद ही अपने मंत्रणाकक्ष में ले गए। उन्होंने आर्यावर्त्त की वर्तमान और विशेषकर अपनी परिस्थिति संक्षेप में बड़े स्पष्ट शब्दों में व्यक्त की। चारुदेष्णा के शब्दों में निराशा थी और आँखों में भविष्य का संभावित अंधकार। अब मैंने उसे समझाना शुरू किया—

''मैं तुम्हारी मनःस्थिति का अनुमान पहले से लगा चुका हूँ। तुम उससे परेशान

हो, जो तुम देख रहे हो या जो घटित होता हुआ तुम्हें दिखाई दे रहा है। ऐसा बहुत कुछ है, जो तुम्हें दिखाई नहीं दे रहा है; क्योंकि दृष्टि की एक सीमा है, वह अपनी परिधि के पार नहीं जा सकती।''

वह मौन मेरा मुँह देखता रहा। मैं बोलता जा रहा था—''यह आर्यावर्त्त का ध्वंसकाल है। हर निर्माण के पूर्व ऐसा समय आता है, जब वस्तुएँ टूटकर बिखरने लगती हैं। निर्माण की संभावना जितनी विराट् होती है, उसका ध्वंसकाल उतना ही भयानक और विस्फोटक। इस समय आर्यावर्त्त टूट रहा है, उसे टूटने दो। उसकी अस्मिता की अट्टालिकाएँ गिर रही हैं, उन्हें गिरने दो। उससे उठी धूल तुम्हारे दृष्टि-पथ को और अंधकारमय कर रही होगी। इससे घबराने की आवश्यकता नहीं है।''

''मैं उनसे नहीं घबरा रहा हूँ।'' चारुदेष्णा बोला, ''घबरा रहा हूँ कि स्वयं इस ध्वंस का एक भाग न बन जाऊँ।''

फिर उसने अपने ऊपर दुर्योधन की कुदृष्टि का विस्तार से वर्णन किया और बताया—''उसके दूत निरंतर मुझे बुलाने के लिए आ रहे हैं। मैं जा नहीं रहा हूँ। अन्यथा मैं बंदी बना लिया जाता।''

''ठीक वैसे ही जैसे चेकितान को उसने बंदी बनाया है।'' मैंने हँसते हुए कहा।

''हाँ, बहुत प्रचारित था कि वह बंदी बना लिया गया है।'' चारुदेष्णा बोला, ''यदि मेरा दूत आपके यहाँ न जाता तो वास्तविकता उद्घाटित न होती।''

''तुम इसीसे दुर्योधन की राजनीति समझ सकते हो।'' मैंने कहा।

''हो सकता है, इसमें भी उसकी कोई चाल हो।'' वह बोला।

''कौन सी चाल हो सकती है?'' मैंने पूछा।

''यह नहीं हो सकता कि चेकितान को बाहर निकालने के लिए यह प्रचारित किया गया हो?''

चारुदेष्णा ने कहा, ''चेकितान का भागकर जाना और छिपा रहना इस आशंका को जन्म देता है। इस प्रचार से उसे कई लाभ हो सकते हैं। पहला यह कि जब लोग जानेंगे कि उनका राजा हस्तिनापुर में बंदी है तब उनका बचा-खुचा उत्साह भी ठंडा पड़ जाएगा और वे किसी भी स्थिति में विद्रोह की मानसिकता बना नहीं पाएँगे। दूसरा यह कि हमारे जैसे अन्य क्षेत्र भी चुपचाप उसकी अधीनता स्वीकार कर लेंगे और तीसरा यह कि चेकितान में कुछ भी यदि अहं शेष होगा तो वह अपनी उपस्थिति दिखाने के लिए खुले मैदान में आ जाएगा—और तब उसे बंदी बनाया जा सकता है।''

मुझे चारुदेष्णा की चिंतना केवल वायवी नहीं लगी। फिर भी मैं जोर से हँसा—

''हताशा की गर्त में जब कोई गिरने लगता है तब गिरने की उसकी गति बढ़ती ही जाती है।''

मैंने यह नहीं कहा कि यही तुम्हारी स्थिति है। उसे आगे बताया—''चेकितान मेरे यहाँ छिपा नहीं है। मैंने उसे नाग प्रदेश के सैन्य संगठन का भार सौंपा है। शीघ्र ही वह नाग प्रदेश से निकलने वाला है। देखो, तब कौरव क्या करते हैं जब उनके झूठे प्रचार का भंडाफोड़ हो जाएगा।''

मैंने उसे बातों के क्रम में यह भी बताया—''चेकितान की एक राजनीतिक यात्रा शीघ्र ही आरंभ होने वाली है। वह आप जैसे समान विचार एवं परिस्थितिवाले लोगों से मिलेगा और स्वयं के साथ ही आप सबको एक अनुबंध से बंधित करेगा।''

''हाँ, एक पंक्ति का आलेख आपके यहाँ से लौटे दूत ने मुझे दिया है।'' चारुदेष्णा बोला।

''वही एक आधार है, जिसके द्वारा दुर्योधन की अहम्मन्यता के विरुद्ध सारे आर्यावर्त्त में एक विद्रोहाग्नि जलेगी।''

''आप समझते हैं कि दुर्योधन चुप बैठा रहेगा!''

''वह चुप बैठने के लिए विवश होगा। उसका साहस नहीं होगा कि वह तुम लोगों की ओर नजर उठाकर देखे।'' मैंने चारुदेष्णा को इसी सिलसिले में उद्धव की हस्तिनापुर यात्रा का उद्देश्य भी बताया।

वह बड़ा प्रसन्न हुआ। उसकी आकृति पर भयमुक्ति की आभा चमक उठी।

''देखो, चारुदेष्णा, चेकितान को यहाँ अधिक मत रोकना। तुम्हारा कर्तव्य केवल हस्ताक्षर करके ही समाप्त नहीं हो जाता। तुम्हें अन्य राजाओं को हस्ताक्षर करने के लिए प्रेरित भी करना होगा।'' इस प्रकार मैंने उसे सावधान किया।

उसने मेरी बात मान ली और बोला, ''हाँ, मैं उसे अपने पत्र के साथ शाल्व के पास भी भेजूँगा।''

''यदि शाल्व को पता चल गया कि इसके मूल में मैं हूँ, तो शायद वह हस्ताक्षर न करे।''

''ऐसा तो नहीं होना चाहिए। आखिर वह भी यादव ही है।'' चारुदेष्णा बड़े विश्वास से बोला। अब मेरी आशंका ने मुझे चुप ही रहने पर बाध्य किया।

अब मैं चलने के लिए तैयार था। जितना शीघ्र निकल चलूँ उतना ही उत्तम; क्योंकि द्वारका मुझे बड़ी तेजी से खींच रही थी। द्वारका से मैं दूर ही दूर रहा हूँ, पर कभी मैं उसके लिए इतना व्यग्र नहीं हुआ था।

चलते-चलते मैंने पूछा, ''पांचाल के स्वयंवर का निमंत्रण तो आ गया होगा?''

''हाँ, आया तो है।''

''तब वहाँ अवश्य चलना है।''

''पर मेरे तो तीन-तीन विवाह हो चुके हैं।'' चारुदेष्णा मुसकराया।

''जैसे तीन हुए वैसे चार सही।'' मैंने हँसते हुए कहा।

''पर वहाँ केवल विवाह का ही प्रश्न नहीं है, वहाँ धनुर्विद्या की प्रतिस्पर्धा है। प्रतिस्पर्धा जीतने का तात्पर्य है बहुतों के अहं को धराशायी कर देना। मुझे तो लगता है कि यह प्रतिस्पर्धा भी आर्यावर्त्त का भविष्य निश्चित करेगी।''

इस समय मेरे दो ही भयंकर विरोधी थे—मगध और हस्तिनापुर। जरासंध मेरा प्रत्यक्ष विरोधी था और दुर्योधन प्रच्छन्न। संप्रति मैंने दोनों को परास्त करने के लिए पांचाल को ही केंद्रबिंदु बनाया था। इसीलिए मैं अधिक-से-अधिक लोगों को पांचाल ले जाने की योजना बना रहा था।

''यदि दाँव उलटा पड़ा तो?'' मेरे चिंतन के बीच में वह बोल पड़ा।

''तुम्हारा तात्पर्य?''

''तात्पर्य स्पष्ट है, यदि प्रतिस्पर्धा में हमारी हार हुई तब?''

''हार-जीत का निर्णय करना तुम्हारा काम नहीं। तुम कार्य करो। फल की चिंता करने का कार्य मेरा है।'' मेरी ध्वनि में सदा की तरह विश्वास था। वह चुप हो गया।

निश्चय हुआ कि हम सभी नाग प्रदेश में मिलेंगे और वहीं से चलेंगे।

''एक प्राणी बगल के कक्ष में आपकी प्रतीक्षा कर रहा है।'' चलते-चलते उसने एक आग्रह और किया।

''एक प्राणी प्रतीक्षा कर रहा है!'' मैं कुछ समझ नहीं पाया।

''हाँ, था तो कभी वह निरीह प्राणी ही, पर अब वह व्यक्ति है।''

पहेली और भी उलझ गई। मैं बड़ी त्वरा में उस कक्ष से निकलकर बगल के कक्ष की ओर बढ़ा। द्वार खोलते ही जो भी मैंने देखा, उसपर तो पहले विश्वास ही नहीं हुआ। उसने उठकर मेरे चरण छुए और फिर सिर नीचा किए बड़ी संकुचित दृष्टि से मुझे देखता रहा। वह शिखंडी था।

''अरे, तुम यहाँ कैसे? क्या स्वयंवर का निमंत्रण लेकर आए हो?'' मेरी जिज्ञासा मुखर हुई।

उसने आँखें नीची किए हुए ही नकारात्मक ढंग से सिर हिलाया।

''फिर यहाँ कैसे?''

प्रश्न के उत्तर में बड़े संकोच के साथ उसने धीरे-धीरे बताया—''स्थूणाकर्ण यक्ष के शल्य शिविर से मुक्त होकर मैं सीधे आचार्यजी के आश्रम में गया। मैंने उनके आश्रम में प्रवेश लेने का आग्रह किया; पर उन्होंने आग्रह स्वीकार नहीं किया।''

"क्यों?" मैंने पूछा।

"उनका कहना था कि 'तुम्हारी मुख्य समस्या का समाधान तो हो ही गया। अब तुम किसी भी आश्रम में प्रवेश पा सकते हो। फिर कन्हैया ने मुझपर विश्वास कर तुम्हें भेजा था, मैं उनके विश्वास पर किसी प्रकार का आघात नहीं करना चाहता था। अतएव जो भी संभव हुआ, वह मैंने किया। अब तुम यहाँ से चले जाओ।' " शिखंडी ने बताया।

मैं मौन हो सोचने लगा।

वह पुन: बोला, "कहने को तो उन्होंने बहुत कुछ कहा। मैं केवल सुनता रहा। मैंने कोई उत्तर नहीं दिया। उन्होंने यहाँ तक कहा कि 'तुम्हें आश्रम में रखकर मैं संसार को यह दिखाना नहीं चाहता कि मेरे स्वाभिमान ने द्रुपद के समक्ष घुटने टेक दिए। फिर मेरे आश्रयदाता कौरवों को भी तुम्हें यहाँ रखना अच्छा नहीं लगेगा। उनकी भी तुम्हारे पिताजी से बनती नहीं है। कई दृष्टियों से तुम्हें आश्रम में रखना झमेला ही मोल लेना है।' "

"तब तुम वहाँ से सीधे पांचाल ही क्यों नहीं चले गए?" मैंने पूछा।

"मैं जाना वहीं चाहता था। वहाँ जाने के लिए मैंने आचार्यजी से अनुमति भी ली। किंतु जब चलने लगा तब मन में आया कि चलकर पिताजी से क्या कहूँगा!"

"कहना क्या था!" मैंने मुसकराते हुए कहा, "सीधे-सीधे कहते कि अब मेरी मूल समस्या का समाधान हो गया है और आपकी भी।" फिर मुझे हँसी आ गई। मैंने कहा, "अब तुम अपनी ससुराल दशार्ण भी जाकर हिरण्यवर्मा से मिल सकते हो!"

"हिरण्यवर्मा कौन?" अब तक पीछे चुपचाप खड़ा चारुदेष्णा बोला।

"अरे, आप अब तक यहीं खड़े हैं!" मैंने कहा, "यदि आप इस संदर्भ से स्वयं को दूर ही रखते तो अच्छा होता।"

मेरा इतना ही कहना था कि चारुदेष्णा कक्ष छोड़कर चला गया।

शिखंडी ने फिर बात शुरू की—"आप भी क्या बात करते हैं, भैया! यहाँ पिताजी के पास जाने का साहस जुटा नहीं पा रहा हूँ और सीधे श्वसुर के यहाँ पहुँच जाऊँ!"

मैंने उससे यह नहीं पूछा कि तुम अपने पिताजी के यहाँ क्यों नहीं जा पा रहे हो!

उसने स्वयं बताया—"यदि वे मुझसे पूछेंगे कि इतने दिनों तक कहाँ रहे, तो मैं क्या कहूँगा? आचार्य द्रोण का नाम सुनते ही वे खौल उठेंगे। कहेंगे कि उसके यहाँ जाने से तो अच्छा था कि तुम डूब मरते।"

मैंने भी सोचा कि शिखंडी ठीक कहता है। जिसकी प्रतिहिंसा अब तक ज्वाला उगल रही है, वह इन सभी संदर्भों को कैसे स्वीकार कर पाएगा?

"तब तुमने यहाँ आने की बात कैसे सोची?"

"आश्रम के ही एक ब्रह्मचारी ने मेरी सारी व्यथा-कथा सुनकर कहा कि तुम चेकितान के यहाँ चले जाओ। उनसे सारी बातें सही-सही बता देना। वे बड़े भले मानस हैं। तुम्हारी अवश्य सहायता करेंगे। तब मेरे भी ध्यान में उनका व्यक्तित्व आया। वे मेरे यहाँ भी एक बार पधारे थे। पिताजी से भी उनकी मित्रता है। सोचा, उन्हींके माध्यम से कोई रास्ता निकालूँगा। अतएव उन्हींके यहाँ के लिए चल पड़ा। पर मेरा दुर्भाग्य भी तो मेरे साथ था। मार्ग में ही पता चला कि दुर्योधन ने उन्हें पराजित कर बंदी बना लिया है। तब क्या करता! सीधे अग्रवाण आ गया।"

"चारुदेष्णा से तुमने अपनी सारी स्थिति बताई?"

"नहीं।" शिखंडी बोला, "यहाँ आकर आश्रय माँगने के साथ ही मैंने महाराज से स्पष्ट कहा कि आप मेरे बारे में कुछ मत पूछिए। मुझे एक यायावर समझिएगा।

"उन्होंने मुझे ऊपर से नीचे तक देखा, फिर कहा, 'आज संध्या तक मैं अपना निर्णय सुनाऊँगा।'

"अपना वचन निभाते हुए उन्होंने संध्या को मुझे बुलाकर कहा, 'देखो भाई, शरण में आए किसीको भी मैं अपने यहाँ से हटाता नहीं। तुम्हें शरण तो दूँगा ही, पर तुम्हें राजकुमार की गरिमा प्रदान नहीं कर पाऊँगा। साथ ही तुम यहाँ यायावरी भी नहीं कर पाओगे, चुपचाप अपने कक्ष में पड़े रहोगे। यह मैं तुमको आदेश नहीं दे रहा हूँ वरन् वर्तमान राजनीतिक स्थिति को देखते हुए तुमसे आग्रह कर रहा हूँ।'

"तब से अधिकतर इसी कक्ष में पड़ा रहता हूँ। लोगों की बड़ी याद आती है।"

मैंने पूछा, "शिखी (हिरण्यवर्मा की पुत्री) की याद आती है या नहीं?"

पहले तो वह लज्जित हुआ, फिर मुसकराते हुए बोला, "वह तो पहले भी सताती थी और अब भी सताती है।"

मुझे हँसी आ गई। मैंने पूछा, "अच्छा, अब बताओ, मैं तुम्हारे लिए क्या कर सकता हूँ?"

"आप मुझे अपने साथ ले चल सकते हैं?"

"पर मैं तो द्वारका जा रहा हूँ।"

"तो मैं भी द्वारका ही चलूँगा।" शिखंडी की ध्वनि की कातरता और बढ़ी— "बिना आपके सहयोग के पांचाल में पग रखने का भी मुझमें साहस नहीं है।"

मैं उसकी मनःस्थिति समझता रहा। अब भी वह उसी सत्य से डरता रहा, जिसे उसने भोगा था। पहले तो मैंने सोचा कि इससे कहूँ कि तुम यहीं रहो, जब स्वयंवर में जाने के लिए इधर से गुजरूँगा तब तुम्हें अपने साथ पांचाल ले चलूँगा, फिर मैंने सोचा कि यह उपयुक्त नहीं होगा। लोग इसके यहाँ आने में भी मेरा ही

साथ देखने लगेंगे। मैं पांचाल की राजनीति से स्वयं को मुक्त ही रखना चाहता था। सबकुछ करते हुए 'कर्ताभाव' से अपने को दूर ही रखता था। सामाजिक दृष्टि से निरपेक्षता प्रदान करने के लिए यह आवश्यक था। दूसरी ओर, अपनी बहन के स्वयंवर के पहले शिखंडी का पांचाल पहुँचना भी आवश्यक था। उसकी उपस्थिति पांचाल में एक नया उमंग भरेगी। फिर भाई है, बहन के विवाह में अपने कर्तव्य का पालन करेगा।

एक बात और थी। मुझे भी किसी ऐसे व्यक्ति की खोज थी, जो मेरे न रहने पर पांचाल में क्या हुआ, इसका पूरा लेखा-जोखा मुझे दे सके। शिखंडी इसके लिए मुझे सबसे उपयुक्त लगा। मैंने उसे समझाया—''द्रौपदी के स्वयंवर के प्रति भी तुम्हारा कुछ कर्तव्य है—और उसके निर्वाह के लिए तुम्हें यथाशीघ्र पांचाल पहुँचना चाहिए।''

उसने फिर अपनी असमर्थता व्यक्त की। मैंने एक मध्यम मार्ग निकाला।

मैं तो संप्रति तुम्हारे साथ चल नहीं सकता, पर मेरा पत्र तुम्हारे साथ जा सकता है। तुम मेरे पत्र के साथ अपने पिताजी से मिलो। वे तुम्हें कुछ नहीं कहेंगे।''

शिखंडी मौन हो गया। उसकी मूकता मेरी बात मान लेने के लिए मन बनाने लगी।

मैंने शीघ्र भोजपत्र मँगवाया और उसी समय द्रुपद को एक नितांत संक्षिप्त पत्र लिखा—

'परम पूज्य पांचालाधिपति,

सादर अभिवादन,

'आपका प्रिय पुत्र शिखंडी, जो अब शिखंडिन नहीं है, आपकी सेवा में उपस्थित हो रहा है। यह मेरे आश्रय का आकांक्षी था, मुझे इसे लेकर आपके समक्ष उपस्थित होना चाहिए था। पर मेरी परिस्थितियाँ ऐसी नहीं हैं, अतएव मेरा पत्र ही उसे लेकर आपके सामने है। इसके अतिरिक्त आप इससे कुछ मत पूछिएगा। शेष मिलने पर।

आपका विश्वासपात्र—कृष्ण।'

शिखंडी पत्र पढ़कर बड़ा प्रसन्न हुआ; क्योंकि वह यही चाहता था। उसकी इच्छा थी कि उस सत्य का उद्घाटन नं करना पड़े, जिसे उसने भोगा था—और यह स्थिति इस पत्र ने पैदा कर दी थी।

''फिर कब यहाँ से यात्रा आरंभ करूँ?'' उसने पूछा।

''मैं तो बस घड़ी भर में ही प्रस्थान करने वाला हूँ।'' मैंने कहा, ''अच्छा हो कि तुम आज की रात बिताकर ब्राह्म मुहूर्त में ही निकल जाओ।''

☐

अब रात्रि में यात्रा करने का हमें अभ्यास हो गया था। हम द्वारका के पथ पर

बड़ी शीघ्रता से बढ़े चले जा रहे थे। जंगल के हिंस्र प्राणी भी हमारी मशालों की ज्योति परिधि से दूर ही दुबककर रह जा रहे थे। पारिजात की सुगंध से बोझिल शरद् का मंद गंधवाह बड़ा मादक था।

द्वारका के बारे में मिले समाचार से मेरी चिंता बढ़ गई थी। वहाँ अब वासना, विलासिता एवं आलस्य का राज्य है। एक संघर्षशील जाति अपने निकम्मेपन में बदल चुकी है। मैं यथाशीघ्र वहाँ पहुँचना चाहता था। मेरी गति मेरे कार्यक्रम के अनुसार थी।

पाँच दिनों तक निरंतर चलते रहने के बाद हम शक्तिमान पर्वत श्रृंखला के निकट पहुँच चुके थे। यह पर्वत श्रृंखला गुर्जर प्रदेश में पड़ती थी। यहाँ से द्वारका मात्र दो दिनों का मार्ग था। यों एक दिन में भी रास्ता समाप्त हो सकता था; पर मार्ग पहाड़ी होने के कारण हम लोगों ने जल्दी न करने का निर्णय लिया।

रात एक शिव मंदिर में बिताई गई। हम लोग जब सोने लगे, रात्रि ने दूसरे प्रहर में चरण रख दिया था, तब मंदिर के पार्श्व भाग में कुछ लोगों की उपस्थिति का आभास कराती कुछ लड़खड़ाती आवाजें उभर रही थीं। स्पष्ट लगा कि ये आवाजें मैरेय में डूबी हैं।

''लगता है, दूसरी ओर कुछ लोग आ गए हैं। हमें अब चुपचाप सो जाना चाहिए।'' यह पहली आवाज थी।

''क्यों सोना चाहिए? तू डरता है, तो तू मुँह पर वस्त्र डालकर सो जा।''

''वस्त्र क्यों डालूँ?''

''क्यों? तू बचपन से भूत के डर से रात को मुँह आस्तरण में नहीं डाल देता था!''

''पर अब मैं किसीसे भी नहीं डरता।''

''राजा से भी नहीं?''

''नहीं।''

''भगवान् से भी नहीं?''

''नहीं। यदि भगवान् से डरता तो मंदिर में बैठकर मैरेय पीता और किसी रूपसी के सपने देखता!''

''किस रूपसी के स्वप्न देख रहा है?''

''सुपर्णा के।''

''सुपर्णा के स्वप्न देखनेवाला तू कौन होता है? सुपर्णा मेरी है।'' उसने कहा।

दूसरे ने भी सुपर्णा पर अपना अधिकार जमाया। दोनों ने कहा कि सुपर्णा मेरी है। इस मेरी-मेरी के फेर में दोनों में गुत्थमगुत्था शुरू हुआ।

अब तीसरे ने बीच-बचाव करते हुए कहा, ''वह न तेरी है, न मेरी है, वह तो द्वारका के राजभवन की है। नृत्यांगना है। राजप्रासाद की नृत्यांगना, जिसके पगों की गति पर केवल नूपुर ही नहीं बजते, बलराम का मन भी बजता है। सुपर्णा उनके सामने केवल नृत्यकला का ही प्रदर्शन नहीं करती वरन् अपने अधखुले और खुले अंगों का भी प्रदर्शन करती है, जिसको बलराम की कादंबरी में डूबी आँखें धीरे-धीरे टटोलती हैं। फिर कहीं-न-कहीं चिपककर रात बिता देती हैं।''

इतने लंबे प्रवचन के बाद उन दोनों का गुत्थमगुत्था तो रुका, पर बनैले और क्रोधित शृगाल की तरह उनकी गुर्राहट का आभास हमें अब भी लग रहा था। कई बार सात्यकि ने मेरा हाथ भी दबाया; पर मैंने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। केवल सुनता रहा। मेरी जिज्ञासा बढ़ती गई।

''तू कैसे कह सकता है कि वह केवल राजदरबार की है?'' उन दोनों में से एक ने कहा।

''इसलिए कि उसने मुझसे कहा था।''

''पर मुझसे तो नहीं कहा।''

''और मुझसे भी नहीं।''

''शायद इसलिए कि सत्य सुनने का साहस तुम दोनों को नहीं है।'' फिर तीसरा व्यक्ति बोला।

''वह जिस गाँव की है, उसपर उन गाँववालों का पहला अधिकार है।''

''पर उसकी कला और उसके अप्रतिम सौंदर्य की गंध अब गाँव की संकीर्ण परिधि तोड़कर दूर के प्रदेशों में भी फैल चुकी है।''

''इससे क्या होता है! पुष्प जिस उपवन में पैदा होता है, उसीका होता है।''

''नहीं, जिसपर चढ़ा दिया जाता है, उसका होता है। वस्तुतः वह दूसरे पर चढ़ने के लिए ही पैदा होता है।'' तीसरे व्यक्ति ने कहा।

''यह तुम कैसे कह सकते हो?''

''अपने अनुभव से कह रहा हूँ।'' उस व्यक्ति ने कहा, ''मैं स्वयं उसे द्वारका के राजप्रासाद में चढ़ाकर आया हूँ।''

''तुम कौन होते हो मेरे ग्राम की संपदा को राजप्रासाद में पहुँचानेवाले?''

''मैं नर्तकी का मित्र हूँ और उसकी इच्छा से उसे पहुँचाने गया था।''

इसके बाद उन्होंने गाली-गलौज तो किया ही, मारा-मारी तक उतर आए। जब कुछ देर तक प्रहार पर प्रहार होता रहा और स्थिति गंभीर हो गई, तब पुनः सात्यकि ने मेरा हाथ खींचा और कहा, ''अरे भई, अब तो उठो—कि मारे जाने पर ही मंदिर से शव हटाने के लिए उठा जाएगा?''

अब हम लोग जगमोहन के पार्श्व भाग में गए। दोनों रक्त से लथपथ पड़े थे। बगल में मैरेय का पात्र भी ढुलका था। तीसरा व्यक्ति कुछ होश में था। वह उन दोनों को सँभालने की चेष्टा कर रहा था। पर दोनों अशक्त जंगली भैंसे की तरह एक-दूसरे पर फुफकारते हुए घायल ढुलके पड़े थे।

हम लोगों को देखते ही सब गंभीर रूप से शांत हो गए। उन्हें ऐसा लगा जैसे जिसका भय था, वही हुआ। हमारा उपस्थित होना उन्हें अप्रत्याशित न होते हुए भी सहमा देनेवाला था।

वस्तुत: मैं पहचाना नहीं गया, वह भी अपने राज्य के समीप। हो सकता है, मैरेय में डूबे होने पर मेरी छवि उन्हें कई टुकड़ों में अलग-अलग दिखाई दे रही हो।

हम लोगों ने उन्हें सहारा देकर उसी चबूतरे पर लिटा दिया और उनके व्रणों पर थोड़ी-थोड़ी मैरेय उड़ेल दी। वे छटपटाए अवश्य, पर रक्तस्राव बंद होने लगा।

फिर मैंने सात्यकि को संकेत करके शेष मैरेय दूर कहीं फेंकने के लिए कहा। सात्यकि ज्यों ही पात्र उठाकर चला कि एक ने टोका—''यह क्या कर रहे हैं?''

''तुम्हारी भूल सुधारने का प्रयत्न।'' सात्यकि बोला।

''वह तो आप लोगों ने कर ही दिया।'' उनमें से एक ने कहा, ''हमारी लड़ाई छुड़ा दी। अब हम यह भूल नहीं करेंगे।''

''पर इसके मूल में जो मैरेय थी, अब हम उसे फेंकने जा रहे हैं।''

''आज तो सारी द्वारका इसमें डूबी है। क्या आप लोग पूरी द्वारका को उठाकर फेंक सकते हैं?''

मुझे इतना बड़ा आघात लगा कि मैं आपको कैसे बताऊँ! मैं मौन ही रह गया। मेरे मन में द्वारका का जो वासनामय चित्र था, उसके रंग और गहरे हो गए।

इस तर्क को सात्यकि भी सह नहीं पाया। उसकी चिंतना भी लड़खड़ाई। उसने एकदम दूसरा रास्ता चुना—''जो भी हो, तुम्हें मंदिर में बैठकर पीना नहीं चाहिए।''

''क्यों?''

''अब भी बेहयाई करते हो और पूछते हो क्यों!'' सात्यकि ने डाँटते हुए कहा, ''देखते हो, यह मंदिर है, परमात्मा का स्थान।''

''फिर कोई ऐसा स्थान बताओ, जो परमात्मा का न हो।'' इतना सुनते ही मैं अवाक् रह गया। मेरी स्तब्धता और घनी हो गई। मैं सात्यकि की ओर देखने लगा। मेरी दार्शनिकता के अहं पर यह इतना बड़ा पत्थर मारा गया था कि वह भीतर-ही-भीतर तिलमिलाकर रह गया; या यों कहिए, लगभग धराशायी हो गया।

मनुष्य बड़ा विचित्र जीव है। वह अपनी भूल के समर्थन में भी अपनी बुद्धि की मंजूषा से कभी-कभी ऐसे तर्क निकालता है, जो शाश्वत सत्य बन जाता है। मदिरा

के इस नशे में जो तर्क उछला, उसकी अस्मिता शाश्वत थी। मैंने बहुत बाद में मोहग्रस्त अर्जुन से कहा था—'सर्वभूतस्थितं यो मां'। कितना सोचकर कहा था। कितना अपने मस्तिष्क पर दबाव डालकर कहा था। उसे इन गँवारों ने मदिरा के नशे में कितनी सहजता से कह डाला। मैं चकित था।

उन्हें वैसा ही छोड़कर मैं अपने स्थान पर चला आया। मेरी विचित्र मन:स्थिति थी। एक ओर मदिरा से सराबोर मस्तिष्क से उपजे ज्ञान में डूब रहा था, दूसरी ओर वासना में सड़ रहे द्वारका के जीवन की दुर्गंध से परेशान था। अंतत: सो गया।

काफी देर तक सोता रहा। नींद जब खुली, सूर्य आकाश पर चढ़ आया था। सामने के विशाल पीपल से टकराकर धूप टुकड़े-टुकड़े मेरे तन पर बिखर रही थी। उठते ही मैंने यथाशीघ्र चलने की योजना बनाई। इसी बीच सात्यकि फिर पीछे की ओर हो आया। उसने सूचना दी कि अभी वे सो रहे हैं।

"क्या उनके व्रण से अभी भी रक्त बह रहा है?" मैंने पूछा।

"नहीं।" सात्यकि बोला, "पर उनपर मक्खियाँ भिनभिना रही हैं।"

"लगता है, मैरेय का प्रभाव अभी शिथिल नहीं हुआ है।" मैंने कहा, "ध्यान रखना, जब वे जगें तब मेरे पास ले आना।"

अब श्वेतकेतु और रक्तांक्ष की भी जिज्ञासा सुगबुगाई। अभी वे कुछ जानते नहीं थे। कल रात्रि कांड के पहले ही वे सो गए थे।

श्वेतकेतु ने पूछा, "क्या कल रात्रि को कुछ हुआ था?"

मैंने मुसकराते हुए कहा, "समय आने दो, तुम सब जान जाओगे।"

नित्यकर्म से निवृत्त होकर मैं पूजन पर बैठा ही था कि सात्यकि उन तीनों को ले आया। तीनों चबूतरे के नीचे मेरे सामने हाथ बाँधे खड़े थे। अपराधबोध से ग्रस्त। निगाहें नीची। सिर पर सद्य: व्रण, पर मुँह बंद किए। बराबर मक्खियाँ उनपर बैठती रहीं। कभी सिर हिलाकर, कभी हाथ से मक्खियों को उड़ाते हुए वे बड़े निरीह लग रहे थे।

"इस समय आपका स्वास्थ्य कैसा है?" पूजन समाप्त कर मैंने उनसे बड़े सहजभाव से पूछा।

उनकी ओर से एक बड़ी दबी आवाज आई—"ठीक ही हूँ।"

फिर तीनों एक-दूसरे को देखते रहे। आँखों-आँखों में कुछ बातें कीं और उनके बीच में खड़ा व्यक्ति, जो कल कुछ कम पिए था, बोला—

"आप क्षमा कीजिएगा। हम लोगों ने कल आपको पहचाना नहीं। हमने आपके साथ बड़ी अभद्रता की।"

"आज संसार में सारा संकट पहचान का ही है।" मैंने मुसकराते हुए कहा,

''यदि इस समय भी न पहचानते तो अपराधबोध की यह प्रतीति न होती। फिर कैसी क्षमा और किससे क्षमा? आज मैं वह नहीं रहा, जो कल था और न तुम्हीं वे रहे, जो कल थे।''

''भले ही हम वे न रहे हों, पर हमारे अपराध तो मन की दीवार पर टँगे ही हैं।''

मैंने अनुभव किया कि उनकी मनीषा दुर्बल नहीं है। फिर मैंने संदर्भ एकदम बदल दिया। पूछा, ''वह सुपर्णा कौन है?''

''सुपर्णा!'' तीनों एक-दूसरे का मुँह देखने लगे और ऐसा भाव व्यक्त किया जैसे वे कुछ समझ ही नहीं पा रहे हों।

मैंने उन्हें स्मरण दिलाया—''कल रात तुम लोग सुपर्णा-सुपर्णा कुछ कह रहे थे।''

उनमें से एक हँसते हुए बोला, ''ओ, सुपर्णा! वह तो मैरेय के चषक से निकल आई थी!''

''तो अब क्या हुई?''

''सुपर्णा (सुंदर पंखोंवाली) थी। मैरेय के साथ ही फुर्र से उड़ गई।''

वे सब एकदम बात टाल गए। पर मैंने जो कुछ सुना, वही मेरे लिए पर्याप्त था।

□

जब हम लोग द्वारका पहुँचे तो रात आधी जा चुकी थी। उत्ताल तरंगाघात सहते तट पर खड़े होकर मैंने उन्मत्त समुद्र को प्रणाम किया। रात के गहरे अँधेरे में गरजता समुद्र ऐसा लग रहा था मानो अँधेरा पिघलकर प्रकाश को दहाड़ रहा हो और किनारे पत्तन पर जलती मशालों की परछाइयाँ पानी पर स्वर्ण डोर की तरह काँप रही हों। मुझे ऐसा आंदोलित समुद्र बहुत अच्छा लगता है। सच पूछिए तो जल का दहाड़ता पुरुषार्थ ऐसे समुद्रों में ही दिखाई देता है।

बाद में जोड़-घटाकर कृतवर्मा ने बताया कि आज अष्टमी है, ज्वार की त्तिथि। और हम ज्वार के सागर को बहुत देर तक निहारते रहे। पछाड़ खाती लहरों की टूटती फुहार हमपर पुलकन बरसाती रही। लगता था, समुद्र के किनारे आकर मौसम ठहर गया है; अन्यथा बरसात कब की समाप्त हो गई थी।

तट के शिलाखंडों पर ढुलककर हम लोगों ने शेष रात बिताई और ब्राह्म मुहूर्त के कुछ पहले ही द्वारका के पत्तन में प्रवेश किया।

आपको आश्चर्य होगा कि मेरा ही पत्तन और मुझे यहाँ पहचाननेवाला कोई नहीं। ऐसी स्थिति में मुझे स्वयं को छिपाने में बड़ा आनंद आता है। यह मेरी बचपन की आदत थी। मुझे याद है, इस छिपने-छिपाने से नंद और यशोदा बड़े परेशान होते थे। अनेक प्रकार की आशंकाओं से मन जब भर जाता था, आँखें पसीजने को होती

थीं, तभी मैं उनके सामने आता था।

बचपन की वह प्रवृत्ति अब तक मेरे मन के कोने-अँतरे में पड़ी है और अवसर पाते ही जाग उठती है। इस समय भी वह प्रवृत्ति मुझपर प्रभावी हुई। छोटी नावों पर हम आए ही थे। लोगों को न पहचानता देख मैंने स्वयं को और छिपाने की चेष्टा की तथा किनारे खड़े होकर बड़े-बड़े जलयानों को देखता रहा। वे वैभव और विकास की कहानी सुनाते रहे।

पत्तन पर उतरते ही मैंने एक सामान्य-से लगनेवाले कर्मचारी से पूछा, "पत्तनाधिकारी कहाँ हैं?"

"यह पत्तनाधिकारी के पूछने का समय है! लगता है, आप द्वारका की नई व्यवस्था से परिचित नहीं हैं। अब कोई भी अधिकारी रात को कार्यालय में नहीं रहता।" वह जोर से हँसा।

"समाहर्ता भी नहीं?"

"नहीं।"

"तो क्या द्वारका के कार्यालय अब रात को बंद रहते हैं?"

"कार्यालय तो खुले रहते हैं।"

"तब उनमें रहता कौन है?"

"हमारे जैसे कर्मचारी, जिनकी लाचारी और विवशता पर द्वारका की मद भरी रातें बड़े उपेक्षाभाव से हँसती हैं।"

हम लोग चुप ही रहे और द्वारका की परिवर्तित जीवन शैली का बड़े विस्मय से आकलन करते रहे।

"लगता है, आप लोगों के पास नगर में प्रवेश करने का अनुमति पत्र नहीं है।" उनमें से एक बोला।

मैंने सिर हिलाकर उसके कथन की पुष्टि की। कृतवर्मा और सात्यकि दोनों एक-दूसरे को देखकर मुसकराए; पर मैं गंभीर ही रहा।

"हमें अनुमति पत्र किससे लेना होगा?" मैंने उसी गंभीरता के साथ पूछा।

"यह पत्तनाधिकारी भी दे सकते हैं और समाहर्ता भी।"

"उनमें से कोई भी यहाँ नहीं है।" मैंने कहा।

"उनके लिए कार्यालय में रुककर आपको प्रतीक्षा करनी होगी।"

"कब तक?"

"जब तक वे नहीं आ जाते तब तक।"

"उनके आने का कोई समय तो होगा?"

"हाँ, क्यों नहीं! सूर्योदय के दो घड़ी बाद।...पर शायद कल वे न आ सकें।"

"क्यों? उनका कोई प्रार्थना पत्र है?"

वह हँसा—"अरे, प्रार्थना पत्र देना अधिकारियों के लिए कोई आवश्यक नहीं रह गया है द्वारका में। अब वह आवश्यक है हम जैसे सेवकों के लिए।"

"अधिकारी तो विधि और व्यवस्था से ऊपर हैं!" एक दूसरे कर्मचारी की इस ध्वनि में भी व्यंग्य था—"उनकी उपस्थिति तो अब चषकों के निकट ही अंकित हो जाती है।"

मैंने उन कर्मचारियों की इस स्थिति पर सहानुभूति व्यक्त की। फिर क्या था! अपनी स्थिति से ऊबे उन लोगों ने तथ्य उगलने शुरू कर दिए। उनके कथनानुसार, अब पहलेवाली द्वारका नहीं रही। कितनी साधना, कितनी तपस्या और कितने श्रम से बनाई गई थी यह द्वारका! कैसे-कैसे और कहाँ-कहाँ से लोगों को लाकर इसका निर्माण कराया गया था! फिर यह किस प्रकार बसाई गई!

आज जब इसका वैभव आकाश छूने लगा तब द्वारका के स्वामियों की नैतिकता विलासिता के गर्त में गिरने लगी।

उन्हीं लोगों से पता चला कि आज राजकीय नृत्योत्सव है। लगभग सारे अधिकारियों की आज की रात उसीमें डूबकर रंगीन हो गई होगी। कल वे अपने कार्यालय में कब पधारेंगे, कुछ कहा नहीं जा सकता।

"तब हम लोगों को जाने दीजिए। जिनके उपस्थित होने का कोई निश्चय न हो, उनके अनिश्चय की प्रतीक्षा कब तक कराइएगा?"

वह कर्मचारी मेरे कथन पर कुछ सोचने लगा। पर सात्यकि स्वयं को रोक नहीं पाया—"क्या विडंबना है कि अपने नगर में प्रवेश के लिए नगर के स्वामी को इतना प्रपंच झेलना पड़ रहा है!"

'नगर के स्वामी' शब्द सुनते ही कर्मचारियों को जैसे काठ मार गया। उनकी दृष्टि एकटक मुझपर टिकी। मेरे सिर पर मोर मुकुट तो नहीं था, पर कटि में खोंसी हुई वंशी उन्हें अवश्य झाँकती हुई दिखाई पड़ी।

वे सबके सब प्रणिपात की मुद्रा में आ गए—"आप कन्हैया हैं न! हमने आपको पहचाना नहीं था। आप क्षमा करें।"

फिर सब शामिल बाजे की तरह एक साथ बजने लगे—"हमने आपको पहचाना नहीं, कितना बड़ा दुर्भाग्य है! पर हम क्षम्य हैं। हम यहाँ के रहनेवाले भी नहीं हैं। हम विदेशी हैं। जीविका के लिए यहाँ आए थे। चाकरी मिल गई। ईमानदारी से हम अपना कर्तव्य निभाते हैं। आप अन्नदाता हैं! क्षमा करें।"

उनकी व्यग्रता पर मैंने अपनी मुसकराहट बिखेरी और बोला, "हम सब आप लोगों की कर्तव्यपरायणता पर प्रसन्न हैं। साथ ही दुःखी भी हैं कि आप राजकीय

नृत्य महोत्सव का आनंद नहीं ले पा रहे हैं।''

मेरे मित्र तो मेरी बात पर हँसे, पर वे सब अपराधी की भाँति सिर नीचा किए खड़े रहे। अब हमने पत्तन में प्रवेश किया। बहुत से कर्मचारी हमें नगर द्वार तक छोड़ने आए। मैंने उनसे कोई बात नहीं की। मेरा मन दुःखी था। सात्यकि ने यह अवश्य पूछा कि राजकीय नृत्य महोत्सव कहाँ हो रहा है?

''जलधि वन के अतिथिगृह के प्रशस्त प्रांगण में।'' उनमें से एक ने बताया और हम लोग उसी ओर चल पड़े।

द्वारका के वायव्य (उत्तर-पश्चिम) में एक नुकीले अंतरीप की तरह धरती सागर में घुसती चली जाती थी। यहीं नारियल और केले का बड़ा ही मनोरम वन था। हमारे वास्तुशिल्पियों ने इसे काट-छाँटकर इसके प्राकृतिक सौंदर्य को और निखारा तथा इसे 'जलधि वन' की संज्ञा दी। यहीं था द्वारका का दूसरा राजकीय अतिथिगृह। आरण्यक और सागरी प्रकृति से युक्त यहाँ की वर्णसंकरी सुषमा अद्‌भुत थी। एक ओर सागर का हाहाकार और दूसरी ओर नारियल के गगनचुंबी पेड़ों की सरसराहट यहाँ के वातावरण को यों ही मादक बना देती थी। फिर नृत्योत्सव जैसे मादक प्रसंग तो यहाँ और भी मादक हो उठते थे। अतिथिगृह के सामने प्रशस्त प्रांगण में बने विशाल मंडप की सूनी पड़ी प्राणहीन स्थिति विलास और वैभव की उन्मुक्त कथा कह रही थी। मोती के झालर लगे तनवे के नीचे बड़े-बड़े केलों के खंभों में जलती मशालों में से आधे से अधिक बुझ चुकी थीं। जो शेष रहीं, वे भी बुझने की ओर अग्रसर थीं। और मंडप के नीचे धरातल पर कई जोड़े मंजीर (पग-घुँघरू), मर्दल (मृदंग) और मुरज पड़े थे। वहीं एक प्रहरी ढुलका हुआ था।

हमारी आँखें कुछ क्षणों तक वासनामय उस सन्नाटे को पीती रहीं और कुछ समय पूर्व संपन्न हुए उस समारोह का सपना देखती रहीं कि अचानक बगल के स्तंभ से जलती मशाल गिरी और धरती पर बिछा आस्तरण जलने लगा।

रक्ताक्ष ने तुरंत उसे उठाया और पैर से रौंदकर आग बुझाई।

''देखा, विलास का अंतिम परिणाम यही होता है।'' मेरे मुँह से निकला और मेरे मित्रों की मनःस्थिति पर भारी पड़ता माहौल उन्हें मौन खड़ा किए रहा।

आगे बढ़कर मैंने उस प्रहरी को जगाना चाहा। पर देर से सोने या मैरेय के नशे में होने के कारण वह उठने को तैयार नहीं था। बहुत झकझोरने से उसकी चेतना लौटी।

''तुम सोते ही रहोगे और पंडाल जल जाएगा।'' मैंने कहा।

''जल जाने दो।'' एक विचित्र उपेक्षा और बेफिक्री थी उसकी आवाज में।

''तुम भी जल जाओगे।''

"उसकी हर भंगिमा पर मरने से अच्छा है कि एक बार ही मर जाऊँ।" एक मूक मुसकराहट उसके अधरों पर आई। पर वह अब भी ढुलका ही था। उसकी आँखें लगभग बंद थीं।

"किसकी भंगिमा पर मर रहे थे?"

इस बार की क्रोध से काँपती आवाज को उसने पहचाना और वह हड़बड़ाकर खड़ा हो गया। अभिवादन कर काँपने लगा।

"कहाँ है वह, जिसकी भंगिमा पर तुम मरते रहे हो?"

उसने अतिथिगृह के मुख्य कक्ष की ओर संकेत किया।

अब मैं उस ओर लपका। पीछे मेरे साथी थे और वह प्रहरी भी। मैंने पहुँचते ही उस कक्ष का द्वार धकेल दिया। वह खुला ही था—और खुल गया।

मैंने जो कुछ वहाँ देखा, अवाक् रह गया। खर्राटे भरते भैया की भुजाओं में एक सुंदरी आबद्ध थी। इस गहरी नींद में भी वह भैया के आलिंगन से मुक्त नहीं हो पाई थी। पर्यंक से छटककर धरती पर गिरे उस सुंदरी के चूड़ामणि का एक माणिक दीप के मद्धिम प्रकाश में अंगारे की तरह धधक रहा था। उसके अधोवस्त्र कटि के नीचे खिसक आए थे। मदिरा और काम-क्रीड़ा से श्लथ दोनों सुध-बुध खोकर पड़े थे।

मैं तो कुछ समय वहाँ खड़ा भी रहा, पर मेरे मित्र यह दृश्य देखकर एकदम पीछे हट गए थे।

हमारे किन-किन सपनों से द्वारका बनी थी! ककुद्मिन के समक्ष हमने कैसी-कैसी प्रतिज्ञाएँ की थीं! और यह क्या हो गया? हम भोग और विलास में इतने नीचे गिर सकते हैं, इसकी कल्पना तक हमने नहीं की थी।

मैं जब वहाँ से चला तो मेरी गति सामान्य से अधिक तीव्र थी। मैं पूरे आवेग में था। मैंने अपने मित्रों से कहा, "आप लोग राजभवन के अतिथिगृह में चलकर विश्राम करें।"

"और आप?" कृतवर्मा धीरे से बोला।

"मुझे इस ज्वाला में जूझने के लिए अकेला छोड़ दें।"

अब सवेरा हो चला था। मंदिरों में दर्शन-पूजन और आराधना आरंभ हो चुकी थी। अब मुझे हर दृष्टि पहचानने लगी थी। मेरे समक्ष हर मस्तक अब झुकने लगा था। मैं उन्हें इतने दिनों बाद दिखाई दे रहा था। हर व्यक्ति में मुझसे कुछ कहने की इच्छा थी, कुछ बोलने का चाव था, कुछ पूछने और कुछ बताने की ललक थी; पर मेरी गति और मेरी मुद्रा देखकर वे कुछ बोल न सके।

मैं सीधे प्रासाद के उस भाग में पहुँचा, जहाँ भैया का आवास था। धड़धड़ाता हुआ भीतर घुस गया। देखा, भाभी (रेवती) अब भी बिस्तर पर पड़ी हैं। आस्तरण

पर पड़ी सिलवटें बता रही थीं कि वे रात भर जागी हैं और इस समय नींद आ गई है।

इच्छा होते हुए भी मैंने उन्हें सोने नहीं दिया। बोल ही पड़ा—''आप सो रही हैं और आपकी संपत्ति लुट रही है।''

इतना सुनते ही उनकी श्वान निद्रा टूट गई। मुझे अपने सामने खड़ा देखकर पहले तो उन्हें लगा जैसे वह सपना देख रही हैं; पर जब मैंने उनसे कहा कि आपका इस प्रकार सोना आपकी बनाई द्वारका को समाप्त कर देगा, तब वह एकदम फफककर रो पड़ीं। उन्होंने रोते हुए बहुत कुछ कहना चाहा और बोलती रहीं।

मैं चुपचाप सुनता रहा। अंत में बोला, ''जो आप कह रही हैं, उसे मैंने अपनी आँखों देखा है।''

''देखा है! तब तुम्हें आश्चर्य नहीं हुआ?''

''हुआ, पर भैया और द्वारका की इस स्थिति पर नहीं वरन् आपकी स्थिति पर। आपका वह संघर्षशील व्यक्तित्व क्यों चूर-चूर हो गया, जिसने द्वारका का निर्माण किया था; जिसने अपने पिता के सपनों को सँजोया था, उनके संकल्प को अपना संकल्प बनाया था? आज आपकी आँखों में आँसू हैं। यह हताशा कैसी?''

वह चुप थीं। मैं ही बोलता जा रहा था—''जब संघर्ष आँसुओं में बदल जाता है तब पराभव के वे ही चित्र दिखाई देते हैं, जो आज द्वारका में दिखाई पड़ रहे हैं।''

''तब तुम्हीं बताओ, मैं क्या करूँ? ऐसी असहाय तो मैं कभी नहीं थी।'' उनके अश्रु-प्रवाह में एक और विस्फोट हुआ।

मैंने उनके सिर को सहलाते हुए पुनः धैर्य बँधाया—''इस प्रकार अधीर होने से तो कुछ नहीं होगा। आपको निरीह अबला नहीं, चंडिका बनना है और अपने खप्पर में लेकर अपने पति की वासना का रक्त पीना है।''

''आज मेरा पति ही नहीं, पूरी द्वारका वासना में डूबी है।''

''जब राजा ही गर्त में गिरेगा तब प्रजा को कौन रोक सकता है?'' मैंने कहा।

रेवती भाभी क्षण भर को रुकीं।

''तब मैं क्या करूँ?'' उनका वही अधीर प्रश्न।

''पहले आप अपने भीतर उस रेवती को पुनः जगाओ, जिसने अपने पिता की निराशा को झकझोर दिया था, जिसकी गदा ने बड़े-बड़ों को चुनौती दी थी।''

''तुम क्या समझते हो, मैंने उस रेवती को जगाया नहीं था? मैंने कई बार जगाया; पर उस रेवती को भी निराशा ही हाथ लगी।'' वह नितांत निराश हो बोलती रहीं—''और वह पराजित हो गई।''

''उसे पराजित नहीं वरन् बार-बार संघर्ष करना था—और तब तक उसके पीछे

लगे रहना था जब तक भैया पराजित न हो जाते।''

''तुम जानते नहीं हो, कन्हैया!'' इस बार रेवती भाभी की झुँझलाहट अधिक तीव्र थी—''मैं सब करके हार गई; पर मैं तुम्हारे भैया की विक्षिप्त वासना पर विजय न पा सकी।''

''तो क्या आपने मेरे भैया की वासना को सामान्य समझा था! अरे, वह असामान्य वासना के अधिकारी हैं।'' मैंने बड़े नाटकीय ढंग से हँसते हुए कहा।

मैंने उन्हें समझा-बुझाकर उसी समय अपने साथ चलने के लिए विवश किया। मैंने अनुभव किया कि इतने ही दिनों में रेवती भाभी पहले से काफी टूट चुकी हैं। आप इसीसे समझ सकते हैं कि जो एक छलाँग में ही क्रुद्ध-से-क्रुद्ध अश्व पर आरूढ़ हो जाती थीं, जो लपककर रथ पर सवार हो रथ में जुते बिगड़ैल अश्वों को क्षण में नियंत्रित कर लेती थीं, आज वही रेवती भाभी जब रथ पर चढ़ने लगीं तब मुझे उन्हें सहारा देना पड़ा।

मैंने यह भी अनुभव किया कि वह स्थिति से उतनी त्रस्त नहीं हैं, जितनी उनकी कल्पना की भयंकरता से। वह अकेले में बैठी-बैठी किस सीमा तक सोच गई हैं, इसका अनुमान कठिन था। अचानक उनकी निराशा उनकी वाणी से झलक पड़ी—''अब दशा इतनी बिगड़ चुकी है कि उसमें सुधार करना कठिन है।''

''कठिन हो सकता है, पर असंभव नहीं—और वह भी आपके लिए! आपके लिए तो कुछ भी असंभव नहीं है।'' अब मैंने अपनी बुद्धि का सारा चमत्कार उस पुरानी रेवती के ऊपर पड़ी निराशा की धूल झाड़ने में लगाना आरंभ किया; क्योंकि मुझे विश्वास था कि पुरानी रेवती भाभी के मिलते ही हमें सारी परिस्थितियों पर नियंत्रण पाने में विलंब नहीं लगेगा।

इस प्रयत्न में मैंने उन्हें बताया—''भैया की यह आदत बड़ी पुरानी है। हम लोग बहुधा इससे परेशान हो जाया करते थे। पर किसी प्रकार खींच-खाँचकर उन्हें रास्ते पर ले आते थे।''

''पर तुमने कभी इसकी चर्चा नहीं की!''

''न कभी इसका अवसर आया, न तो मैंने आवश्यकता ही समझी।''

''मेरे-उनके संबंध के पूर्व भी तुमने इस विषय में कुछ नहीं बताया।''

''इस विषय में नारी बुद्धि पुरुष से कहीं अधिक प्रखर होती है। वह पहली ही दृष्टि में पुरुष की वासना को तौल लेती है।''

''और यदि न तौल पाई तो?''

''तो वह स्वयं तुल जाती है। यह स्थिति नारी के लिए घातक होती है।''

''तो उसी घातकता का सामना कर रही हूँ।'' उन्होंने आह भरते हुए कहा, ''तो

तुम्हारे विचार से, कन्हैया, इसमें मेरी ही भूल है? मुझे विवाह के पूर्व जितनी सावधानियाँ बरतनी चाहिए थीं उतनी बरत नहीं पाई; क्योंकि तुम लोगों ने एकदम हमारे संकल्पों को अपना बना लिया और मैं उसीमें खो गई।''

रेवती भाभी की निराशा अब पश्चात्ताप की परिधि में आने लगी थी। यह स्थिति तो उनके लिए और भी विनाशक होती।

मैंने तुरंत बात दूसरी ओर चलाई—''कुछ भी हो, मुझे आपके साहस पर विश्वास है कि आप सबकुछ ठीक कर लेंगी।''

अब तक हमारा रथ काफी आगे निकल आया था। मार्ग में अनेक परिचित आकृतियाँ दिखाई दीं। अनेक लोगों ने अभिवादन किया। अनेक ने हाथ उठाकर मुझे रोकना चाहा। उनकी जिज्ञासा रही होगी कि मैं इतने दिनों कहाँ था? कब आया?

पर मैंने रथ रोका नहीं। मुझे तो यथाशीघ्र रेवती को वह दृश्य दिखाना था, जो मैंने भैया के कक्ष में देखा था; पर उस दृश्य के लिए मुझे उनके मन को तैयार करना था। इसके लिए मैंने जीवन का एक ऐसा पुराना अध्याय खोला, जो अब तक बंद पड़ा था।

''आपको मालूम नहीं होगा, भाभी! यह बात उन दिनों की है, जब हम लोग गोकुल में रहते थे। एक दिन भैया ने यमुना से अँधेरी रात में संभोग की इच्छा व्यक्त की। पर यमुना अभिसार के लिए तैयार न थी।''

''यह यमुना कौन थी?'' रेवती भाभी बोलीं।

''अरे, आप यमुना को नहीं जानतीं!'' मैंने कहा, ''अरे, वही यमुना, जो व्रज का जीवन है। उसकी धारा में हमने कितनी जल-क्रीड़ाएँ की हैं!''

''यमुना एक सरिता—और उससे संभोग! बात कुछ समझ में नहीं आई।''

''पर कथा तो यही प्रचलित हुई। बात यह है कि जब हम मध्य रात्रि में निकुंजों में केलि-क्रीड़ाएँ किया करते थे, तब सरिता के उस पार खड़ी होकर एक नीलवर्णी अनिंद्य सुंदरी मुसकराती हुई हमारी क्रीड़ाओं को देखा करती थी। उसका रूप अद्‌भुत था, उसकी शरीरयष्टि परम आकर्षक थी। पर आश्चर्यजनक बात यह थी कि वह कभी हम लोगों के पास नहीं आई। केवल दूर से ही वह आनंद लेती थी और मुसकराती रहती थी। फिर देखते-ही-देखते वह अचानक अदृश्य हो जाती थी।'' मैंने कहा।

''कौन थी वह?'' रेवती भाभी बोलीं।

''इसी प्रश्न का उत्तर तो हम लोग खोजते रह गए। कई बार तो हम लोगों ने उसका पीछा भी किया कि चलकर उसीसे उसका परिचय पूछा जाए; पर वह हाथ नहीं आई। कई दिनों तक यह लुका-छिपी चलती रही। अंत में हारकर हम लोगों ने

गिरिधर गुहा में विराजमान एक सिद्ध पुरुष से यह बात चलाई।

"उसने बड़ी गंभीरता से हमारी बातें सुनकर कहा, 'जब कभी भी मध्य रात्रि में मैं अपनी गुहा से निकलता हूँ, तो उन्हें उस पार रेती पर टहलते देखता हूँ और उन्हें प्रणाम करता हूँ।'

" 'वह आपकी प्रणम्य हैं?'

" 'अवश्य। मेरी क्या, वह आप सबकी प्रणम्य हैं।'

"बाबा ने बताया, 'वह नीलवर्णी सुंदरी यमुना का मानवीकरण है। रात को यमुना ही सुंदरी का रूप ग्रहण कर रेत पर टहलती हैं।'

"सबकुछ बताने के बाद बाबा ने मना किया था कि इस रहस्य को कभी उद्घाटित मत करना। इसीसे उस सुंदरी की वास्तविकता किसीसे बताई नहीं गई।"

रेवती भाभी मेरी बात को बड़े ध्यान से सुन रही थीं और जब उन्हें बताया गया कि एक रात भैया उसी यमुना के पास रतिक्रिया के लिए पहुँच गए, तब रेवती भाभी ने दाँतों तले अँगुली दबाई और पूछा—

"फिर क्या हुआ?"

"कुछ समय तक वह नीलवर्णी सुंदरी उन्हें छकाती रही। खिलखिलाती हुई वह रेत पर कभी इधर भागती, कभी उधर भागती। भैया उसे पकड़ नहीं पा रहे थे; क्योंकि वे मैरेय में धुत थे। चार पग आगे बढ़ते और लड़खड़ाकर गिर जाते। अंत में भैया क्रुद्ध हो उठे। काम के साथ क्रोध भी फनफनाया। घृत के साथ हो ज्वाला भी भभक पड़ी। वे पागलों-सा चिल्लाने लगे—'यदि तू मेरे पास नहीं आती तो मैं शाप दे दूँगा! तेरा वध कर दूँगा।' और जाने क्या-क्या!

"क्रोध में उन्मत्त भैया के पग उनके शब्दों से अधिक लड़खड़ा रहे थे। स्थिति गंभीर होती गई। अब मैंने भी यमुना में छलाँग लगा दी और देखते-देखते उस पार पहुँचा। भैया को शांत करने की चेष्टा की और संकेत से बताया—'यमुना को अपवित्र न करें, यह जग-तारिणी हैं। यदि इनकी पवित्रता नष्ट हो गई तो हजारों-लाखों का पाप नित्य कौन धोएगा?'

"इतने पर भी भैया माननेवाले नहीं थे, उनके मैरेय का नशा तो ढीला पड़ गया था, पर वासना का नशा अब भी चढ़ा था। तब मैंने अपनी नाटकीयता का सहारा लिया और ऋषियों की तरह गंभीर मुद्रा में बोला, 'धरती, नदी और माता के साथ व्यभिचार नहीं करते।'

"माता का नाम सुनते ही भैया एकदम शांत हो गए। उन्होंने दो-एक जिज्ञासाएँ और कीं। जब उन्हें ज्ञात हुआ कि इस सरिता का ही मानवीकरण सुंदरी है, तब उन्हें शायद पश्चात्ताप भी हुआ। उन्होंने दबी जबान से कहा, 'मैं उसे कोई अभिसारिका

समझता था।'

" 'मैं भी समझती थी कि तुम अज्ञान में हो।' वह सुंदरी फिर प्रकट हुई और बोली, 'इसीलिए मैं तुमपर नहीं, तुम्हारे अज्ञान पर हँस रही थी।'

" 'अब आप मुझे क्षमा करें।' भैया बोले।

" 'क्षमा किसलिए?' वह यमुना सुंदरी मुसकराई—'यदि जानकारी में तुम कोई अपराध करते तो क्षमा माँगने की बात भी थी।'

" 'तन से नहीं, मन से तो मैं अपराध कर ही गया था।' भैया लगभग प्रकृतिस्थ थे। स्वर में पश्चात्ताप था—'क्या करूँ, मेरा मन बड़ा अपवित्र है!'

" 'और तुम उसे जानते हो?' यमुना सुंदरी ने कहा, 'यही जानकारी तुम्हारे मन की इस दुर्बलता को दूर करेगी।'

"भैया में एक अद्‌भुत गुण था। शांतिपूर्वक समझाने पर वे अपनी भूल स्वीकार कर लेते थे। वे यह भी नहीं देखते थे कि समझानेवाला बड़ा है या छोटा, ज्ञानी है या अज्ञानी। उसका स्तर क्या है? बात समझ में आ गई और उसे स्वीकार कर लिया।

"यमुना भी उनकी इस सहजता से प्रभावित हुईं। उन्होंने नीलवस्त्र और नीलकमल भैया को दिए और कहा, 'आप इसे धारण करें। हो सकता है, इससे आपके मन को शांति मिले।' "

"ओ, तभी वे नीलवस्त्र धारण करते हैं!" रेवती भाभी बोलीं।

मुझे लगा कि उनका मन अब शांत हो रहा है।

"पर मैं तो कुछ और समझती थी।"

"क्या?"

"यही कि तुम नीलवर्णी हो, पीतांबर पहनते हो तथा वे पीतवर्णी हैं और नीलांबर पहनते हैं! यह व्यक्तित्व की आकर्षकता के लिए आप लोगों का आपसी समझौता है।"

इतना सुनते ही मैं हँस पड़ा। मेरी हँसी ने उन्हें भी गुदगुदाने की चेष्टा की।

"इसी संदर्भ में एक बात और हुई। भैया के अनेक नामों में एक नाम 'यमुनाकर्ष' भी जुड़ गया। पर यह प्रचलित नहीं हुआ; क्योंकि यह कथा भी प्रचलित नहीं हुई। दोनों को कालदेवता ने बड़े यत्न से अपनी मंजूषा में बंद कर लिया।"

अब हम अपने गंतव्य पर पहुँचने ही वाले थे। अचानक मेरे विचार में आया कि रेवती भाभी अब तो सहज हो गईं। पर कहीं ऐसा न हो कि जो दृश्य मैंने देखा है, वही उन्हें भी देखने को मिले और वह असहज हो जाएँ। उनकी मानसिकता उस परिस्थिति का सामना करने योग्य बनानी चाहिए।

"कभी-कभी उपेक्षाभाव भी हमारी समस्याएँ हल कर देता है।"

रेवती भाभी मेरा मुख देखती रह गईं। वह समझ नहीं पाईं कि मैं क्या चाहता हूँ। पर मैं कहता जा रहा था—"आपने देखा होगा कि हवा का झोंका जिस आग को बुझा देता है, कभी-कभी वही आग उससे इतनी भभक उठती है कि सारा जंगल सुलगने लगता है। ऐसा क्यों होता है?"

रेवती भाभी अभी भी इस प्रश्न के प्रयोजन की खोज में मेरी ओर देख रही थीं। उन्होंने धीरे से कहा, "क्योंकि आग एक सीमा से अधिक हो जाती है।"

"साथ ही यह भी कहिए कि आग के बुद्धि नहीं होती।" मैंने कहा, "किसी वस्तु का प्रयोग हमें उसी मात्रा में करना चाहिए, जिस मात्रा में उसकी आवश्यकता हो।"

अब मेरा रथ उस जलधि वन अतिथिगृह के द्वार पर पहुँच चुका था। मेरी और रेवती भाभी की एक साथ और अप्रत्याशित उपस्थिति से प्रहरी घबरा गए। उनमें से एक भीतर की ओर भी दौड़ा। मैंने उसे रोकते हुए कहा, "कहाँ जा रहे हो?"

"महाराज को (भैया को) आपके आगमन की सूचना देने।"

"नहीं, इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। हम लोग स्वयं वहाँ पहुँच जाएँगे।" इतना कहते हुए हम उस कक्ष की ओर चल पड़े, जिसमें भैया विश्राम कर रहे थे।

रेवती भाभी उतावली थीं; पर मैं जानबूझकर धीरे-धीरे चल रहा था, क्योंकि मुझे उन्हें समझाना था। मैंने स्पष्ट कहा, "देखो, अप्रिय स्थिति में भी उत्तेजित मत होना। नितांत शांतभाव से बुद्धि से काम लेना, सोचना; जैसे आपके लिए कोई विशेष बात ही न हो।"

वह गंभीर ही रहीं। उन्होंने स्वीकृति में अपना सिर अवश्य हिलाया।

अब मैंने मुसकराते हुए सीधा प्रश्न किया—"अच्छा, यह बताओ, यदि भैया किसी सुंदरी के आलिंगनपाश में बद्ध और अर्द्धनग्न दिखाई पड़ें तो आप क्या करेंगी?"

"उस युवती के केश खींचते हुए बाहर घसीट लाऊँगी।"

मैं चलते-चलते एकदम रुक गया—"क्या यही आपका उपेक्षाभाव होगा?"

"उपेक्षाभाव!" रेवती भाभी झुँझलाते हुए बोलीं, "तुम्हें नारी का हृदय नहीं मिला है, कन्हैया! अन्यथा तुम इस स्थिति को समझते।"

"यह तो ठीक है। पर मैंने आपसे हृदय से नहीं, बुद्धि से काम लेने की बात कही थी।"

"तब मैं अपने नारी हृदय से क्या कहूँ?"

"उसे सांत्वना देते हुए कहो कि तुम्हारी विजय के लिए मैं बुद्धि का हथियार उठा रही हूँ।"

रेवती भाभी अब व्यग्र हो उठीं। मैंने उन्हें पुनः समझाया—''भाभी, आपके प्रति मेरी सहानुभूति है; पर मेरी सलाह है कि आपको भावना को दबाते हुए इस समय नाटक करना चाहिए। भैया के प्रति भी आपको सहानुभूति ही दिखानी चाहिए और बड़े प्रेम से उनसे कहना चाहिए कि अभी तक ऐसे पड़े हो, बहुत पहले ही सूर्य निकल आया है। उठो, नित्यकर्म से निवृत्त हो और फिर आकर विश्राम करना।''

''और उस कुलटा से कैसा व्यवहार करूँ?''

''उसे भी अपनी सहानुभूति का पात्र बनाओ। उससे भी बड़े प्रेम से कहो—बहन, तुम भी उठो और अपने नित्यकर्म से निवृत्त हो।''

''उस कुलटा को बहन कहूँ, यह मुझसे नहीं होगा।'' रेवती भाभी एकदम झुँझला उठीं।

''तब उत्तम हो, हम लोग लौट चलें।''

मेरे इस प्रस्ताव पर रेवती भाभी सोच में पड़ गईं। वह मौन मेरा मुख देखती रहीं; जैसे अपने कहे पर वह पुनः विचार कर रही हों।

मैंने उन्हें समझाना शुरू किया—''देखो भाभी! यह घर की लड़ाई है। घर की लड़ाई बाहर की लड़ाई से गंभीर और स्थायी होती है। इसे उन हथियारों से नहीं जीता जाता, जिनसे बाहर की लड़ाई जीती जाती है। इसके हथियार तो कल और छल हैं, बल नहीं।''

अब उन्होंने किसी तरह स्वयं को तैयार किया और एक योद्धा की तरह धड़धड़ाती हुई आगे बढ़ीं।

दृश्य जैसा सोचा था, या जैसा मैंने देखा था वैसा ही था। मैं तो बाहर ही रह गया। रेवती भाभी भीतर गईं। उन्होंने अपनी नाटकीय भूमिका बड़ी सफलता से निभाई। बड़े ममत्व से पति को जगाया। उनपर मैरेय का प्रभाव अब भी था। पर अचानक रेवती भाभी को देखकर वे सामान्य हो चुके थे।

रेवती भाभी की आकस्मिक उपस्थिति उस सुंदरी को भी चौंकानेवाली थी। वह हड़बड़ाकर उठी और अपने वस्त्र ठीक करती हुई कक्ष से बाहर निकलने को हुई।

''तुम कहाँ जा रही हो, बहन? अभी मेरे पति को तुम्हारी आवश्यकता है।'' रेवती भाभी ने उसे रोकते हुए कहा।

आकृति से स्पष्ट लगा कि भैया झेंप रहे हैं। अपनी दाहिनी भुजा से रेवती भाभी के कंधे को लपेटते हुए उन्होंने झेंप भरी मुसकराहट के बीच पूछा, ''क्या वह तुम्हारी बहन है?''

''मेरे अधिकार में से हिस्सा बँटानेवाली मेरी बहन के अतिरिक्त और कौन हो

सकती है?'' रेवती भाभी ने ऐसा मारा कि दोनों की मानसिकता धरती देखने लगी।

रेवती भाभी ने भैया की कटि में हाथ डालकर उन्हें प्यार भरा स्पर्श दिया और कक्ष के द्वार पर बढ़ते हुए पुनः अपनी कही हुई बात दुहराई—''चलिए, राजभवन से निवृत्त होकर पुनः यहाँ विश्राम करने चले आइएगा।''

''तुम बार-बार विश्राम करने की बात क्यों करती हो?''

''क्योंकि आप रोगी हैं। रुग्ण व्यक्ति को अधिक-से-अधिक विश्राम करना चाहिए।''

इस बार तो उनपर घड़ों पानी पड़ गया। वे यह न पूछ पाए कि कैसा रोग और मैं क्यों रोगी?

रेवती भाभी ने मौका देखा और बताया—''कन्हैया भी आया हुआ है।''

''कन्हैया आ गया!'' भैया का रहा-सहा नशा भी उतर गया।

''कहाँ है वह?''

''बाहर खड़ा है।'' रेवती भाभी बोलीं, ''भीतर वह मेरे साथ ही आ रहा था, पर आपको ऐसी स्थिति में देखकर बाहर ही रह गया।''

इतना सुनते ही मैं और दीवार के पीछे हो गया। मैं यहाँ से भी उन लोगों को साफ देख रहा था। मेरी उपस्थिति का समाचार सुनते ही भैया की आकृति का रंग ही बदलने लगा था।

भैया ज्यों ही बाहर निकले, मैंने उनके चरण स्पर्श किए। यों भैया मुझसे कुछ ही महीने बड़े थे। बहुधा मैं उनके चरण नहीं छूता था। पर इस समय वे जिस पश्चात्ताप के गर्त में गिरे थे, उसमें और गहरा धक्का देने के लिए मैंने चरण छुए।

वे हतप्रभ हो गए। उन्होंने मुझे उठाया अवश्य, पर वक्ष से नहीं लगाया। कंधे पर हाथ रखकर मुसकराते रहे। मैं मौन ही रहा और धीरे से उनका हाथ पकड़कर रथ पर बैठा दिया।

अब रेवती भाभी भी बोलीं, ''आप इन्हें ले चलिए। मैं बहन को लेकर आती हूँ।''

''अरे, उसे राजभवन में मत ले आओ।'' चलते-चलते रथ से भैया चिल्लाए।

''क्यों?'' मैंने पूछा।

''पगों से मसले पुष्प को मंदिर में नहीं ले जाते।''

''इसमें इस पुष्प का क्या दोष? दोष तो पगों का है।'' मैंने अपनी नाटकीय मुसकान के बीच कहा।

''जो पग देवताओं पर चढ़नेवाले पुष्प को मसलते हैं, वही मंदिर में जाने का साहस भी करते हैं! अद्भुत है उनकी यह निर्लज्जता!''

☐
इस घटना की चर्चा द्वारका में मेरे आगमन से कम नहीं हुई। वस्तुतः वासना के इस नंगे नाच के प्रति जनता को जिस घृणा की अपेक्षा थी, वह न मेरी ओर से प्रदर्शित की गई और न राजभवन की ओर से।

भैया भी विचित्र मानसिक स्थिति में थे। रथ पर भी भैया कुछ बोल नहीं सके, यद्यपि बोलने को बहुत था। इतने दिनों के बाद मैं लौटा था। फिर भी उन्होंने कुछ नहीं पूछा। जागते हुए भी आँख बंद किए सोने की मुद्रा बनाए रहे।

राजभवन में भी आकर वे चुपचाप अपने क़क्ष में चले गए। मैंने बाद में पता लगाया, वे शीघ्र ही स्नानादि से निवृत्त होकर शय्या पर पड़ रहे। लगा कि वह गंभीर अपराधब़ोध से ग्रस्त हैं और मेरा सामना करने से कतरा रहे हैं।

उधर रेवती भाभी उस नर्तकी को लेकर सीधे प्रासाद में आईं; पर राजभवन में आने के लिए नर्तकी तैयार नहीं थी। उसका कहना था कि राजभवन की पवित्रता को मैं नष्ट करना नहीं चाहती। तब रेवती भाभी ने उसकी व्यवस्था प्रासाद के अतिथिगृह में कर दी और शीघ्र ही मुझसे मिलीं।

मैंने रेवती भाभी से स्पष्ट कहा, ''जब से मैं यहाँ आया हूँ, अजीब बखेड़े में पड़ा हूँ। अपने साथ आए मित्रों से भी मिल नहीं पाया। वे जलपान के लिए मेरी राह देख रहे होंगे; पर इसके पहले मैं अपने द्वारका के मित्रों और वृद्धों से मिलूँगा।''

''तो फिर मैं उसके लिए क्या करूँ?'' रेवती भाभी ने पूछा।

''किसके लिए?''

''वही, जो मेरी नई बहन बनी है?'' रेवती भाभी व्यंग्यात्मक ढंग से मुसकराईं।

''उसे अपनी बहन बनाए रखो।'' मैंने कहा, ''मैं बड़ों का आशीर्वाद लेकर आता हूँ। तब तक उसे भी बुला लो। हम लोग साथ ही जलपान करेंगे।''

रेवती भाभी मुसकराती हुई चली गईं और मैं सीधे अपनी माँ के पास पहुँचा। वहाँ लोग मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। अक्रूर चाचा, पिताजी, गुणवंती चाची आदि तो पहले से थे ही। मेरे पहुँचने के बाद ही ककुद्मिन भी धीरे-धीरे चले आए।

मैंने जब दौड़कर उनके चरण पकड़े, तब वे मुझे अपनी छाती से लगाने के साथ ही बोल पड़े—''तुम्हारे आने की सूचना मुझे प्रातः ही मिली थी; पर जब तुम अभी तक नहीं आए तब मैंने सोचा कि मैं ही तुमसे मिल लूँ।''

''अरे, यह यहाँ भी अभी ही आया है।'' पिताजी बोल पड़े।

''तब तू कहाँ रह गया?'' ककुद्मिन ने कहा, ''कहीं तू भी तो नृत्य महोत्सव में नहीं चला गया था?''

मैंने 'हाँ, नहीं' कुछ नहीं कहा। केवल मुसकराते हुए उनकी ओर देखा।

''लगता है, यह आग द्वारका को निगल जाएगी।'' ककुद्मिन बोले।

मैंने उनकी आकृति पर गहरी हताशा देखी। सारा पूर्व इतिहास मेरी आँखों के सामने नाच गया।

''कुशस्थली को तो मैंने भस्म कर दिया था; पर इस आग को तुम लोग हवा दे रहे हो।''

''न वह आग आपने लगाई थी और न यह आग ही किसीने लगाई है।'' मैंने कहा, ''नियति द्वारा लगाई गई आग में द्वारका को गोद में लेकर वासना की होलिका बैठी है। देखिए, होलिका जल जाएगी और कंचन-सी खरी होकर द्वारका निकल आएगी।'' मैंने बड़े विश्वास से कहा और इसका प्रभाव भी ककुद्मिन पर पड़ा।

और लोग भी द्वारका की इस स्थिति से दुःखी थे; पर किसीने बात नहीं बढ़ाई। लोगों की सबसे अधिक जिज्ञासा पांडवों के विषय में थी। मैंने जो पहले सूचना भिजवाई थी, उससे लोगों को उनके जीवित रहने का विश्वास तो था, पर वे विस्तृत जानकारी चाहते थे। इस संदर्भ में उन्होंने अनेक प्रश्न किए; पर मैं इधर-उधर की बातें कर उन्हें टाल गया। फिर भी वे जो कुछ जानते थे, उसी आधार पर उन्होंने महात्मा विदुर और प्रपितामही सत्यवती की भूमिका की सराहना की। साथ ही, एक बात उनके हृदय में बैठ गई कि मनुष्य के किए कुछ नहीं होता, जब तक नियंता की इच्छा नहीं होती। दुर्योधन और शकुनि ने कुछ छोड़ा तो नहीं।

वे कुछ और बोलें, इसके पहले ही मैं बोल पड़ा—''पर कौरवों की जानकारी के अनुसार तो पांडव भस्म हो चुके हैं।'' मैंने कहा, ''और यही सत्य आज पूरा आर्यावर्त्त जानता है। उसे यही जानना भी चाहिए।'' मैंने अंतिम वाक्य बड़ी गंभीरता से जोर देते हुए कहा।

''लोग वास्तविक सत्य जान ही जाएँगे तो क्या हो जाएगा?'' माँ बोली।

''संसार का कुछ नहीं होगा, पर पांडवों का अहित हो सकता है।''

''क्यों?''

''महर्षि व्यास का कहना है कि अभी पांडवों के दिन अच्छे नहीं हैं।''

इतना सुनते ही मेरे माता-पिता के साथ अन्य लोग भी चिंतित हो उठे।

माँ के मुख से तुरंत निकला—''इस संबंध में हमें क्या करना चाहिए?''

''हम कर ही क्या सकते हैं!'' मैंने कहा, ''नियति ही उनकी रक्षा कर सकती है—और वह कर भी रही होगी। हम बस इतना ही कर सकते हैं कि इस सारी सूचना को अत्यंत गोपनीय ही रखें।''

''जब बात इतने मुखों से होती हुई इतने कानों तक चली आई है, तब यह गोपनीय कैसे रह सकती है?'' अक्रूर चाचा बोले, ''एक-न-एक दिन तो हस्तिनापुर

इसे जान ही जाएगा।''

''एक-न-एक दिन तो उसे जानना ही है, फिर हम उसे आज ही क्यों जानने दें?'' मैंने कहा।

लोगों ने भरे मन से इस विषय में मुँह बंद करने का संकल्प किया। अब मैं वहाँ से उठने को हुआ।

पिताजी ने रोका और बोले, ''यहाँ की स्थिति से तुम शायद पूरी तरह परिचित नहीं होगे!''

''परिचय तो मुझे मार्ग से ही मिलने लगा था, यहाँ आकर आँखों से देख भी लिया। स्थिति गंभीर है।...पर मैं अभी आता हूँ।''

मैंने वहाँ से स्वयं को छुड़ाया और रेवती भाभी के कक्ष की ओर चला; क्योंकि मैं शीघ्र आने और साथ ही जलपान करने का वचन उन्हें दे आया था।

यहाँ एक विचित्र स्थिति पैदा हो गई थी। राजभवन के बहुत सारे परिवार मुँह नीचा किए चुपचाप खड़े थे और भैया उन्हें दहाड़ते हुए आदेश दे रहे थे—''यहाँ मौन क्यों खड़े हो? मैंने कहा न कि जाओ और रात को जहाँ नृत्य समारोह हो रहा था, उस पूरे वितान में आग लगा दो। उस मंडप को भस्म कर दो!''

पर रेवती भाभी ऐसा नहीं चाहती थीं। वह भैया को भी शांत कर रही थीं और परिचरों को भी मौन खड़े रहने का आदेश कर रही थीं।

पहुँचते ही मैंने रेवती भाभी का ही पक्ष लिया—''भैया! इससे क्या होगा? धू-धू कर वह मंडप भस्म हो जाएगा; पर तब तक कुछ नहीं होगा जब तक हमारे भीतर की वासना का वितान भस्म नहीं होगा।''

इतना सुनना था कि भैया चुपचाप अपने कक्ष में चले गए। मैंने अनुभव किया कि यह उनकी मानसिकता का पश्चात्ताप पर्व है। भीतर की अग्नि छलककर बाहर के मंडप को जलाने के लिए व्यग्र हो उठी थी।

मैंने झाँककर भीतर देखा, भैया अपने पर्यंक पर ढुलके पड़े थे। निश्चय ही वे भीतर-ही-भीतर धधक रहे थे।

अब मैंने उन परिचरों को वहाँ से हटाया और रेवती भाभी को लेकर उनके कक्ष में आया। वहाँ एक मंचक पर सिर नीचा किए वह नर्तकी बैठी थी। हम लोगों को देखकर खड़ी हो गई।

मैं उसे बैठने के लिए कहते हुए चुपचाप उसकी बगल में बैठ गया और मेरी बगल में रेवती भाभी। शीघ्र ही जलपान मँगाया गया।

''मैं आपकी बहन का परिचय जान सकता हूँ।'' मैंने मुसकराते हुए रेवती भाभी से कहा।

रेवती भाभी कुछ जानती हों तब तो बोलें। उन्होंने भी प्रश्नवाची मुद्रा में नर्तकी की ओर देखा।

''मेरा नाम सुपर्णा है।'' उसने बड़े दबे स्वर में कहा।

''ओ, सुपर्णा! अब समझा।'' मैं बोला, ''शायद तुम सेमल ग्राम की रहनेवाली हो?''

उसने सिर हिलाकर 'हाँ' तो कहा, पर वह चकित रह गई।

''आप कैसे जानते हैं सेमल ग्राम को?''

''जानती हो, मेरा नाम कन्हैया है!'' मैंने मायावी अट्टहास किया—''नाम जानते ही मैं सबकुछ जान लेता हूँ। यदि तू नाम भी न बताती, तो भी मैं तेरी आकृति देखकर सब समझ लेता।''

''सब जान जाते!'' वह विस्मय से मुझे देखती रही। उसकी आकृति पीली पड़ने लगी। यदि रेवती भाभी उसे न सँभालतीं तो वह नीचे गिर जाती।

''क्या बात है?'' मैंने पूछा।

''मेरा मस्तिष्क चकरा रहा है।'' सुपर्णा बोली।

''शायद मैरेय का नशा अब भी प्रभावी है।'' रेवती भाभी ने कहा।

''नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है।'' मैं बोला।

''फिर क्या बात है?'' रेवती भाभी ने पूछा।

''सब इसी समय जानना चाहती हो!'' मैं मुसकराया।

''इसे पर्यंक पर लिटा दो, थोड़ी देर में सब मालूम हो जाएगा।'' मैं इतने विश्वास से बोला कि वह और सकते में आ गई।

वह एकटक मुझे देखती रही; जैसे उसे काठ मार गया हो। फिर मैंने उसे जल पिलाया और स्वयं रेवती भाभी के साथ बैठकर जलपान करने लगा। इस बीच रेवती भाभी ने मेरी यात्रा के संबंध में कई प्रश्न किए। किंतु मैं मुसकराकर और कुछ इधर-उधर की बातों में उलझाकर सब टालता गया। फिर संकेत से मैंने रेवती भाभी को समझाया कि इस नर्तकी के सामने कोई बात नहीं। अब रेवती भाभी अपेक्षा से अधिक गंभीर हो गईं।

थोड़ी देर बाद ही पर्यंक पर पड़ी नर्तकी की सिसकन सुनाई पड़ी। अब एक रहस्य स्वयं पिघलकर नयनों से बहने को तैयार था।

मैंने एक बार फिर उसे उधेड़ने की चेष्टा की—

''क्या बात है? क्यों इतनी दुःखी हो?''

वह फूट-फूटकर रोने लगी।

''आखिर रोती क्यों हो?'' रेवती भाभी बोलीं।

"अपनी स्थिति पर।" इस बार वह और रोई।

"तुम्हारी स्थिति कौन खराब है?" रेवती भाभी ने कहा, "मैंने उसे और भी अच्छी बना दी है। अब तो तुम मेरी बहन हो। मेरे आधे सौभाग्य की अधिकारिणी।"

अब भी उसका रुदन रुकने का नाम नहीं लेता था।

"तो तुम यहाँ से जाना चाहती हो?" मैंने कहा, "यदि ऐसा है तो तुम मुक्त हो।"

"नहीं-नहीं, ऐसा मत कहिए।" वह एकदम चीख उठी—"अब मेरा शव ही यहाँ से जाएगा।"

"तो तुमने स्वयं को भैया की सौभाग्यवती होना स्वीकार कर लिया?" मैंने कहा।

"मैं इस गरिमा के योग्य नहीं हूँ।"

"आखिर क्यों?"

"आप तो सब जानते हैं कि मैं पाप-पंक में फँसी घिनौनी मक्षिका से अधिक नहीं हूँ।"

"तुम कभी अपवित्र रही होगी; पर अब तो उसी पंक से निकालकर, अपने स्नेह जल से स्वच्छ कर तुम्हें मेरे भैया ने अंगीकार किया है।"

"यही स्थिति तो मेरे लिए अत्यधिक बोझिल हो गई है।" उसने गिड़गिड़ाते हुए कहा, "या तो मैं इससे दबकर मर जाऊँगी या मार डाली जाऊँगी।"

"मार डाली जाओगी! आखिर क्यों?" मैंने पूछा।

उसकी व्यग्रता और बढ़ गई थी। रेवती भाभी उसके पर्यंक पर जाकर उसका सिर सहलाने लगी थीं।

अब वह धीरे-धीरे खुलने लगी—"मैं इस राजभवन से ही क्या, कक्ष से भी बाहर जाना नहीं चाहती; क्योंकि चारों ओर मृत्यु मुझे खड्गहस्त दिखाई दे रही है। मेरा जीवन कच्चे सूत में बँधा है।"

अभी वह इतना ही कह पाई थी कि एक अमात्य वायुहा ने अचानक कक्ष में प्रवेश किया और बड़े निर्द्वंद्वभाव से रेवती भाभी से पूछा, "आपने मुझे बुलाया है?"

जबकि किसीने उसे बुलाया नहीं था। वह एक बहाने से कक्ष में आना चाहता था—और आ गया। रेवती भाभी ने स्पष्ट किया कि यहाँ किसीने आपको बुलाया नहीं है।

उसे देखते ही सुपर्णा एकदम शिथिल होकर बिस्तर पर ढुलक गई। अब न उसके मुख में सिसकियाँ थीं और न उसकी आँखों में आँसू।

मैंने समझ लिया कि अमात्य की उपस्थिति से वह भयग्रस्त है। पर वह अब

तक खड़ा था।

मैंने उसे डाँटते हुए कहा, ''आप यहाँ क्यों खड़े हैं?''

''यों ही नर्तकी की अस्वस्थता ने मुझे रोक लिया है।'' वह लौटने की मुद्रा बनाते हुए बोला।

''तुम्हारा नर्तकी से क्या लेना-देना है?'' मेरी ध्वनि में और टेढ़ापन आया—''लगता है, तुम द्वारका की सेवा में कुछ ही दिनों पूर्व आए हो?''

''जी हाँ।'' अब वह थोड़ा घबराया-सा लगा।

मुझे दाल में कुछ काला दिखाई दिया। मैंने उसके व्यग्र साहस को एक और धक्का दिया—''और तुम कुशस्थली के रहनेवाले भी नहीं लगते।''

वह कुछ नहीं बोला।

''फिर आप कहाँ के रहनेवाले हैं?''

वह अब भी चुप रहा। किंतु उसकी बढ़ती हुई व्यग्रता तन में कंपन बनकर दिखाई देने लगी थी।

मैंने उसकी चुप्पी पर एक और प्रहार किया—''आखिर इस धरती पर कोई-न-कोई स्थान होगा, जहाँ के रहनेवाले आप होंगे। हो सकता है, इस धरती के ही न हों, स्वर्ग के गंधर्व ही हों।''

अब वह खुला कि पंचजन्य का है।

''पंचजन्य के लोग तो यहाँ लूट-मार करने आते थे, आप यहाँ किसलिए पधारे?''

''चाकरी के लिए यहाँ आया था।''

''और सीधे-सीधे अमात्य बना दिया गया। किसकी ऐसी महती कृपा हुई आप पर?'' अब मेरा हर व्यंग्य उसके ढाढ़स को चूर करता जा रहा था।

उसने दबे स्वर में भैया का नाम लिया।

मैंने रेवती भाभी की ओर देखा और बोला, ''वे धन्य हैं! हम सबके वरेण्य हैं। उन्होंने जो कुछ किया, ठीक ही किया होगा। अच्छा, अब आप जाइए और बिना बुलाए पधारिएगा मत। बुलाने का बहाना बनाकर भी नहीं।''

उसके चले जाने के बाद मैंने रेवती भाभी से कहा, ''मुझे तो कुछ और ही आभास लग रहा है।''

सुपर्णा के पास बैठी रेवती भाभी एकदम बोल पड़ीं—''क्या?''

''हो सकता है, यह अमात्य ही हमारा गुप्तचर हो!''

''हो सकता है नहीं, यही सत्य है।'' अब तक आँखें मूँदे चुपचाप पड़ी सुपर्णा बोल पड़ी।

''पंचजन्य तो हमारा स्थायी शत्रु है। वहाँ के व्यक्ति को तो अमात्य बनाना ही नहीं चाहिए था। पर मैं क्या कहूँ भैया को! सुरा और सुंदरी का ऐसा नशा उनपर छा जाता है कि उन्हें तो कुछ दिखाई ही नहीं देता।'' मैंने कहा अवश्य, पर न सुपर्णा ने और न रेवती भाभी ने ही उसपर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की।

मुझे अपने मित्रों की याद आ रही थी। मैं कब से मिलने की सोच रहा था। पर मैं सुपर्णा को भी छोड़ना नहीं चाहता था। अपने जीवन के संबंध में व्यक्त किए गए उसके संकट का रहस्य अब स्पष्ट होने लगा था। अब मुझे यह भी आभास लगने लगा था कि द्वारका इस समय वासना, आलस्य, अनुशासनहीनता आदि का ही शिकार नहीं है वरन् वह पड़ोसी राज्यों के दुष्चक्र, कूटनीति और षड्यंत्र का भी केंद्र हो गई है। यहाँ गुप्तचरों का जाल बिछा दिया गया है।

अतएव मैं वहाँ से हटा नहीं वरन् एक चर को भेजकर अपने मित्रों को वहीं बुला ले आने के लिए कहा।

चर के जाते ही राजवैद्य पधारे। उनके साथ दो व्यक्ति और थे। राजवैद्य ने आते ही मेरा सादर अभिवादन किया। मैं उन्हें पहचानता नहीं था। उन्होंने स्वयं अपना परिचय दिया और बताया कि अमात्य वायुहा ने मुझे भेजा है।

''उन्होंने आपको क्यों कष्ट दिया?'' मैंने पूछा।

''उनका कहना था कि महाराज की प्रिय नर्तकी अचानक रुग्ण हो गई है।'' राजवैद्य बोले और मैंने सुपर्णा की ओर बड़े सहजभाव से संकेत किया।

रेवती भाभी पर्यंक से हट गईं और वैद्यराज ने सुपर्णा की स्वास्थ्य-परीक्षा आरंभ की। नाड़ी और श्वास की गति देखकर वैद्यराज बोले, ''कोई चिंता की बात नहीं है। राजनर्तकी ने श्रम अधिक किया है और विश्राम नहीं कर पाई हैं। दुर्बलता अत्यधिक बढ़ गई है। मैं अभी ओषधि भेजता हूँ। उसे पी लेने से यह ठीक हो जाएँगी।''

सुपर्णा अब भी मौन श्लथ पड़ी रही।

''ठीक है, आप अमात्य वायुहा के द्वारा यहाँ ओषधि भेज दीजिएगा।'' फिर मैंने कूटनीतिक दृष्टि से पूछा, ''ओषधि पीते ही धमनियों में ऊर्जा संचरित हो जाएगी न?''

''एकदम नई शक्ति आ जाएगी।'' वैद्यराज ने गंभीर व्यंग्य करते हुए कहा, ''यह पुनः खड़ी होकर नृत्य करने लगेंगी।''

वैद्यराज के चले जाने के बाद सुपर्णा धीरे से बोली, ''मैं इस वैद्य की ओषधि नहीं ग्रहण करूँगी।''

यों तो वैद्यराज के कहने के ढंग से ही मैं बहुत कुछ समझ गया था, पर सुपर्णा की आशंका से रहस्य काफी खुल गया।

मैंने उससे कहा, ''यदि तुम्हें ओषधि नहीं लेनी है तो तुम स्वयं स्वस्थ हो जाओ और ऐसी चहकने लगो कि तुम्हें देखकर अमात्य को भी आश्चर्य हो।''

रेवती भाभी ने पूछा, ''इससे क्या होगा?''

''आप चुपचाप देखती जाओ कि क्या होता है!'' मैं मुसकराया। रेवती भाभी मेरा मुख देखती रह गईं। मैंने सुपर्णा से कहा, ''जब वायुहा ओषधि लेकर आए तो तुम खड़ी होकर उसका स्वागत करना और भयमुक्त होकर बड़े सहजभाव से उससे कहना कि वैद्यराजजी स्वयं मुझे ओषधि दे गए थे। उसे लेते ही मेरी शिथिलता तो जाती रही। अब इस ओषधि की क्या आवश्यकता!''

सुपर्णा कुछ सोचने लगी। जैसे वह यह नाटक करने के लिए मानसिक रूप से तैयार हो रही हो।

''मेरा जीवन भी कितना विचित्र है, भाभी! जीवन के साथ ही नियति ने मुझे संघर्ष ही दिया है। तब से आज तक जीवन की कोई साँस उससे मुक्त नहीं हो पाई। शायद मृत्यु तक यही स्थिति रहे। अब देखो, इतने दिनों बाद घर लौटा था। कहाँ-कहाँ गया, कूटनीति का जाल बिछाता और बटोरता रहा। राजनीति के दाँव खेलता रहा। सोचा था, द्वारका चलकर कुछ दिनों तक विश्राम करूँगा, संघर्ष को अवकाश दूँगा; पर यहाँ आकर भी राजनीति ने पीछा नहीं छोड़ा। अपने माता-पिता के पास भी आराम से एक घड़ी भी बैठ न पाया। फिर भी मैं निराश नहीं हूँ। यदि नियति यही चाहती है तो यही सही। मैं संघर्ष को ही जीवन मानकर जीऊँगा।'' मैं बोलता रहा।

तब तक वायुहा ओषधि लेकर आ गया। उसे देखते ही चहकती सुपर्णा ने अपना नाटक शुरू किया। आखिर वह कलाकार थी ही। बड़ी योग्यता से उसने अपनी भूमिका निबाही।

''जब वैद्यराज तुम्हें ओषधि दे गए थे तब मुझे क्यों भेजा?''

''यह तो वैद्यराज ही जानें।'' सुपर्णा बोली।

''अरे, सावधानी के लिए भेज दिया होगा। ओषधि का मामला है। कहीं कोई उसमें कुछ मिला न दे, अन्यथा जीवन को लेने-के-देने पड़ जाएँगे।'' मैंने कहा और वायुहा अप्रत्याशित रूप से गंभीर हो गया।

वह ओषधि का पात्र लिये चुपचाप खड़ा रहा।

''आप खड़े क्यों हैं? बैठिए।'' मैंने उसे निकट के मंचक पर बैठाया। यद्यपि वह मेरी दृष्टि से निरंतर संकुचित होता जा रहा था। वह कुछ भयातुर भी लगा।

''मुझे यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि आपने सुपर्णा की चिकित्सा की त्वरित व्यवस्था की। राजवैद्य भी आ गए और आप ओषधि लेकर भी उपस्थित हुए। लगता है, हमारा स्वास्थ्य विभाग किसी नितांत योग्य व्यक्ति की देखरेख में है। अब

द्वारका का कोई व्यक्ति रुग्ण होगा तो ओषधि स्वयं उसके पास पहुँच जाएगी।''

इतना सुनना था कि रेवती भाभी जैसे उबल पड़ीं—''अरे, तुम भी क्या कह रहे हो, कन्हैया! आज द्वारका में किसीके स्वास्थ्य की किसीको चिंता नहीं है। औषधालयों में ओषधियों का अभाव है। हाँ, विभिन्न प्रकार की मदिराएँ अवश्य मिल जाएँगी। वहाँ चिकित्सक भले ही न उपलब्ध हों, पर राजकर्मचारियों के लिए सेविकाएँ अवश्य मिल जाएँगी।'' इसके बाद रेवती भाभी ने ऐसी-ऐसी बातें कहीं, जिनका उल्लेख मैं उचित नहीं समझता। पर उनके कथन का दबाव वायुहा पर पड़ता जा रहा था।

वह एकदम उठकर खड़ा हुआ—''अच्छा, तो मैं चलता हूँ।''

मैंने फिर उसे रोका—''अरे भाई, मैं भी द्वारका का कुछ हूँ। तुम्हारे सान्निध्य से मैं कुछ और लाभान्वित होना चाहता हूँ।''

वह खड़ा होकर भी बैठ गया।

''इस ओषधि का क्या करोगे?'' मैंने पूछा।

''इसे फेंक दूँगा।''

''अरे, फेंकने के लिए भी आप ही कष्ट करेंगे?'' मैंने छटपटाते नाग का मुँह पकड़ने की चेष्टा की—''और फिर इसे फेंकने की आवश्यकता क्या? यह तो बलवर्द्धक ओषधि है, या तो मैं पी लूँ या आप पी लीजिए।''

अब तो उसकी आकृति ही फक पड़ गई। स्पष्ट लगा कि कोई बात अवश्य है। मैंने उसकी शंकित मानसिकता को एक धक्का और दिया—''सोचता हूँ, मैं ही इस ओषधि को पी लूँ। लंबी यात्रा से लौटा हूँ, काफी शिथिल हो गया हूँ।'' मैंने उस चषक को लेने के लिए हाथ भी बढ़ाया।

वायुहा ने तुरंत मेरा हाथ खींच लिया—''अरे, आप इसे पीएँगे!''

''आप तो ऐसे चौंक रहे हैं जैसे इसमें अमृत नहीं, विष हो।''

अब वह और भी घबराया। फिर भी उसने स्वयं को सँभालते हुए कहा, ''विष क्यों होगा? मैं लाया हूँ और विष होगा?''

''आज द्वारका में कहीं भी, कुछ भी हो सकता है।'' रेवती भाभी बोलीं।

''पट्टमहिषी भी ऐसा कहती हैं!'' वह बोला और हँस पड़ा।

लगा कि वह बनावटी हँसी हँस रहा है।

''मैंने तो आपको पीने को इसलिए नहीं दिया कि इसका प्रभाव शीघ्र नहीं होगा। धीरे-धीरे एक-दो दिनों में यह ओषधि अपना प्रभाव करेगी। और आपको त्वरित ऊर्जावाली ओषधि चाहिए।''

''पर यह ओषधि सुपर्णा की है न, जिसकी शिथिलता ताजा है। उसे ऊर्जा अभी

चाहिए। और आप ऐसी ओषधि दे रहे हैं, जिसका प्रभाव दो दिनों के बाद होगा।'' मैंने कहा।

''इसमें कोई रहस्य होगा।'' यह पहली और धीमी आवाज सुपर्णा की थी— ''अब द्वारका बड़ी रहस्यमय हो गई है, प्रभु! जिसका अनुमान तक नहीं लगाया जा सकता।''

''रहस्य सदा अनुमान के परे होता है।'' मैंने कहा, ''यदि अनुमान ही लगा लिया गया तो रहस्य कैसा?''

हम लोगों का हर संवाद वायुहा के मस्तिष्क पर चोट पर चोट करता चला जा रहा था। उसकी मानसिकता क्रुद्ध समुद्र में उस जलयान के समान थी, जो न डूब ही रहा था और न उतर पा रहा था। भय और व्यग्रता के साथ ही वायुहा सबसे अधिक क्रुद्ध सुपर्णा के बोलने से हुआ।

उसने उसी क्रोध में कहा, ''अब यह ओषधि भी संदेह के घेरे में आ गई है।''

''और वह घेरा भी आपने ही बनाया है।'' मैं मुसकराते हुए बोला।

''तब इस घेरे को मुझे ही तोड़ना चाहिए।'' इतना कहते हुए उसने ओषधि का चषक मुँह से लगा लिया।

पूरी ओषधि गले से उतर जाने के बाद मैं बोला, ''अब आप यहीं रहिए और सुपर्णा की देखभाल कीजिए।''

''मैं क्या देखभाल करूँगा! यदि आपकी यही इच्छा है तो मैं किसी महिला परिचारिका को भेज देता हूँ।''

''मेरी इच्छा है कि आप इसी कक्ष में रहिए।'' मेरी ध्वनि में प्रशासनिक तनाव आया—''यह तो आप जानते ही होंगे कि राजा की इच्छा ही उसका आदेश है।''

उसे विश्वास नहीं था कि मैं इतना कठोर भी हो सकता हूँ। वह भयभीत दृष्टि से मुझे देखता रहा और मैं चुपचाप कक्ष के बाहर निकल आया। मेरे पीछे रेवती भाभी भी थीं।

''उसे तुमने वहीं रहने के लिए क्यों कहा?'' कक्ष के बाहर निकलते ही रेवती भाभी ने धीरे से पूछा।

''मैं चाहता हूँ कि जो उसने पीया है, उसकी रगों में अच्छी तरह प्रवाहित हो जाए। यदि कहीं वह इस कक्ष से बाहर निकला तो वमन करके सारा-का-सारा बाहर निकाल देगा। अब आप कक्ष से हट रही हैं तो द्वार के बाहर प्रच्छन्न रूप से किसी प्रहरी को लगा दें, ताकि वह छिपकर उसकी सारी गतिविधि पर दृष्टि रखे और उसे बाहर न निकलने दे।''

''तो क्या जो उसने पिया है, वह विष है?''

"जो अमृत देने से ही मरे, उसे विष नहीं दिया जाता।" मैंने मुसकराते हुए कहा।

□

मैं वहाँ से चला था अतिथिभवन में अपने मित्रों से मिलने के लिए और शीघ्र समय निकालकर अपने माता-पिता आदि वरेण्य लोगों के पास जाने के लिए। पर रेवती भाभी अपने शयनकक्ष की ओर ले गईं। भैया वहाँ अब भी सो रहे थे। फिर वह वहाँ से हटकर बगल के कक्ष में आ मुझसे बातें करने लगीं।

उन्हें आश्चर्य था कि जो वे यहाँ न देख पाईं, उसे मैंने आते ही देख लिया। अब द्वारका की स्थिति तथा मेरे अनुमान और आभास के संबंध में उनकी जिज्ञासाएँ थीं, जिनको शांत कर पाना मेरे लिए कठिन था; क्योंकि मैं जान तो बहुत कुछ गया था, पर अनुमान की डगर पर ही था। मैंने भाभी से स्पष्ट कहा कि अभी मैं किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा हूँ।

"फिर भी तुमने बहुत कुछ पा लिया है।" वह बोलीं, "हम तो अंधकार में थे और अभी भी बहुत कुछ हैं।"

"हममें-आपमें अंतर इतना ही है कि आप अंधकार को भोग रही थीं और उसे जीती रहीं। पर मैं आते ही उस अँधेरे को टटोलने लगा, इसीलिए कुछ पा सका हूँ। शीघ्र ही सत्य की कोई किरण भी हाथ लगेगी; तब सबकुछ स्पष्ट हो जाएगा।" मैंने कहा।

मैं लंबी बात करने की स्थिति में नहीं था; फिर भी भाभी शंका पर शंका उपस्थित करती रहीं कि अचानक कोलाहल सुनाई दिया।

सुपर्णा की चीख तो स्पष्ट थी, पर यह भी साफ लगा कि उसकी चीख कहीं दब रही है। हम लोग उधर दौड़े।

हमारे पहुँचने के पहले ही प्रहरियों ने कोलाहल शांत कर दिया था। बात यह थी कि वायुहा ने एकांत में सुपर्णा को अकेली समझकर उसका गला दबाने की कुचेष्टा की थी। यह तो कहिए अमात्य के पास कोई अस्त्र नहीं था, अन्यथा सुपर्णा की वह बात सत्य सिद्ध हो जाती कि इन दीवारों के भीतर भीं उसे मृत्यु दिखाई दे रही है।

सुपर्णा बेतरह काँप रही थी और वायुहा दो प्रहरियों द्वारा बुरी तरह दबोचे जाने के बाद भी बनैले सुअर की तरह फुफकार रहा था।

मैंने तुरंत उसे प्रहरियों से मुक्त कराया और शांत करते हुए कहा, "आपको क्रोध नहीं करना चाहिए।" यही वह अवसर था, जब उस वाक्यांश ने जन्म लिया, जिसे कभी अर्जुन से मैंने कहा था—'क्रोधादभवति संमोह'—क्रोध से मूढ़ता उत्पन्न

होती है।

"मूढ़ता एक अमात्य को शोभा नहीं देती। यदि सुपर्णा को मारना ही था तो यह काम आप अपने किसी व्यक्ति से करा सकते थे। आपके बहुत से लोग यहाँ हैं।"

"यह सत्य है कि मैं क्रोध में मूढ़ हो गया हूँ; पर इतना बड़ा मूढ़ नहीं हूँ कि अपने व्यक्तियों को मैं संकट में डालूँ।"

पर इस कथन से उसने यह तो स्वीकार ही कर लिया कि उसके बहुत से व्यक्ति हैं यहाँ। मूढ़ता उसके सिर पर सवार होकर बोल रही थी। फिर क्रोध और अरण्याग्नि को जितना शांत कीजिए, वह उतना ही भभकती है। वह भीतर-ही-भीतर आक्रोश में जलता जा रहा था।

"मैं चाहता था कि मैं ही इसका अंत कर दूँ।" उसने कहा।

"आखिर क्यों?"

"क्योंकि मैं किसी और को मृत्यु का ग्रास बनने नहीं देता।" उसकी आवाज और तेज हुई—"क्या आप इसे मारनेवाले को जीवित रहने देंगे?"

"इसका उचित उत्तर तो प्रधान दंडाधिकारी ही दे सकते हैं।" मैंने कहा, "पर मैं पुनः कह सकता हूँ कि आपको यह कदम नहीं उठाना चाहिए।"

"लेकिन मैं सोचता हूँ कि यह शुभ कार्य मेरे द्वारा ही संपन्न होना चाहिए; क्योंकि अब मैं परम निर्भय हूँ। मृत्यु के आलिंगन में पड़े व्यक्ति के समक्ष किसी प्रकार का भय नहीं होता।"

मैं मुसकराता हुआ उसे सुनता रहा; जैसे कुछ जानता ही न होऊँ। मेरी समझ में तो उसका एक-एक शब्द आ रहा था; पर मैं नहीं समझता कि वहाँ उपस्थित और लोग भी उसे समझ रहे थे।

मैंने प्रहरियों से बड़े शांतभाव से कहा, "अमात्य महोदय को ससम्मान बंदी-गृह में ले जाओ और कल अपराह्न मंत्रिपरिषद् के समक्ष उपस्थित करो।"

"पर मेरी एक प्रार्थना है।" वायुहा बोला।

"क्या?"

"कल नहीं, परसों अपराह्न मंत्रिपरिषद् के समक्ष बुलाने का कष्ट करें।" उसकी आवाज में वैसा ही कंपन और वैसी ही तेजी थी। मैं अब भी बड़े शांतभाव से उसे देख रहा था। "हो सकता है, उस समय तक आपको कुछ और करने की आवश्यकता ही न पड़े।"

"एवमस्तु।" मैंने अपने आदेश में परिवर्तन किया। प्रहरी वायुहा को लेकर चले। सुपर्णा की सुरक्षा के लिए दूसरे प्रहरियों की नियुक्ति की गई। मैं रेवती भाभी के साथ आगे बढ़ा।

''अमात्य ने एक दिन का समय क्यों माँगा?'' कुछ आगे बढ़ते ही रेवती भाभी ने जिज्ञासा की।

''क्योंकि उसे विश्वास है कि उसका जीवन अब एक दिन का ही है।'' मैंने कहा, ''जो ओषधि वह पीने के लिए बाध्य हुआ, उसके बारे में उसने कहा था कि इसका प्रभाव दो दिनों बाद ही पूरा होगा।''

''तो क्या वह सचमुच विष था?''

''अब भी आपको संदेह है!'' मैं मुसकराते हुए बोला।

''तब तो अब राजभवन का भी जीवन निरापद नहीं रहा।'' गंभीर आशंकाओं से रेवती भाभी के नेत्र विस्फारित हो गए। भयानक दिवास्वप्न उन्हें दिखाई देने लगे। वह सीधे अपने कक्ष में गईं और मैं अपने मित्रों से मिलने अतिथिभवन।

□

''अरे भाई, यहाँ आकर आप हमें इतना भुला देंगे, इसकी कल्पना तक नहीं थी।'' अतिथिभवन में सात्यकि हँसते हुए बोला, ''द्वारका के बाहर थे, तब कम-से-कम जलपान और भोजन तो साथ करते थे। आज हमें प्रातःकालीन जलपान आपके न रहते हुए करना पड़ा। हमें दो बार परिचर भी आपको बुलाने के लिए भेजना पड़ा; पर उसने आकर अपनी असमर्थता ही जताई कि जहाँ द्वारकाधीश हैं वहाँ बिना बुलाए जाया नहीं जा सकता।

''मैंने पूछा, 'वे कहाँ हैं?'

''उसने उत्तर दिया कि वे सुपर्णा और पट्टमहिषी रेवतीजी के साथ हैं।''

इसपर बड़े शांतभाव से कृतवर्मा बोला, ''जब इन्हें सुपर्णा मिल गई तब भला हम लोग क्या याद आएँगे!''

मैंने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। कहीं श्वेतकेतु दिखाई नहीं दिया। मैंने पूछा, ''कहाँ है वह?''

''वह रुक्मिणी भाभी के यहाँ आपकी पूरी खबर देने गया है।'' सात्यकि हँस रहा था।

पर मैं गंभीर हो गया। सोचने लगा कि यहाँ आकर इतना उलझा कि रुक्मिणी से भी मिल न सका। वह भी क्या सोचती होगी कि उन्हें अपने उस शिशु से भी मिलने का अवकाश नहीं है, जिसका उन्होंने अभी तक मुख भी नहीं देखा है।

मैंने अपने मित्रों से स्वीकार किया कि मुझे रुक्मिणी से मिलना चाहिए था। उससे कुछ समय तक बातें करनी चाहिए थीं। पर क्या करूँ? ऐसे जाल में फँसा, जिससे मुक्ति शीघ्र संभव नहीं; क्योंकि द्वारका की स्थिति आर्यावर्त्त से अधिक संकटापन्न है। फिर हमारी बातें यहाँ की स्थिति के संबंध में होने लगीं। मैंने अभी

तक जो कुछ समझा था, उसका संक्षिप्त रूप उनके सामने रखा। एक ओर द्वारका की मानसिकता विलासिता के गर्त में गिरकर घायल है और दूसरी ओर शत्रु राज्य के गुप्तचरों ने यहाँ जाल बिछा दिया है।

"ओ, तभी!" सात्यकि बोला, "कल मैंने एक व्यक्ति को देखा था, जिसकी आकृति शाल्व के एक सेनाधिपति से मिलती थी।"

"अब तुमने एक और सूचना दी।" मैं बोला, "लगता है, द्वारका की भव्यता को भीतर-ही-भीतर दीमक लग गई है।"

मुझे लगा कि मेरे स्वर में निराशा है। यह मेरी प्रकृति के विरुद्ध है। यदि मैं ही निराश होऊँगा तो द्वारका का क्या होगा? मैंने तुरंत अपनी वाणी बदली—"वस्तुत: दीमक अपनी शक्ति का नहीं वरन् हमारे अज्ञान और हमारी न जानकारी का लाभ उठाती है। अब हमें उसकी जानकारी हो रही है। देखना, अब वह कुछ और चट करे, इसके पहले हम लोग उसे ही चट कर जाएँगे।"

इतना कहकर मैंने सात्यकि को समझाया—"हमें यहाँ कुछ ही समय तो रहना है, फिर द्रौपदी के स्वयंवर के लिए चल देना है। इस थोड़े से समय में ही द्वारका को रास्ते पर लाना होगा।"

"पर क्या यह संभव है?" सात्यकि की निराशा उभरी।

"मनुष्य के लिए कुछ भी असंभव नहीं है। फिर वह मनुष्य, जिसे लोग भगवान् मानते हों, उसके लिए तो सबकुछ संभव होना चाहिए।" मैंने सदा की तरह मुसकराते हुए कहा।

और अपने मित्रों की सुख-सुविधा की व्यवस्था कर शीघ्र ही मैं राजभवन के दक्षिण पार्श्व की ओर चल पड़ा।

☐

मैं सीधे रुक्मिणी के आवास पर पहुँचा। वह अलिंद में खड़ी मेरी प्रतीक्षा कर रही थी। उसने मुझे दूर से देखते ही ऊपर से हाथ हिलाया।

"अब तुम्हें मुझसे मिलने का अवकाश मिला है!" पहुँचते ही उसने मुसकराते हुए उलाहना दी और प्रद्युम्न को मेरी गोद में डाल दिया।

मैंने विलंब के लिए इधर-उधर की बातें बनानी आरंभ कीं; पर इस सबका उसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उसने स्पष्ट कहा, "मुझे यह सब मत सुनाइए। ज्यों ही आपके चरण द्वारका की धरती पर पड़े त्यों ही मुझे आपकी पगध्वनि सुनाई पड़ी।"

मैं चुप हो गया। कुछ समय तक प्रद्युम्न से उलझा रहा। लगता था, उसकी निर्दोष खिलखिलाहट जाने मुझे कब से पहचान रही है। इसी बीच बातों के क्रम में

नगर की स्थिति से उसे अवगत कराया। यों तो आज प्रात: मेरी व्यग्रता देखकर वह बहुत कुछ समझ गई थी। बहुत कुछ वह इसके पूर्व से जानती थी भी।

उसने बड़ी वितृष्णा से कहा, "मैं तो समझती थी कि राग-रंग में डूबी इस द्वारका से दुर्गंध उठने लगेगी; पर मैं कर क्या सकती थी!"

"क्यों नहीं कर सकतीं?" मैंने व्यंग्यात्मक ढंग से कहा, "तुम पट्टमहिषी हो।"

"तभी तक पट्टमहिषी हूँ जब तक द्वारकाधीश निकट रहते हैं।"

"तुम चाहतीं तो इन सभी स्थितियों का उल्लेख करके मुझे बुला सकती थीं।"

"आपका कहीं पता होता तब तो!"

"अरे, तुम मन से याद करतीं और मैं उपस्थित हो जाता।"

"अच्छा, तो याद करने का जिम्मा मुझपर ही है, आप पर नहीं।" रुक्मिणी की बौद्धिकता इस बार कुछ प्रगल्भ हुई—"औरों के लिए आप केवल भगवान् हो; पर मेरे लिए भगवान् भी हो और पति भी। क्या पति के नाते मेरे प्रति आपका कोई कर्तव्य नहीं है? आप जहाँ जाते हैं वहीं के होकर रह जाते हैं!"

"मुझे ऐसा लगता है कि मैं सबका हूँ और सभी मेरे हैं।"

"पर मेरे लिए तो आप अकेले हैं। दूसरा कोई इस संसार में नहीं।" बोली तो रुक्मिणी थी, पर मुझे ऐसा लगा जैसे राधा बोल रही हो।

मध्याह्न तक मैंने सबसे मिलने का कार्य समाप्त किया। फिर राजमहल में ही सबके साथ भोजन की योजना बनाई।

मैं जानता था कि प्रशासन पर जितनी पकड़ रेवती भाभी की है, उतनी रुक्मिणी की नहीं। रुक्मिणी का चिंतन पारिवारिक परिधि में ही सोचता था; पर रेवती भाभी का सोच कभी जातीय और राष्ट्रीय संदर्भ से नीचे नहीं उतरता था।

मैंने उनसे ही कहा, "पहले के चाकरों में अब कोई दिखाई नहीं देता?"

"राजभवन में अब नए परिचर आ गए हैं। पुराना शायद ही कोई रह गया हो।"

"तो क्या पुराने सब निकाल दिए गए?"

"नहीं, निकाले तो नहीं गए; पर सब इधर-उधर कर दिए गए—किसीकी पदोन्नति करके और किसीकी पदावनति करके।"

"विचित्र बात है।" मैंने कहा, "पर यह किया किसने?"

"किया तो सब तुम्हारे भैया ने ही है। यह भी कहा जा सकता है कि उन्होंने किया नहीं। सब उनसे कराया गया है।" रेवती भाभी बोलीं।

भैया की आदत से स्वयं परेशान लगीं।

भोजन पर पूरा परिवार उपस्थित था। भैया को मैंने अपनी बगल में बैठाया।

देखने से तो वे पूर्णतः स्वस्थ लग रहे थे, पर मानसिक रूप से दबे-दबे-से थे। अपराधबोध से भीतर-ही-भीतर परेशान।

रेवती भाभी से हुई बात के परिणामस्वरूप मैंने भैया के कान में धीरे से कहा, "पुराने कर्मचारी अब दिखाई नहीं पड़ रहे हैं!"

"हाँ, अधिकांश हटा दिए गए हैं।"

"क्यों?"

"कई अमात्यों का कहना था कि उनसे राजभवन की गोपनीयता सुरक्षित नहीं है।"

"किन अमात्यों ने ऐसी सूचना आपको दी?" मैंने बड़ी सहजता और विनम्रता से पूछा।

"अन्य अमात्य तो मुझसे मिलने का साहस नहीं करते। बहुधा वायुहा ही मिला करता था। सारी सूचनाएँ देता था और लोगों की धारणाओं से भी अवगत कराता था।"

"पर मुझे तो स्थिति कुछ विपरीत ही दिखाई देती है।"

"इसे तुम कैसे कह सकते हो?"

"कल संध्या तक सब स्पष्ट हो जाएगा। सोचता हूँ, कल संध्या को मंत्रिपरिषद् भी बुला लूँ।"

भैया चुप थे।

"यदि आप अनुमति दें तो इन सारे कर्मचारियों के स्थान पर पुराने कर्मचारी पुनः बुला लिये जाएँ। राजपरिषद् के प्रति उनकी निष्ठा और कर्तव्यपरायणता में कभी कोई संदेह नहीं हुआ।"

भैया फिर चुप थे। पर उनकी मुद्रा से लगा जैसे वे कुछ सोच रहे हों। उनका मन कह रहा हो कि संदेह तो लोगों में पैदा किया ही। पर वे कुछ बोल न सके। बोले भी तो केवल इतना बोले—"जैसी तुम्हारी इच्छा।"

सारी बातें अत्यंत धीरे-धीरे और गोपनीय ढंग से हो रही थीं। निकट बैठे लोग भी लगभग ऊब चुके थे कि ये लोग आपस में इतनी देर से क्या भुनभुना रहे हैं।

भैया बड़े सरल स्वभाव के थे, नितांत भावुक और छल-प्रपंच से दूर। किसीके भी प्रभाव में जल्दी आ जाते थे। सुरा और सुंदरी उनकी दुर्बलता थी। कूटनीतिज्ञ उसी दुर्बलता का लाभ उठाते थे। इसे वे भी जानते थे; पर क्या करें! अपनी प्रकृति से लाचार थे। और जब वासना का नशा उतरता तब स्वयं को अपराधी भी अनुभव करते थे। इस समय भी ऐसी ही स्थिति थी। वे मुझसे आँखें मिलाकर बात भी नहीं कर पा रहे थे।

पर जब उन्होंने सारी स्थिति जान ली, तब वे मुझसे अधिक चिंतित लगे—"अब तो इस जाल को छिन्न-भिन्न करना ही होगा, चाहे जैसे भी हो।"

संध्या होते-होते मुझे सूचना मिली कि वायुहा अस्वस्थ है। उसे श्वास लेने में कठिनाई हो रही है। मैंने समझ लिया कि ओषधि ने प्रभाव करना आरंभ कर दिया है। मेरी कूटनीति कह रही थी कि इसे चुपचाप मत मर जाने दो। मैं स्वयं कारागृह में पहुँचा।

वायुहा अप्रत्याशित रूप से मुझे देखकर चकित रह गया—"अरे, आप और कारागृह में!"

"इसमें आश्चर्य की क्या बात है? मैं तो कारागृह में ही पैदा हुआ हूँ।" मैंने कहा, "यह मेरी जन्मस्थली है।" फिर मैं बड़े प्रेम से उसीके पर्यंक पर बैठकर उसके सिर का स्पर्श करता रहा। बाद में उसके वक्ष पर भी हाथ रखा। स्पष्ट लगा कि उसकी पसलियाँ मृत्यु से अंतिम संघर्ष करने के लिए तैयार हो रही हैं।

"लगता है, तुम काफी कष्ट में हो।"

"हूँ नहीं, था।" वह बोला, "आपके संस्पर्श से बड़ी शांति मिल रही है।"

"यदि ऐसा है तो तुम मेरे कक्ष में चलो।"

एक विषधर को ऐसा स्नेह मंत्र मारा कि वह स्वयं पिटारे में बंद होने के लिए तैयार हो गया। मैं उसे ससम्मान अपने कक्ष में ले आया। मैंने चिकित्सा भी आरंभ कर दी। पुराने राजवैद्य से नहीं वरन् नए राजवैद्य से—या यों कहिए, उसीके राजवैद्य से। क्योंकि मैं जानता था कि उसकी दशा निरंतर बिगड़ने ही वाली है। ऐसे में मैं अपने वैद्यराज के माथे अपयश क्यों मढ़ूँ। साथ ही, मैं अपने विरोधी गुप्तचरों को प्रचार का अवसर भी नहीं देना चाहता था कि अपने वैद्यराज से कन्हैया ने वायुहा को विष दिला दिया।

उसने वैद्यराज के बुलाने का विरोध किया—"क्या करेंगे वैद्यराज आकर, महाराज? अब तो मेरे जीवन का अंत निकट है।"

"तुम्हें ऐसा नहीं कहना चाहिए, वायुहा, क्योंकि तुम एक होनहार युवक हो और तुममें बड़ी संभावनाएँ हैं।" मैंने कहा।

"संभावनाएँ!" उसने बस एक शब्द दुहराया। फिर उसकी पसीजती दृष्टि ऊपर की ओर एकटक लग गई।

मृत्यु की आशंका मन को हिमानी चट्टानों पर बिठा देती है, जिससे पिघल-पिघलकर व्यक्ति का अतीत बहने लगता है—और जो बाध्य हो जाता है, वह सपने की तरह उतराता है। अब वायुहा की आँखों से बहता हुआ अतीत था, उसमें उतराते हुए सपने थे। कुछ कहना ही चाह रहा था कि वैद्यराज पधारे।

“अरे, तुम्हारी यह दशा!” वैद्यराज ने कहा। उसे देखकर और बाद में उसकी नाड़ी पकड़कर वैद्यराज ने फिर पूछा, “वह नर्तकी कैसी है?”

“वह तो स्वस्थ हो गई है, वैद्यराज।” मैंने कहा।

“वह स्वस्थ है और अमात्य की यह हालत!” जैसे उन्हें स्वयं पर ही विश्वास न हो।

“मेरा कोई रोग नहीं, भोग है, वैद्यराज! आप व्यर्थ में परेशान न हों।” वायुहा बोला, “मैं अपने कर्मों का फल भोग रहा हूँ। इस भोग की कोई ओषधि आपके पास नहीं है।”

मेरे मन में आया कि मैं इन दोनों को कुछ समय के लिए अकेला छोड़ दूँ। वैद्यराज को यह वास्तविक स्थिति से परिचित करा पाए। मैं चुपचाप वहाँ से खिसका तो जरूर, पर प्रहरी को सजग रहने का संकेत करके।

अब मैं सुपर्णा के कक्ष में आया। वह पूर्ण स्वस्थ थी। पर वह अब भी सिसक रही थी और रेवती भाभी उसकी बगल में बैठी थीं। मैंने सुपर्णा से पूछा—

“तुम भैया से नहीं मिलीं?”

रेवती भाभी बोल पड़ीं—“तुम्हारे भैया अब इसका मुँह देखना नहीं चाहते। उनका कहना है कि इसे यथाशीघ्र द्वारका से बाहर करो।”

इतना सुनते ही सुपर्णा बिलख पड़ी—“अब आप ही बताइए, मैं कहाँ जाऊँ? बाहर जो मेरे अपने थे, उनकी आँखों में मेरे प्रति मृत्यु की चिनगारियाँ सुलग रही हैं।”

“नहीं, तुम्हें कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है। मैंने तुम्हें द्वारका की राजनर्तकी बनाया है।” मैंने कहा।

“पर तुम्हारे भैया इसे स्वीकार करेंगे?” रेवती भाभी की आशंका थी।

“आप लोग चिंता न करें, मैं उन्हें मना लूँगा।” मैंने कहा।

पर सुपर्णा इस सूचना से और अधिक गंभीर हो गई। मृत्यु उसे और अधिक निकट दिखाई देने लगी। वह सोचने लगी कि मेरे तथाकथित अपने लोग अब यही समझेंगे कि मैंने सारा रहस्य कन्हैया को बता दिया है, या बताने का वचन दिया है। उसके उपहारस्वरूप मुझे यह पद मिला है। अब वे मेरे लिए प्रतिपल विपत्ति खड़ी कर सकते हैं।

मैंने सुपर्णा की व्यग्रता पढ़ी और तुरंत बोला, “तुम्हारी इस नियुक्ति को गोपनीय रखा जाएगा।” मैंने रेवती भाभी की ओर संकेत कर कहा, “अब हमें भी इसकी चर्चा किसीसे नहीं करनी चाहिए।”

मैं जब वहाँ से चला तो राजवैद्य वायुहा के कक्ष से निकल रहे थे। मुझे देखकर

उन्होंने दूसरी ओर कतराने की चेष्टा की; पर मैंने उन्हें रोका—

"कहिए, वैद्यराजजी, आपके रोगी की दशा कैसी है?"

पहले तो वे सकपकाए। उनकी आँखों में निराशा का धुँधलका था। फिर वे बोले, "अमात्य को कोई रोग नहीं है। यह उनका भोग है।"

"भोग तो हम सबको भोगना ही पड़ता है।" मैंने कहा।

☐

दूसरे दिन अमात्य वायुहा की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु से राजभवन में भय और आतंक का अप्रत्याशित वातावरण छा गया। आपको जानकर आश्चर्य होगा कि उसकी अंत्येष्टि के लिए जब हमने सगे-संबंधियों की खोज की तो कोई भी सामने नहीं आया। कितना विचित्र था कि वह द्वारका का अमात्य और उसके परिवार का पता नहीं। जो उसके अपने समझे जाते थे, उन सबको बुलाया। पर उन सबने उसका संबंधी होने से इनकार किया। उसके नाम पर कोई रोनेवाला तक नहीं था।

सुपर्णा भी बस इतना ही बता पाई कि वह द्वारका का नहीं है। जबकि इसकी जानकारी तो स्वयं उसने मुझे दे दी थी कि वह कहाँ का है।

बहुत देर तक मैं उसकी मृत देह के निकट बैठा रहा। मेरे साथ कई अमात्य और राजकर्मचारी भी थे। उसका शरीर नीला पड़ चुका था। लोग समझ रहे थे कि उसकी मृत्यु विष से हुई है। पर यह विष किसने दिया, क्यों दिया, कोई पूछनेवाला नहीं था।

यह किसी व्यक्ति की नहीं वरन् षड्‌यंत्र की मृत्यु थी और षड्‌यंत्र का कोई अपना नहीं होता।

मैंने एकांत में भैया से लंबी वार्त्ता की। अब वे भी समझने लगे थे कि उन्हें अंधकार में रखकर द्वारका में क्या किया जा रहा था। उन्होंने बड़ी वितृष्णा से कहा, "अब तो मेरा भी मन सबकुछ छोड़कर कहीं चले जाने को होता है।"

इतना सुनते ही मेरे मन में एक दूसरी ही आवाज उठी—'यदि आप ही चले जाएँगे तो सुपर्णा का क्या होगा?'

पर मैं चुप ही रहा। भैया की मन:स्थिति पश्चात्ताप में डूब रही थी। उसपर व्यंग्य करने का अर्थ होता तेल के प्रवाह पर अग्निवर्षा करना। अतएव उन्हें सँभालते हुए मैंने कहा, "यदि आप ही भाग खड़े होंगे तो द्वारका का क्या होगा?"

भैया चुप ही थे।

मैंने पुन: उन्हें ढाढ़स बँधाया—"जब यहाँ से चलना होगा तब हम दोनों साथ ही चलेंगे; पर अभी चलने का उपयुक्त समय नहीं है।"

उधर मैंने राजभवन में ही नहीं, पूरे द्वारका में यह प्रचारित करवा दिया कि

वायुहा मरने के पहले कन्हैया को सबकुछ बता गया है। यह हवा ऐसी उड़ी कि बहुत सी आकृतियाँ धूल-धूसरित दिखाई देने लगीं। शंकाग्रस्त कुछ लोग ऐसे भी दिखे, जो बिना धूल के ही अपनी आकृति बार-बार पोंछ रहे थे।

विदेशी गुप्तचरों और उनके द्वारा रखे गए राजकर्मचारी वायुहा की मृत्यु से अधिक सुपर्णा के जीवन से भयभीत लगे। वे सोचने लगे कि एक ने तो आँखें बंद कर लीं, पर एक की आँख अब पहले से अधिक खुल गई है। वह एक-एक की असलियत खोलकर रहेगी। जो स्थिति वायुहा की हुई, वह हम सबकी होने वाली है।

इसी आतंकित, आशंकित और असमंजसता की स्थिति में वायुहा की अंत्येष्टि राजकीय सम्मान के साथ कर दी गई। उस समय की शांति उसकी मृत्यु से भी अधिक गंभीर थी। कोई कुछ नहीं बोला। केवल मैंने कहा—

''जानेवाला चला गया। उसके कर्म भी उसके साथ गए। पर उसका बिछाया जाल अब भी है। अंतर इतना ही है कि पहले वह दिखाई नहीं देता था, अब सबकुछ स्पष्ट है।''

अब हर चोर अपनी दाढ़ी में तिनका ढूँढ़ने लगा। वह जहाँ-जहाँ जाता, उसे मेरी आँखें पीछे लगी जान पड़तीं। कुछ लोग तो स्वयं द्वारका छोड़कर जाने लगे।

पत्तन पर ऐसे लोगों का ताँता लगने लगा। समाहर्ता की सूचना थी कि दो दिनों में सामानों की ढुलाई से सहस्रों पर्ण अर्जित हुए हैं।

इस बीच मैं अपने वरेण्य और वृद्धों से भी मिलता रहा। आर्यावर्त्त की स्थिति के साथ ही उन्हें द्वारका की स्थिति से भी अवगत कराता रहा। मैं नाना उग्रसेन से भी कई बार मिला। उनकी मानसिकता सदा से 'जैसा होता है, होने दो' के निकट रही। अब तो वय भी साथ नहीं दे रही थी। वे समय की सरिता के कगार पर झुके उस पुराने वृक्ष की तरह थे, जो अंतिम क्षण की प्रतीक्षा करते हुए चुपचाप, बिना किसी प्रतिक्रिया के धारा की ही ओर देखता रहता है।

वे भी समझते थे कि स्थिति खराब है; पर इतनी खराब है, इसका अनुमान उन्हें नहीं था। यही स्थिति अन्य लोगों की भी थी। एक दिन अक्रूर चाचा ने पिताजी से कहा था—

''हम लोगों को पता नहीं था, पर हम खोखली धरती पर खड़े थे। यदि कन्हैया मौक़े पर न आता तो हमें धरती निगल भी सकती थी।''

''मेरे कन्हैया के रहते ऐसा कैसे होता?'' माँ देवकी बोली, ''कहीं भगवान् अपने भक्तों को इस तरह डूबने देगा!''

सब चुप हो गए। सबके सामने मेरा ईश्वरत्व मुसकराता हुआ एक बार फिर

खड़ा हो गया।

फिर मैंने गुप्तचर विभाग के एक अधिकारी को बुलाया। वह मेरे द्वारा नियुक्त पुराना देशभक्त था। वह मेरे साथ मथुरा से आया था। मैंने उससे जानना चाहा— ''मेरे यहाँ से जाने के बाद कितने लोगों की नई नियुक्तियाँ हुई हैं?''

उसने अपनी विवशता स्पष्ट करते हुए बताया—''यह विवरण तो अमात्य चारुदत्त के कार्यालय से ही प्राप्त हो सकता है; पर उसे तो आप जानते ही हैं।'' फिर उसने विस्तार से उसका परिचय दिया और कहा, ''चारुदत्त वायुहा का घनिष्ठ मित्र है। शायद वह भी पंचजन्य का ही रहनेवाला है।''

''तो क्या वह द्वारका छोड़कर जा नहीं रहा है?''

''नहीं, वरन् वह जानेवालों को ढाढ़स बँधा रहा है। वह अपने एक मित्र से कह रहा था कि अभी तो कूटनीति की चालें आरंभ हुई हैं। अभी से निराश होने की आवश्यकता क्या! अभी तो हमें वायुहा जैसे अपने कई मित्रों का बलिदान देना होगा।''

''तो वह कूटयुद्ध की मुद्रा में है!''

''लगता तो यही है। वह सारे राजकीय अभिलेखों पर कुंडली मारकर बैठा है। उसकी फुफकार से प्रशासन का हर व्यक्ति थर्राता है।''

मैं चुप ही रहा। पर मेरा अहं कह रहा था कि जब मैंने कालिय को नाथ लिया तब इस विषधर को मैं क्या समझता हूँ।

मैंने उस गुप्तचर अधिकारी से कहा, ''तुम जाकर चारुदत्त से कहो कि कन्हैया आपको पूछ रहे थे। जब वह इसके विषय में और कोई प्रश्न करे, तो उसका उत्तर मत देना। तुम बड़ी गंभीरता से यह अवश्य कह सकते हो कि हो सकता है, वायुहा ने आपके संबंध में कोई सूचना उन्हें दी हो।''

सुना है कि गुप्तचर से मेरा संदेश सुनते ही चारुदत्त के नीचे की धरती खिसक गई। वह तुरंत मेरे यहाँ उपस्थित हुआ। मैंने भी उसकी गहरी उपेक्षा की। उसे बैठने तक को नहीं कहा। वह समझ गया कि अवश्य ही मेरे संबंध में सारी जानकारी इन्हें मिल चुकी है।

वह अभी खड़ा ही था कि मैंने उससे कहा, ''मुझे कुछ अभिलेखों की अतीव आवश्यकता है।''

पर वह चुप ही रहा, सकपकाया-सा।

''मैं जानना चाहता हूँ कि मेरे यहाँ से बाहर रहने पर कितनी नई नियुक्तियाँ हुईं और किनके आदेश से?''

''आदेश तो आपके न रहने पर महाराज (उसका संकेत बलराम भैया से था)

ही करते थे।''

''तो क्या सभी नियुक्तियों पर महाराज के आदेश हैं ?''

''कुछ ऐसी भी नियुक्तियाँ हैं, जिनपर महाराज के आदेश नहीं हैं।''

''तब उनपर किनके आदेश हैं ?''

''तत्संबंधी अमात्यों के।''

''अमात्यों के! महामात्य के क्यों नहीं ?''

वह पहले सोचने लगा। फिर धीरे से बोला, ''महामात्य ने स्पष्ट घोषणा कर दी थी कि मैं किसी नियुक्ति पर आदेश नहीं करूँगा।''

''ऐसा क्यों कहा था उन्होंने ?''

''यह तो वे ही बता सकते हैं।''

मेरी दृष्टि से फूटती हुई चिनगारियाँ बराबर उसपर बरस रही थीं—''ऐसी भी कोई नियुक्ति है, जिसपर किसीका आदेश नहीं है ?''

''कुछ तो हैं ही।'' उसने दबे स्वर से कहा। फिर अचानक चहक उठा—''उनमें से एक नियुक्ति तो सुपर्णा की ही है।''

''मैंने उसकी नियुक्ति पर आदेश कर दिया है।'' मैंने बड़ी दृढ़ता से कहा, ''अब वह राजनर्तकी के पद पर आसीन है।''

चारुदत्त अपनी बुझी हुई आँखों से मुझे देखता रह गया। फिर धीरे-धीरे और कुछ नाम गिनाए। वे सब द्वारका से अदृश्य हो चुके थे।

इसके बाद मैंने उसे जोर से डाँटा—''क्या व्यर्थ की औपचारिकता पूरी कर रहे हो! ये सब तो द्वारका छोड़कर चले गए हैं। हमें उनके नाम चाहिए, जो अब भी हमसे चिपके हैं और हमारा रक्त पी रहे हैं।''

मैंने आवेश में यह भी कह डाला—''नाम तो लगभग मुझे मालूम ही हो गए हैं। मैं तो उन्हें केवल आपके मुख से सुनना चाहता हूँ।''

वह अब भी चुप था।

मैं बोलता जा रहा था—''यहाँ की स्थिति अब मैं समझता हूँ। षड्यंत्र की गंदगी पर आप लोगों ने स्वर्णमृग के चर्म का मनोरम आस्तरण बिछा दिया है, जिसके मोहक सौंदर्य और मादक स्पर्श में सामान्य दृष्टियाँ उलझी रह गई हैं। नीचे रेंगते हुए कीड़े हमारी धरती को ही चाटते जा रहे हैं। पर अब आस्तरण हट गया है। चारों ओर दुर्गंध उठ रही है। आज पूरी द्वारका उस दुर्गंध से भर गई है—और वे कीड़े भी साफ दिखाई दे रहे हैं।''

वह एकदम गंभीर और शांत था। उसे एक-एक पल भारी हो रहा था। फिर भी श्वान की दुम, जो टेढ़ी ही रही।

वह बोला, ''वह तो आस्तरण के हटने के पूर्व भी आपको दिखाई दे रहे थे; क्योंकि आप अंतर्यामी जो हैं।''

मेरे ईश्वरत्व से प्रभावित होकर उसने मुझे 'अंतर्यामी' कहा था या मुझपर व्यंग्य किया था, उस समय यह मैं समझ नहीं पाया।

□

आठ
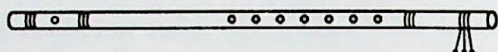
द्वारका का वैभव लोगों की आँखों की किरकिरी बनता जा रहा था। अनेक लोग हमारा पराभव चाहते थे। इसमें जरासंध सबसे आगे रहा; पर सत्राजित् भी कम नहीं था। शक्ति और सामर्थ्य में वह भले ही जरासंध से दुर्बल था, लेकिन उसकी सामाजिक स्थिति और प्रतिष्ठा कमजोर नहीं थी। वह यादवों के नायकों का नायक था। वय में भी अक्रूर चाचा से कुछ ही छोटा। भैया तो उसे 'चाचा' कहते ही थे। वह उनसे नाराज भी नहीं था।

जरासंध से मेरे विरोध की बात तो समझ में आती है। उससे मेरी अनेक स्थानों पर टक्कर हुई थी—और ये टक्करें स्थायी शत्रुता के रूप में खड़ी थीं। पर सत्राजित् द्वारा मेरे विरोध का कोई विशेष कारण नहीं था। वह जब पहली बार मुझसे मथुरा में मिला था तभी से न जाने क्यों, मेरे प्रति उसके मन में ईर्ष्या सुलगने लगी थी। उस समय तो स्यमंतक मणिवाला कांड भी नहीं हुआ था।

द्वारका को भीतर-ही-भीतर कुतरने में उसकी भूमिका प्रधान न होते हुए भी प्रभावशाली थी। अब जब मैंने सारे जाल को ही छिन्न-भिन्न करने का प्रयास आरंभ किया, तब कई चौंकानेवाले तथ्य सामने आए। मैंने भैया को सब बताया और कहा कि इन सबमें आपके चाचा का भी हाथ रहा है।

"वे तुम्हारे चाचा नहीं हैं क्या?"

"क्या वह मुझे अपना भ्रातृज मानते हैं?"

"यह तो सही है कि वह तुम्हें कुछ नहीं मानते।" भैया मुसकराते हुए धीरे-धीरे खुले—"कई बार तो वह तुम्हारे विरुद्ध मुझे ही भड़का चुका है। उसने कहा है कि कन्हैया नाम का वह जो तुम्हारा भाई है, वह तुम्हारे परिवार में कलंक जनमा है। यदि अभी से तुमने उसकी व्यवस्था नहीं की तो वह एक-न-एक दिन द्वारका को तुमसे छीनकर तुम्हें कहीं का रहने नहीं देगा।"

"तब आपने क्या कहा?"

"पहले तो मैं हँसता रहा। फिर बोला कि जिसे तुम छीनने की बात कहते हो,

वह द्वारका तो उसीकी है। द्वारकाधीश तो वही है, फिर मुझसे क्या छीनेगा? मेरे माता-पिता को छीनेगा, मेरा पौरुष छीनेगा, या मेरा भविष्य या मेरा कृत कर्म?''

''तब उसने क्या कहा?''

''कहता क्या! अपना सा मुँह लेकर रह गया। सोचा होगा कि यह आग यहाँ नहीं लगेगी।'' भैया बोले।

''तब तो आप उसे अच्छी तरह जानते हैं।'' मैंने कहा, ''मुझे तो यह भी सूचना है कि पंचजन्य के जलदस्युओं से मिलकर उसने ऐसी योजना बनाई थी कि केवल आपके ही हाथों से नहीं वरन् हम सबके हाथों से द्वारका निकल जाती।'' इसके बाद मैंने वह योजना बताई, जो द्वारका की शुद्धिकरण के लिए बनाई गई थी। फिर मैंने उनके सामने उन नामों की सूची रखी, जिन्हें हमें किसी-न-किसी प्रकार से द्वारका से हटाना था।

उसे देखकर भैया एकदम चौंक उठे; क्योंकि उसमें कई नाम ऐसे थे, जो भैया के अत्यधिक निकट थे। उन्हें विश्वास ही नहीं हो रहा था कि ये लोग भी षड्यंत्र में शामिल हो सकते हैं।

भैया ने कुछ सोचते हुए पूछा, ''क्या इन्हें अपना नहीं बनाया जा सकता?''

''अपने बनाए जाने की सीमा से ये बाहर निकल चुके हैं। पौधों को तभी तक मोड़ा जा सकता है जब तक वे वृक्ष न बन गए हों। फिर जिसे अपना बनाना था, उसे मैं अपना बना चुका हूँ।''

''ऐसा कौन बड़भागी है?'' भैया बोले।

मैंने मुसकराते हुए कहा, ''जिसे आप अपना बना चुके थे, उसी पर हम लोगों ने मुहर लगा दी।''

बात अब भी भैया के लिए उलझी रही।

अब मैंने स्पष्ट किया—''सुपर्णा को। वह राजनर्तकी के पद पर नियुक्त की जा चुकी है।''

मैं मुसकराता रहा और वे चुपचाप मेरी मुसकराहट का व्यंग्य पढ़ते रहे।

फिर मैंने स्वयंवर की बात छेड़ी। उन्होंने कोई रुचि नहीं दिखाई।

''उससे मुझे क्या लेना-देना है?'' वे बड़े निरपेक्षभाव से बोले।

''वह मात्र स्वयंवर ही नहीं है; वह एक ऐसा बिंदु है, जहाँ से आर्यावर्त्त के इतिहास का नया अध्याय आरंभ होगा। यदि हम लोगों ने सजगता और बुद्धिमानी से काम नहीं लिया तो आर्यावर्त्त की राजनीति सदा के लिए हमारे हाथ से निकल जाएगी।'' फिर मैंने विस्तार से द्रुपद और द्रोण के संबंधों की चर्चा की।

''क्या उन दोनों के बीच अब भी खाई भरी नहीं?''

''भरना तो दूर, अब उस खाई से विष का स्रोत उमड़ पड़ा है। उसकी धारा पूरे आर्यावर्त्त को अपने में समेट लेना चाहती है। उधर मगध और इधर हस्तिनापुर—दोनों दृष्टि जमाए बैठे हैं। हर व्यक्ति हम लोगों की ओर बड़ी जिज्ञासा से देख रहा है कि इस संदर्भ में द्वारका की भूमिका क्या होती है!''

''मैंने जो कुछ देखा है या तुमसे जो कुछ सुना है, उससे मेरे मन में नारी के प्रति बड़ी वितृष्णा उत्पन्न हो गई है। नारी मेरे लिए एक ऐसी अग्नि है, जहाँ पहुँचते ही मेरी वासना भक से जल उठती है।'' भैया ने अपने संबंध में ऐसा खुलकर कभी स्पष्ट नहीं कहा था। लग रहा था कि वे नहीं, उनका पश्चात्ताप बोल रहा है। उन्होंने यहाँ तक कहा, ''स्वयंवर में यदि जीतकर हम द्रौपदी को ले भी आए तो उस याज्ञसेनी से द्वारका भी जलेगी और आर्यावर्त्त की जलती दृष्टि की बौछार भी हमपर पड़ेगी।

''पर हम उसे जीतकर लाने कहाँ जा रहे हैं?'' मैंने कहा।

''यह मेरे संतोष के लिए तुम कह रहे हो या अपनी भाभी के संतोष के लिए?''

''दोनों के संतोष के लिए।''

''तब चलने का उद्देश्य क्या होगा?''

''आर्यावर्त्त की पूरी राजनीति को अपनी मुट्ठी में रखना और द्रौपदी को अपने मनचाहे के हाथों सौंपना।''

''जब स्वयंवर का परिणाम धनुर्विद्या के अभेद्य लक्ष्य पर निर्भर है।'' भैया बोले, ''तब तुम क्या कर सकते हो?''

''मैं तो कुछ नहीं कर सकता, पर नियति ऐसा ही करेगी।'' मैंने अपनी ध्वनि दार्शनिकों जैसी गंभीर की—''नियति की मंशा मुझे स्पष्ट दिखाई दे रही है।''

□

मैंने भाभी को भी समझाया और सबसे अधिक समझाना पड़ा रुक्मिणी को। उसे पूरी आशंका थी कि मैं द्रौपदी के लिए ही इतना सक्रिय हूँ। उसने एक बार कहा भी—''मैं सबकुछ देख सकती हूँ, पर अपने प्रेम को विभाजित होता नहीं देख सकती।''

मैंने उसे बड़ी गंभीरता से समझाया—''तुम प्रेम को उतना ही समझती हो जितना तुम्हारे पल्ले पड़ा है। उसकी पवित्रता को देखो, उसकी विराट्ता को देखो। तुम्हारा नारी मन भले ही उसकी पवित्रता का अनुमान लगा ले, पर तुम्हारी मानसिकता उसकी विराट्ता को घेर नहीं सकती। प्रेम गंगा की तरह पवित्र है और समुद्र की तरह विराट्। किसी भी स्नानार्थी या जल ग्रहण करनेवाले से गंगा यह नहीं कहती कि तुम मेरी पवित्रता को मत बाँटो। समुद्र ने कभी किसीसे कहा है कि मेरी

विशालता का विभाजन मत करो? फिर प्रेम बाँटने की सीमा में आता भी नहीं। पूर्ण को पहले तो विभाजित नहीं किया जा सकता; फिर यदि किसी प्रकार विभाजित भी किया जाएगा तो पूर्ण ही बचेगा। वैसे प्रेम पहले तो बँट नहीं सकता और यदि बँटेगा भी तो प्रेम प्रेम ही बचेगा।''

रुक्मिणी मुझे बड़े भाव से सुनती और बड़ी गहराई से समझती रही। फिर मुसकराती हुई बोली, ''आपको कोई बातों में तो हरा नहीं सकता।''

''तो तू क्या समझती है, लोग मुझे युद्ध में हरा सकते हैं?''

''नहीं-नहीं, मैं ऐसा कभी नहीं समझती।'' वह एकदम सिहर उठी।

रेवती भाभी को मुझे अधिक समझाना नहीं पड़ा। सुरा-सुंदरी के प्रति भैया की ललक ने रेवती भाभी के नारीत्व से कहीं अधिक उनके पत्नीत्व को घायल किया था। अब रेवती भाभी इस ललक को अपने पति का स्वभाव मानकर जीने लगी थीं और लगभग इन स्थितियों की अभ्यस्त हो गई थीं। इसलिए भैया को जब मैंने अपने साथ ले जाने की बात कही तब वह प्रसन्न ही हुईं।

मैंने उन्हें यह भी बताया—''अब सबकुछ आपको ही देखना होगा। षड्यंत्रकारियों के समूल उच्छेद का दायित्व अब आप पर ही है। ऐसे में भैया की उपस्थिति बाधक भी होगी। इस दृष्टि से भी उन्हें अपने साथ ले जाना आवश्यक है।''

वह मुसकराईं; पर शीघ्र ही गंभीर भी हो गईं।

मैं कहता जा रहा था—''सबकुछ आपको ही करना है। प्रत्येक निर्णय में निर्ममता की आवश्यकता होगी। मैं आपको सारी योजना देता जाऊँगा, उसका कार्यान्वयन अब आपके जिम्मे है। पर हाँ, महामात्य को विश्वास में लेकर।''

रेवती भाभी सुनती रहीं। फिर बोलीं, ''यह सब तो मैं किसी तरह कर लूँगी; पर द्वारका पर एक संकट और है।''

''वह क्या?''

''सुना है, सत्राजित् अब यादवों में विभेद पैदा कर रहा है।'' रेवती भाभी ने अपनी सूचना के आधार पर बताया—''वह बहुधा लोगों से कहता फिरता है कि एक अपराधी छोकरा हमारा सिरमौर बनना चाहता है। तो क्या हम यादव इतने निकम्मे हो गए हैं कि अपने मामा के हंता को ही धर्म का संस्थापक मान रहे हैं? क्या रुक्मिणी का हरण करनेवाला धर्म का संस्थापक हो सकता है? क्या गोमांतक में महा अधर्मी जरासंध को अपने भाई से मुक्ति दिलानेवाला धर्म का संस्थापक हो सकता है?''

मैंने बीच में हीं टोका—''ये बातें आपने कहाँ सुनीं?''

''मैं ही नहीं, इसे तो पूरी द्वारका सुन रही है। आश्चर्य है कि इसकी गंध तुमको

अभी तक नहीं लगी।'' रेवती भाभी बोलती रहीं—''उसने जो आग लगाई है, वह यादवों के बीच सुलगने भी लगी है। बहुत से यादव हमारे विरुद्ध हो गए हैं। अब वह सात्यकि को भी आपके विरुद्ध करना चाहता है।''

''यह बात भी आपको कैसे मालूम?''

''लगता है, तुम्हें मेरी बातों का विश्वास नहीं है, इसलिए तुम हर बात के मूल में जाना चाहते हो।''

''परिस्थितियों का सामना क़रते-करते मेरा स्वभाव ही अब जड़ और मूल पर विश्वास करने का हो गया। फूलों को देखकर मैंने बहुत धोखा खाया है।'' मैंने कहा, ''कभी-कभी कूटनीति कटे तने को भूमि में गाड़कर हमें वृक्ष का धोखा देती है। पूरा उपवन ही नकली और दिखावटी होता है। लाक्षागृह का उपवन ऐसा ही था। यद्यपि काल स्वयं असली और नकली का अंतर कर देता है; किंतु इसमें कुछ समय लगेगा। पर मेरे पास अब समय नहीं है। मैं प्रतीक्षा नहीं कर सकता। इसलिए मैं आपकी जानकारी की अँगुली पकड़कर अब हर बात की जड़ तक जाना चाहता हूँ।''

''मेरी अँगुली पकड़कर!'' वह जोर से हँसीं—''यदि ऐसा है तो सुनो। सत्राजित् अपनी पुत्री का विवाह सात्यकि से करना चाहता है। इसी माध्यम से वह उसे अपना बनाने के प्रयत्न में है। इसी संदर्भ में उसका दूत कल सात्यकि से मिला भी था।''

''पर सात्यकि ने इसके बारे में मुझसे कुछ नहीं कहा।'' मुझे स्वयं उसके इस व्यवहार पर आश्चर्य था।

''तुमसे भले ही कुछ न कहा हो, पर उसने उस दूत से कहा।''

''क्या कहा?''

मुसकराते हुए भाभी ने रहस्य का अवगुंठन खोला—''सात्यकि ने दूत से कहा कि मुझे यह प्रस्ताव मान्य नहीं है।''

मैं मौन ही रहा। पर मन-ही-मन सोचने लगा कि क्या हो गया है हमारी नैतिकता को? आज राजनीति के दाँव पर अपनी पुत्रियों को लगाया जा रहा है। रुक्मिणी शिशुपाल को दी जा रही थी। जरासंध अपनी पौत्री अप्नवी को रुक्मी से ब्याहने को तैयार था। उधर द्रुपद अपनी पुत्री जरासंध के पौत्र मेघसंधि को सौंपना चाहता था। अब सुन रहा हूँ कि सत्राजित् अपनी दुहिता सात्यकि को देना चाहता है, केवल राजनीति साधने के लिए। क्या अब आर्यावर्त्त की राजनीतिक चतुरंग (शतरंज) के मोहरों में अश्व, गज आदि नहीं रहे, जो केवल पुत्रियों की चाल चली जाने लगी! नारी का ऐसा दुरुपयोग तो कदाचित् ही किसी युग में हुआ हो। उसकी कोई अपनी इच्छा नहीं, आकांक्षा नहीं, अभीप्सा नहीं। वह केवल कूटनीति की समिधा मात्र रह गई है।

मेरे सोच को रेवती भाभी ने अचानक झकझोर दिया—''क्यों, सोच में पड़ गए? सात्यकि जानता है कि सत्यभामा तुम्हें चाहती है। इसीलिए उसने सत्राजित् के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया और न भविष्य में स्वीकार करेगा।''

''अच्छा, तो आप यहाँ तक विश्वास दिला रही हैं।'' मैंने हँसते हुए कहा।

''क्यों न विश्वास दिलाऊँ; क्योंकि मैं सात्यकि को तुमसे कम नहीं जानती। वह अपने मित्र की संपत्ति पर कभी डाका डालने नहीं जाएगा।''

बात यहीं समाप्त नहीं हुई।

भैया से पता चला कि सत्राजित् ने उन्हें बुलाया है। वे आज जाकर दो दिनों में ही लौट आएँगे। ऐसा कैसे संभव है? यह तो मैंने उनसे नहीं पूछा। मेरा तो सोचना था कि सत्राजित् के प्रासाद तक जाने और आने में कम-से-कम पाँच दिन लगेंगे। फिर भी भैया ने दो-तीन दिन का ही कार्यक्रम बनाया था।

वे अपने साथ मुझे भी ले जाना चाहते थे; पर मैंने स्पष्ट कहा, ''क्या बिना बुलाए मुझे चलना चाहिए? आप तो मेरे-उसके संबंध जानते ही हैं। वह मुझे संसार का सबसे बड़ा धूर्त समझता है। फिर स्थिति ऐसी नहीं है कि हम लोग साथ ही द्वारका छोड़ सकें।''

''क्यों? परिस्थिति में क्या हुआ है?'' बड़े सहजभाव से भैया बोले।

मैंने स्पष्ट कहा, ''द्वारका के शुद्ध करने के मेरे प्रयास में अवरोध उत्पन्न होगा। यदि कार्य आरंभ न करता तो कोई बात नहीं थी। एक बार आरंभ करके दूसरी कोई और व्यवस्था किए बिना द्वारका छोड़ना विदेशियों को सुअवसर देना है।''

''तुम्हारा तात्पर्य?''

''वे आक्रमण कर सकते हैं। विद्रोह करा सकते हैं!'' मैंने कहा, ''फिर सत्राजित् भी कम दूषित नहीं है। वह हम दोनों को साथ देखकर कुछ भी कर सकता है।''

मेरी बात सुनकर भैया हँस पड़े। उनकी दृष्टि में सत्राजित् इतना खतरनाक नहीं था। वह कुछ सोचते हुए बोले, ''पता नहीं क्यों, मेरा मन वहाँ अकेले जाने को हो नहीं रहा है।''

''तब सात्यकि को ले लीजिए।''

''पहले मैंने भी यही सोचा था। सात्यकि से कहा भी। पर वह जाने को तैयार नहीं है। उसके भी विचार लगभग तुम्हारे जैसे ही हैं।''

''विषधर हर व्यक्ति को विषधर ही दिखाई देगा, सिवा आप जैसे मदारी के।'' मैं भी हँसा और भैया भी।

''फिर क्या किया जाए?'' भैया ने पूछा।

मैंने बहुत सोचकर बताया—"आप एक काम कर सकते हैं। एक चर को भेजकर उन्हें ही आमंत्रित कीजिए।"

"उन्होंने बुलाया है और मैं उन्हें बुलाऊँ!" भैया फिर सोच में पड़ गए—"वे हम लोगों से बड़े भी हैं और यादवों में उनकी पकड़ भी है। फिर उनका चर भी अब लौट गया है। मैंने उससे कहलवा दिया है कि आ रहा हूँ। अब इस स्थिति में उन्हें बुलाऊँ तो वे क्या सोचेंगे?"

"सोचेंगे क्या! आप उनके पास इस आशय का पत्र लेकर अपना चर भेज दीजिए कि मुझे अचानक ज्वर आ गया है। आने की हार्दिक इच्छा होते हुए भी असमर्थ हो गया हूँ; पर आपसे मिलना बड़ा आवश्यक है। बड़ी कृपा हो, यदि आप ही दर्शन दें।"

भैया ने किसी तरह यह प्रस्ताव मान लिया और हँसते हुए बोले, "यदि वह तुम्हें धूर्त समझते हैं तो गलत नहीं समझते।"

मुझे भी हँसी आ गई।

□

चर चला गया। पर किसीको विश्वास नहीं था कि इस पत्र का उसपर अनुकूल प्रभाव पड़ेगा और वह आ जाएगा। पर मेरी धारणा इन सबके विपरीत थी। मैं जानता था कि भैया के अनुरोध को वह शायद ही टाल पाए; क्योंकि मेरे परिवार और मित्र मंडली में उसके लिए भैया ही एक सूत्र थे, जिसके छोर वह छोड़ नहीं सकता था। आग लगाने या मित्रता बढ़ाने—दोनों स्थितियों में उसे उनकी आवश्यकता थी। इसलिए मेरे सोच के अनुसार उसका आना निश्चित था।

पर सात्यकि का कहना था कि वह इतना कूटनीतिज्ञ नहीं है। उसकी सारी कूटनीतिज्ञता उसके भाई प्रसेन के अदृश्य होने के साथ-साथ अदृश्य हो गई। अब वह रह गया है एक उद्धत प्रगल्भ योद्धा और यादवों का नायक। वस्तुतः मैं सात्यकि से भी सहमत नहीं था।

यह मानकर कि वह अवश्य आएगा, मैंने सत्राजित् के स्वागत की तैयारी शुरू कर दी। पूरी द्वारका में ढिंढोरा पिटवा दिया गया कि किसी भी समय यादवों के नायक सत्राजित् का आगमन होने वाला है। द्वारकावासी उनके आगमन के लिए तैयार रहें।

कुछ लोगों को मेरा यह व्यवहार बड़ा विचित्र लगा, विशेषकर सत्राजित् के प्रति सहानुभूति रखनेवालों को। वे देख रहे थे कि एक ओर चुन-चुनकर उनके व्यक्तियों को राजकीय पदों से हटाया जा रहा है और दूसरी ओर उनके आगमन पर पलक-पाँवड़े बिछाने की योजना बनाई जा रही है। मेरी इस विरोधमूलक प्रवृत्ति की

चर्चा से अंत:पुर भी नहीं छूटा।

संयोग कुछ ऐसा हुआ कि रेवती भाभी के कक्ष में रुक्मिणी और सुपर्णा उपस्थित थीं। मैं भी वहीं पहुँच गया। मुझे देखते ही रुक्मिणी बोल उठी—''आपको लोग समझ नहीं पा रहे हैं। एक ओर द्वारका के शुद्धिकरण का अभियान चल रहा है और दूसरी ओर यादव नायक के स्वागत की तैयारी भी चल रही है।''

''लोग मुझे यदि इतनी आसानी से समझ जाते तो वे मुझे भगवान् क्यों मानते ?'' मैंने स्वयं पर व्यंग्य करते हुए कहा। पर उन तीनों नारियों ने मुझे बड़ी गंभीरता से देखा, जैसे मैंने किसी बड़े रहस्य का उद्‌घाटन किया हो।

मेरा ही अनुमान सही निकला। पत्र पाते ही सत्राजित् द्वारका आ धमका। योजनानुसार उसकी अगवानी महिमामंडित थी।

भैया को देखते ही वह बोला, ''आप तो अस्वस्थ थे ?''

''आपके पधारने के समाचार से स्वस्थ हो गया।'' भैया बोले और लोग हँस पड़े। पर सत्राजित् की आकृति अपेक्षा से अधिक गंभीर थी। उसपर उसकी प्रकृति का टेढ़ापन स्पष्ट लक्षित हो रहा था।

ऐसा गंभीर मानो अहं का हिमालय उठाए चला आ रहा हो। मेरे अभिवादन का उत्तर देना या मुझसे बोलना तो दूर, उसने पिताजी और नानाजी के भी चरण स्पर्श नहीं किए। बिना बोले दूर से ही प्रणाम किया। उसकी अगवानी में आए नानाजी को यह बात बुरी लगी भी। वे चुपचाप शिविका में बैठे और अपने भवन की ओर लौट गए।

मेरी ओर सत्राजित् ने दृष्टि ही नहीं घुमाई। वह मार्ग में केवल भैया से ही बातें करता रहा। उन्हींसे उसने पूछा, ''सात्यकि कहीं दिखाई नहीं दिया ?''

''आया तो था।''

''यदि आया होता तो अवश्य दिखाई देता।'' इतना कहकर उसने बड़े विचित्र ढंग से अपना मुँह बिचकाया।

उसके इस व्यवहार में हमें कुछ समझनेवाला उसका अहं तो था ही, हमारे वैभव के प्रति उसकी ईर्ष्या भी थी। अहं, ईर्ष्या और आक्रोश की त्रिवेणी में अग्नि-स्नान करने के बाद वह स्वयं दहक रहा था; जिसके ताप का अनुमान पूरी द्वारका करने लगी थी।

आप यही समझिए, सत्राजित् की अगवानी के लिए जो भीड़ जुटी थी, वह घड़ी भर में संध्या होते ही तितर-बितर होने लगी। मैं चुपचाप अपने आवास पर आया और भैया सत्राजित् के साथ अतिथिभवन चले गए।

आवास में आकर मैं खिन्न मन से पर्यंक पर ढुलक गया। रुक्मिणी ने मेरी

मन:स्थिति समझ ली। वह मुसकराते हुए बोली, ''लगता है, आज आपका ईश्वरत्व काम नहीं आया।''

''वह जिसके द्वारा स्थापित है, उसीके काम आता है।'' मैंने कहा।

''पर सबसे बड़ी बात है कि राक्षस के पास ईश्वरत्व को पहचानने की शक्ति भी तो नहीं होती।'' यह आवाज सुपर्णा की थी, जो इस समय वहीं थी और जिसे मैंने अभी तक देखा नहीं था। उसकी दृष्टि में सत्राजित् राक्षस था। वह इसी संदर्भ में बोलती चली जा रही थी—''रावण ने भी राम को कहाँ पहचाना था!''

मैं सोचने लगा कि रावण तो जानकर अनजान बना था। सत्राजित् तुरंत मेरे मानस में उतर आया।

मैं बोल पड़ा—''पर राक्षसों को भी एक ईश्वर की आवश्यकता पड़ती है।''

''तो सत्राजित् ने अपना ईश्वर खोज लिया होगा।'' रुक्मिणी बोली।

इस बकवास में मेरा मन अधिक देर तक लगा नहीं। मेरे मस्तिष्क में और समस्याएँ थीं। पहली बात तो यह थी कि सत्राजित् के इस व्यवहार से उन लोगों को बड़ा बल मिलेगा, जिनके विरुद्ध मेरा अभियान चल रहा था। दूसरी बात यह थी कि और किसीको महत्त्व न देकर सत्राजित् ने केवल भैया को महत्त्व दिया था। इसका प्रभाव उनपर पड़ेगा ही। उन्हें मुझसे अलग करने की उसकी नीति स्पष्ट थी; पर यह बात भैया समझ पाएँगे कि नहीं, कह नहीं सकता।

रात को वह भैया के साथ ही था। उन्हींके साथ उसने रात्रि का भोजन भी किया। यह रात्रिभोज भी परंपरा से हटकर था। ऐसे महत्त्वपूर्ण अतिथि का रात्रिभोज और कोई बुलाया नहीं गया। सबकुछ भैया को उलटा-सीधा समझाने के लिए ही हुआ।

दूसरे दिन मुझे मिलने के लिए बुलाया गया। वह भी भैया ने यह कहकर बुलाया था कि ''चाचाजी (सत्राजित्) के कुछ सुझाव हैं। उनपर मैं तुम्हारे विचार जानना चाहता हूँ।''

इस आमंत्रण की ध्वनि स्पष्ट थी कि सत्राजित् को मेरे विचारों में कोई रुचि नहीं है। यदि है भी तो भैया को है। यह बात मुझे अच्छी नहीं लगी। जिसकी मुझमें रुचि नहीं, उसके प्रति मेरी भी रुचि नहीं।

पर इस आमंत्रण को पूर्णरूप से अस्वीकार न करते हुए मैंने इसी संदर्भ में एक दूसरा प्रस्ताव भेजा—'अच्छा होता, हम लोग नानाजी के समक्ष बातें करते; क्योंकि हमें अपने हर निर्णय में बड़ों के अनुभव का लाभ लेना चाहिए।'

निश्चित है, इस प्रस्ताव के विषय में सत्राजित् की अनुकूल प्रतिक्रिया नहीं रही होगी। फिर भी इसे स्वीकार करने के सिवा उसके पास कोई चारा नहीं था।

उसी दिन संध्या को वार्त्ता का कार्यक्रम बना। मैंने समझ लिया, उसने भैया को

अपने पक्ष में कर लिया होगा। अतएव मेरी भी सक्रियता बढ़ी। मैंने पिताजी, चाचाजी, सात्यकि, कृतवर्मा आदि को उस बातचीत में अपनी ओर से बुला लिया था।

निश्चित समय पर लोग मंत्रणाकक्ष में पधारे। शायद सत्राजित् को इतने लोगों की उपस्थिति अच्छी नहीं लगी। उसने कई बार अपनी जलती दृष्टि से लोगों को देखा। फिर सात्यकि से बोला, ''तुम मेरे प्रस्ताव पर पुनः विचार करो। मैं नहीं चाहता कि भविष्य में तुम्हें पछताना पड़े।''

सात्यकि ने कुछ कहा नहीं। उसने बस मेरी ओर देखा। इसी बीच सत्राजित् निरंतर उसे घूर रहा था।

इसके बाद ही भैया ने अगुआई की। उन्होंने कहा, ''चाचाजी कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को लेकर पधारे हैं। उनपर हमें विचार करना चाहिए।''

सत्राजित् ने तुरंत बात शुरू की। उसने मेरा नाम लिये बिना वह बात कही, जो कई बार कई अवसरों पर कइयों से कह चुका था। उसका पहला प्रश्न था—''सुना है, कौरवों के पास संदेश भेजा गया है कि वे चेकितान का राज्य लौटा दें। और यदि उसने राज्य न लौटाया तो क्या होगा?''

अब मुझसे न रहा गया। मैंने कहा, ''संदेश भेजनेवाले ने इसपर अच्छी तरह विचार कर लिया है।''

''इसपर भी विचार कर लिया गया है कि किसीका जीता हुआ राज्य किसी और द्वारा लौटाने के लिए कहने का उसे क्या अधिकार है? दुर्योधन ने चेकितान से लड़कर उसका राज्य जीता है, उसे कोई धोखा नहीं दिया है।''

''तो आपको सारी बातों की जानकारी नहीं है।'' मैंने कहा और उसे पूरी कहानी बताई कि किस प्रकार चेकितान को धोखा दिया गया है।

इसपर सत्राजित् का कहना था कि तुम्हारी सूचना गलत है, झूठी है। मैं इसे स्वीकार कैसे कर सकता था? मेरी भी आवाज तेज हुई। एक स्थिति संघर्ष की भी आई। भैया ने बीच-बचाव किया। हम दोनों को चुप कराते हुए उन्होंने कहा, ''कन्हैया का कथन भी सत्य हो सकता है; पर हमें इस संकट में झंझट में पड़ना ही क्यों चाहिए? व्यर्थ में कौरवों से वैर लेना मेरी समझ में बुद्धिमानी नहीं है।''

मैंने अनुभव किया कि रात भर में भैया पर सत्राजित् का पूरा रंग चढ़ चुका है। मैंने स्पष्ट कहा, ''वह मेरी शरण में आया है, उसकी रक्षा करना मेरा धर्म है। उसपर अन्याय हुआ है, इसीलिए मैंने कौरवों से कहा है कि उसका राज्य लौटा दिया जाए। अन्यथा अन्याय का प्रतिकार तो मुझे करना ही पड़ेगा।''

इसके बाद तो सत्राजित् अनवरत बोलने लगा। कंस के वध से लेकर आज तक

के उसने वे सब कार्य गिना दिए, जो उसकी दृष्टि में अधर्म थे। उसने मुझे अन्यायी और दुराचारी सिद्ध करते हुए एक लंबा भाषण भी दिया। मैं सबकुछ चुपचाप सुनता रहा।

जब उसने यहाँ तक कहा कि धर्म का सारा ठेका तुमने ही ले रखा है! तब मैं अपनी मायावी हँसी बिखेरते हुए अपने स्थान पर खड़ा हो गया और बड़ी गंभीरता से बोला, ''धर्म का ठेका लेना या देना तो मैं नहीं जानता; पर इतना जानता हूँ कि धर्म की स्थापना और अधर्म का नाश करने का आदेश भगवान् ने मुझे दिया है।''

''किस भगवान् ने दिया है ?''

''उस भगवान् ने, जो मेरे भीतर है, जो मेरी वाणी से बोलता है, जो मेरे नेत्रों से देखता है, जो मेरे कानों से सुनता है, जो अव्यक्त होकर भी मेरे द्वारा व्यक्त है।''

गंभीरता और नाटकीयता से भरी मेरी वाणी प्रभावकर थी। नानाजी स्वयं अपने सिंहासन से उठे और मेरा हाथ पकड़कर उन्होंने मुझे अपनी बगल में बैठा लिया।

सत्राजित् का भी उबाल थमा। उसने कहा, ''यह सब मैं अपने भले के लिए नहीं वरन् यादवों के भले के लिए कह रहा हूँ। यादवों का हित इसीमें है कि वे कौरवों से वैर न लें।''

''तो क्या चेकितान यादव नहीं है ?'' मैंने पूछा, ''हमने तो वैर नहीं लिया कौरवों से। पर उन्होंने चेकितान के प्रति अन्याय करके यादवों से वैर अवश्य ले लिया है।''

इसपर सत्राजित् चुप हो गया।

भैया ने बात दूसरी ओर बढ़ाई—''स्वयंवर में पांचाल जाने के संबंध में भी चाचाजी के कुछ विचार हैं।''

मुझे यह बुरा लग रहा था कि सत्राजित् को जो कहना हो, स्वयं कहे। उसकी भूमिका भैया क्यों प्रस्तुत कर रहे हैं ? मुझे भैया का खयाल तो करना ही पड़ता था।

''हमारा विचार है कि हमें द्रौपदी के स्वयंवर में भी भाग नहीं लेना चाहिए।'' सत्राजित् बोला।

''इसका तात्पर्य है कि द्रुपद के निमंत्रण का भी हमें सम्मान नहीं करना चाहिए।'' मैंने कहा।

इसपर सत्राजित् बोला, ''निमंत्रण है तो सम्मान कीजिए। आप और सात्यकि चले जाएँ; पर स्वयंवर में भाग न लें।''

''आखिर आपको स्वयंवर में भाग लेने में भय क्या है ?'' मैंने पूछा।

भैया को पहली बार व्यंग्य सूझा—''सात्यकि से वे प्रस्ताव पर पुनः विचार करने को कह चुके हैं, फिर कैसे चाहेंगे कि सात्यकि स्पर्धा जीतकर द्रौपदी का

वरण करे ?''

हलकी सी हँसी हुई। वातावरण का तनाव कुछ ढीला हुआ।

''यह तो हम मान सकते हैं कि हम पांचाल जाएँ और स्वयंवर में भाग न लें।'' मैंने कहा, ''पर यदि हम द्रुपद और द्रोण के संघर्ष में नहीं पड़े, उसपर अपना प्रभाव नहीं रखा तब आप निश्चित जानिए, आर्यावर्त्त की सारी राजनीति जरासंध की मुट्ठी में चली जाएगी। तब हम भी उसके प्रभाव से नहीं बच सकेंगे।''

सत्राजित् और जरासंध का वैर बहुचर्चित था। मैंने उसी पर अँगुली रखी। सत्राजित् चुप हो गया।

अब मैंने कूटनीति से काम लिया। मुसकराते हुए बोला, ''यदि चाचाजी की यही इच्छा है तो हम स्वयंवर में जाकर भी स्पर्धा में भाग नहीं लेंगे।''

सत्रांजित् की मुद्रा बदली, भला मैंने उसकी एक बात तो मानी। जब बैठक समाप्त हुई तब वह मेरे कंधे पर हाथ रखकर मेरे साथ चलते हुए बोला, ''तुम व्यर्थ ही मुझपर शंका करते हो। मैं तुम्हारा अहित नहीं चाहता।''

''यह तो मैं भी जानता हूँ।'' मैं उसके पीछे क्यों रहता! मैंने अपनी नाटकीय आत्मीयता उड़ेली—''आप मेरे वरेण्य हैं। भला मैं आपके प्रति शंका कर सकता हूँ! शंकाकुल तो मेरे प्रति आप हैं—और इसके मूल में है वह स्यमंतक मणि।''

सत्राजित् गंभीर हो गया।

दूसरे ही दिन उसके जाने का कार्यक्रम बना। भैया इस बैठक से काफी प्रसन्न थे कि इससे सत्राजित् और मेरे बीच की दूरी कम हुई। पर हम दोनों जहाँ थे वहीं रहे, केवल भैया को पास आते दिखाई दिए।

संध्या को सत्राजित् ने मुझे पुनः बुलाया। पहुँचते ही उसने मेरी जैसी अगवानी की, वह उसकी प्रकृति के अनुकूल नहीं थी। मैं समझ गया कि अब वह कूटनीति के फंदे फेंकना शुरू करेगा।

''मैंने तुम्हें इसलिए बुलाया है कि तुम्हारे जैसे रसिक के रहते यह रात भी शुष्क ही बीत जाएगी!'' उसने कहा।

मेरे मन में तो आया कि कहूँ, भैया तो आपके साथ हैं ही; पर मैंने कहा नहीं। मैंने उसीके अहं को सहलाना चाहा और बोला, ''आपकी कूटनीति के सामने हमारी सारी रसिकता, सिकता में बदल गई है।''

सत्राजित् जोर से हँसा। उसके अहं के फूटे ज्वालामुखी के लावे की तरह उसकी खिलखिलाहट बहुत देर तक बहती रही। जब उसका प्रवाह रुका तब उसने धीरे से कहा, ''अरे, आजकल सुपर्णा भी तो यहीं है! क्यों न आज की रात उसीके नाम कर दी जाए!''

अब मेरे कान खड़े हुए। यह समझते मुझे देर न लगी कि सत्राजित् उससे मिलना चाहता है। उसका मिलना हमारे लिए घातक होगा। यह सोचते हुए भी मैंने उसके प्रस्ताव को स्वीकार किया; क्योंकि किसी सम्मानित अतिथि की इस प्रकार की इच्छा ठुकराना परंपरा के विपरीत था।

मैंने वहीं से अंत:पुर में चर भेजा और सुपर्णा को कहलाया कि हमारे सम्मानित अतिथि आज की रात तुम्हारे नाम करना चाहते हैं।

चर तो चला गया, पर मैं सोचता रहा कि आखिर सत्राजित् का सुपर्णा के मिलने के पीछे उद्देश्य क्या है ? केवल प्रमदा-प्रमोद के लिए सत्राजित् जैसा व्यक्ति कभी भी ऐसा प्रस्ताव नहीं कर सकता—वह भी मुझसे, सर्वथा असंभव। वासना तृप्ति के लिए उसे ऐसा लालायित तो नहीं होना चाहिए। उसके लिए व्यवस्था एक नहीं, कई की कहीं भी हो सकती है।

मैं सोचता रहा और अतिथिकक्ष में भैया एवं सत्राजित् के साथ ही बैठा चर के लौटने की प्रतीक्षा करता रहा। पर चर नहीं लौटा। भैया ने यहाँ तक कहा कि प्रमोद उद्यान में आज नृत्य की व्यवस्था होनी चाहिए।

मैं व्यवस्था के बहाने वहाँ से निकला और सीधे अंत:पुर में आया। पता चला कि सत्राजित् का प्रस्ताव सुनते ही सुपर्णा काँपकर गिर गई और संज्ञाशून्य हो गई। जब मैं पहुँचा तो रेवती भाभी और रुक्मिणी की देखरेख में उसकी चिकित्सा आरंभ हो चुकी थी। उसकी आकृति पर शीतल सुगंधित जल के छींटे डाले जा रहे थे।

जब उसकी चेतना लौटी तो उसने गिड़गिड़ाते हुए कहा, "उस राक्षस का मुझसे सामना मत कराइए।"

फिर भी मैंने प्रमोद उद्यान में रात्रि संगीत की व्यवस्था पूरी गरिमा के साथ करने का आदेश दिया।

अधिकांश कर्मचारी प्रमोद उद्यान की सजावट में लग गए। नर्तकियाँ तैयार होने लगीं। वाद्य यंत्रों के तार मिलाए जाने लगे। पर सत्राजित् के तार की खूँटी तो हमारे हाथ में थी।

सत्राजित् बड़ा प्रसन्न था कि उसके प्रस्ताव पर हम लोगों ने इतनी गंभीरता से ध्यान दिया था। पर जब मैंने बताया कि सुपर्णा आज अचानक अस्वस्थ हो गई है, वह इस समारोह में उपस्थित न हो पाएगी, तब उसकी मुद्रा एकदम बदल गई।

"फिर यह सब ताम-झाम क्यों ?" वह बड़े आवेश में बोला।

"आपकी नीरस रात्रि को सरस बनाने के लिए।" मैंने उसीके शब्द दुहराए।

वह और तिलमिलाया—"मैंने तो आज की रात्रि सुपर्णा के नाम की थी, किसी संगीत समारोह के नाम नहीं।"

"तब कहिए, संज्ञाशून्य सुपर्णा को लाकर आपकी सेवा में अर्पित करूँ!"

"व्यर्थ की बकवास बंद करो।" उसका आवेश गति पकड़ता गया—"कन्हैया, मैं तुम्हें अच्छी तरह जानता हूँ। मैं बालक नहीं हूँ, जो तुम मुझे बहला दोगे।"

वह आदेश की मुद्रा में ही बोला, "आज कोई आयोजन नहीं होगा। मैं अतिथिभवन में ही रहूँगा और ब्राह्म मुहूर्त में ही प्रस्थान करूँगा।"

ये सारी बातें तो बाहर नहीं आईं, पर अचानक आयोजन बंद होने से द्वारका यह समझ ही गई कि सत्राजित् और कन्हैया में कोई टकराव हो गया है।

□

गंभीर तनाव की स्थिति में सत्राजित् द्वारका से बिदा हुआ। राजधानी के मुख्य द्वार तक हम उसे छोड़ने आए। पर वह मुझसे एक शब्द नहीं बोला और न मेरे अभिवादन का उत्तर ही दिया। उसके आने का उद्देश्य बहुत कुछ पूरा हो चुका था। हम कब कांपिल्य के लिए प्रस्थान करेंगे, किसका मुहूर्त पहले निकलने का है और किसका बाद में, मार्ग में हमारी क्या योजनाएँ हैं—और अंत में पांचाल में हम क्या करेंगे आदि सूचनाएँ उसे भैया से मिल चुकी थीं।

लौटते समय चिंतित मुद्रा में भैया ने कहा, "यह अच्छा नहीं हुआ, कन्हैया!"

उनका भी सोचना यही था कि सुपर्णा को उपस्थित न करने में मेरा ही हाथ है।

जब मैंने सारी स्थिति बताई तो वे भी गंभीर हो गए। उन्होंने कहा, "उसकी वासना सुपर्णा के लिए विक्षिप्त हो गई थी। वह सुंदरी ही ऐसी है।"

"उसकी वासना नहीं वरन् उसकी कूटनीतिज्ञता विक्षिप्त हो गई थी; क्योंकि उसे सुपर्णा का सौंदर्य नहीं, उसकी गुप्तचरी चाहिए थी।"

भैया और गंभीर हुए। कुछ सोचने लगे, फिर धीरे से बोले, "ऐसा है सत्राजित!"

"इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि भगवान् ने जो किया, अच्छा ही किया।"

निमंत्रण तो पहले ही आ चुका था, पर औपचारिकता के निर्वाह के लिए पांचाल का एक प्रतिनिधिमंडल पुनः निमंत्रण लेकर आ गया। वह नानाजी से मिला और उनसे विनीत आग्रह किया—"कन्हैया-बलराम को दल-बल के साथ पौष शुक्ल एकादशी तक पांचाल पहुँच जाने का आदेश देने की कृपा करें।

"वे तो जाएँगे ही, पर दल-बल के साथ! बात कुछ समझ में नहीं आती। वहाँ धनुर्विद्या की प्रतिस्पर्धा होगी या युद्ध?" नानाजी ने उस प्रतिनिधिमंडल से पूछा।

"आप तो जानते ही हैं कि आज आर्यावर्त्त की क्या स्थिति है!" प्रतिनिधि-मंडल के नायक ने कहा, "कभी-कभी प्रतिस्पर्धा उपसंहार युद्ध के रूप में भी होने लगती है।"

नानाजी ने इसके बाद कोई विशेष बात नहीं की। निमंत्रण को शिरोधार्य करते

हुए बोले, ''आप लोग जाइए और पांचाल नरेश से कह दीजिएगा कि उनके आदेश का अक्षरश: पालन होगा।''

प्रतिनिधिमंडल खुशी-खुशी लौटा। यह उसका नहीं, वस्तुत: उसके द्वारा मेरा कार्य पूरा हुआ था। मैं भी काफी प्रसन्न था। ऐसे प्रतिनिधिमंडल की सारी योजना मैं पांचाल में बनाकर आया था। मैंने महाराज द्रुपद से स्पष्ट कहा था कि जब तक इस प्रकार प्रतिनिधिमंडल मेरे यहाँ नहीं जाएगा तब तक हम अपनी पूरी शक्ति से आयोजन में उपस्थित नहीं हो पाएँगे। उस समय द्रौपदी ने भी मेरी बात का समर्थन किया था।

अब द्वारका की सैन्य शक्ति भी मेरे साथ जाएगी। सेना की तैयारी शुरू हुई। मैंने कृतवर्मा और सात्यकि से भी अपनी टुकड़ियाँ तैयार करने को कहा। दोनों कार्य में जुट गए। पर सात्यकि कुछ अन्यमनस्क-सा लगा। उसे यह बात अच्छी नहीं लग रही थी कि हम लोग इतनी तैयारी से चलें और स्वयंवर की स्पर्धा में भाग न लें। वस्तुत: वह अच्छा धनुर्धर था, युवा था, बलिष्ठ था, आकर्षक था। उसकी स्फीत शिराओं के दौड़ते रक्त में यौवन का उबाल था—और सबसे बड़ी बात यह थी कि वह द्रौपदी के रूप पर भी मुग्ध था।

फिर भी उसने अपनी तैयारी जोरों से आरंभ की। अनवरत धनुर्विद्या का अभ्यास शुरू किया। उसके मन में कहीं-न-कहीं यह विश्वास अवश्य था कि हो सकता है, ऐसी परिस्थिति आ जाए, जब कन्हैया स्वयं प्रतियोगिता में मुझसे भाग लेने को कहें।

एक घटना भी ऐसी हो गई, जब उसके विश्वास को और बल मिला। पता नहीं मुझे क्या सूझी कि उसके धनुर्विद्या के अभ्यास के स्थान पर चला गया। वह अपने अभ्यास में दत्तचित्त था। लक्ष्य पर निरंतर बाण पर बाण मारे चला जा रहा था।

मैं चुपचाप खड़ा देखता रहा। जब वह थककर रुका तब उसकी दृष्टि मेरी ओर पड़ी।

''अरे, आप यहाँ खड़े हैं!'' एक लज्जा भरी मुसकराहट उसके चेहरे पर दौड़ गई।

''बड़ा अच्छा अभ्यास चल रहा है तुम्हारा।'' मैंने कहा।

''पर सब व्यर्थ।''

''क्यों?''

''आपने तो संकल्प ले लिया कि हम लोग स्वयंवर की स्पर्धा में भाग नहीं लेंगे।'' वह बोला।

मैं मन-ही-मन मुसकराया।

''तो स्वयंवर की स्पर्धा जीतने के लिए यह सब हो रहा है।'' मैं बोला।

उसकी आँखों ने बहुत कुछ कहा; पर वह मौन ही रहा।

फिर मैं बोल पड़ा—''अभ्यास कभी व्यर्थ नहीं जाता। कब इसकी आवश्यकता पड़ जाए, कहा नहीं जा सकता।''

जुआरी जैसे अपना दाँव ही देखता है वैसे ही सात्यकि ने इस लक्ष्य को देखा, परखा और अपने मन पर चिपका लिया।

वह और जोरों से तैयारी में लग गया। राजपुरोहित की गणना के अनुसार, उसे हमसे पंद्रह दिन पहले ही यहाँ से प्रस्थान करना था। पर उसका पिता सत्यक बहुत प्रसन्न नहीं था। वह कुछ-कुछ सत्राजित् के प्रभाव में था। वह एक संध्या मुझसे अरण्य जल उद्यान में मिला। उस समय मैं रुक्मिणी के साथ प्रकृति विहार कर रहा था। कुछ दूरी पर एक चर मेरे बेटे प्रद्युम्न को लेकर टहल रहा था। सत्यक ने जब उद्यान में प्रवेश किया तब मैं एक स्फटिक शिला पर रुक्मिणी की जाँघ पर सिर रखकर आनंद की मुद्रा में लेटा था।

कुछ समय तक वह दूर से हमें देखता रहा। फिर उसने झाड़ी को खड़खड़ाकर अपनी उपस्थिति का आभास मुझे कराया। मैंने तुरंत उठकर उसकी अगवानी की। आखिर वह मेरे मित्र का पिता था।

उसके पास आते ही मैं बोल पड़ा—''अरे चाचाजी, इस समय यहाँ कैसे?''

''मैं कई दिनों से एकांत में तुमसे मिलना चाहता था। मैंने प्रयत्न भी किया; पर तुम इतने व्यस्त थे कि मैं मिल नहीं पाया।'' फिर वह शीघ्र ही अपने मूल विषय पर आ गया—''जब तुम लोगों ने स्वयंवर में भाग न लेने का निश्चय कर ही लिया है तब तुम सात्यकि को—और वह भी पूरी सैन्य तैयारी के साथ—क्यों ले जा रहे हो?''

''अरे चाचाजी, वह मेरा मित्र ही नहीं वरन् मेरी छाया है। वह न तो मुझे छोड़ सकता है और न मैं उसे छोड़ सकता हूँ।''

''पर छाया तो प्रकाश तक ही साथ रहती है।''

''साथ रहने की बात नहीं है, प्रकाश में वह दिखाई देती है।'' मैंने कहा, ''अंधकार में तो मेरी छाया मुझमें ही विलीन हो जाती है। आप उसे देख नहीं सकते। विपत्ति के समय भी हम दोनों दो न रहकर एक ही हो जाते हैं।''

वह चुप हो कुछ सोचने लगा।

''वह केवल अकेला ऐसा नहीं है, जो मेरे साथ जा रहा हो। मेरे साथ तो बहुत से लोग जा रहे हैं।'' मैंने कहा और जानेवाले लोगों में जिन प्रमुख लोगों का मैंने नाम गिनाया, उनमें कृतवर्मा भी था।

कृतवर्मा का नाम लेते ही वह भभका। कहा, ''कृतवर्मा ऐसा संपन्न व्यक्ति

और कहाँ सात्यकि—दोनों में कोई बराबरी है ?''

''मेरे विचार से सात्यकि कृतवर्मा से हर दृष्टि में श्रेष्ठ है—युद्ध-कौशल में, शौर्य में, यश में, सौंदर्य में और शरीरयष्टि में भी।''

''पर संपदा में नहीं, ऐश्वर्य में नहीं।'' सत्यक बोला, ''तुम्हें ज्ञात है कि कृतवर्मा और सत्यभामा मौसेरे भाई-बहन हैं! सत्यभामा से उसकी पटती भी खूब है। उसकी सारी संपदा सत्यभामा की ही दी हुई है।...और तुम यह भी जानते हो कि सत्राजित् के पास स्वर्णों का भंडार है।''

मैं चुप हो गया। सोचने लगा कि इस संदर्भ की चर्चा तो कभी कृतवर्मा ने नहीं की। संयोगवश ऐसा हो गया या वह मुझसे यह सत्य छिपाना चाहता है ?

मैंने सत्यक से सीधे-सीधे पूछा, ''आखिर आप चाहते क्या हैं ?''

''मैं चाहता हूँ कि सात्यकि सत्राजित् का प्रस्ताव स्वीकार कर ले। सभी दृष्टियों से उसका लाभ है।''

''तब आप उसे प्रभावित कीजिए। आदेश दीजिए। आप तो उसके पिता हैं।'' मैंने कहा।

''यदि वह मेरी बात मानता तो दुःख किस बात का था!'' उसने कहा, ''वह तो संसार में यदि किसीकी बात मानता है, तो तुम्हारी। तुम कहो दिन तो वह कहेगा दिन, तुम कहो रात तो उसके लिए रात ही होगी।''

''यह तो ठीक है।'' मैंने उसे समझाने की चेष्टा की—''यह स्थिति इसलिए है कि मैं उससे उसकी इच्छा के विरुद्ध कुछ कहता नहीं। जिस दिन कहने लगूँगा, उसी दिन से उसकी अवज्ञा भी सुनने को मिलगी। दूसरी ओर, उसका समर्पण भी है, जिसे देखकर हर व्यक्ति यह समझता है कि वह मेरी प्रत्येक बात मानता है। ऐसे समर्पित मित्र से मैं विवाह के लिए निवेदन कर सकता हूँ, आदेश नहीं दे सकता। फिर विवाह आदि के लिए किसीको दबाना मैं उचित नहीं समझता।''

सत्यक एकदम उखड़ पड़ा—''तुम्हारे नागजाल में मैं फँसनेवाला नहीं हूँ, कन्हैया। मैं तुम्हें अच्छी तरह पहचानता हूँ। अपने विवाह के लिए तुम अपहरण तक कर सकते हो; पर अपने मित्र के विवाह के लिए तुम उसपर दबाव डालना भी उचित नहीं समझते।''

''दबाव का परिणाम ही अपहरण होता है, तात! इसीलिए मैं उसपर दबाव नहीं डाल सकता।''

''तुम किसलिए दबाव नहीं डालते हो, मैं उसे जानता हूँ।'' वह कुछ और आवेश में आया—''तुम चाहते हो कि कोई भी तुम्हारा साथी तुमसे आगे न बढ़ सके और भविष्य में सत्यभामा तुम्हारी ही हो। सत्राजित् के सहयोग से तुम यादवों के

सिरमौर बने रहो।''

इतना कहते ही सत्यक वायु के एक तप्त झोंके-सा चला गया। उसने मुझे सुनने की भी कृपा नहीं की।

स्वार्थ की राह लोगों के बीच से हटकर उस जंगल से गुजरती है, जहाँ अपने मन के अनुसार सबकुछ हरा-भरा ही दिखाई देता है। उसकी सम्यक् दृष्टि बाह्य संसार की वास्तविकता को देख भी नहीं पाती। आज सत्यक की राह भी वैसी हो गई थी और मैंने देखा, उसका स्वार्थ क्रोध के रथ पर बड़ी तेजी से उधर बढ़ता चला जा रहा था।

□

सह्य होते हुए भी नियति मुझपर निरंतर प्रहार करती रही। पर यह सोचकर कि बार-बार छेनी-हथौड़ी की मार खाने के बाद ही कोई मूर्ति बनती है, पत्थर भी भगवान् हो जाता है, मृण्मय चिन्मय दिखाई देने लगता है, मैंने सारे प्रहार सहे—और यह सोचता रहा कि नियति भी मेरा निर्माण कर रही है। इसीलिए मैं कभी भी थका नहीं, हारा नहीं, श्लथ नहीं हुआ। मुसकराता हुआ सब झेलता रहा। पर इस बार के प्रहार पर, जीवन में पहली बार मेरी मुसकराहट आक्रोश के ताप में सूख गई।

यह विचित्र घटना कुछ इस प्रकार घटी।

जिस ब्राह्म मुहूर्त में सात्यकि को प्रयाण करना था, उसकी पूर्व संध्या पर मेरे परिवार ने उसे भावभीनी बिदाई दी। उस बिदाई समारोह में मेरी माँ देवकी और गुणवंती चाची ने उसे तिलक-चंदन किया। नानाजी, पिताजी और चाचा आदि ने वैदिक मंत्रों के बीच उसपर अक्षतवर्षा कर आशीर्वाद दिया। मैं एवं भैया उससे गले मिले और उसे आश्वासन दिया कि हम कल ब्राह्म मुहूर्त में तुमसे मिलेंगे और तुम्हारे आवास के उत्तर नगर के अंतिम द्वार के बाहर तक तुम्हारे साथ चलेंगे। उस समय तक तो सब ठीक-ठाक था।

यह सारी योजना छिपी नहीं रही। शायद गुप्तचरों द्वारा दूर तक भी पहुँचा दी गई हो। कार्यक्रम के अनुसार, ब्राह्म मुहूर्त के कुछ पहले ही मैंने बिस्तर छोड़ दिया। अभी मंदिरों के घंटे मौन थे। पक्षियों का कलरव भी अभी नीड़ों में सोया था। समुद्र की ओर से चलनेवाले समीर में भी धीरे-धीरे कंपन सुगबुगा रहा था। पर अभी भैया की नींद पूरी नहीं हुई थी। पता चला कि वे मध्य रात्रि के बाद सोए हैं। मैंने उन्हें जगाया भी नहीं कि अचानक प्रतिहारी दौड़ा हुआ आया। उसने सूचना दी कि सात्यकि का सारथि आहुति आपसे मिलना चाहता है।

यह सुनते ही मेरा माथा ठनका। कोई बात अवश्य है। ऐसा तो नहीं कि वह जाना न चाहता हो! पर ऐन मौके पर कभी उसने ऐसा धोखा नहीं दिया। मेरे प्रति

उसकी निष्ठा निर्विवाद है; पर राजनीति में निष्ठा बदलते देर नहीं लगती।

मैंने प्रतिहारी से पूछा, "वह कह क्या रहा है?"

"उसने कुछ कहा नहीं, केवल आपसे मिलने की इच्छा व्यक्त की है। पर बहुत चिंतित दिखाई दे रहा है।" प्रतिहारी ने कहा।

मैं जिस स्थिति में था उसी स्थिति में उससे मिलने चल पड़ा।

आहुति ने बड़े दुःख के साथ सूचना दी—"मध्य रात्रि से स्वामी का कहीं पता नहीं है।"

मैं अवाक् रह गया। नियति के इस प्रहार से तिलमिला उठा। पूछा, "तुम सात्यकि के आवास पर गए थे?"

"वहीं से तो आ रहा हूँ। उनके पिताजी भी बड़े चिंतित हैं। उनका कहना है कि मध्य रात्रि के बाद वे अचानक उठे और अपने अश्वपालों से मिलने गए।"

"तब तुम अश्वशालाधीक्षक से मिले?"

"हाँ, मिला था। उनका कहना है कि वे उन्हें ब्राह्म मुहूर्त के पूर्व ही सभी अश्वों को तैयार कर देने का आदेश देकर तुरंत चले गए थे।"

मेरे मन में कई शंकाएँ उठने लगीं। मैं अत्यधिक घबरा गया। फिर भी मैंने अपनी व्यग्रता सारथि के समक्ष उभरने नहीं दी। उसे समझाते हुए कहा, "इसमें घबराने की कोई बात नहीं है। वह आता ही होगा। अभी तो प्रयाण के समय में भी काफी देर है।"

फिर भी सारथि की घबराहट कम न हुई। वह लौट तो पड़ा, पर चलते हुए उसने कहा, "यदि वे न आए तो?"

"तो मैं अभी आ रहा हूँ।" मैंने कहा और उसका रथ चल पड़ा।

मैं तुरंत अपने आवास में आया। आहुति का रथ अब भी मेरे मस्तिष्क में धड़धड़ा रहा था और उसीमें उभर रहा था सात्यकि का अनेक भंगिमाओं में चित्र।

व्यग्रता में मेरी पहली पुकार रुक्मिणी के लिए थी। वह दौड़ी हुई आई। "रुक्मिणी, तुम मेरा धनुष दो मुझे।

मेरे रथ पर कौमोदकी गदा रखवाओ और तुरंत दोनों चक्र मेरी कटि में बाँधने का उपक्रम करो।"

इस अप्रत्याशित आदेश पर वह भी एकदम सकपका गई। शायद यह मेरे जीवन का पहला आदेश था, जिसमें मैंने वंशी नहीं माँगी थी।

रुक्मिणी ने बाद में मुझे बताया कि उस समय आपका स्वर काँप रहा था और शरीर भी।

वह कुछ न समझ पाई कि क्या हो गया मेरे स्वामी को। उसने बड़ी शांति और

समझदारी से काम लिया। मुझसे विनम्रता से बोली, ''थोड़ा बैठ जाइए। जल पीजिए। सारी व्यवस्था हो जाती है।''

''किंतु यह जल पीने का समय नहीं है, वैदर्भी! मुझे लग रहा है कि मेरे साथ गंभीर धोखा हुआ है।'' मैंने थोड़े में उसे सारी बातें बताईं।

''हो सकता है, उसके पिता ने ही उसे कहीं छिपा दिया हो!'' यह रुक्मिणी की पहली प्रतिक्रिया थी।

''और वह छिप गया!'' मैंने बड़े आवेश में कहा, ''आज तक तो वह इतना पितृभक्त नहीं था। आज कैसे हो गया?''

रुक्मिणी चुप हो गई। थोड़ी देर बाद वह सोचते हुए बोली, ''इसमें सत्राजित् और उसके पिता सत्यक की मिलीभगत न हो!''

''जो भी हो, इससे मुझे आघात लगा है। लगता है, इससे मेरे स्वाभिमान पर किसीने सीधा प्रहार किया है।''

रुक्मिणी तुरंत मेरी व्यवस्था में लग गई। फिर भी उसने एक शंका की—''मान लीजिए, यदि सात्यकि नहीं मिला, तो क्या होगा?''

''तब मैं स्वयं उसकी सारी सैन्य शक्ति का नेतृत्व करते हुए प्रयाण करूँगा।'' मैंने कहा, ''यदि हमारा प्रयाण समय टला तो लोगों में मेरे प्रति अविश्वास हो जाएगा। और जानती हो, इस समय आर्यावर्त्त की सारी राजनीति मेरे प्रति लोगों के विश्वास पर टिकी है।''

''तब तो इसकी सूचना भैया को भी होनी चाहिए।''

''अरे, भैया कितनी रात को सोए होंगे! वे अभी जाग भी सकेंगे या नहीं? इस समय तो उनपर मैरेय सवार होगी। हाँ, यदि भाभी को बुला लेती तो अच्छा होता।''

तुरंत रेवती भाभी बुलाई गईं। लगता है, मार्ग में ही उसने रेवती भाभी को परिस्थिति का ज्ञान करा दिया था। उसने आते ही कहा, ''तुम इतने परेशान क्यों हो? आज नहीं तो कल सात्यकि आ ही जाएगा।''

''यह कोई आवश्यक नहीं है।'' मैं बोला, ''सात्यकि न किसीके छिपाए छिप सकता है और न किसीके रोके रुक सकता है। वह मेरा मित्र है और मैं उसे अच्छी तरह जानता हूँ।''

''कभी-कभी अपना जानना ही स्वयं को धोखा दे देता है।''

''यह तब होता है जब जानने में कोई कमी रहती है।'' मैंने कहा, ''हो सकता है, सात्यकि किसी संकट में हो।''

''यदि ऐसी बात है तो आपको तत्काल उसकी सहायता करनी चाहिए।'' रेवती भाभी बोलीं। मैंने देखा कि ऐसे अवसरों पर एकदम अशांत हो जानेवाली

रेवती भाभी भी बहुत व्यग्र नहीं लगीं वरन् उपदेश देने की मुद्रा में बोलीं, "मेरी राय से तो हमें बड़ी शांति और धैर्य से काम लेना चाहिए।"

"भाभी, आप भी मुझे शांति का उपदेश दे रही हैं। कभी न अधीर होनेवाला मैं इस समय विचलित हो रहा हूँ। जानती हो, मेरी इस अशांत मानसिकता का कारण मेरी प्रतिज्ञाओं का बोझ है, जिन्हें इस स्थिति ने कई गुना अधिक बढ़ा दिया है।"

दोनों की दृष्टियों में जिज्ञासा के दीप जल उठे।

मैंने सोचा, इन्हें अब वास्तविकता से परिचित करा ही देना चाहिए—"शायद आपको ज्ञात न हो, भाभी! मैंने बहुतों को वचन दिया है। बहुतों को आश्वस्त किया है। यदि दिए हुए वचनों का निर्वहन न कर सका तो मेरे ईश्वरत्व का मुखौटा चूर-चूर हो जाएगा, मेरी प्रतिष्ठा धूल में मिल जाएगी।"

मेरी मनःस्थिति देखकर रेवती भाभी चुप ही रहीं। पर उनकी मुद्रा से कुछ ऐसा लगा जैसे वह कहना चाहती हों—'आखिर तुम इन सब झमेलों में क्यों पड़ते हो?'

मैं उसी आवेश में बोल पड़ा—"ऐसा तो नहीं हो सकता कि मैं शरणागत को शरण न दूँ, जो मुझपर विश्वास करें, मैं उन्हें आश्वस्त न करूँ। वस्तुतः मुझे अपनी नहीं, औरों की चिंता है।" इसी क्रम में मैंने यह भी कह डाला—"मैंने चेकितान को वचन दिया है कि तुम्हारा राज्य मैं कौरवों से वापस दिलाऊँगा। मैंने द्रुपद के प्रतिशोध को सांत्वना दी है कि आपका अहं विजयी होगा। मैंने पांचाली को आश्वस्त किया है कि तुम्हारे योग्य ही तुम्हें वर मिलेगा। और मैंने प्रपितामही से…" इतना कहते-कहते मेरे विवेक ने मेरी जीभ पकड़ ली।

इसका आभास रुक्मिणी और रेवती भाभी दोनों को लगा। रुक्मिणी तुरंत बोल पड़ी—"आप कुछ कहना चाह रहे थे और रुक गए!"

"सारी बातें कहने के लिए ही नहीं होतीं।"

"पत्नी से भी नहीं।" रुक्मिणी बोली, "इसका तात्पर्य है कि आप मुझसे भी छिपाते हैं। शायद विवाह के समय अग्नि के समक्ष ली गई शपथ को आप भूल गए।"

मुझे जैसे झटका-सा लगा। रुक्मिणी के आक्षेप का मेरे पास सही उत्तर नहीं था। मैंने बात बनाते हुए कहा, "नहीं, ऐसी बात तो नहीं है।"

तब तक रेवती भाभी ने दूसरा प्रहार किया—"अच्छा, मैं हट जाती हूँ। शायद कन्हैया मेरी उपस्थिति के कारण जो कहना है, वह कह नहीं पा रहा है।" इतना कहकर वह कक्ष से बाहर जाने को हुईं।

मैंने उन्हें रोकते हुए कहा, "आप स्थिति की गंभीरता को न समझकर एकदम दूसरी ओर मुझे उलझा रही हैं।"

''यह अवसर तो तुमने ही दिया है।'' रेवती भाभी बोलीं।

''आप लोग सुनना ही चाहते हैं तो सुनिए—मैंने प्रपितामही सत्यवती को वचन दिया था कि द्रौपदी के स्वयंवर में मैं पांडवों को जीवित उपस्थित करूँगा। मैंने इस सूचना को केवल इसलिए छिपाया था कि इसके उद्‌घाटन से पांडवों की हानि संभव है और मेरा कार्य भी बहुत कठिन हो जाएगा।''

''पांडव जीवित हैं, इसका कुछ-कुछ आभास हम लोगों को भी था।''

''इसकी सूचना माताजी की शांति के लिए पहले ही भिजवा दी थी। द्वारका आकर भी उन्हें विस्तार से बताया था और इसकी गोपनीयता के लिए उन्हें सावधान भी किया था। अच्छा होता, यह बात भी आप लोगों तक ही रहती।''

''हम भी इसकी गंभीरता को समझती हैं।'' रेवती भाभी बोलीं।

मैंने देखा, रुक्मिणी अब भी गंभीर है। मैंने उसे हलका करने के लिए उसकी ओर देखकर मुसकराते हुए कहा, ''झाँझर पात्र में जल और नारियों के पेट में बात रुक नहीं पाती।''

फिर भी रुक्मिणी हँसी नहीं। वह बोली, ''इस समय आपकी मानसिकता एक गंभीर समस्या से जूझ रही है, अन्यथा मैं उत्तर देती।'' फिर वह मेरी तैयारी में लग गई। इस बीच मैं वृद्धों का आशीर्वाद लेने के लिए उनके भवनों की ओर लपका। साथ ही, मैंने अपने मित्रों और अधिकारियों को भी साथ चलने की सूचना भिजवाई।

गद, रक्ताक्ष, श्वेतकेतु आदि आनन-फानन में तैयार हो गए। मैं भैया के पास भी गया। पर वे अभी सो रहे थे। मैंने रेवती भाभी से कहा, ''भाभी, मैं तो जा रहा हूँ; पर द्वारका की सारी सैन्य शक्ति छोड़े जा रहा हूँ। उसकी सारी जिम्मेदारी आप पर रहेगी। भैया के जगने पर मेरा चरण स्पर्श कहना और सारी स्थिति बता देना। उनका निर्णय भी कभी-कभी बड़े महत्त्व का होता है।''

मैं जब प्रासाद से निकला तो पिताजी, माँ एवं चाचाजी आदि सभी कुछ दूर तक पहुँचाने आए। मैंने पीछे मुड़कर देखा, नानाजी की शिविका भी दौड़ती चली आ रही थी।

लगता है, मुझे निकलने में देर हो गई। मंदिरों में शंखध्वनि आरंभ हो गई थी। मंगला की आरती होने वाली थी। समुद्री वायु के शीतल झोंकों पर तैरती स्फूर्ति जीवन में एक नवीन उत्साह का संचार कर रही थी। हमने अपने साथ आनेवाले वृद्ध और वरेण्य लोगों को नगर के प्रथम द्वार पर ही छोड़ दिया। बिदाई का आशीर्वाद ले आगे बढ़ा। पर माँ अब भी मेरे साथ लगी चली आ रही थी। शायद उसका मन नहीं मान रहा था। मैं अपने रथ से पुनः उतरकर उसके पास आया।

उसने मुझे वक्ष से लगाते हुए बड़ी कातर ध्वनि में कहा, ''देख बेटा, तू आज

प्रयाण मत करना।''

''क्यों, माँ?''

''आज तेरे द्वारका छोड़ने का मुहूर्त नहीं है।''

''जीवन और मृत्यु भी किसी मुहूर्त की प्रतीक्षा करते हैं! सारे मुहूर्त उसीके अनुरूप बन जाते हैं।'' मैंने माँ को आश्वासन दिया—''फिर भी मैं तेरे आदेश का पालन करने की चेष्टा करूँगा।''

संसार की दृष्टि में मैं चाहे जो भी रहा होऊँ, पर मेरी माँ की ममता मुझे सदा एक ऐसे शिशु के रूप में देखती रही, जिसे आज भी अँगुली के सहारे की आवश्यकता थी।

□

जब हम द्वारका के ईशान द्वार की ओर पहुँचे तब आहुति को मैंने प्रतीक्षारत पाया।

''क्या तुम्हारे स्वामी आ गए?''

''नहीं, महाराज, अभी तक तो वे नहीं आए।'' उसने कहा, ''जहाँ-जहाँ उनके होने की संभावना थी, वहाँ से भी चर लौट आए हैं; पर उनका कहीं पता नहीं चला।''

मेरे मन में आशंकाओं ने पुन: जोर मारा। फिर भी मैं सहज बना ही रहा। मैंने सोचा कि यदि मैंने जरा भी व्यग्रता की तो अन्य लोग और भी घबरा जाएँगे। मैंने बड़े सामान्य भाव से कहा, ''कोई बात नहीं, सात्यकि कहीं गया होगा, लौटता ही होगा।''

''किंतु अत्र भवान्, मुहूर्त अब निकट ही है। आशीर्वाद देने और स्वस्तिवाचन करनेवाले ब्राह्मण भी आ गए हैं। उनका कहना है कि सूर्योदय आपके राज्य की सीमा के बाहर ही होना चाहिए।''

''ऐसा ही होगा।'' मैंने सांत्वना दी—''पर अभी तो सूर्योदय होने में घड़ी भर से भी अधिक है।''

तब तक सत्यक मेरे पास आया। बड़ी व्यग्रता में बोला, ''लगता है, मेरे पुत्र का अपहरण हुआ है। वह किसी गंभीर संकट में है।''

मेरे अधर पर मुसकराहट रेंग गई—''आप घबराएँ नहीं। संकट की अग्नि में तपकर ही व्यक्तित्व कंचन-सा चमकता है। फिर चिंता वह करे, जिसे एक ही पुत्र हो।''

''पर मुझे तो एक ही पुत्र है।''

''क्यों, हम लोग नहीं हैं क्या?'' मैंने हँसते हुए कहा। बूढ़े की व्यग्रता मेरी

हँसी में उलझ गई। उसकी मुद्रा और घबराहट से यह तो निश्चित हो गया था कि इस षड्यंत्र में उसका हाथ नहीं है। फिर भी उसकी उपस्थिति मुझे भारी पड़ रही थी। मैं नहीं चाहता था कि मेरी परेशानी और प्रयत्न का किसीको आभास लगे। मैंने उससे बस इतना ही पूछा, "आप यह बताइए कि सात्यकि अपने आवास से अंतिम बार कब निकला था?"

"मध्य रात्रि के आसपास।"

"और किधर गया था?"

"कहकर तो वह यही गया था कि अश्वशाला की ओर जा रहा हूँ।" आहुति से मिली सूचना का ही उसने समर्थन किया। मैंने वहाँ से उसे हटाते हुए कहा, "आप चुपचाप आवास में चलकर विश्राम करें। घड़ी भर में सबकुछ ठीक हो जाएगा।" इतना कहकर मैंने ससम्मान उसका हाथ पकड़ा और उसे उसके रथ पर किसी प्रकार बैठा दिया। सारथि से संकेत किया कि वह उसे सीधे आवास पर पहुँचा दे।

फिर मैंने अश्वशाला की ओर चलने की इच्छा व्यक्त की। पर अश्वशालाधीक्षक तो वहीं था। मैं उसे पहचानता नहीं था। आहुति ने उसका परिचय दिया। मुझे जो उससे जानकारी मिली, उसका सारांश बस इतना ही था कि वे ऐसे स्वस्थ और सबल अश्वों को घड़ी भर में ही तैयार चाहते थे, जो लंबी यात्रा में उनका साथ दे सकें।

"तो क्या वे सभी अश्व तैयार हैं?"

"जी हाँ, उन्हें तैयार कर अश्वारोहियों को दे दिया गया है।"

"अच्छा, यह बताइए कि सात्यकि जब आपके यहाँ से चलने लगा तब उसके साथ कोई था?"

"कोई दिखाई तो नहीं दिया।"

"आप उन्हें पहुँचाने तो कुछ दूर तक आए होंगे, कहीं कोई दिखाई दिया?"

"द्वार तक आते-आते उन्होंने मुझे रोक दिया था। बोले कि तुम क्यों समय बरबाद करते हो! जाओ, मेरे आदेश का पालन करो।"

"इसके बाद आप लौट गए?"

"जी हाँ।" उसने बताया—"कुछ दूर तक मैं उन्हें जाता हुआ देख भी रहा था।"

"तो जहाँ तक आपने उन्हें जाते हुए देखा है, वहाँ तक तो मुझे ले चल सकते हैं?"

"अवश्य।" और वह मुझे पैदल ही ले चला। मेरे साथ और लोग भी थे।

मैंने अनेक बार कहा है कि नियति मेरे साथ सदय रही है। उसने हर अंधकार में मुझे एक-न-एक किरण थमा दी है। जन्म से ही अंधकार मेरे पीछे पड़ा है या मैं

अंधकार के पीछे पड़ा हूँ—पर अभी तक वह मुझसे पराजित ही हुआ है। इस बार भी कुछ ऐसा ही हुआ।

मैं आगे बढ़ा चला जा रहा था। मेरी गति तेज थी। मेरे साथी मुझसे पीछे रह गए थे। कुछ और आगे बढ़ने पर मार्ग तीन ओर को फूटता था। मैं कुछ क्षणों के लिए रुका। अचानक किसीकी आवाज सुनाई पड़ी कि बाएँ चलो। मैंने चारों ओर देखा, कहीं कोई नहीं था। निश्चित ही यह मेरा अवचेतन ही बोला था। मैं बाईं ओर मुड़ा। कुछ ही डग आगे बढ़ा होऊँगा कि धूल में पड़ी एक किरण चमक उठी और उसीके सहारे मुझे अगली राह दिखाई देने लगी। अपनी इस सफलता पर मैं प्रसन्न था। तब तक पीछे के लोग भी आ गए थे।

मैंने रक्ताक्ष को वह चमक दिखाई। उसने उसे धरती से उठाया।

''अरे, यह तो केयूर है!'' उसके मुख से निकला। वह चमक इसमें जड़े रत्नों से निकल रही थी।

पहले आहुति ने पहचाना—''यह तो मेरे स्वामी का है।''

मैंने भी देखा। सात्यकि उसे अपनी दाईं भुजा में पहनता था। लगभग सभी लोग उसे पहचानते थे।

अब मुझे यह समझते देर नहीं लगी कि अवश्य ही सात्यकि का अपहरण हुआ है। मैंने अनुमान लगाया कि यहाँ कई लोगों से उसका संघर्ष हुआ होगा और उसीमें यह केयूर उसकी बाँह से टूटकर गिर गया है। पर सात्यकि का व्यक्तित्व भी साधारण नहीं है। उसके पास अस्त्र नहीं है तो क्या हुआ, वह मल्लयुद्ध में प्रवीण है। दो-चार लोग तो उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकते। अवश्य ही इस संघर्ष में एक बड़ा समूह रहा होगा। यह पूर्व निश्चित किसी दुष्चक्र का परिणाम है।

''यह मार्ग किधर जाता है?''

''रैवतक पर्वत की ओर।'' आहुति बोला।

रैवतक पर्वत का नाम सुनते ही मेरी आशंका भभक पड़ी। मेरी कल्पना में रैवतक पर्वत पर बना सत्राजित् का विशाल दुर्ग अट्टहास करते हुए मुझसे कहता जान पड़ा कि तुम्हारा मित्र तो मेरे गर्भ में है। अब सात्यकि का प्रयाण निश्चित मुहूर्त पर कैसे होगा?

मुझे लगा, मेरी सारी योजना धूल-धूसरित हो रही है। मेरा सारा अहं धरती पर गिरकर छटपटाने लगा है।

''प्रयाण होगा, अवश्य होगा। मुहूर्त पर ही होगा।'' मैं बड़बड़ाया।

शायद ही कभी मैं इतना विचलित हुआ होऊँ। मैंने सदा अपनी व्यग्रता मुसकराहट के नीचे छिपाई है। पर इस समय मैं आपे से बाहर था। लोगों को भी आश्चर्य हुआ।

गद ने तुरंत टोका—''क्या बात है ?''

''कुछ नहीं।'' मैंने कहा और गद को आदेश दिया—''तुम आहुति के साथ जाओ और इसी समय सात्यकि की सैन्य शक्ति के साथ प्रयाण करो।''

''पर मुझे किधर जाना होगा ? क्या करना होगा ? मेरे पास कोई योजना नहीं है।'' गद बोला।

''आहुति तुम्हारा निर्देशन करेगा। सात्यकि ने सारी योजना उसे बताई होगी।'' मैंने कहा।

आहुति ने भी सिर हिलाकर समर्थन किया।

''किंतु...''

गद कुछ कहने ही वाला था कि मैं बीच ही में बोल उठा—''किंतु-परंतु का अब अवसर नहीं है, गद। हमारे पास समय बहुत कम है। अभी ब्राह्मणों को स्वस्तिवाचन भी करना है।'' मैं बोलता जा रहा था—''प्रयाण का नेतृत्व तो मैं ही करता। रुक्मिणी और रेवती भाभी से कहकर आया हूँ। पर यदि मैं चला जाऊँगा तो सात्यकि के संकट का निवारण कौन करेगा ? फिर मैं संप्रति द्वारका को छोड़ने की स्थिति में भी नहीं हूँ। अभी वह झंझा में हिलते हुए जलयान की तरह है। जब तक मैं लंगर न डाल लूँ, उसे अरक्षित छोड़ नहीं सकता। वह भी ऐसी स्थिति में, जब सात्यकि जैसा योद्धा भी रक्षित नहीं है।''

गद आहुति के रथ पर बैठ तो गया, पर इतना गुरुतर कार्यभार उठाने के लिए उसकी कोई तैयारी नहीं थी। अपने निजी अस्त्र लेना तो दूर, उसकी मानसिकता भी प्रयाण के लिए बन नहीं पाई थी। एक अप्रत्याशित और असंभावित समस्या उसके सामने थी।

इसे मैं समझता था। चलते-चलते मैंने उससे कहा, ''तुम चलो। ब्राह्मणों से आशीर्वाद लेकर मुहूर्त पर प्रयाण करो। गति इतनी तीव्र रखना कि मेरे राज्य की सीमा से बाहर निकलकर ही उगते हुए सूर्य को प्रणाम करना।'' मैंने सांत्वना देते हुए कहा, ''घबराना मत, पहले ही पंथागार में ठहरकर मेरी प्रतीक्षा करना।''

गद अब तनावमुक्त था। उसने मेरे आदेश की स्वीकृति में सिर हिलाया। मैं रैवतक पर्वत की ओर बढ़ा। अब मेरे साथ रक्ताक्ष और श्वेतकेतु ही थे।

पर्वत पाद तक मेरा रथ धड़धड़ाता हुआ बढ़ता चला। पर इसके बाद तो पर्वत की चढ़ाई थी। मार्ग भी नहीं था। केवल पगडंडी से आगे बढ़ना था। हम लोगों ने वही किया। अंत में जहाँ पगडंडी समाप्त होती थी वहाँ दो शिविकाएँ रखी थीं और निकट ही कुछ व्यक्ति सो रहे थे। निश्चित ही वे शिविकावाहक थे।

मैं रथ से उतरकर सीधे उनके पास पहुँचा। उनके खर्राटे नींद की गहराई का

स्पष्ट आभास दे रहे थे। मैंने उनमें से एक वयोवृद्ध को हिलाया। वह बिना मेरी ओर देखे नींद में बड़बड़ाया—"मैं नहीं जाऊँगा, भाई! व्यर्थ परेशान मत करो। आखिर मैं भी मनुष्य हूँ। अभी-अभी तो लौटा हूँ।"

"कहाँ से लौटे हो?"

"रैवतक के दुर्ग से।" उसने कहा और करवट बदल ली। एक बार फिर मेरी आशंका सजीव हो मेरे सामने खड़ी हो गई।

वह व्यक्ति अब भी बड़बड़ाता रहा—"वे दुष्ट ऐसे थे कि श्रम तो पूरा कराया, पर पारिश्रमिक पूरा नहीं दिया।"

"मैं बिना श्रम कराए पारिश्रमिक दूँगा।" मैंने कहा और बूढ़ा तुरंत खड़ा हो गया। उसने नींद को जैसे झाड़कर फेंक दिया हो। वह आँखें मलते हुए बड़े ध्यान से मुझे देखने लगा। उसने पहचाना और अनुभव किया कि एक सपना उसके सामने खड़ा है।

"अरे द्वारकाधीश, आप!" अब मैं उसकी पहचान में पूरा-पूरा आया। बूढ़ा एकदम मेरे चरणों पर गिर पड़ा। मैंने उसे उठाया। वह फिर मुझे बड़े गौर से देखने लगा। इस बार उसकी अनुभवी आँखों ने मेरे सारे व्यक्तित्व को टटोला और बोला, "लगता है, आप बहुत घबराए हुए हैं।"

"क्यों?" मैंने मुसकराते हुए पूछा।

"क्योंकि वंशी इस समय कहीं नहीं दिखती। कन्हैया हो और वंशी न हो! ऐसा अधूरा कन्हैया किसी व्यग्रता या शीघ्रता में ही आ सकता है; जैसे आप गज की पुकार पर पदत्राण छोड़कर दौड़े थे।"

मैं उसकी बातें सुनकर हँसता रहा। सोचा, उसकी मानसिकता मेरी हँसी में डूब जाएगी; पर वह मेरी माया से दूर ही रहा—"मैं आपको बिना पारिश्रमिक के पहुँचाऊँगा; जैसे केवट ने राम को गंगा पार उतारा था।"

मैंने देखा, अनेक पौराणिक प्रसंगों से समृद्ध उसका ज्ञान दुर्बल नहीं था। मैंने उसे समझाया—"मार्ग दुर्गम है, तुम्हारी शिविका से तेज तो पगों की गति होगी।"

"सो तो ठीक है।" बूढ़ा बोला, "आपको जाना कहाँ है?"

"जहाँ अभी तुम शिविका लेकर गए थे।"

"हम लोग तो सत्राजित् के दुर्ग के कारागृह की ओर गए थे।"

"कारागृह की ओर? किसे लेकर?"

"यह तो मैं नहीं जानता।" बूढ़ा बोला।

"तुम ले गए थे और तुम ही नहीं जानते!" मैंने शंका की।

"यही तो मैं समझ नहीं पाया कि ऐसा क्यों हुआ?" बूढ़े ने कहा, "वह जिस

व्यक्ति को मेरी शिविका में ले गए थे, वह चारों ओर से कपड़े में बँधा था। शायद उसके मुँह में भी कपड़ा ठूँसा था। एकदम शव जैसा था। पर वह शव नहीं था। उसमें आक्रोश की शक्ति थी। क्रोध से फड़कते उसके नासापुटों का आभास वस्त्रों के ऊपर से भी लग रहा था। उसकी दिखाई पड़ती बलिष्ठ भुजाएँ अब भी बंधन तोड़ने का प्रयत्न कर रही थीं। सुना है, जिधर से यह रास्ता मुड़ता है वहीं उसने जमकर मल्ल-युद्ध किया था और वहीं लोगों ने बाँधकर उसकी वह गति बना दी थी।''

''कितने लोग थे उसके साथ?''

''अँधेरे में मैं उन्हें ठीक-ठीक देख तो नहीं पाया; पर सोचता हूँ, शताधिक लोग रहे होंगे।''

''तब तो अच्छा-खासा कोलाहल हो गया होगा!'' मैंने कहा। अब मेरे पास कुछ पूछने को रह नहीं गया था। समय तेजी से निकलता जा रहा था। दूर खड़े मेरे मित्र मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे।

मैं उस बूढ़े को धन्यवाद करते हुए जब बिदा हुआ, तब उसने कहा, ''यदि शीघ्र पैदल पहुँचना है तो आप इधर से मत जाइए। दक्षिण की ओर से पहाड़ी पर चढ़िए। मार्ग अधिक दुर्गम भी नहीं है और संक्षिप्त भी।''

हमने वैसा ही किया। पहाड़ी पर तेजी से कुलाँचें मारते आगे बढ़े। वस्तुतः उदित होनेवाले सूर्य के रथ की गड़गड़ाहट मुझे सुनाई पड़ने लगी थी और वही हमें दौड़ाए लिये जा रही थी।

हम आगे बढ़ते जा रहे थे। दूर शिखर से ढुलकती हुई कुछ मशालें हमें दिखाई दीं। स्पष्ट लगा, कुछ लोग पहाड़ी से नीचे उतर रहे हैं और उनका रास्ता भी यही है।

मेरा हाथ कटि में बँधे दोनों चक्रों पर गया। मैंने अपने धनुष की प्रत्यंचा भी चढ़ा ली। मेरी इस गतिविधि से मेरे मित्र भी सजग हुए। हम आगे बढ़ते रहे मशालें हमारी ओर बढ़ती रहीं।

कुछ ही देर बाद हम एक-दूसरे के काफी निकट थे। अचानक हमें अनुभव हुआ कि मशालें पीछे लौटने लगीं। शायद उन्हें हमारे आगे बढ़ने का आभास लग गया।...और फिर एक के बाद एक शिखर के पीछे मशालें डूबने लगीं। स्पष्ट था कि आनेवाले लोगों ने या तो मार्ग बदल दिया या गंतव्य से पीछे हट गए।

फिर भी हम बढ़ते गए। थोड़ी देर बाद हमने देखा, एक व्यक्ति की छाया पहाड़ी से ढुलकती हुई हमारे पास चली आ रही है।

धीरे-धीरे यह छाया स्पष्ट होती हुई सात्यकि में बदलने लगी। यह मेरा मानसिक प्रक्षेपण तो नहीं है; क्योंकि मन में सात्यकि ही था, इसलिए मनुष्य की कोई भी छाया मुझे सात्यकि का भान करा सकती है।

हम आगे बढ़ते गए। यह ऊहापोहात्मक मन:स्थिति शीघ्र ही समाप्त हुई; क्योंकि वह छाया काफी स्पष्ट हो चुकी थी। वह सात्यकि ही था।

मुझे देखते ही उसकी पहली प्रतिक्रिया आश्चर्य और कुतूहल से भरी थी—"अरे, आप क्यों चले आ रहे हैं?"

"तुम्हारा केयूर देने।" मैंने बड़े सहजभाव से मुसकराते हुए कहा और उसे केयूर थमाया।

वह चकित था। उसने अपनी भुजाओं की ओर देखा। वे खाली थीं। केयूर कब गिरा, कहाँ गिरा, उसे कुछ पता नहीं।

"यह आपको कहाँ मिला?" उसने पूछा।

"यह सब बाद में जानना, पहले यथाशीघ्र मेरे साथ चलो। तुम्हें अपने प्रयाण का मुहूर्त तो याद है?"

"हाँ, याद है। उसी मुहूर्त को तो मैं बार-बार स्मरण करता रहा। शायद उसीने मुझे इस कारागार से मुक्ति दिलाई।" इसके बाद उसने जो कथा सुनाई, वह अत्यंत रहस्यमय और चौंकानेवाली थी।

हम अपनी तीव्रतम गति से पहाड़ी से ढुलकते हुए उतर रहे थे। पूर्व के आकाश पर अरुणिमा उगने लगी थी।

शीघ्र ही हम समतल पर आ गए और अपने रथ पर चढ़ने लगे।

"आप बड़ी जल्दी लौट आए।"

मैंने मुड़कर देखा। रथ से थोड़ी दूरी पर वह शिविकावाहक वृद्ध खड़ा था।

"हमें गंतव्य तक पहुँचने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। बीच से ही लौटकर आ रहा हूँ।" मैंने कहा और हम तुरंत रथ पर चढ़कर चल पड़े; क्योंकि और अधिक कहनें-सुनने की स्थिति में हम नहीं थे।

यह सब इतनी शीघ्रता में हुआ कि मुहूर्त अब हमसे आगे था और हम उसके पीछे दौड़ रहे थे।

जब हम पहुँचे तब तक गद का प्रयाण आरंभ होने वाला था। ब्राह्मणों द्वारा आशीर्वाद के वैदिक मंत्रों का पाठ अपने अंतिम चरण में था। मेरे साथ सात्यकि को देखते ही सबके चेहरे खिल गए। पूरे वातावरण में उल्लास का जैसे विस्फोट हो गया। मैंने सत्यक से कहा, "लीजिए, आपका बेटा आपकी सेवा में उपस्थित है।"

"मेरी सेवा में क्या," सत्यक की ध्वनि अब भी टेढ़ी थी—"तुम्हारी सेवा में था और तुम्हारी सेवा में ही जा रहा है।"

मेरे प्रति सत्यक की तिक्तता का लोगों ने अनुभव किया। पर इसका अपने ऊपर मैंने कोई प्रभाव होने नहीं दिया। मैंने मुसकराते हुए ही अपनी सहज मुद्रा में कहा,

''मेरी सेवा में नहीं वरन् आर्यावर्त्त की सेवा में जा रहा है, समाज की सेवा में जा रहा है; और यदि आप समाज की सेवा में ही मेरी सेवा देखते हैं तब वह मेरी ही सेवा में जा रहा है।''

''समाजसेवा में जा रहा है।'' सत्यक कुछ सोचने लगा। फिर कहा, ''क्या वह पांचाली के स्वयंवर में नहीं जाएगा? उसकी स्पर्धा में भाग नहीं लेगा?''

''जाएगा तो अवश्य, पर स्पर्धा में भाग लेगा या न लेगा, यह उस समय की परिस्थिति पर निर्भर करता है।'' इतना कहते-कहते मैं झट से प्रणम्य भाव से उसके चरणों की ओर झुका और चलने को हुआ; क्योंकि मैं उससे अधिक बात करने की स्थिति में नहीं था।

फिर भी चलते-चलते सत्यक ने पूछ ही दिया—''तुमने यह तो बताया नहीं कि तुम्हारा मित्र तुम्हें कहाँ मिला?''

''मुझे तो मार्ग में ही मिला।'' मेरी मुसकराहट ने रहस्य को और भी गहरा बना दिया। ''इससे अधिक आपको आपके मित्र सत्राजित् ही बता सकते हैं।'' इतना कहते-कहते मेरा रथ चल पड़ा था। सत्यक का रहस्य रहस्य ही रह गया।

सात्यकि ने बड़ी शीघ्रता की। इधर हम लोग बातों में उलझे रहे और वह उधर अपनी योजनानुसार प्रयाण पर निकल गया।

□

मैं बड़ी तेजी से अपने प्रासाद की ओर लौट रहा था। सूर्योदय हो गया था। मंदिरों में प्रार्थनाएँ चल रही थीं। मुझे दूर से ही सामने से आता हुआ भैया का रथ दिखाई दिया और उसके पीछे द्वारका की सशक्त सेना भी।

हल को कंधे पर रखे भैया की आकृति से खून टपक रहा था। भैया के मन की सहजता अपने आवेश को छिपा नहीं पाती थी। स्पष्ट लगा कि इस समय भैया बड़े क्रोध में हैं। मुझे देखते ही वे बोल पड़े—''तुम लौट क्यों रहे हो?''

''क्योंकि काम हो गया।'' मैंने उन्हें शांत करते हुए कहा, ''आप व्यग्र न हों, कोई बहुत बड़ी बात नहीं थी।''

उनका दूसरा प्रश्न था—''सात्यकि मिला?''

''हाँ, वह मिला भी और प्रयाण पर गया भी।''

''उसका यह साहस कि उसने तुम्हारी अवहेलना की! उसे तुमने अच्छी तरह प्रताड़ित किया या नहीं?''

''उसका कोई दोष ही नहीं था तो मैं प्रताड़ित क्या करता!'' मैंने कहा और बताया—''वह बड़े संकट में पड़ गया था।''

''कौन था उसे संकट में डालनेवाला?'' वह पुनः आवेश में आए—''बताओ,

मैं अभी उसे पाठ पढ़ाता हूँ!''

''होगा आपका कोई मित्र ही। आप शांत होइए। चलिए, सारी बातें स्पष्ट हो जाएँगी।'' मैंने कहा।

फिर भी उनकी जिज्ञासा शांत होनेवाली नहीं थी। उन्होंने मुझे अपने रथ पर बैठा लिया। हम लोग प्रासाद की ओर चले जा रहे थे। इतनी प्रसन्नता और उल्लास में मानो किसी बड़ी विजय से लौट रहे हों। जनता भी इसी भावना से बड़े हर्ष और उत्साह से हमारा स्वागत कर रही थी।

पर भैया से रहा नहीं जा रहा था। वे वास्तविकता से परिचित होने के लिए व्याकुल थे। पहले मैंने अपनी स्थिति बताई। आज ब्राह्म मुहूर्त के पूर्व ही जब आहुति प्रासाद पर आया था तब से सात्यकि के मिलने तक की अपनी मानसिकता और उस आतंकित वातावरण का मैंने विस्तार से वर्णन किया।

''सात्यकि जब मिला तब उसने कुछ बताया नहीं?'' भैया की जिज्ञासा तुरंत अगले सोपान पर कूद पड़ी।

''बताया तो था, पर हम उस समय लौटने की शीघ्रता में थे। पहाड़ी से ढुलकते हुए कभी-कभी उसकी और मेरी दूरी भी श्रवण परिधि से दूर हो जा रही थी। इसलिए जो कुछ सात्यकि से सुना है, वह आधा-अधूरा और असंबद्ध है।''

मैंने कह तो दिया, पर भैया की जिज्ञासा इससे शांत होनेवाली कहाँ थी। फिर मैंने अपनी जानकारी का क्रम ठीक करके उन्हें सारी घटना सुनाई।

मैंने कहा, ''सात्यकि मध्य रात्रि के कुछ बाद ही अपने अश्वशालाधीक्षक से मिला था। उसे यथाशीघ्र स्वस्थ अश्वों को तैयार कर उन्हें अश्वारोहियों को सौंपने का आदेश देकर लौट रहा था। उस समय वह निहत्था था। किसी आक्रमण की उसे आशंका भी नहीं थी कि अचानक पीछे से कुछ व्यक्तियों ने उसे धर दबोचा। सात्यकि ने भी अच्छा प्रतिरोध किया। पर वह कर ही क्या सकता था! आक्रामकों की संख्या बहुत अधिक थी।''

''किसीको तो उनमें से पहचाना होगा?'' भैया बोले।

''सात्यकि का कहना था कि वह किसीको पहचान न सका, क्योंकि सभी अपना मुख उत्तरीय से ढके थे।'' मैंने बताया—''पहले तो सात्यकि ने अच्छा मल्लयुद्ध किया। एक बार तो उसे ऐसा भी लगा कि वह सबको परास्त कर निकल भागने में सफल हो जाएगा। तब तक एक दूसरा गिरोह भी आ गया। अब वह असहाय हो गया। उसे धराशायी कर शत्रुओं ने उसके मुँह में कपड़े ठूँस दिए।''

''कपड़े ठूँस दिए!'' भैया का आश्चर्य आक्रोश में तपने लगा।

''इसलिए कि वह चिल्ला न सके।'' मैंने कहा, ''इसके बाद उसे रज्जु से

बाँधकर उसके पूरे शरीर पर कपड़ा लपेट दिया गया। इसलिए कि यदि कोई आ भी जाए तो सात्यकि को पहचान न सके।''

''बड़े नीच थे वे!'' भैया बोले, ''यदि ऐसी स्थिति थी तो वे सात्यकि का वध कर सकते थे।''

''पर वध करना उनका उद्देश्य नहीं था।''

''तो क्या था उनका उद्देश्य?''

''उसे पकड़कर ले जाना—और ऐसे ले जाना कि उसे आभास भी न हो सके कि वह कहाँ ले जाया जा रहा है।'' मैंने कहा, ''ऐसा ही किया उन लोगों ने। उसे बाँधकर उठा ले गए और पहाड़ी चढ़ते समय एक शिविका में रख दिया।

''सात्यकि ने बताया कि उसे ले जाकर एक ऐसे कक्ष में डाल दिया गया, जहाँ निविड़ अंधकार था। जिसकी दीवारें कारा की दीवारों से भी अधिक कठोर थीं। सीलन, अंधकार और अनिश्चितता से भरा वह स्थान काल कोठरी जैसा था। एक कोने में एक छिद्र था, जिसमें देखने से लगता था कि एक विशाल आकाश उसके ऊपर है। उसमें से झाँकता दिखाई पड़नेवाला मात्र एक नक्षत्र उसकी इस स्थिति पर रो रहा था।''

''पर यह तो बताओ कि यह सब किया किसने?'' भैया की व्यग्रता चरम पर थी।

''वह भी बताऊँगा, पर सब सुना लेने के बाद; क्योंकि मैं आपको दु:खी करना नहीं चाहता।'' मैंने फिर उन्हें रहस्य में उलझाया और कथा आगे बढ़ाई—''सात्यकि ने बताया—'थोड़ी देर बाद ही उस कोठरी के अंधकार में मेरी दृष्टि कुछ व्यवस्थित हुई। कक्ष का कुछ आभास मिलने लगा। मुझे लगा कि यह छोटा कक्ष नहीं है। मैं धीरे-धीरे दीवार के सहारे आगे बढ़ने लगा। कुछ ही आगे बढ़ने पर एक सीढ़ी का अनुमान हुआ। पहले मैंने उसे हाथों से टटोला। वह इतनी ऊबड़-खाबड़ और कठोर लगी जैसे सदियों से पड़ी-पड़ी पथरा गई हो। फिर मैंने उस सीढ़ी पर धीरे-धीरे टटोलते हुए चढ़ना आरंभ किया। ऊपर पहुँचकर मुझे एक बंद द्वार मिला। मैं वहीं बैठ गया। उसके झरोखे से ताजा हवा आ रही थी। मेरी घुटन को शांति मिली। मैंने उस झरोखे से देखा, बाहर दूर पर खड़े कुछ लोगों का आभास लगा।'

''सात्यकि बताता गया—'मैं चुपचाप बैठा रहा; पर भीतर-ही-भीतर घबरा रहा था कि मुझे प्रयाणस्थल पर न पाकर लोग व्यग्र हो रहे होंगे। मुहूर्त भी निकट आ रहा था। और फिर यह योजना असफल हो गई तो कन्हैया क्या सोचेंगे! मैं भगवान् से प्रार्थना कर रहा था और इससे अधिक मैं उस समय कुछ कर भी नहीं सकता था। उसी क्षण अचानक मुझे एक रथ की घड़घड़ाहट सुनाई पड़ी। वह

आवाज धीरे-धीरे बढ़ती गई। मुझे यह समझते देर नहीं लगी कि रथ इधर ही आ रहा है। हो सकता है कि जिन लोगों ने मुझे बंदी बनाया है, उनका सरदार मेरे जीवन का अंतिम क्षण बनकर आ रहा हो।'

''सात्यकि का कहना था—'अनेक भयावह आशंकाओं से मैं घिर गया था। अचानक वह रथ इस द्वार की कुछ ही दूरी पर रुका। कुछ लोग उसपर से उतरे। विचित्र खड़खड़ाहट हुई।'

''इसके बाद सात्यकि ने जो कुछ बताया वह अप्रत्याशित था। उसे एक नारी स्वर सुनाई पड़ा—'पिताजी, आपने उचित नहीं किया। कदाचित् इसके दूरगामी परिणाम बड़े भयंकर हों।'

'' 'मैं जो ठीक समझता हूँ, उसे करता हूँ। उसका परिणाम चाहे जो भी हो।' एक गरजता हुआ पुरुष स्वर सुनाई पड़ा—'मुझे उससे तुम्हारा विवाह करना है।'

'' 'और उसे बंदी बनाकर! जिसे मेरा प्रेम बंदी न कर सका, उसे आपके व्यक्तियों ने बंदी बनाया। शायद वे समझते हैं कि दो व्यक्तियों का बलात् मिलन भी विवाह की संज्ञा पा सकता है; पर ऐसा संभव नहीं है। विवाह दो आत्माओं का, दो मनों का स्वाभाविक और स्वत: मिलन है।' नारी स्वर ने और दृढ़ता पकड़ी—'आप भले ही उससे मेरा विवाह करना चाहते हों; पर मैं उस व्यक्ति से कभी विवाह नहीं कर सकती, जो मुझसे विवाह नहीं करना चाहता।'

''एक अपूर्व सन्नाटा छा गया। सात्यकि ने उस झरोखे से झाँककर देखा। अंधकार में लिपटी बहुत सारी छायाएँ मौन खड़ी थीं।

'' 'तो यह तुम्हारा अंतिम निर्णय है?' वह पुरुष स्वर पुन: सुनाई पड़ा।

'' 'पहला होते हुए भी अंतिम।'

'' 'तब तो उस व्यक्ति का अंत करना ही अब मेरे लिए उचित होगा।'

'' 'क्यों? कितना विचित्र है कि जिस व्यक्ति को आप अभी अपना जामाता बना रहे थे, उसे काल को सौंपने का आप ही निश्चय कर रहे हैं!'

'' 'राजनीति की निष्ठुरता एक नारी कभी समझ नहीं सकती।'

'' 'और नारी मन की कोमलता तक आपकी निष्ठुर राजनीति कभी पहुँच नहीं सकती।'

''सात्यकि ने बताया कि उस नारी के इस प्रभावशाली उत्तर के बाद ऐसी नीरवता छाई कि लगा, सन्नाटा भी स्तब्ध रह गया।

''कुछ क्षणों तक सात्यकि की मानसिकता अँधेरे को टटोलती और सन्नाटे को पीती रही। अचानक पुरुष स्वर फिर बरसा—'मैं चाहता तो था कि कन्हैया का प्रयाण भी विफल होता और तेरा विवाह भी हो जाता। अब जब तू ही नहीं चाहती

तो वह मुक्त किया जाता है।'

"सात्यकि के अनुसार, इसके बाद रथ घड़घड़ाता हुआ चला गया और उस कक्ष का द्वार खुला। सात्यकि की घबराहट अब शांत थी। उसके जीवन दीप की लौ स्थिर हो चुकी थी।

" 'आप मुक्त किए जाते हैं।' द्वार पर खड़े व्यक्तियों में से एक ने कहा। सात्यकि बाहर निकलने लगा। मुक्त आकाश स्पष्ट दिखाई दिया। दूर पर कई मशालें जल रही थीं। वहाँ खड़े व्यक्तियों की आकृतियाँ अब भी उत्तरीय में छिपी थीं।'

"सात्यकि ने बताया कि उसको बाहर निकलने से रोका गया और उसकी आँखों पर पट्टी बाँधी गई। फिर वे लोग उसे जहाँ से लाए थे वहाँ पहुँचाने चल पड़े।"

यह कथा सुनते-सुनाते हमारा रथ भी द्वारका के प्रासाद तक पहुँच चुका था। धूप प्रासाद शिखर को स्वर्णिम कर रही थी। लोग एकत्र हो गए थे। हमें लौटा हुआ देखकर सबकी आकृतियों पर जिज्ञासा मुसकराने लगी थी। पर अभी तो मैं भैया की जिज्ञासा ही शांत नहीं कर पाया था।

"पर मैं यह नहीं समझ पाया कि वह नारी कौन थी!" भैया बोले।

"सत्यभामा के अतिरिक्त वह और कौन हो सकती है!" मैंने मुसकराते हुए कहा, "और वह पुरुष था उसका पिता सत्राजित्।"

□

नौ
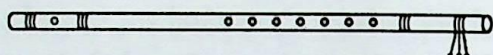
सात्यकि के चले जाने के पंद्रहवें दिन मेरे प्रयाण का मुहूर्त था।

ग्रह-नक्षत्रों की चाल से अपनी चाल मिलाते हुए समय का यह अंतराल इसलिए भी रखा गया था कि अभी तक मुझे छंदक और उद्धव का कोई समाचार नहीं मिला था। सोचता था, इस बीच कोई-न-कोई सूचना तो मिलेगी ही; पर सूचना की कौन कहे, उनके अस्तित्व का आभास तक नहीं मिल पाया। हम सभी चिंतित थे। देवभाग चाचा ने तो अपने पुत्र उद्धव के लिए अनेक बार जिज्ञासा की; पर हम उन्हें सांत्वना भर देते रहे। यह तो कहिए कि कंसा द्वारका में नहीं थी। वह अपने द्वितीय पुत्र बृहद्‌बल के साथ सत्ता से चिपकी हुई मथुरा को भोग रही थी। यदि वह यहाँ होती तो आसमान सिर पर उठा लेती। सबसे कहती फिरती कि इन लोगों ने मेरे पुत्र उद्धव को किसी संकट में डाल दिया है। उसका कहीं अता-पता नहीं है।

दूसरी ओर द्वारका भी अभी निरापद हो नहीं पाई थी। विदेशी कर्मचारियों के पलायन के बाद भी अभी एक-चौथाई तो द्वारका में थे ही। वे प्रतिदिन कोई-न-कोई कुचक्र रचते रहते थे। आज भी ऐसी ही एक घटना घटी। सवेरे-सवेरे एक प्रतिहारी दौड़ा हुआ आया। उसने सूचना दी कि समाहर्ता के कार्यालय में रात को आग लग गई।

''तब तो बहुत से अभिलेख जल गए होंगे ?''

''इसकी जानकारी तो मुझे नहीं है; पर यह पता चला है कि अग्नि पर शीघ्र ही नियंत्रण पा लिया गया था।'' उसने कहा।

मैं दौड़ा हुआ भैया के पास गया। उनसे सारी स्थिति बताई और कहा, ''आप तुरंत आदेश दें कि समाहर्ता का कार्यालय घेर लिया जाए और किसीको उसमें आने-जाने न दिया जाए।''

''यह आदेश तो तुम भी दे सकते हो।'' भैया बोले।

''दे तो सकता हूँ, पर मैं देना नहीं चाहता।'' मैंने कहा, ''लोगों में यह विश्वास भरता जा रहा है कि सारी खुराफात की जड़ मैं हूँ। नीति कहती है कि मैं चाहे

निर्लिप्त रहूँ या न रहूँ, पर मैं लोगों को निर्लिप्त दिखाई अवश्य पड़ूँ। दूसरी बात यह है कि मुझे परसों ही यहाँ से प्रयाण करना है। ऐसे में मैं अपने आदेश का अनुसरण न कर पाऊँगा। मैं यह भी न देख पाऊँगा कि मेरे आदेश का पालन किस सीमा तक होता है और लोगों की इसपर प्रतिक्रिया क्या है!''

रेवती भाभी ने मेरे विचार का समर्थन किया। पर भैया का कहना था—''मैं भी तो तुम्हारे साथ ही चलूँगा। आर्यावर्त्त की वर्तमान स्थिति में मैं तुम्हें अकेला नहीं छोड़ सकता।''

''किंतु द्वारका को भी अकेला छोड़ना उचित नहीं है। मुझमें और आपमें से किसी एक को तो यहाँ कुछ दिनों के लिए रहना ही पड़ेगा।''

''तब हम दोनों रहेंगे।''

''मैं भी यही चाहता था,'' मैंने कहा, ''किंतु परिस्थितियों से विवश हूँ। मेरे मस्तिष्क पर छंदक और उद्धव छाए हैं। आखिर उनका क्या हुआ? छंदक की तो मुझे उतनी चिंता नहीं है, पर उद्धव को तो मैंने सिंह की माँद में अकेला भेज दिया है।''

क्षण भर के लिए स्तब्धता छा गई। भैया भी सोचने लगे। फिर बोले, ''क्या मैं तुम्हें सिंह की माँद में जाने के लिए अकेला छोड़ दूँ?''

''सिंह की माँद में सिंह तो अकेला जा ही सकता है।'' मैंने मुसकराते हुए कहा। किंतु लगा कि इस कथन में मेरा अहं बहुत प्रगल्भ हो गया है। मैंने तुरंत स्वयं को सँभाला—''मैं अकेला कैसे जाऊँगा? आपका आशीर्वाद तो साथ रहेगा ही।''

भैया ने भी सलाह को गंभीरता से लिया और समाहर्ता के कार्यालय पर शीघ्र ही सेना का अधिकार हो गया। खलबली मच गई। राजभवन में भी एक अनुशासनात्मक थरथराहट का अनुभव होने लगा।

थोड़ी देर बाद समाहर्ता के आगमन की सूचना मिली। मैंने तुरंत उसे अपने पास बुलाया।

''इस दुर्घटना की सूचना देने में आपने इतना विलंब क्यों किया?'' उसके आते ही मैंने पूछा।

''सूचना तो मैं प्रातः ही दे देता, पर तब तक आपकी सेना पहुँच चुकी थी।'' समाहर्ता ने कहा, ''पर वहाँ से मेरा हटना उचित नहीं होता।'' उसने विस्तार से बताया—''कुछ लोगों का सारा षड्यंत्र कुछ महत्त्वपूर्ण अभिलेखों को भस्म कर देने का था। पर भगवान् की कृपा और मेरे राजभक्त सहयोगियों के प्रयत्न से वे ऐसा कर नहीं पाए। उनकी इस असफलता ने उन अभिलेखों के प्रति मेरी जिम्मेदारी और भी बढ़ा दी। क्योंकि उनकी झुँझलाहट अब कुछ भी कर सकती है। मैं और मेरे आस्थावान् कर्मचारी उन अभिलेखों की सुरक्षा में लगातार डटे रहे। यदि आपकी

सेना न पहुँचती तो इस समय भी मैं आपकी सेवा में उपस्थित न हो पाता।''

''क्या आपने ये सारी बातें भैया को बताई हैं ?'' मैंने पूछा।

''मैं उन्हींसे मिलकर आ रहा हूँ। वे तो पूरे कांड पर चिंतित हैं.।''

मैं कुछ बोला नहीं, केवल इतना ही कहा कि अब आप सारी सूचना उन्हींको दीजिएगा; क्योंकि उन्हें ही इन सारी परिस्थितियों का सामना करना है।

इस घटना के बाद भैया ने मेरा प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। वे मुझे अकेला जाने देकर स्वयं द्वारका में रहने के लिए राजी हो गए।

इस बार मुझे छोड़ने में रुक्मिणी को अधिक कष्ट हुआ। उसने स्पष्ट कहा, ''यों तो परिस्थितियाँ सदा मेरी सपत्नी (सौत) रही हैं। उन्होंने आपको मुझसे बराबर छीना है; पर इस बार पता नहीं क्यों मैं मोह से अधिक ग्रसित हूँ।''

''मोह पर तो तुम स्वयं विजय पा सकती हो।''

''पर मैं तो पराजित हो चुकी हूँ और पराजित ही रहना चाहती हूँ।'' रुक्मिणी बोली, ''क्योंकि जब तक यह मोह है, आप मेरे पास हो। मोह से मुक्त होते ही मुझे विराग घेर लेगा।''

रुक्मिणी से मुझे ऐसे उत्तर की संभावना नहीं थी। उसने मेरे चिंतन को झकझोर दिया था। मैं सोचने लगा था कि संसार विराग से नहीं, राग से चलता है। सांसारिक होने के लिए मोह की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी दीपक के लिए तेल की।

यह सांसारिकता ही थी, जिसने द्वारका का निर्माण कराया और यह भी सांसारिकता ही है कि आज मैं द्वारका छोड़ने के लिए विवश हूँ। पत्नी छोड़ रहा हूँ, पुत्र छोड़ रहा हूँ, पूरा परिवार छोड़ रहा हूँ। आखिर किसलिए ? आर्यावर्त्त की राजनीति के लिए। यह संसार के प्रति मेरी आसक्ति नहीं तो और क्या है ? फिर लगता है, मेरी आवाज ही मुझसे टकराई—'यह तुम्हारी आसक्ति नहीं है। आसक्ति में तो स्वार्थ होता है। इसमें तुम्हारा स्वार्थ क्या है ? यह तो तुम्हारा कर्तव्य है। तुम धर्म की स्थापना के लिए धरती पर भेजे गए हो। आज पूरे आर्यावर्त्त की जीवन शैली अधर्म से प्रभावित है।'

इस आवाज की टकराहट के बाद भी मुझे लगा कि मैं रुक्मिणी के मोहपाश में होते हुए भी उससे मुक्त हूँ। मेरा एक व्यक्तित्व वह है, जो रुक्मिणी का है, रुक्मिणी के लिए है और एक व्यक्तित्व वह भी है, जो समाज का है और समाज के लिए है। ये दोनों व्यक्तित्व एक-दूसरे से ऐसे जुड़े हैं कि यदि मैं उन्हें अलग करना चाहूँ भी तो अलग नहीं कर सकता; पर परिस्थितियाँ उन्हें अलग कर देती हैं। आदि से लेकर अब तक यही मेरी नियति रही है। मैं रुक्मिणी के साथ होकर भी रुक्मिणी से अलग हो रहा हूँ।

और दूसरे दिन द्वारका के ममत्व ने मुझे अश्रु और उल्लास मिश्रित बिदाई दी।

□

लंबा मार्ग होने के कारण कई पंथागारों में मुझे रुकना पड़ा। मेरे साथ श्वेतकेतु, रक्ताक्ष और गद के अतिरिक्त संप्रति कोई उल्लेखनीय व्यक्ति नहीं था। ये तीनों मेरे अच्छे सहायक थे। गद को छोड़कर दो को तो मेरी यात्रा शैली का अच्छा ज्ञान था। उन्होंने कई यात्राएँ मेरे साथ की थीं। वे जानते थे कि मेरी आँखें एवं कान हमेशा खुले रहते हैं। मेरी इस सजगता का वे अच्छी तरह अनुसरण कर रहे थे।

सौराष्ट्र की सीमा पर, शक्तिमान पहाड़ी के नीचे एक मूथक् पंथागार था। इसमें सैनिकों के रहने की अच्छी व्यवस्था थी। उनके घोड़ों के लिए यहाँ एक विशाल अश्वशाला थी और रथों के ठहरने का भी उचित प्रबंध था। पर्वत पाद में एक झरना गिरता था, जिसका जल एक कुंड में एकत्र होता था। कुंड से जल निकासी की भी व्यवस्था थी। स्वच्छ शीतल जल की यह पर्याप्त प्राकृतिक आपूर्ति इस पंथागार को भी सुंदरता और मनोहरता प्रदान करती थी।

हम लोग जब इस पंथागार में पहुँचे, रात्रि अपने यौवन की दहलीज में पैर धर चुकी थी। अष्टमी का आधा-अधूरा चाँद अभी-अभी उगा था। अश्वारोहियों को अश्वशाला की ओर भेजकर मैंने गद को पंथागार के व्यवस्थापक से अनुमति प्राप्त करने के लिए कहा।

हमारे अचानक पहुँचने पर रात्रि की निस्तब्धता कंपित हो उठी थी। पंथागार के द्वार के सैनिक सजग हो गए थे।

गद के पहुँचते ही व्यवस्थापक ने चकितभाव से कहा, ''आप लोग इतनी रात में पधारे, वह भी बिना ज्योति-पुंज या मशाल के। अंधकार में यात्राएँ दस्युओं की होती हैं।''

''दस्युओं को शायद अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं होती।'' गद भी बड़े सहजभाव से बोला, ''पर मैं आपसे अनुमति ले रहा हूँ। कोई अंतर तो आपको दिखाई दे रहा होगा!''

''हाँ, दिखाई दे रहा है।'' वह मुसकराते हुए बोला, ''लगता है, दस्युओं के गुणवाले कुछ भले मनुष्य भी हैं।''

''या भले मनुष्य के गुणवाले दस्यु!'' यह व्यवस्थापक के पीछे खड़े दूसरे व्यक्ति की आवाज थी। व्यवस्थापक वर्ग के लोग इसपर हँस पड़े।

जब हँसी थमी तब व्यवस्थापक बड़ी गंभीरता से बोला, ''सभागार से आप इस समय का काम चला लें तो बड़ी कृपा हो। प्रातः हम आपकी उचित व्यवस्था कर देंगे।''

सभागार के मध्य एक विशाल कक्ष था।

गद ने स्वीकार किया कि हमारा कार्य इतने से ही चल जाएगा। हमारे सभी लोग इसमें विश्राम कर लेंगे और तब तक हमारे थके अश्वों को अश्वशाला में थोड़ा आराम मिल जाएगा—और हम सूर्य निकलते-निकलते चले जाएँगे।

''बिलकुल दस्युओं की तरह आए और दस्युओं की तरह चले भी जाएँगे।'' व्यवस्थापक फिर हँसा और शीघ्र ही प्रकृतिस्थ भी हो गया।

उसने पूछा, ''आप लोग कहाँ से पधार रहे हैं?''

''द्वारका से।'' गद ने कहा और गंभीर हो गया।

व्यवस्थापक ने फिर पूछा, ''और जाएँगे कहाँ?''

''संप्रति तो अग्रवाण ही जाएँगे।'' गद बोला।

''अग्रवाण!'' उसकी गंभीरता और बढ़ी। वह बड़बड़ाया—''कोई अग्रवाण जा रहा है, कोई पुष्कर। बस दो ही जगह जानेवाले इस समय पंथागार में हैं।''

व्यवस्थापक की आकृति पर उभरी गंभीरता बढ़ती गई। उस अंधकार में उसकी मानसिक उलझन का आभास स्पष्ट लग रहा था।

''लगता है, आप किसी द्विविधा में हैं।''

''द्विविधा में नहीं, चिंता में हूँ।''

''किस बात की चिंता?''

''यही कि हमारा यह पंथागार युद्धक्षेत्र न बन जाए।''

अपनी इस आशंका पर व्यवस्थापक ने कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया। उसकी मुद्रा बदली और वह बोलता रहा—''आप लोग द्वारका से आ रहे हैं, कन्हैया कैसे हैं? आपने उनका कोई कुशलक्षेम तो बताया नहीं।''

गद ने धीरे से कहा, ''वे भी पधारे हैं।''

''कहाँ हैं वे?'' व्यवस्थापक तो जैसे व्यग्र हो उठा।

''बाहर आपकी अनुमति की प्रतीक्षा में खड़े हैं।''

गद से इतना सुनना था कि वह एकदम बाहर की ओर लपका और मेरे समक्ष प्रणिपात किया।

''मेरे पंथागार में आपको भी अनुमति लेने की आवश्यकता होगी!''

''क्यों नहीं! बिना अनुमति के पंथागार में केवल दस्यु प्रवेश करते हैं!'' मैंने मुसकराते हुए कहा।

संयोगवश ही मेरे मुख से यह वाक्य निकला था; पर उसे लगा कि मैंने उसकी कही पूर्व बातें सुन ली हैं और उसी संदर्भ में व्यंग्य कर रहा हूँ। वह बिलकुल सिटपिटा गया। सिर नीचा किए और दोनों हाथ बाँधे मौन मेरे सामने खड़ा रहा। मुझे लगा कि यह कुछ कहना चाहकर भी कह नहीं पा रहा है।

इस बीच मैंने अपने साथियों से कहा कि आप लोग जाकर अपने स्थान ग्रहण कीजिए। जब सभी सहयोगी मेरे पास से हट गए तब मैं उससे बोला, ''आप कुछ कहना चाहते हैं!''

वह बड़े संकोच में था। उसने अपनी बात सीधे न कहकर कृतवर्मा की चर्चा की—''वे कुछ ही पहले आए थे और वे भी अग्रवाण गए हैं।''

''मैंने ही उन्हें भेजा था। लगता है, उन्होंने भी यही मार्ग अपनाया।'' मैंने कहा।

''पर उनके यहाँ आने पर हम लोग गंभीर संकट में पड़ गए थे।'' व्यवस्थापक बोला।

''क्यों?''

''आप तो जानते ही हैं कि यह पंथागार महाराज शाल्व की सीमा में पड़ता है और आप लोगों से उनके छत्तीस के संबंध हैं। जब कृतवर्मा यहाँ पधारे तो महाराज के गुप्तचरों ने उन्हें सूचना दी। शायद उन्होंने यह भी सूचना दी कि ये लोग पुष्कर को कौरवों से मुक्त कराने जा रहे हैं। फिर क्या था! महाराज के क्रोध में विस्फोट हो गया। तुरंत मुझे महाराज के समक्ष उपस्थित होने का आदेश मिला। मेरे गले पर सूली लटकती दिखाई पड़ी।''

व्यवस्थापक ने बताया—''मुझे देखते शाल्व चीखा—'तुम्हें मालूम है कि द्वारका के पक्षधर हमारे शत्रु हैं। तुमने उन्हें शरण देकर हमारे हित के प्रतिकूल कार्य किया है। उन्हें तुरंत चले जाने को कहो।' ''

''और आपने उन्हें तुरंत चले जाने को कहा भी होगा।'' मैंने कहा।

''क्या करता! राजा की आज्ञा तो शिरोधार्य करनी ही पड़ती है।'' वह बोला, ''पर महाराज कृतवर्मा बड़े ही मृदु पुरुष हैं। उन्होंने मुझे सांत्वना दी कि तुम घबराओ नहीं, दिन निकलने के पूर्व ही मैं प्रस्थान कर दूँगा।''

''कृतवर्मा आपकी बात मान गया, यदि मैं न मानूँ तो?'' मैंने बड़ी गंभीरता से कहा। वह एकदम मेरा मुँह देखता रह गया। मेरी आवाज में और गंभीरता आई—''आश्रम और पंथागार जैसे स्थल राजा के अधिकारक्षेत्र में होकर भी राजा के प्रभावक्षेत्र से मुक्त होते हैं। आश्रम का स्वामी आचार्य होता है और पंथागार का स्वामी उसका व्यवस्थापक। ये राजा की नहीं, समाज की संपत्ति हैं। आप पथिकों की सुख-सुविधा के लिए राजा द्वारा रखे कर्मचारी हैं, उनके क्रीत दास नहीं।''

मेरी आवाज इतनी तेज थी कि पंथागार के जग रहे लोग बाहर आ गए। उन्होंने समझा, कोई बड़ी बात हो गई है। मैं यह तो नहीं कह सकता कि उनमें से कितनों ने मुझे पहचाना, पर कुछ ने अभिवादन अवश्य किया।

बाहर आए कुछ लोगों में मेरा प्रतिवाद करता बस एक ही स्वर उभरा—''यह

तो विचित्र बात है कि पंथागार पर राजा का अधिकार नहीं होता। वह उसका निर्माण कराता है, उसकी व्यवस्था करता है, फिर भी उसका अधिकार नहीं। बात कुछ समझ में नहीं आती।''

''इसलिए समझ में नहीं आती कि शाल्व ने तुम्हारा विवेक खरीद लिया है। तुम्हारी निर्णायक बुद्धि उसके नियंत्रण में है।'' मेरी आवाज पुरइन के पात पर उपल की तरह बरसी और मुझपर उछाली गई पूर्व आवाज लगभग एकदम मुरझा गई। पर मैं बोलता रहा—''मंदिर भी तो राजा बनवाता है, तो क्या भगवान् पर भी उसका अधिकार होगा? जब चाहे तब उस मूर्ति को वह निकालकर फेंक सकता है? एक बार मूर्ति की स्थापना होने के बाद वह मंदिर से हटाई नहीं जा सकती; क्योंकि मंदिर प्रभु का निवासस्थल है, वह भगवान् का बंदीगृह नहीं। इसी तरह पंथागार भी जनता-जनार्दन का मंदिर है। राजा को मात्र उसके प्रसाद और आशीर्वाद की आकांक्षा होनी चाहिए।''

इतना कहते ही सन्नाटा छा गया। फिर व्यवस्थापक मुझे सभाकक्ष की ओर ले चला। उसने अपने सहयोगियों को भी हट जाने का संकेत किया। इसके साथ ही बाहर खड़े लोग भी हटने-बढ़ने लगे।

प्रशस्त प्रांगण पार करते हुए व्यवस्थापक ने धीरे से मेरे कान में कहा, ''आपने अनुभव किया? पूरा पंथागार शाल्व के सैनिकों से भरा है। वे सभी पुष्कर जा रहे हैं।''

मैं मौन रह गया। मुझे स्थिति बड़ी गंभीर लगी। हो सकता है, शाल्व अपनी सेना दुर्योधन की सहायता के लिए भेज रहा हो। तब तो युद्ध अनिवार्य लगता है। मैं सोचने लगा।

''मेरी सूचना पर आप गंभीर क्यों हो गए?'' व्यवस्थापक ने पूछा और मैं खिलखिला उठा।

यह मेरे जीवन का अनुभव है कि हर व्यग्रता पर खिलखिलाहट का आस्तरण डालिए। वह आशा से अधिक शांत हो जाएगी।

मैंने हँसते हुए ही व्यवस्थापक से कहा, ''अरे भाई, यह तो पंथागार है। पथिक यहाँ विश्राम करने आएँगे ही। चाहे वह दूर के हों या पास के। चाहे वह द्वारका के हों या मार्तिकावत (आज के आबू पर्वत के निकट शाल्व की राजधानी) के। चाहे वह सैनिक हमारे हों या हमारे मित्र शाल्व के। पर यहाँ तो सब पथिक हैं। उनके विश्राम के साथ-साथ उनके शस्त्र और अश्व भी विश्राम करते हैं।''

इसके बाद भी वह व्यवस्थापक पूर्णतः प्रकृतिस्थ नहीं हुआ। तब मैंने उसकी पीठ थपथपाते हुए कहा, ''तुम बिलकुल मत घबराओ। कोई बात होगी तो तुम मेरा

नाम लेकर कहना कि मैं उन्हें पंथागार में स्थान देनेवाला नहीं था। उन्होंने ऐसी बातें कहीं कि मैं किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया।''

व्यवस्थापक सभाकक्ष तक पहुँचाकर बड़े शांतभाव से चला गया। उसी सभा कक्ष में अनेक सैनिकों के बीच मेरी शय्या गद के पार्श्व में लगी। मैं ढुलक गया। भीतर सुलगनेवाले शांत ज्वालामुखी की तरह ऊपर से मैं मौन था।

गद को मेरा यह मौन बहुत भारी पड़ रहा था। वह बोला, ''लगता है, आप कुछ सोच रहे हैं!''

''युद्ध की अनिवार्यता के विषय में सोच रहा हूँ।'' मैंने कहा, ''पुष्कर की समस्या बिना रक्तपात के हल होती नहीं लगती।''

इसी संदर्भ में गद ने कई प्रश्न किए। मैंने उसे बताया कि इस समय पूरा पंथागार शाल्व के सैनिकों से भरा है। वे सभी पुष्कर जा रहे हैं। निश्चित है कि वे दुर्योधन की सहायता के लिए भेजे जा रहे हैं। यह भी हो सकता है कि उसने स्वयं शाल्व से सहायता माँगी हो।

''यदि कौरव सहयोग के लिए हाथ बढ़ा सकते हैं तो क्या हम नहीं बढ़ा सकते?'' गद ने बड़े भोलेभाले ढंग से पूछा।

मुझे उसके अज्ञान पर हँसी आ गई। वास्तव में उसे हमारे और शाल्व के संबंधों की वास्तविक जानकारी नहीं थी। मैंने कहा, ''यदि हम उसकी ओर अपना हाथ बढ़ा सकते तो कब का बढ़ा देते। उसके राज्य की सीमा हमारे राज्य की ऊपरी सीमा में लगती है। किसी राज्य के निकट उसके शत्रु का होना सर्प के विविर पर नेवले का बैठना है। क्या कभी सर्प ने नेवले से मित्रता का हाथ बढ़ाया है?''

''पर नेवले और साँप की तो शत्रुता स्थायी है।'' गद बोला।

''ठीक वैसी ही हमारी और शाल्व की शत्रुता भी है।'' मैंने उसे विस्तार से बताते हुए कहा, ''एक तो वह शिशुपाल का मित्र है। मित्र भी कैसा? भाई की तरह। दूसरे जरासंध से उसका सीधा रिश्ता है। उसीके बल पर तो जरासंध मेरे राज्य की सीमा तक अपनी पहुँच मानता है।''

गद अपेक्षा से अधिक गंभीर हो गया—''तब तो हम चारों ओर शत्रु से घिरे हैं।''

''तो इसमें घबराने की क्या बात है?'' उसकी व्यग्रता पर मैंने शीतलता छिड़कनी आरंभ की—''यही तो जीवन है—और यही उसकी अस्मिता भी है। अग्नि की अस्मिता शीतलता से घिरी रहने में है और प्रकाश का अस्तित्व अंधकार के बीच। यदि अंधकार नहीं तो प्रकाश का महत्त्व क्या? वैसे ही अपने चारों ओर से अंधकार के बीच द्वारका प्रकाश की तरह भभक रही है।'' मेरे अहंकार से निश्चित

ही गद को बड़ी सांत्वना मिली।

थोड़ी देर बाद मैंने रक्ताक्ष को अपने पास बुलाया और कहा, ''इस समय मेरे पास तुम्हीं एक ऐसे व्यक्ति हो, जिसे हम लोगों को छोड़कर इस पंथागार का कोई और व्यक्ति पहचान नहीं सकेगा। मैं तुम्हें एक काम सौंपना चाहता हूँ।''

''आज्ञा दें, महाराज।''

''यह तो तुम जान ही गए होगे कि हम लोगों को छोड़कर इस पंथागार में सभी शाल्व के सैनिक हैं। हमारी तेज आवाज को सुनकर जो लोग यहाँ से बाहर निकले थे, उनमें इस सैनिक टुकड़ी का प्रधान भी था। उसने मुझसे विवाद भी करना चाहा था। मुझे ऐसा लगता है कि वह इस सभागार के दक्षिण ओर के प्रथम कक्ष में ठहरा है। क्या तुम उसकी मन:स्थिति का पता लगा सकते हो ?''

किसी दूसरे से वह कह सकता था कि मैं कोई अंतर्यामी नही हूँ, जो दूसरे की मन:स्थिति का अनुमान पा लूँगा; पर मेरी बातें सुनकर वह कुछ सोचने लगा।

मैंने उसे समझाया—''अभी वह सोया नहीं होगा। अवश्य ही आपस में बातें कर रहा होगा। तुम दबे पाँव उसके द्वार के पास जाओ। कुछ-न-कुछ तो तुम्हें सुनाई पड़ ही जाएगा।'' चलते समय मैंने उसे पुन: सावधान किया—''देखो, तुम्हारी जरा सी आहट भी हम सबके सामने संकट खड़ा कर सकती है।''

रक्ताक्ष अपने दायित्व की गंभीरता का अनुभव करते हुए दबे पाँव चला।

मौन के लंबे अंतराल में अगल-बगल से खर्राटे उभरने लगे। पर गद को नींद नहीं आई थी। उसने मुझसे कहा, ''मुझे तो गड़बड़ लगती है।''

''क्या ?''

''उद्धव किस स्थिति में होगा ? यदि वह अपने उद्देश्य में असफल हुआ तो निश्चित ही संकट में होगा।'' गद बोला।

''मैं भी उसके संबंध में किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पा रहा हूँ।'' मैंने कहा, ''युद्ध का आभास तो हमें यहीं से मिलने लगा है।''

''तब तो स्पष्ट है।'' गद बोला, ''उन्होंने पुष्कर चेकितान को लौटाने का आपका आग्रह नहीं माना।''

''मुझे भी यही लगता है।''

''और उद्धव भी नहीं लौटा, न उसकी कोई सूचना मिली।'' गद ने कहा, ''ऐसा भी हो सकता है कि उसे कारागृह में डाल दिया गया हो।''

मैं मौन ही रहा।

किंतु गद बोलता रहा—''ऐसा भी हो सकता है कि उसकी हत्या कर दी गई हो।''

''इतना तो कौरवों का साहस नहीं होना चाहिए—और फिर उद्धव मेरा दूत है। दूत की हत्या धर्म-विरुद्ध है।'' मैंने कहा।

''धर्म-विरुद्ध तो उसके लिए होगा, जो धर्म को मानता हो। जहाँ धर्म ही नहीं वहाँ उसका विरुद्ध क्या!'' गद बोलता गया—''और जो पांडवों को भस्म कर सकता है, उसके लिए उद्धव क्या है!''

''धर्म को मानिए या न मानिए, वह तो रहेगा ही; क्योंकि वह किसी व्यक्ति की संपत्ति नहीं है कि वह उसे उठाकर फेंक दे। धर्म तो समाज का है, समाज द्वारा है, समाज के लिए है। वह भी तब से जब से समाज है और तब तक रहेगा जब तक समाज रहेगा।'' मैंने बड़े आवेश में कहा। बगल में सोया व्यक्ति भी कनमनाया। शायद मेरी आवाज से उसकी नींद टूट गई। फिर भी मैं उसी आवेश में बोलता रहा—''और तुम उद्धव को भस्म करने की बात सोचते हो। उद्धव केवल उद्धव नहीं है, वह मेरा प्रतिनिधि है—अर्थात् वह मैं हूँ। मुझे आग जला नहीं सकती। पवन सुखा नहीं सकता। जल गला नहीं सकता।''

मेरी ध्वनि का आवेग और मेरी मुद्रा उस समय ऐसी हो गई थी कि मैं लोगों को अंधकार में भी दिखाई पड़ने लगा था। सोनेवालों के सपने भी काँपने लगे और जगनेवाले भी सकते में आ गए।

गद जो मौन हुआ, फिर बोला नहीं। मेरी दृष्टि बगल के द्वार की ओर गई। मैंने देखा कि रक्ताक्ष खड़ा है। मैंने उसे संकेत से निकट बुलाया। आश्चर्य है कि अंधकार में मेरा संकेत कार्य कर रहा था।

रक्ताक्ष को मैंने अपनी बगल में ही लिटाया। फिर उसने सूचना देनी आरंभ की।

उसका कहना था—''लोग खुलकर बातें नहीं कर रहे थे। उनकी आवाज भी धीमी सुनाई दे रही थी। पर जो कुछ भी आभास लगा, उसका सारांश यह है कि पंथागार में प्रवेश के समय आप द्वारा कही हुई बातों का उनपर काफी प्रभाव पड़ा है। उनमें से एक तो स्पष्ट कह रहा था, 'कन्हैया ने महाराज को हमेशा वरेण्य मित्र कहा, पर हमारे महाराज तो उन्हें शत्रु समझते हैं।'

'' 'यही तो कन्हैया और हमारे महाराज में अंतर है।' यह दूसरी आवाज थी—'और यह अंतर बना रहेगा।'

'' 'क्यों?'

'' 'क्योंकि एक मनुष्य है और दूसरा भगवान्।' यह बीच में उठी तीसरी आवाज थी—'भगवान् सबको अपनी निर्मिति ही समझता है—चाहे वह पापी हो या धर्मात्मा, चाहे वह शत्रु हो या मित्र। राम भी रावण को अपना मित्र ही समझते थे। उनका शत्रु था रावण का राक्षसत्व, उनका शत्रु था रावण की अधार्मिक वृत्ति।' ''

''यह उदाहरण तुम अपने से दे रहे हो या यह उनका कहना था ?'' मैंने पूछा।

''नहीं, यह उदाहरण तो उन्होंने ही दिया था।'' रक्ताक्ष ने कहा, ''उनमें कुछ ऐसे भी थे, जो अपने सेनानायक को संबोधित कर स्पष्ट कह रहे थे—'हम क्यों युद्ध करें ? हमारे महाराज का कन्हैया ने क्या बिगाड़ा है ? और युद्ध करने पर दुर्योधन हमें क्या दे देगा ?'

'' 'दुर्योधन भले ही न दे, पर महाराज शाल्व तो वेतन देते हैं।' शायद यह स्वर सेनानायक का था।

'' 'इसका तात्पर्य तो यह है कि हम सब उसके वेतनभोगी दास हैं।'

'' 'दास कहो या कर्मचारी। स्थिति में बहुत अंतर नहीं पड़ता।' सेनानायक बोला, 'पर श्रेणी और प्रकृति में तो अंतर है ही। दास को किसी भी कार्य के लिए विवश किया जा सकता है; पर कर्मचारी से वही कार्य लिया जा सकता है, जिसके लिए वह नियुक्त है।'

'' 'इसका मतलब है कि युद्ध हमपर उसी दिन थोप दिया गया, जिस दिन मैं नियुक्त हुआ।'

'' 'है तो ऐसा ही।' सेनानायक बोला।

'' 'हम उसके औचित्य पर विचार नहीं कर सकते ?'

'' 'युद्ध के औचित्य और अनौचित्य पर विचार करने के लिए हम स्वतंत्र कहाँ हैं ?'

'' 'और मैं स्वतंत्र हो जाऊँ तो ?' उस व्यक्ति ने कहा।

''सेनानायक ने पूछा, 'तुम्हारा तात्पर्य ?'

'' 'मेरा तात्पर्य स्पष्ट है, यदि मैं यह चाकरी छोड़ दूँ तो ?'

''इतना कहते ही कक्ष में सन्नाटा छा गया। सेनानायक भी बहुत देर तक मौन था। बाद में उसने बस इतना कहा, 'आप लोग सो जाइए, रात बहुत हो गई है।' ''

मैंने हँसते हुए कहा, ''हमें मान लेना चाहिए कि उसने यह बात हम लोगों से भी कही है। हमें भी सो जाना चाहिए।''

□

काफी थके थे। नींद गहरी थी। हम सोते रहे। पंथागार के मंदिर की प्रथम शंखध्वनि ने हमें झकझोरा अवश्य था। आँखें खुलीं भी, पर पलकें अलसा गईं। सूर्योदय के साथ ही हम लोगों का उठना हुआ। उठते ही द्वार पर दृष्टि गई, पंथागार का व्यवस्थापक खड़ा था। निश्चय ही वह हमें जगाने आया था। पर लगता है, उसे हमें जगाने का साहस नहीं हुआ, या दो-एक आवाज देकर ही चुप हो गया।

मैं उसकी विवशता समझता था। मैंने झट उसे सांत्वना देते हुए कहा, ''आप

घबराएँ नहीं। हम लोग शीघ्र ही पंथागार छोड़ रहे हैं। यदि आपके महाराज कुछ कहें तो आप सारा अपराध मुझपर ओढ़ा दीजिएगा और कहिएगा कि मैं उन्हें पंथागार में नहीं जाने दे रहा था, पर वे लोग बलात् प्रवेश कर गए।''

''पर मैं आपको इस संदर्भ में जगाने नहीं आया था।'' व्यवस्थापक बोला, ''आपसे मिलने एक सज्जन पधारे हैं। उनका तो कहना था कि आपको अभी जगा देना चाहिए। इसके लिए उन्होंने बार-बार निवेदन किया। मैं दो बार आया भी। आपको गहरी नींद में देखकर चला गया। जगाने का साहस नहीं हुआ।''

वह कौन हो सकता है ? मैं कुछ समय तक सोचता रहा। पर किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा। व्यवस्थापक से बोला, ''आप कार्यालय में चलिए, मैं शीघ्र आ रहा हूँ।''

''अब शीघ्रता की कोई आवश्यकता नहीं है, वे स्वयं सो रहे हैं। अत्यधिक श्लथ लग रहे थे। किसी लंबी यात्रा से आए होंगे। कार्यालय के मंचक पर जो ढुलके तो सो गए।''

''जो मुझे जगाने आया, वह स्वयं सो गया!'' मुझे हँसी आई। पर व्यवस्थापक की हँसी प्रतिक्रियाशून्य थी। वह लौट गया।

मैं जब कार्यालय में पहुँचा तो देखकर आश्चर्य हुआ—'अरे, यह तो छंदक है!' गद भी अवाक् रह गया। उसे क्या पता था कि छंदक की उपस्थिति ऐसी ही आकस्मिक होती है।

''तुम जाकर प्रयाण की व्यवस्था करो। मैं अभी आता हूँ।'' मैंने गद से कहा और गद चला गया।

अब मैंने छंदक का कंधा हिलाया—''मुझे जगाने आए और स्वयं सो गए।''

''आपकी माया ही ऐसी है, जिसपर छाती है उसकी आँखें बंद हो जाती हैं।''

आँखें मींजते उठा छंदक हाथ-मुँह धोकर तुरंत प्रकृतिस्थ हो गया। उसने बताया—''आपको ही खोजने द्वारका जा रहा था। संयोग था कि पंथागार में रुक गया। पता चला कि आप यहीं हैं।''

''मुझे खोजने की ऐसी आवश्यकता क्या थी ?'' मैंने पूछा।

''मैं ही नहीं, आपके सारे मित्र बस एक स्वर से आपका जाप कर रहे हैं।'' छंदक बोला और उसने जिस निराशाजनक स्थिति का वर्णन किया, वह भयावह थी।

''उद्धव के न लौटने और उसके संबंध में कोई समाचार न मिलने से लोग हताश हो रहे हैं। चारुदेष्णा के ढाढ़स का बाँध टूट रहा है। चेकितान का स्वप्न धराशायी हो रहा है। एक विचित्र बात और है कि जिन्हें हमने मिलाकर कौरवों के विरुद्ध एक संघ बनाने की बात सोची थी, अब वे एक-दूसरे की छाया से घबरा रहे हैं।'' छंदक

ने बताया—"आजकल चेकितान अग्रवाण में है। चारुदेष्णा का अतिथि है; पर वह उसे विपत्ति दिखाई देता है। अब वह उसके लिए असह्य बोझ हो गया है।"

छंदक ने यह भी बताया—"जब मैं अग्रवाण आया तब मुझे देखकर चारुदेष्णा को बहुत खुशी नहीं हुई। वह मुझे देखते ही बोल पड़ा—'एक ने तो आँखों की नींद चुरा ली है, तुम दूसरे कहाँ से आ गए!' चारुदेष्णा ने यह व्यंग्य नहीं किया था, उसने बड़ी गंभीरता से कहा था।"

छंदक ने आगे बताया—"पर मैंने गंभीरता को भी व्यंग्य में ही लिया और चारुदेष्णा से बोला, 'मैं क्या, अभी मेरी जैसी कई विपत्तियाँ आपके यहाँ आने वाली हैं।' इसी सिलसिले में मैंने मणिभान आदि का भी नाम गिनाया और उसे बताया कि कन्हैया ने सभी को यहीं इकट्ठा होने के लिए कहा है। उनकी योजना यहीं से सबके साथ पांचाल प्रस्थान करने की है। फिर मैंने चारुदेष्णा से यह भी कहा, 'आपको याद होगा कि कन्हैया ने सबको एकजुट करने का काम आपको ही सहेजा है।'

" 'हाँ, सहेजा तो था।' चारुदेष्णा गंभीर हो गया—'पर यह मैं तब कर पाता जब चेकितान को पुष्कर मिल जाता या उसके मिलने की कोई संभावना होती। उद्धव जो गया तो अदृश्य हो गया। अब चारों ओर प्रचारित है कि मैंने चेकितान को शरण दी है। अब मैं कौरवों की आँख की किरकिरी बन गया हूँ। किसी भी समय मुझपर उनका आक्रमण हो सकता है। तब मैं क्या करूँगा? मेरी भी स्थिति चेकितान की तरह दर-दर भटकने की हो जाएगी।' "

"मैं इस स्थिति से उतना परेशान नहीं हूँ जितना चारुदेष्णा की हताशा से।" मैंने कह तो दिया, पर शीघ्र ही अनुभव किया कि यहाँ मुझे अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करनी चाहिए थी। मैंने इस संदर्भ में छंदक को भी सावधान किया।

जब मैंने पंथागार छोड़ा तब उसका व्यवस्थापक बहुत दूर तक मुझे छोड़ने आया और अंत में बोला, "मुझसे कोई भूल हो गई हो तो क्षमा कीजिएगा।"

मैंने बड़े ममत्व से उसके दोनों कंधे पकड़कर हिलाए और मुसकराते हुए बोला, "क्षमा माँगने की यह शब्दावली सुरक्षित रखो, शायद शाल्व के समक्ष तुम्हें इसका प्रयोग करना पड़े।"

मैं भी हँसा और मेरे साथ वह भी।

मैंने अपने ही रथ पर छंदक को बैठा लिया था। मेरी जिज्ञासा जोर मार रही थी। मैंने पूछा, "चारुदेष्णा ने यहाँ तक सोच लिया?"

"यहीं तक नहीं, उसने इससे भी बहुत आगे तक सोच लिया।" छंदक बोला, "आपकी कल्पना भी वहाँ तक नहीं जा सकती जहाँ तक चारुदेष्णा और उसके परिवार का सोच जा सकता है।" वह बड़े रहस्यमय ढंग से मुसकराया।

अब मेरी जिज्ञासा और बढ़ी।

छंदक ने बताया—''एक दिन चारुदेष्णा मुझे अपने मंत्रणाकक्ष में ले गया। उसने वहाँ के सभी लोगों को हटाकर द्वार बंद कर लिया। फिर मेरी बगल में बैठकर बड़े धीरे से बोला, 'आप मेरा एक काम कर दीजिए।'

'' 'क्या ?'

'' 'आप चेकितान को किसी तरह यहाँ से हटा दीजिए।'

'' 'अरे, वह तो आपके अतिथि हैं ! एक-न-एक दिन तो उन्हें यहाँ से जाना ही है।'

'' 'मैं उस एक दिन की प्रतीक्षा करने की स्थिति में नहीं हूँ।' चारुदेष्णा ने बड़ी गंभीरता से कहा।''

छंदक ने बताया—''ऐसी स्थिति में मैंने आपका नाम लिया और कहा, 'अब तो कन्हैया भी आ रहे होंगे। आप उनकी समस्या उन्हें सौंप दीजिएगा।'

'' 'किंतु मुझे सूचना मिली है कि कन्हैया शायद न आ पाएँ।'

'' 'क्यों ? उन्होंने तो आने को कहा था।' मैं बोला, 'उन्होंने ही सारी योजना बनाई थी।'

'' 'अरे, उन्हें द्वारका से छुट्टी मिलेगी तब तो।' इतना कहने के बाद वह एकदम रुक गया; जैसे किसीने उसकी जबान पकड़ ली हो। फिर वह घूम-फिरकर अपनी समस्या पर आ गया—'अरे भाई, यह सब तो जब होगा तब होगा। मैं तो यह चाहता हूँ कि आप अभी, इसी समय चेकितान को यहाँ से हटा दीजिए।' ''

छंदक ने कहा, ''उसकी उस व्यग्रता ने मुझे सोचने के लिए विवश किया।

'' 'अब सोचने का समय नहीं है।' चारुदेष्णा बोला, 'आपको जो भी करना हो, तुरंत कीजिए; अन्यथा कोई अशुभ घटना घट सकती है। फिर हमें दोष मत दीजिएगा कि मैंने समय रहते आपको सावधान नहीं किया था।' ''

छंदक अब भी कुछ समझ नहीं पाया था। उसका कहना था—''मैंने पूछा, 'आखिर कौन सी अशुभ घटना की आपको आशंका है ?' तब चारुदेष्णा ने थोड़े संकोच के साथ कहा, 'मैं यहाँ का राजा अवश्य हूँ, पर मेरा भी परिवार है और उसके भी सदस्यों की कुछ धारणाएँ हैं, जिन्हें मैं बहुत दबा नहीं पाऊँगा।' ''

छंदक ने बताया—''विचित्र रहस्यमय स्थिति में मेरी मानसिकता को उसने उलझा दिया। अंत में मैंने खीजकर पूछा, 'इतनी भूमिका बनाने की क्या आवश्यकता है, आप स्पष्ट क्यों नहीं बताते ?'

''तब चारुदेष्णा ने चारों ओर देखा जैसे बंद कमरे में भी वह किसीकी उपस्थिति का अनुभव कर रहा हो। वह मेरे और निकट आया तथा कान में मुँह डालकर बोला,

'वह जो मेरा ज्येष्ठ पुत्र जयद है, एक दिन मुझसे कहने लगा कि आप चेकितान का झंझट व्यर्थ क्यों पाले हुए हैं ? इस निरर्थक मुसीबत से हमें क्या लेना-देना ? हम क्यों कौरवों के कोपभाजन बनें ? इससे तो अच्छा है, एक दिन चुपचाप चेकितान की हत्या कर दी जाए और उसका शव हस्तिनापुर भेज दिया जाए। न रहेगा बाँस और न बजेगी बाँसुरी। इसका फल होगा कि हमारी और कौरवों की मित्रता फिर अटूट होगी। हम चैन से अपना राज्य करेंगे।' ''

छंदक का कहना था—''इतना सुनते ही मेरी शिराओं में विद्युत् दौड़ गई। मनुष्य इस सीमा तक गिर सकता है, मैंने कभी सोचा नहीं था। एक तो उद्धव की चिंता थी ही, दूसरे चारुदेष्णा के इस विचार से मैं उद्वेलित हो उठा और मैंने सीधे आपसे मिलने का निर्णय लिया।''

मैं भी चकित था, आज आर्यावर्त्त को क्या हो गया है ? लोग मित्रों के शव से नए संबंधों का सौदा कर रहे हैं। फिर भी मेरा निष्कर्ष था कि चारुदेष्णा इतना पतित नहीं है।

मैंने छंदक से कहा, ''मनुष्य पतित नहीं होता, छंदक! कभी-कभी उसे परिस्थिति ऐसा बना देती है।''

''इसका तात्पर्य है कि दुर्योधन को भी परिस्थितियों ने ही ऐसा बनाया है।'' छंदक ने मेरा ही तर्क मुझपर उछाल दिया।

मुझे हँसी आ गई। मैंने कहा, ''इसीलिए मैंने 'कभी-कभी' शब्द का प्रयोग किया है।''

छंदक कुछ बोला नहीं।

हम अपनी गति से तेज चलते रहे। हम मार्ग के कई पंथागार और विश्रामालय छोड़ते और बढ़ते चले जा रहे थे; पर मस्तिष्क में घूमता चक्र मेरे रथ के चक्र से भी तेज था। मैं सोचता रहा—आज आर्यावर्त्त जल रहा है स्वार्थ की लपटों में, सत्ता की लपटों में। जल रही है राष्ट्रीयता, जल रही है परंपरा से चली आई उसकी आस्था। जीवन की आचार संहिता लोभ की मंजूषा में बंद हो गई है। मानव धर्म जीवन से हटकर ऐतिहासिक अभिलेख मात्र रह गया है, जिसका वाचन अब केवल आश्रमों की परिधि तक ही सीमित है। मुझे लगा, इस स्थिति में मेरा दायित्व बहुत बढ़ गया है।

□

लगातार चलते हुए दो दिनों बाद ही हमने अग्रवाण की सीमा छू ली। आधी रात जा चुकी थी, फिर भी हमारी सेना ने नगर में प्रवेश किया। नगर द्वार के प्रहरी जैसे पहले से ही प्रतीक्षा कर रहे हों। उन्होंने न हमें रोका और न हमसे कुछ पूछा।

हमें आता देखकर चुपचाप सिर झुकाकर बगल हट गए। फिर 'आ गए-आ गए' का एक विचित्र कोलाहल नगर में गूँज उठा।

जिस मार्ग से हम और हमारी सेना जाती उस मार्ग पर ही 'आ गए-आ गए' के समवेत स्वर से हमारा स्वागत होता। पर कौन आया, कहाँ से आया, किसीको पता नहीं। सारे नगर में जाग हो गई। भय और आतंक का ऐसा वातावरण कि कोई भी वातायन पूरे खुले नहीं। नागरिक अधखुले वातायनों में से झाँकते और 'आ गए-आ गए' का आतंकवादी स्वर दबी आवाज से दुहराते।

मैं स्थिति को भाँप गया। तुरंत अपने सारथि दारुक से कहा, ''थोड़ा रथ धीमा करो और पीछे के रथों को आगे निकल जाने दो।''

ऐसा ही हुआ। जब गद का रथ आगे जाने लगा तब उसने मेरी ओर विस्मय से देखा और बोला, ''क्या बात है ?''

''अब यहाँ तुम्हारा ही नेतृत्व चलेगा।'' मैंने मुसकराते हुए कहा, ''मैं पीछे ही रहूँगा। तुम रक्ताक्ष के साथ हमारा नेतृत्व करो।''

वह आगे चला तो गया, पर कुछ समझ नहीं पाया।

समझ तो छंदक भी नहीं सका। उसने पूछा, ''यह क्या कर रहे हैं ?''

''बस तमाशा देखते जाओ।'' मैं मुसकराता रहा।

छंदक का आश्चर्य कह रहा था कि तुम्हारी लीला अद्‌भुत है, कन्हैया!

अब तक हमारी सैनिक टुकड़ी का अगला छोर राजप्रासाद के निकट पहुँच चुका था।

चारुदेष्णा के महामात्य ने करबद्ध निवेदन किया—''आप यहीं रुक जाने की कृपा करें, महाराज। यदि आप लोगों ने अपने आगमन की सूचना भिजवाई होती तो महाराज नगर द्वार पर ही आपकी अगवानी के लिए पहुँच जाते।''

''हम भला ऐसा क्यों करते ?'' गद ने तो बड़े सहजभाव से कहा था।

उसके कहने का तात्पर्य था कि हम तो अपने मित्र के यहाँ आ रहे थे, फिर पूर्व सूचना की आवश्यकता क्या ? किंतु चारुदेष्णा के महामात्य ने इस वाक्य को अपनी मानसिक स्थिति के अनुसार समझा—'हाँ, आक्रमण कभी पूर्व सूचना थोड़े ही देता है। मुझसे भूल हुई। आप क्षमा करें।' महामात्य ने ऐसा सिर झुकाया जैसे वह मस्तक को एकदम गद के चरणों पर ही रख देगा।

महामात्य गद को पहचान नहीं रहा था। गद भी महामात्य की मनोदशा पर चकित था। मैं अपने रथ पर बैठा दूर से आनंद ले रहा था।

मैंने धीरे से छंदक से कहा, ''देख रहे हो न तमाशा!''

छंदक बोला, ''पर मेरी समझ में कोई बात आ नहीं रही है।''

‘‘बस तमाशा देखते जाओ। सब समझ में आ जाएगा।’’ मैंने मुसकराते हुए कहा।

उधर महामात्य गद से निवेदन कर रहा था—‘‘अब बस महाराज पधारते ही होंगे। जब उन्हें आपके आवेदन की सूचना मिली, वे घबरा उठे। वे बोले, ‘उन्हें आने की क्या आवश्यकता थी? अरे, हमें ही बुला लिया होता।’ ’’ इतना कहते-कहते महामात्य ने कई बार प्रासाद की ओर देखा। प्रासाद से दासियों का झुंड आरती के थाल सजाए आता दिखाई दिया।

गद बोला पड़ा—‘‘यह क्या है?’’

‘‘महाराज, आपके स्वागत का हमारा विनम्र प्रयास।’’ महामात्य बोला और दासियाँ गद की आरती उतारने लगीं।

अब गद विचित्र असमंजस में पड़ा। उसे कभी कल्पना नहीं थी कि उसके साथ ऐसा भी होगा। वह झुँझलाया—‘‘यह क्या तमाशा लगा रखा है!’’

‘‘महाराज, आप रुष्ट न हों। हमारा विनम्र स्वागत स्वीकार करें। आप राज्य ही जीतने पधारे हैं न? तो इसके लिए व्यग्र न हों। हमारे महाराज अपना सारा राज्य आपके चरणों में उपस्थित करने आ रहे हैं। उन्हें तो केवल आपकी छत्रच्छाया चाहिए।’’

हमने देखा कि केवल गद की ही आरती नहीं की गई, दासियों ने रथ के घोड़ों तक की आरती उतारी।

मैंने छंदक से कहा, ‘‘तमाशा देख रहे हो न? व्यग्रता ने आँखों पर परदा डाल दिया है। यथार्थ को देख पाने की सामर्थ्य नहीं रही।’’

हम लोगों की दृष्टि प्रासाद के सिंहद्वार पर ही लगी रही। थोड़ी देर बाद ही हमने मशालों की कतार के पीछे चारुदेष्णा को चेकितान के साथ आते देखा। उसकी बगल में जयद भी था। भय और आतंक से ग्रसित दोनों के चेहरों की हवाई उड़ी थी। चारुदेष्णा के पग भी काँप रहे थे। उसकी चाल एकदम मंद पड़ गई थी। उससे अच्छी स्थिति में तो चेकितान था।

अब छंदक भी बहुत कुछ समझ गया। उसने हँसते हुए कहा, ‘‘आज चारुदेष्णा बड़े संकट में फँसे हैं।’’

‘‘मुझे भी हँसी आ रही है; पर चारुदेष्णा के संकट पर नहीं वरन् गद के संकट पर। बेचारा क्या सोच रहा होगा!’’ मैंने छंदक से कहा।

‘‘गद तो नाटक का एक ऐसा पात्र हो गया है, जिसे अपनी भूमिका ही नहीं मालूम है।’’ छंदक बोला।

अभी भी चारुदेष्णा गद से काफी दूर था। वह वहीं से प्रकंपित आवाज में

बोला, "आप कौरवराज से कहिएगा कि मैं उनकी शरणागत हूँ और इस दुष्ट को आपको सौंपता हूँ।" इतना कहते हुए उसने अचानक चेकितान को गद के रथ की ओर ढकेलना चाहा। उसने आघात भी किया। उसके पुत्र जयद ने भी उसका साथ दिया। पर चेकितान उन दोनों से बलिष्ठ था। अप्रत्याशित आघात से वह लड़खड़ाया अवश्य, किंतु शीघ्र ही सँभला और दोनों को दो हाथ देकर मुक्त सिंह की तरह गुर्राता हुआ आगे निकल गया।

अब मैंने अपना रथ बढ़वाया और चेकितान का पीछा किया। अंधकार था। दृष्टि साथ नहीं दे रही थी। मैंने उसे पुकारना आरंभ किया। मेरी आवाज सुनकर वह स्तंभित हो गया।

अब तक मेरा रथ भी उस तक पहुँच चुका था।

"अरे आप!" वह चकित था। आँखें फाड़-फाड़कर एकटक मुझे देख रहा था; जैसे उसे विश्वास ही न हो पा रहा हो। उसकी विह्वलता मुखर हुई—"मैं यह क्या देख रहा हूँ!"

"जो तुम देख रहे हो वही मैं हूँ।" मैंने मुसकराते हुए कहा।

"जब से मैं यहाँ हूँ तभी से आपको याद कर रहा था। पर बड़ी विपत्ति के समय प्रकट हुए, प्रभु!" चेकितान बोला और बड़ी श्रद्धा से उसने मस्तक झुका दिया।

मैंने पूरी गंभीरता से कहा, "जब लोग मुझे स्मरण करते हैं, मैं उपस्थित होता हूँ—और विपत्ति के समय तो विशेषकर।"

अब मेरा ईश्वरत्व पूरी तरह चेकितान पर छा गया था। वह बोला, "आप यदि इस समय न उपस्थित होते तो मेरी क्या स्थिति होती, इसकी कल्पना भी भयावह है।"

"कुछ न होता। तुम मेरे शरणागत हो। तुमपर होने का तात्पर्य है, मुझपर होना।" इतना कहते हुए मैं रथ से उतरा तथा बड़ी आत्मीयता से उसके कंधे पर हाथ रखते हुए उसे और अँधेरे में ले गया।

उसने बताया—"यहाँ आने के बाद कुछ दिनों तक तो मेरे साथ अतिथि जैसा सामान्य व्यवहार किया गया; पर शीघ्र ही इस व्यवहार में अचानक परिवर्तन आया। मैं मुक्त होते हुए भी कारा का जीवन जीने लगा। मेरे हर कार्य पर दृष्टि रखी जाने लगी।"

उसने बड़ी शीघ्रता से यह भी बताया कि ऐसा क्यों हुआ। उसका कहना था—"एक दिन सत्राजित् का दूत आया था। उस समय मैं चारुदेष्णा के साथ ही उससे मिला। उसने आपके बारे में बताया कि कन्हैया द्वारका की समस्याओं में बेतरह उलझे हैं। वे शायद ही द्वारका छोड़ सकें।

'' 'तब मेरे राज्य का क्या होगा?' मैंने उससे पूछा।

'' 'अब होगा क्या? जो होना था, वह हो चुका।' सत्राजित् के दूत ने कहा, 'यदि कुछ होने वाला होता तो उद्धव अदृश्य न होता।' ''

चेकितान ने कहा, ''हताशा की आग लगाकर दूत तो चला गया, पर पूरा राजप्रासाद उस आग में झुलसने लगा। आपके विषय में जानते ही चारुदेष्णा और उसके परिवार की मेरे प्रति दृष्टि ही बदल गई। उनपर आ रही विपत्ति के मूल में अब मैं ही दिखाई देने लगा।''

मैं बात बढ़ाना नहीं चाहता था। मैंने चेकितान से कहा, ''मैं सब जानता हूँ। आप व्यर्थ चिंता न करें।'' मैं उसका हाथ पकड़कर अपने रथ की ओर ले चला।

''पर आपको यह सब मालूम है?'' चेकितान ने पूछा।

''मुझे छंदक ने बताया था।''

''क्या छंदक आपसे मिला?''

''मिला ही नहीं, इस समय मेरे रथ पर भी है।'' मैंने कहा।

चेकितान ने मेरे रथ की ओर देखा—''अरे, वह छंदक ही है, मैंने तो उसे पहचाना ही नहीं।''

''मैं तो समझता था कि अँधेरा चारुदेष्णा को ही धोखा देता है; पर अब लगा कि उससे धोखा खानेवालों में तुम भी हो।'' मैं हँसा।

पहली बार चेकितान मुसकराया। स्पष्ट लगा कि उसका तनाव ढीला पड़ा।

रथ पर चढ़ते हुए उसने छंदक से कहा, ''बड़े विचित्र हैं आप!''

''क्यों?''

''आप यहाँ आए, चारुदेष्णा से मिले और चुपचाप यहाँ से चले गए।'' चेकितान बोला।

''मैंने यही उचित समझा; क्योंकि आपसे मिलने का मतलब था आपको खतरे में डालना।''

मैंने तुरंत छंदक का हाथ दबाया; क्योंकि मैं नहीं चाहता था कि छंदक जो जानता है, उससे चेकितान अभी अवगत हो।

छंदक एकदम मौन हो गया।

हम लोग तुरंत प्रासाद द्वार की ओर लौटे। इस बीच नाटक का अंतिम परदा गिर चुका था। वे लोग जान गए थे कि यह कौरवों की सेना नहीं है वरन् कन्हैया के साथ आए लोग हैं। मेरे आगे आने से तो बात और भी साफ हो गई।

मुझे देखते ही चारुदेष्णा का चेहरा फक हो गया। उसका सारा व्यक्तित्व झंझा से झकोर गए दीपक की उस प्रकंपित लौ की तरह लगा, जिसमें तेल होने पर भी

'अब बुझा, तब बुझा' सा लगता है।

मैं रथ से उतरा। मेरे साथ चेकितान और छंदक भी थे। छंदक ने चारुदेष्णा को बहुत सँभाला। उसने आगे बढ़कर नमस्कार किया। पर उसकी मुद्रा पर अपराधबोध की छाया स्पष्ट दिखाई दे रही थी।

मैंने आगे बढ़कर उसके घाव पर अँगुली रखी—"इतने उदास क्यों हो?"

वह एकदम फूट पड़ा—"आप मुझे क्षमा करें।"

मैंने अपनी मायावी मुसकराहट बिखेरी और बोला, "किसलिए?"

"मैंने चेकितान के साथ उचित व्यवहार नहीं किया।"

"तुमने कोई अनुचित भी नहीं किया।" मैं मुसकराते हुए बड़े सहजभाव से बोलता रहा—"चेकितान मेरी संपत्ति था। तुम्हारे पास था। तुमने उसे बड़ी ईमानदारी से लौटा दिया।"

वह कुछ बोला नहीं; पर उसके भीतर मेरा व्यंग्य चुभता चला जा रहा था। फिर भी उसने किसी प्रकार स्वयं को सँभाले रखा। मैंने देखा, जयद तो इस स्थिति में भी नहीं है। उसकी दृष्टि में तो मैं कुछ भी नहीं जानता था; किंतु उसका अपराधबोध मेरे सामने इतना विचलित हो गया था कि वह मेरा सामना भी नहीं करना चाहता था। वह धीरे से खिसकने को हुआ। पर मैं भला उसे ऐसे जाने कैसे देता!

मैंने बड़े प्रेम से कहा, "वत्स जयद, चले जा रहे हो! मुझे प्रासाद में चलने को भी नहीं कहोगे?"

वह मौन सिर नीचा किए खड़ा रहा।

इसके बाद चारुदेष्णा मेरा हाथ पकड़कर प्रासाद में ले चला। मेरे ही साथ चेकितान, गद, रक्ताक्ष आदि थे। उन्होंने सेनाओं के यथायोग्य ठहराने की भी व्यवस्था की।

सवेरा होते ही पूरे नगर में कोलाहल हो गया। रात्रि में कन्हैया अपने सैनिकों के साथ पधारे थे और समझा गया कि कौरवों की सेना आ गई। कुछ इस नासमझी पर हँस रहे थे, कुछ पश्चात्ताप कर रहे थे। पूरा राजपरिवार चिंतित था। इस स्थिति के समक्ष नंगी हुई अपने स्वार्थ की तसवीर को देखकर उदास और लज्जित था। एक राजा इतना भयभीत और आतंकित कि अपने मित्र को शत्रु समझ बैठा और उसके सामने घुटने टेक दिए, केवल अपनी सत्ता बचाने के लिए। हाय री राज्यलिप्सा! क्या सोचा होगा लोगों ने? शायद इसी मानसिकता के कारण चारुदेष्णा आज अपने कक्ष से बाहर दिखाई नहीं दिया। कन्हैया से क्या कहूँगा कि कल मैंने क्या किया? चेकितान को कौन सा मुँह दिखाऊँगा? और प्रजा क्या समझ रही होगी कि राजा इतना क्लीव, डरपोक और निकम्मा है! स्वार्थ में इतना अंधा है कि उसे मित्र और

शत्रु की पहचान भी न रही!

राजकीय शिष्टाचार के अनुसार प्रात: उपाहार के समय राजा या महामात्य को आना चाहिए था; पर दोनों में से कोई नहीं आया। केवल एक अमात्य ने राजा का प्रतिनिधित्व किया। उसने सूचना दी कि महाराज अस्वस्थ हैं।

मैंने भी इसपर कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। अमात्य की आवभगत को हम बड़ी सहजता के साथ स्वीकार करते रहे।

अब मुझे पता चला कि सात्यकि कल प्रात: यहाँ आ चुका है। मैंने चेकितान से कहा, ''तुमने बताया नहीं?''

''मैंने आपको अपनी स्थिति तो बता दी है।'' चेकितान बोला, ''मैं अपने कक्ष की कारा में ऐसा बंदी कर दिया गया था कि मुझे किसी व्यक्ति से क्या, सूचनाओं से भी मिलने नहीं दिया जाता था। कल रात भी यदि मुझे कौरवों को सौंपना न होता तो शायद चारुदेष्णा मुझे अपने साथ न ले आता।''

''और खूब सौंप दिया उसने तुम्हें कौरवों को!'' मैं हँसा। मेरे साथ के लोग भी हँसे। पर चेकितान की हँसी उसके चेहरे में बंद होकर रह गई। मैंने तुरंत उसकी मानसिकता भाँप ली। मैंने उसे समझाते हुए कहा, ''देखो चेकितान, मनुष्य कुछ नहीं कर पाता, जब तक नियति की इच्छा नहीं होती।''

फिर मैंने चर भेजकर सात्यकि को बुलवाया। वह अभी तक सो रहा था। मेरा नाम सुनते ही वह जागा और यथाशीघ्र उपस्थित हुआ।

''निरंतर चलते रहने से मैं काफी थक गया हूँ। जहाँ शय्या पर पड़ता हूँ कि नींद आ जाती है।''

''पर तुम सोते रहते हो और अग्रवाण पर आक्रमण हो जाता है! तुम्हें कुछ पता नहीं।'' मैंने मुसकराते हुए कहा।

''आक्रमण!'' वह चकित रह गया।

फिर मैंने मुसकराते हुए उसे अपनी बगल में बैठाया। पूछा, ''उद्धव का कोई समाचार है?''

''उसका तो कोई समाचार नहीं है।'' सात्यकि बोला, ''मैंने आते ही महाराज से पूछा था। उन्होंने बड़े खेद के साथ अनभिज्ञता व्यक्त की और कहा कि मुझे तो आसार अच्छे नहीं दिखते। मैंने पूछा कि आपका तात्पर्य क्या है? तो चारुदेष्णा ने बात बदल दी और कहा कि अभी तो कोई समाचार नहीं मिला है। हो सकता है, भविष्य में मिले।''

''यदि उद्धव का कोई समाचार होता तो मेरी यहाँ यह दशा न होती।'' चेकितान बीच में ही बोला।

मैंन चेकितान के कथन पर जैसे कोई ध्यान ही नहीं दिया और सात्यकि से कहा, ''मैं महाराज के अस्वस्थ होने से विचलित हो उठा हूँ और उनसे मिलना चाहता हूँ।''

इस बीच चर महाराज से अनुमति लेकर आ गया था। वह मुझे चारुदेष्णा के पास ले चला। मुझे देखते ही चारुदेष्णा की व्यग्रता और बढ़ गई। उसके मस्तक पर प्रस्वेद झलकने लगा।

''मुझे क्षमा करें, कन्हैया! मैं बहुत बड़ा पापी हूँ।'' चारुदेष्णा ने कहा।

''पापी!'' मैंने एकदम अनभिज्ञ बनते हुए कहा, ''किस बात के लिए आप स्वयं को ऐसा हीन अनुभव करते हैं?''

''मैंने क्या सोच लिया था!'' चारुदेष्णा बोला।

''क्या सोचा था?''

''वह तो छंदक ने आपको बताया होगा।''

''छंदक ने जो कुछ बताया, वह तो मेरे प्यारे बेटे जयद के बारे में था, आपके बारे में तो था नहीं।'' मैंने कहा, ''पारिवारिक संदर्भ में सोचते समय व्यक्ति अपनी निजता परिवार को सौंप देता है। ऐसे में परिवार का लिया गया निर्णय वह अपना निर्णय समझता है। इसके लिए उसे अधिक व्यग्र नहीं होना चाहिए और न उसके लिए पश्चात्ताप करना चाहिए; क्योंकि वह निर्णय उसका निजी नहीं होता।''

संयोग था कि उस समय वहाँ जयद भी था। चारुदेष्णा ने मेरे कथन पर कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की; पर उसने जयद की ओर देखा अवश्य।

अब मेरा भी लक्ष्य जयद ही था। मैं पूर्ववत् बोलता गया—''जयद तो अभी युवराज भी नहीं हुआ है। हाँ, यौवन की ऊर्जा उसके व्यक्तित्व से फूटने अवश्य लगी है। उसके चिंतन में उन्माद हो सकता है। प्रौढ़ता की उससे अपेक्षा नहीं की जा सकती। और फिर सोचने को मनुष्य क्या-क्या नहीं सोच लेता!'' इतना कहते हुए मैंने जयद की ओर बड़ी तीखी दृष्टि डाली।

उसका अपराधबोध बोल पड़ा—''हाँ, महाराज, ऐसी ही स्थिति में मैंने कुछ अंड-बंड सोच लिया।''

''इसमें तुम्हारा दोष नहीं है। दोष तो उन परिस्थितियों का है, जिन्होंने तुम्हें इतने नीचे तक सोचने को विवश किया।'' मैंने कहा और फिर अपनी दार्शनिक मुद्रा में बोला, ''देखो जयद, हम लोग यहाँ से कुछ लेकर नहीं जाएँगे। फिर इतना हाय-हाय, इतना तेरा-मेरा क्यों? यह सारा राजपाट यहीं छूट जाएगा। बहुत से ऐसे मूर्ख होंगे, जिन्होंने सोचा होगा कि यह सब उनके साथ जाएगा। पर यह धरती न तो रावण के साथ गई और न राम के साथ। हर व्यक्ति खुले हाथ ही गया और सब खुले

हाथ ही जाएँगे। यदि कोई वस्तु हमारे साथ जाएगी तो हमारा धर्म, हमारा कर्म। फिर सत्ता से ऐसा लगाव क्यों? ऐसा मोह क्यों?''

सभी चुप थे। पूरा वातावरण पश्चात्ताप का मौन पीता रहा।

□

मुझे भी उस रात नींद नहीं आई। मैं उद्धव के संदर्भ में सोचता रहा। उस अंधकार में, उन्हीं आँखों के सामने कंसा आकर खड़ी हो जा रही थी। बिना कुछ बोले ही उसकी आँखों से प्रश्नों की झड़ी लग रही थी। पर मैं किसी प्रश्न का उत्तर नहीं दे पा रहा था, सिवा इसके कि मैं उसे ढाढ़स बँधाऊँ। पर बीच-बीच में उभरती पल्लवी और पुष्पवी की आँखों से क्या कहूँ? वे आँखें किसी आशंका से भरी नहीं हैं, वे केवल इतना जानना चाहती हैं कि वियोग की यह घड़ी कब समाप्त होगी?

गंभीर अंतर्द्वंद्व के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि मुझे अब विलंब नहीं करना चाहिए। यथाशीघ्र पुष्कर की ओर प्रयाण करना ही उचित है। प्रयाण का समाचार सुनते ही कौरवों में व्यग्रता छा जाएगी। शांति और समझौते के लिए तैयार न होती उनकी मानसिकता को आघात लगेगा। इससे उद्धव को भी, यदि किसी संकट में होगा तो, उससे उभरने का अवसर मिल जाएगा। मैं तुरंत चारुदेष्णा के मंत्रणाकक्ष में पहुँचा। वहाँ पर उस समय कोई नहीं था। मैंने परिचर से कहा कि महाराज को बुलाओ। साथ ही मित्रों को भी वहीं बुलवा लिया। चेकितान तो मेरे साथ था ही।

मैंने महाराज से तुरंत अपने प्रयाण की योजना बताई।

''इससे अच्छा होता कि हम अपने गुप्तचर भेजकर पुष्कर की स्थिति का अनुमान लगा लेते।'' महाराज ने कहा।

''अनुमान तो मैंने लगा ही लिया है।'' बड़े विश्वास से मैं बोला, ''या तो युद्ध होगा या हस्तिनापुर समर्पण करेगा।''

चारुदेष्णा बड़े असमंजस में पड़ा। मेरे व्यवहार से उसकी आस्था मेरे प्रति अवश्य बढ़ी थी। वह जो कल था, आज नहीं था। फिर भी वह मेरे इस प्रयाण से संबद्ध होना नहीं चाहता था। मैंने उसकी मनःस्थिति भाँप ली और बोला, ''आप लोग मेरे प्रति शुभकामना करें। मैं इस प्रयाण में अकेला जाऊँगा।'' इतना कहते-कहते मैं एकदम खड़ा हो गया; जैसे मैं अपने निर्णय पर चारुदेष्णा की प्रतिक्रिया भी सुनने को तैयार नहीं था। वह वस्तुतः कुछ बोल भी नहीं पाया। मेरा मुँह देखता रह गया।

केवल सात्यकि बोला, ''ऐसा कैसे हो सकता है कि हम लोगों के रहते आप युद्ध में अकेले जाएँ?''

''अकेला ही तो संसार में आया हूँ। अकेला यहाँ से जाऊँगा भी।'' मैंने कहा।

''किंतु संसार में आने के बाद आप कभी अकेले नहीं रहे और जाने के पहले

भी आप अकेले नहीं रहेंगे।''

''यह तुम कैसे जानते हो कि जाने के पहले मैं अकेला नहीं हो सकता ?'' मैंने कहा, ''भविष्य का गर्भ इतना अबूझ और असूझ है, सात्यकि, कि उसके संबंध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।''

''पर मैं कह सकता हूँ।'' उसने बड़ी दृढ़ता और त्वरा में कहा। साथ ही रक्ताक्ष को लेकर मेरे साथ चलने के लिए संकल्पबद्ध दिखा। ऐसा लगा कि यदि मैं उसे न भी ले चलूँगा, तब भी वह मेरे पीछे लग जाएगा।

''आप चेकितान को भी नहीं ले जाएँगे ?'' इस बार जयद बोला।

''मैं तो नहीं ले जाना चाहता।''

''तब पुष्कर पर विजय प्राप्त कर आप राज्य किसे सौंपेंगे ? 'विभीषण' तो यहीं रह जाएगा।'' जयद ने जानबूझकर चेकितान को 'विभीषण' कहा या अनजाने में यों ही उसके मुख से निकल गया, मैं कह नहीं सकता। पर इसकी प्रतिक्रिया अच्छी नहीं हुई। सात्यकि तो तुरंत बोल पड़ा—''जयद, बोलना सीखो।''

चारुदेष्णा ने भी कहा, ''बोलने के पहले जरा सोचा करो।''

मैंने फिर स्थिति सँभाली—''अरे, बच्चे की बात पर आप व्यर्थ परेशान हैं। समय उसे सबकुछ सिखा देगा।''

मैंने शीघ्र ही वहाँ से बिदा ली। जयद को गले लगाते हुए बोला, ''तुम ठीक कहते हो, विभीषण को ले जाना ही पड़ेगा।''

मैंने शीघ्र ही मुद्रा बदली—''लगता है, राक्षस हमसे अच्छे थे।'' मैंने कहा, ''क्योंकि रावण ने विभीषण को लात अवश्य मारी थी, पर उसे जान से मारकर उसके शव से राजनीति करने की बात नहीं सोची थी।''

इतना सुनना था कि उसका सारा व्यक्तित्व लज्जा के कोटर में कछुए की गरदन-सा दुबक गया। उसे लगा कि उसके मन का कलुष नंगा हो गया है और चारुदेष्णा का भी साहस नहीं कि वह अपने पुत्र की नग्नता पर वस्त्र डाल सके।

मैंने अनुभव किया कि चारुदेष्णा भी पानी-पानी हो गया है।

उसी दिन अपनी कुछ सेना और साथियों को लेकर मैं पुष्कर की ओर चल पड़ा था। किंतु छंदक इस तरह चल देने के पक्ष में नहीं था। उसे युद्ध की पूरी आशंका थी और हमने इसके लिए कोई तैयारी नहीं की थी।

मेरा सोचना था कि इस समय युद्ध करने से तो हमारी पांचालवाली योजना ही खटाई में पड़ जाएगी। अतएव मैं पूर्ण युद्ध के पक्ष में नहीं था। मैं अकेला जाना चाहता था। युद्ध के नियम के अनुसार यह एकाकी युद्ध होता, मेरे और दुर्योधन के बीच। मैं देख लेता उसे।

"यदि उसने चेकितान को ललकारा, तब?" छंदक ने शंका की।

"चेकितान भी उससे किसी प्रकार दुर्बल नहीं है।" मैंने कहा तो अवश्य, पर सोचने लगा कि अब पहलेवाला चेकितान नहीं रहा। उसे परिस्थितियों ने भीतर से बहुत तोड़ दिया है। हताशा उसकी सारी सबलता चबा गई है। निश्चित ही वह दुर्योधन से पराजित हो जाएगा और बाजी हमारे हाथ से निकल जाएगी।

"इसीलिए मैं चेकितान को साथ नहीं ले जाना चाहता।" मैंने छंदक से कहा, "अब यह विषय चेकितान और दुर्योधन के बीच का रहा भी नहीं। अब तो यह मेरे और कौरवों के बीच का प्रश्न है। देखें, वे मेरा सामना करने आते भी हैं या नहीं!"

"तो क्या आप समझते हैं कि कौरव पुष्कर को थाल में सजाकर वैसे ही आपको समर्पित कर देंगे जैसे जयद चेकितान का शव कौरवों को समर्पित करने की बात सोचता था?"

छंदक की बात तो ठीक थी, पर उसने उदाहरण में जो जयद का संदर्भ दिया था, वह ठीक नहीं लगा। मैंने उससे कहा, "तुम किसी बात को लेकर बहुत दूर तक पकड़े मत रहा करो। यह सदा याद रखो कि परिस्थितियाँ ही मनुष्य को प्रभावित करती रहती हैं। जयद या चारुदेष्णा उसके अपवाद तो नहीं। अब तुम्हीं देखो, उद्धव का कहीं अता-पता नहीं। मेरे प्रस्ताव की क्या प्रतिक्रिया हुई, इससे भी हम अनभिज्ञ। फिर राजनीतिक समुद्र भी तूफान के पहले जैसा गुमसुम। ऐसे में पुष्कर की समस्या को लेकर अग्रवाण क्यों संकट मोल ले? इस स्थिति में जयद ने जैसा सोचा, वह एक ऐसे सामान्य मनुष्य का सोचना है, जो शक्ति और सत्ता को सहजभाव से भोगना चाहता है।"

"इसका तात्पर्य है कि जयद अपने निर्णय को बदल भी सकता है?" छंदक बोला।

"जहाँ परिस्थितियाँ बदलीं, वह स्वयं बदल जाएगा।" मैंने कहा, "और फिर आज वह वहाँ नहीं है जहाँ वह उस समय था, जब तुम भागे हुए मेरे पास आए थे। फिर देखना, जहाँ पासा पलटा, उद्धव का आविर्भाव हुआ और हमने पुष्कर के सिंहासन पर चेकितान को बैठा दिया, तब यही पालित श्वान की तरह दुम हिलाने लगेगा।"

□

अपराह्न में हम पुष्कर पहुँच गए थे; पर हमने नगर में प्रवेश नहीं किया। यद्यपि हम नगर सीमा पर ही थे। कुछ लोगों ने हमें देखा भी। किंतु इस समय हमने अरण्य में ही शिविर डाला।

मैंने छंदक को कुछ साथियों के साथ नगर में जाकर स्थिति का निरीक्षण करने

के लिए कहा। पर दो-तीन घड़ी बाद ही वह लौट आया। उसने जो सूचना दी, वह बहुत उत्साहवर्द्धक नहीं थी।

उसने बताया—"उजाड़े गए नीड़ की तरह पूरा नगर अस्त-व्यस्त, भयग्रस्त एवं सुनसान है। बहुत से वृद्ध अवश्य दिखे। लगता है, उन्हींके कंधों पर नगर का अस्तित्व मात्र साँस ले रहा है। उनमें भी कोई किसीसे बात करता दिखाई नहीं दिया।" छंदक का कहना था—"मैंने इनमें से कइयों को छेड़ा भी पर कोई विशेष कुछ नहीं बोला। उनकी मुद्रा से लगता था कि उनके पास बताने को बहुत कुछ है, पर वे बताना नहीं चाहते।"

"क्या नगर में प्रशासन भी नहीं है ?" मैंने पूछा।

"प्रशासन के नाम पर कुछ सैनिक अवश्य हैं।" छंदक ने बताया—"उनका कर्तव्य सामान्य देखभाल तक ही सीमित है। दुर्ग के चारों ओर प्राचीर है और उसका द्वार सदा बंद रहता है।" छंदक का कहना था—"जब मैंने एक सैनिक से पूछा कि 'इस समय यदि तुम्हारे नगर पर आक्रमण हो जाए तो ?'

"वह बड़े निरपेक्षभाव से बोला, 'तो जो होना है, वह होगा।'

" 'कोई सैनिक तैयारी नहीं है ?'

" 'मेरी जानकारी में तो नहीं।' सैनिक ने कहा, 'हाँ, कल-परसों ही कुछ लोग हस्तिनापुर से आए हैं—और वे प्रासाद में हैं।'

" 'उनके साथ सैनिक नहीं थे ?'

" 'कोई खास नहीं। कुछ लोग थे अवश्य, पर उनकी मानसिकता युद्ध के अनुरूप नहीं थी।' "

सैनिक के कथन को दुहराने के साथ ही छंदक ने बताया—"इससे अधिक कुछ ज्ञात न हो सका।"

"जो कुछ ज्ञात हुआ, वह कम नहीं है।" मैंने कहा।

सूर्य पश्चिम में ढुलक चुका था, फिर भी मैंने कहा, "हमें अभी ही नगर में प्रवेश करना चाहिए।"

मैं इस विषय पर विचार ही कर रहा था कि पश्चिम की ओर से चिड़ियों की चहचहाहट सुनाई पड़ी। फिर झुंड-की-झुंड उधर ही आती दिखाई पड़ीं। मृगों के समूह में भी हलचल मच गई थी। वे भी बेतहाशा भागे चले आ रहे थे।

"लगता है, कोई सेना आ रही है।" छंदक बोला।

"स्पष्ट है, उसकी गति काफी तेज है।" रक्ताक्ष ने कहा।

मेरे मन में भी आया कि पीछे से आक्रमण करने की यह युक्ति द्रोण के मस्तिष्क की ही उपज हो सकती है। लगता है, हम पुष्कर में प्रवेश न कर पाएँगे

और नगर के बाहर ही युद्ध करना पड़ेगा। इससे यह भी आभास लगा कि हस्तिनापुर की गुप्तचर व्यवस्था भी बड़ी सक्रिय और संवेदनशील है, नहीं तो अग्रवाण से हमारे प्रयाण और यहाँ आने के साथ ही हस्तिनापुर की सेनाएँ कैसे आ जातीं ?

धीरे-धीरे संध्या निकट आ रही थी। सूर्य की ठंडी पड़ती तेजस्विता के साथ ही हमारा उत्साह भी कुछ ठंडा पड़ने लगा। मैं राजनीति बदलने की सोचने लगा। इस संबंध में मैंने अपने मित्रों से विचार-विमर्श आरंभ किया। वे किसी निष्कर्ष पर पहुँच नहीं पा रहे थे। उनके लिए भी यह अप्रत्याशित तथा असोचित था।

''लगता है, अब हम चारों ओर से घेर लिये जाएँगे।'' सात्यकि अधीर लगा।

''हर प्रकाशमान की नियति चारों ओर से अंधकार से घिरने की होती है।'' विपत्ति में उभरनेवाली एक शाश्वत मुसकान मेरे अधरों पर आई—''वह दीप क्या, जो अंधकार से घिरा न हो! अँधेरा ही उसे अस्मिता प्रदान करता है और उसकी उपयोगिता भी स्थापित करता है।'' भीतर से उबलता हुआ मैं ऊपर से शांत ज्वालामुखी की तरह हरियाली ओढ़े रहा और बोलता गया—''यदि अंधकार न होता तो दीप की क्या आवश्यकता थी ? यदि अधर्म न होता, अन्याय न होता, मनुष्य अपने कर्मों से च्युत न होता तो धरती पर मेरी जरूरत ही क्या थी ?''

मेरे इतना कहते ही मित्रों की व्यग्रता कुछ कम हुई। जब-जब मैं ऐसी स्थिति में पड़ता, जब-जब सद्यः समस्या के समाधान का एक टुकड़ा भी मेरे हाथ न लगता तब-तब मैं कुछ ऐसा कहता कि मेरे व्यक्तित्व में उन्हें ईश्वरत्व दिखाई देता। वे अपनी व्यग्रता मुझे सौंपकर शांत हो जाते। इस बीच नियति कोई-न-कोई रास्ता तो निकाल ही देती।

इस बार भी ऐसा ही हुआ। लोगों पर मेरा ईश्वरत्व प्रभावी हुआ। लोग व्यग्रता-मुक्त हो आसन्न संकट को कुतूहल की दृष्टि से देखते रहे।

इस बीच प्रकृति में आया हड़कंप भी सन्नाटे में बदलने लगा। स्पष्ट लगा कि उधर से आनेवाले लोगों ने या तो मार्ग बदल दिया है या वहीं शिविर डाल दिया है।

मैंने छंदक से कहा, ''अब तुम्हारी भूमिका आरंभ होती है, मित्र!'' क्योंकि स्थिति के मूल्यांकन का कार्य मैं बहुधा उसी व्यक्ति को सौंपता था और अपने बहुमुखी व्यक्तित्व के कारण वह उसे निभाता भी खूब था।

वह मेरा आशय समझ गया और एक तेज-तर्रार अश्व पर उड़कर चला। देखते-ही-देखते जंगल में खो गया।

उसके आने और जाने के बीच संक्षिप्त अंतराल के अनजाने और अनचीन्हे क्षण निरंतर रंग बदलते रहे। रहस्य बढ़ता गया। शीघ्र ही वह लौटा। उसके अगल-बगल के लोग रहस्य के अंधकार से निकली किरणों की तरह कुतूहलपूर्ण थे। ये कृतवर्मा

और युवराज मणिभान थे।

"लीजिए, खोदा पहाड़ और निकली चुहिया।" उन दोनों को मेरे आगे करता हुआ छंदक बोला।

"पर ये चुहिया तो नहीं हैं।" मैंने हँसते हुए कहा, "इनके लिए तो मुहावरा बदलना पड़ेगा। तुम्हें कहना चाहिए कि 'खोदा पहाड़ और निकले सिंह'।"

यद्यपि कृतवर्मा और मणिभान को यहाँ आने के लिए मैंने ही कहा था, पर मुझे विस्मरण हो गया था। मेरा उद्देश्य था कि लोग एक स्थान पर इकट्ठे हो जाएँ, इससे पुष्कर पर दबाव बनाने में सफलता मिलेगी।

"हम लोगों ने शायद आपका रास्ता नहीं पकड़ा, इसीलिए मार्ग में मिलना संभव न हो सका।"

"अक्षरश: संभव हुआ।" मैंने मुसकराते हुए कहा, "अभी तो हम मार्ग में ही हैं। पुष्कर नगर में तो हमने प्रवेश किया नहीं।"

मेरे साथ लगभग सभी हँस पड़े।

अन्य संदर्भों को छोड़कर मणिभान ने अपने जामाता के संबंध में जिज्ञासा की—"कहीं उद्धव का पता चला?"

"अभी तक तो नहीं।" मैंने कहा और पूरा वातावरण गंभीर हो गया।

मणिभान ने सिर खुजलाते हुए कहा, "जिसपर आपका वरदहस्त हो, उसका बाल भी बाँका नहीं होना चाहिए; पर हमारी चिंता पल्लवी और पुष्पवी को लेकर है। उद्धव के अदृश्य होने का समाचार नाग प्रदेश तक पहुँच चुका है और मेरी दोनों कन्याएँ यह जानकर आशंकित हो उठी हैं।"

"उनके लिए चिंता की बात ही है।" मैंने कहा, "पर उनका सतीत्व इतना प्रबल है कि उन्हें कुछ होना तो नहीं चाहिए।"

किंतु मेरा चिंतन दूसरी ओर था। मैं सोच रहा था कि यह समाचार केवल अफवाह के पंख लगाकर नाग प्रदेश पहुँचा या इसके प्रचार के पीछे भी कौरवों की कोई चाल है।

पर हम बहुत सोचने-समझने और विचार करने की स्थिति में नहीं थे। हमने तुरंत रणनीति बदली। जहाँ पहले मैं एकाकी पुष्कर में प्रवेश का पक्षधर था, वहाँ अब मैंने सबको साथ लिया। पुष्कर पर गंभीर सैनिक दबाव बनाना मैंने उचित समझा।

पश्चिमी आकाश में लटकता सूर्य बड़ी अधीरता से मेरे पुष्कर प्रवेश की प्रतीक्षा करता दीख पड़ा।

□

हमारे प्रवेश करते ही उजड़े नगर में कंपन आ गया। जो जहाँ थे वहीं से हमें

देखकर मुँह मोड़ ले रहे थे। उनकी जिज्ञासा ने उपेक्षा का आवरण ओढ़ लिया था; जैसे उन बूढ़े नागरिकों को इन सबसे कोई मतलब ही न हो। 'जो होता है, उसे होने दो' की उनकी मानसिकता ने ही नगर में हमारी अगवानी की।

जो थोड़े से सैनिक नगर में व्यवस्था के लिए थे, उन्होंने भी कोई प्रतिरोध नहीं किया। नगर के उत्तरी छोर पर स्थित जब हम राजप्रासाद की ओर बढ़े तब भी कोई गतिरोध नहीं था। प्रासाद के सिंहद्वार पर पहुँचने पर कुछ सैनिकों ने हमें सम्मानपूर्वक रोका। हमारी सारी सेना प्रासाद के समक्ष प्रशस्त प्रांगण में फैल गई।

मैंने देखा, सिंहद्वार भीतर से बंद है। बाहर पंक्तिबद्ध सैनिक गंभीर मुद्रा में खड़े हैं। छंदक ने मेरे कान में धीरे से कहा, "युद्ध का वातावरण तो नहीं लगता। इस गंभीरता के भीतर से कोई विस्फोट हो तो नहीं कह सकता।"

मैं मौन सोचता रहा कि आखिर बात क्या है। तब तक सिंहद्वार खुला। कई रथ भीतर से आते दिखाई दिए। सबसे आगे आचार्य द्रोण का रथ था। उसके पीछे के रथ पर मामा शकुनि थे और तीसरा रथ उद्धव का था। फिर कुछ थोड़े से सैनिक थे।

उद्धव को देखते ही सबके चेहरों पर अप्रत्याशित प्रसन्नता दिखाई पड़ी। उद्धव भी प्रसन्न दिखा। कहीं भी युयुत्सा का भाव नहीं था। मैंने समझ लिया कि उद्धव ने अपनी भूमिका बड़ी कुशलता से निभाई। बिना रक्त बहाए पुष्कर हमें मिलने जा रहा है।

हम आचार्य के रथ की ओर बढ़ें, इसके पहले ही आचार्य का रथ हमारे निकट आ चुका था। मैंने अपने रथ से कूदकर उनके चरण स्पर्श किए। उन्होंने बड़े गद्गद कंठ से आशीर्वाद दिया। फिर उन्होंने कहा, "तुमने इधर दो काम सौंपे थे।"

मैं समझ नहीं पाया। उन्होंने ही कहा, "याद करो, द्वारकाधीश, तुमने किसी स्त्रैण को पुंसत्व के लिए भेजा था?"

मैं मुसकराने लगा। आचार्य द्रोण शिखंडिन के संदर्भ में कह रहे थे।

वे कहते गए—"उस सर्प शिशु को तो मैं अपने आश्रम में घुसने नहीं देता, किंतु उसने तुम्हारा नाम लिया और यह कहा कि उन्होंने कहा कि आपके सिवा कोई भी इस असंभव कार्य को संभव नहीं कर सकता। तुम्हारे कहे वे शब्द मेरे अहं को छू गए।" इसके बाद आचार्यजी कुछ सोचकर हँसे—"तुम कितने चालाक हो, कन्हैया! तुम जानते हो कि ब्राह्मण का अहं कुछ भी करने को तैयार हो जाता है। और वह हुआ भी। एक ओर ब्राह्मण का जाग्रत अहं था और दूसरी ओर द्रुपद के प्रति मेरा फनफनाता आक्रोश। अंततः तुम्हारी ही विजय हुई।"

"यह सब आपकी कृपा है।" मैंने मुसकराते हुए कहा और मन में सोचने लगा कि इतना होने पर भी अभी आचार्य का आक्रोश ठंडा नहीं पड़ा है। द्रुपद तो पराजित

है, अपमानित है, उसका आधा राज्य ले लिया गया है। सर्प से उसकी मणि छीन ली गई है। उसका फनफनाना तो कुछ समझ में आता है; पर एक ब्राह्मण का क्रोध तो हिमखंड पर अप्रत्याशित उभरी वह दावाग्नि है, जो अंततः उसके अस्तित्व को ही भस्म करके उड़ा देती है। पर मैंने कुछ कहा नहीं। बड़े सहजभाव से पूछा, ''दूसरा कौन सा कार्य है, आचार्यजी ?''

''कैसे कहूँ कि काम सौंपकर और उसका प्रतिफल पाकर भी भूल जानेवाले व्यक्ति को कृतघ्न ही कहेंगे।'' इतना कहकर वे खिलखिलाकर हँसे।

''आप कह सकते हैं, पर मैं हूँ नहीं।'' मैंने भी हँसते हुए कहा, ''क्योंकि मैं सबकुछ हो सकता हूँ, पर कृतघ्न नहीं हो सकता। संसार में सारे पापों का प्रायश्चित्त है, पर कृतघ्नता का कोई प्रायश्चित्त नहीं है।'' कहते-कहते मेरी आवाज इतनी गंभीर हो गई थी कि आचार्यजी का व्यंग्य एकदम धराशायी हो गया था।

''पुष्कर को चेकितान को लौटाने का काम क्या महत्त्वपूर्ण नहीं है ?'' आचार्य बोले।

''पर इसे तो मैंने युवराज दुर्योधन को सौंपा था।'' मैंने कहा।

''किंतु दुर्योधन...''

आचार्यजी इतना बोल पाए थे कि बातों का क्रम बीच में शकुनि ने पकड़ लिया—''बात यह है कि चाहे आप दुर्योधन को कहलाएँ या किसी और को, पर करना तो आचार्य को ही था। हस्तिनापुर के सारे कर्ता-धर्ता तो यही हैं।''

''इसका तात्पर्य है कि हस्तिनापुर में आचार्य की इच्छा के बिना एक पत्ता भी हिलता नहीं होगा!''

''हाँ, स्थिति तो यही है।'' शकुनि बोला, ''आचार्य और पितामह की इच्छा हुई कि कन्हैया यदि कहते हैं तो हमें पुष्कर लौटा देना चाहिए—और हम लौटाने चले आए।''

''इसका तात्पर्य यह है कि यह कार्य दुर्योधन की इच्छा के बिना संपन्न हो रहा है ?''

''बड़ों की आज्ञा ही दुर्योधन की इच्छा है।'' शकुनि बोला, ''फिर आपका कहना वह न माने, यह कैसे हो सकता है!''

मन में यह आवाज उठी कि दुर्योधन कब से ऐसा आज्ञाकारी हो गया ? पर मैं कुछ बोला नहीं। शकुनि ही कहता गया—''वह तो बस यह चाहता है कि आपकी कृपा-दृष्टि उसपर बनी रहे, आपकी छत्रच्छाया उसे मिलती रहे।''

उसके ऐसा कहने में तथा उसकी मुद्रा में छल की गंध आ रही थी। फिर भी मैंने ऐसा प्रदर्शित किया कि मैं उसके कहने को गंभीरता से ले रहा हूँ।

मैंने कहा, "दुर्योधन का यह मानसिक परिवर्तन हस्तिनापुर को स्वर्ग बना देगा—इसलिए नहीं कि उसने मेरी बात मानी है वरन् इसलिए कि उसने बड़ों का सम्मान करना सीख लिया है।"

"यह बात तो उसमें पहले से ही है।" शकुनि ने कहा, "वस्तुस्थिति यह है कि मेरे भानजों के बारे में सदा से गंदा प्रचार किया गया है।"

"ऐसा!" मैंने मुसकराते हुए आचार्यजी की ओर देखा। उनपर विचित्र मौन छाया था। उनका व्यक्तित्व झूठ की चपेटें खाते-खाते ऐसी किसी चिकनी चट्टान की तरह लगा, जिसमें अब लहरों को मोड़ने की शक्ति भी नहीं रही।

मैं भी चुप रह गया; क्योंकि मैं आचार्य की बाध्यता को समझता था। वह फूटकर बह नहीं सकते थे वरन् भीतर-ही-भीतर गल सकते थे।

उसी मौन के गंभीर अंतराल में आचार्यजी ने पुष्कर के कोष की कुंजी मुझे सौंपी और मैंने उसे बगल में खड़े चेकितान को सौंप दी। फिर मामा की ओर देखकर बोला, "भूल करना तो मनुष्य की प्रकृति है; पर उसको सुधार लेना उसकी संस्कृति है।" स्पष्टतया मेरा कथन दुर्योधन के संदर्भ में था। शकुनि मामा ने मेरे कथन पर बड़े भाव से सिर हिलाया।

इसी बीच उद्धव पीछे से निकलकर सीधे मणिभान के पास पहुँचा। मैंने उसे देखा भी, पर उपेक्षाभाव से। लोगों ने अवश्य ध्यान दिया होगा कि मेरी ही प्रतिच्छाया उद्धव पहले मुझसे न मिलकर अपने श्वसुर के पास चला गया।

□

अब पुष्कर प्रासाद पर मेरा अधिकार था। चेकितान को तो विश्वास ही नहीं हो रहा था कि इतनी आसानी से पुष्कर मिल जाएगा। वह प्रसन्न भी था और चकित भी। उसका परिवार अभी नाग प्रदेश में ही था। उसका आश्चर्य बड़ी उत्सुकता से प्रासाद की प्रत्येक प्राचीर ही नहीं, उसकी एक-एक ईंट देख रहा था। इस बीच उसमें बहुत कुछ परिवर्तित किया भी गया था। उसका कुतूहल तो था ही, साथ ही उन दीवारों से फिर न मिल पाने का उसका विश्वास चूर हो चुका था। आज वह विचलित था। उसकी विह्वलता उन प्राचीरों को बड़ी ममता से स्पर्श कर रही थी।

इसपर शकुनि मामा (मेरे वय के लोगों के लिए शकुनि मामा जगत् मामा हो चुके थे) ने व्यंग्य भी किया—"इतनी आत्मीयता से इन प्राचीरों को छू रहे हो मानो ये तुम्हारी नहीं, किसी और की हों।"

"अभी तक तो ये दूसरे की ही थीं।" चेकितान बोला।

वह कुछ और बोलने ही वाला था कि मैंने मुसकराते हुए कहा, "शायद चेकितान यह देख रहा हो कि ये दीवारें लाक्षा की तो नहीं हैं।"

बस इतना कहना था कि मामा की आकृति पीली पड़ गई। निश्चय ही उसका अपराधबोध भीतर से उसे व्यग्र कर उठा होगा। उसकी मानसिकता धराशायी हुए एक बेहया पहलवान की तरह धूल झाड़कर पुन: सँभली और बोली, ''अरे कन्हैया, उस दुर्घटना की याद मत दिलाओ। आज भी जब सोचता हूँ तो मन रो पड़ता है।''

मैं मन में कुछ और सोचता था, पर मुख से निकल पड़ा—''जरूर रोता होगा।''

तब मैंने आचार्यजी की ओर देखा, उनकी आँखों में आँसू झलक आए थे। उन्होंने भरे गले से कहा, ''वह नियति का ऐसा क्रूर परिहास था, जिसमें मैं लुट गया। मेरी व्यक्तिगत क्षति हुई, जिसकी पूर्ति संभव नहीं।''

आचार्यजी का स्वर इतना भारी हो गया था कि सारा मौन एक गंभीर सन्नाटे में बदल गया। उन्होंने आँसुओं को तो किसी प्रकार रोक लिया, पर भीतर के उबलते आवेग को वे रोक नहीं पाए—''उसने मेरे प्रिय शिष्य अर्जुन को मुझसे छीन लिया।''

''क्या अर्जुन आपका प्रिय शिष्य था?'' मैंने जानबूझकर अब बात आगे बढ़ाई।

''इसमें भी कोई संदेह है!'' आचार्यजी बोले, ''द्रुपद से प्रतिशोध लेने की गुरुदक्षिणा एकमात्र उसीने चुकाई थी और कोई शिष्य मेरी गुरुदक्षिणा न दे सका।''

''दुर्योधन ने भी नहीं?'' मैंने प्रश्न करते ही शकुनि मामा की ओर देखा। वह चुपचाप धरती देखने लगा। आचार्यजी भी मौन रह गए। मुँह बंद और आँखें गीलीं।

ऐसे अवसर पर मैं अपनी आदत से बाज नहीं आया। आचार्यजी को एक चिकोटी और काटी—''बात यह है, आचार्यजी, कि आपकी गुरुदक्षिणा भी बड़ी कठिन होती है।''

''पर जिसमें सामर्थ्य होती है, वह चुकाता ही है।'' आचार्य ने कहा।

''आप सामर्थ्य न कहकर यदि आस्था कहें तो अधिक उचित होगा।'' मैंने मुसकराते हुए एक बाण और चुभोया—''क्योंकि अँगूठा काटकर देने की सामर्थ्य तो और में भी हो सकती है, पर आस्था एक में थी, जिसे आपने शायद अपना शिष्य भी स्वीकार नहीं किया था।''

अब तो आचार्यजी की आकृति देखने योग्य थी। मैंने उनके उस घाव पर अँगुली धरी थी, जो कभी भरनेवाला नहीं था। आचार्यजी कुछ बोले तो नहीं, पर भीतर-ही-भीतर तिलमिलाकर रह गए। मुझे भी लगा कि मैंने असमय राग छेड़ा।

मैंने तुरंत मुद्रा बदली और नई बात छेड़ दी—''अच्छा यह बताइए, यदि अर्जुन आपके पास आए तो क्या आप उसे अपना उत्तराधिकारी बना सकते हैं?''

''कहीं मरा घोड़ा घास खाता है?'' वे लगभग झुँझलाते हुए बोले, ''तुम भी कैसी असंभव बात करते हो, कन्हैया!''

''यह अद्भुत संसार है, आचार्यजी! इसमें कुछ भी असंभव नहीं। कभी-कभी

मरा हुआ घोड़ा भी घास खाते दिखाई देता है।'' मैं बोला और हँसने लगा।

यद्यपि मैंने हवा में तीर मारा था, पर शकुनि उससे बेतरह घायल हुआ। उसका जो मुँह खुला था, खुला ही रह गया। उसे अपने स्वप्न दुःस्वप्न में बदलते दिखाई दिए। मैंने उसकी लड़खड़ाती मानसिकता को एक धक्का और दिया—''पर मामा की कृपा से मरे हुए घोड़े को घास खिलाने का अवसर मिलना असंभव है; क्योंकि मामा घोड़े को घास खिलाकर मारते हैं।''

मामा भी बड़ा नाटकीय है। उसने अपनी उद्विग्नता पर एक प्रगल्भ हँसी की चादर ओढ़ाई और हँसते हुए ही बोला, ''कन्हैया, तुम्हें समझना बड़ा कठिन है।''

उधर आचार्य की बुद्धि का कपोत मेरे और मामा के बीच हुए संवाद में से सत्य के दाने चुगने में लगा था। मैंने अपना पूर्व प्रश्न आचार्यजी की ओर पुन: उछाला—''आपका उत्तराधिकारी कौन होगा?''

आचार्यजी ने बहुत समझकर उत्तर दिया—''गुरु के ज्ञान का उत्तराधिकार तो उसके शिष्य का ही होता है।''

''पर आपके तो बहुत से शिष्य हैं।'' मैंने कहा, ''आपका पुत्र भी आपका शिष्य है, तब क्या आप अपने ज्ञान के उत्तराधिकार को सबमें बाँट देंगे?''

''यही तो एक ऐसा उत्तराधिकार है जो बँट नहीं सकता। इसमें दाता से अधिक ग्रहीता की क्षमता और सामर्थ्य काम करती है।'' आचार्यजी बोले, ''मैंने तो लुटाया है, जो जितना बटोर सका होगा उतना लाभान्वित हुआ होगा।''

''आपने अभी कहा है कि अर्जुन आपका सबसे प्रिय शिष्य था। क्या उसके लिए आपके आचार्यत्व ने ज्ञान लुटाते हुए निष्पक्षता बरती होगी?'' मैंने पूछ तो दिया, किंतु तुरंत स्वयं सँभला—''क्षमा कीजिएगा, मुझे यह प्रश्न आपसे नहीं पूछना चाहिए था।'' मैंने एक राजनीतिक गोटी और बढ़ा दी—''क्षमा कीजिएगा, मैंने यह धृष्टता इसलिए की कि कर्ण की उपेक्षा मुझे सालती रहती है।''

आचार्यजी कुछ बुझे-बुझे-से लगे। पहले एकलव्य और बाद में कर्ण की चर्चा करके मैंने उनके अहं को निर्वसन करने की चेष्टा की थी। ऐसा न करता तो आचार्यजी धरातल पर न आते और मुझे द्रोण तथा द्रुपद दोनों को एक धरातल पर लाना था। इससे मैं हस्तिनापुर को एक ऐसी उलझन में डाल देना चाहता था, जिससे दुर्योधन आदि की मानसिकता अस्थिर हो और वह जिस आक्रामकता के साथ पांचाल जाना चाहता है, वह दुर्बल पड़ जाए। इसी नीयत से मरा घोड़ा घास खाता दिखाने का हवाई बाण भी मैंने मारा था।

दूसरे दिन हस्तिनापुर के लोगों की बिदाई थी। मैंने सबको इसी कार्य में लगा दिया। मैंने चेकितान से कहा, ''जितना संभव हो, इनकी बिदाई उतनी ही भव्य होनी

चाहिए। इसी बहाने तुम अपनी प्रजा से भी मिलो और सैनिकों तथा कर्मचारियों से भी। उनसे कृतज्ञता ज्ञापित करो कि सत्ता बदल जाने के बाद भी उनकी आत्मीयता और आस्था तुम्हारे प्रति बनी रही।''

इस बीच उद्धव से मेरी केवल औपचारिक बातचीत हुई। मैंने उससे संकेत किया कि हस्तिनापुरवालों के चले जाने के बाद ही हमारी मंत्रणा ठीक होगी। फिर भी इतना तो मेरे मुख से निकल ही गया कि तुम्हारा कोई समाचार न मिलने से तुम्हारे आत्मीय जो उद्विग्न थे सो तो थे ही, पर इसका राजनीतिक प्रभाव आर्यावर्त्त पर बड़ा विचित्र पड़ रहा था। इस संदर्भ में मैंने चारुदेष्णा और उसके पुत्र जयद की मन:स्थिति की उसे संक्षिप्त जानकारी दी।

''तब तो यथाशीघ्र अग्रवाण यह समाचार भेज देना चाहिए कि मैं सकुशल हूँ।'' उसने कहा और मैं सहमत हुआ।

मैंने कहा, ''अभी दूत दौड़ाओ और चारुदेष्णा के नाम उसे एक पत्र दो कि मुझे ज्ञात हुआ है कि आप मेरा समाचार न मिलने से व्यग्र थे; पर आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि मैं उन व्यक्तियों में हूँ, जो अंतिम विजय के बाद ही दुंदुभी बजाते हैं। आपकी शुभकामना और अनुशंसा से मैं अपने कार्य में सफल हुआ। आज पुष्कर के सिंहासन पर युवा चेकितान आसीन हैं। चारों ओर आपकी प्रशंसा में गीत गाए जा रहे हैं।''

घड़ी भर के भीतर ही दूत अग्रवाण के लिए चल पड़ा।

दूसरे दिन पूरे सम्मान के साथ हस्तिनापुरवालों की बिदाई हुई। कल का उजाड़ और सूना पुष्कर आज चहल-पहल से भर गया था। पूरे नगर पर कल तक जहाँ वृद्धता की झुर्रियाँ पड़ी थीं, आज वह यौवन और बाल उल्लास से पुलकित दिखाई दे रहा था। नगर में लौटती यह जीवंतता चेकितान के प्रति प्रजा की आस्था का प्रमाण थी।

चलते समय आचार्यजी ने चेकितान को आशीर्वाद दिया। शकुनि मामा ने गले लगाया। बाद में जब मैं आचार्यजी के समक्ष अपने प्रणति निवेदन के लिए झुका, उन्होंने मुझे अपने चरण स्पर्श करने नहीं दिए वरन् वक्ष से लगाते हुए कहा, ''पूरा आर्यावर्त्त जिसे भगवान् मानता हो, वह मेरे चरण स्पर्श करे, यह कैसे हो सकता है!''

''क्योंकि आप आचार्य हैं।'' मैंने कहा, ''आचार्य तो भगवा ्‌ से भी बड़ा होता है।''

''पर मेरे जैसा आचार्य नहीं।'' वे इतना ही बोल पाए थे कि पश्चात्ताप से उनका गला रुँध गया—''राजा बन सकता था, बन गया। शायद मेरी सत्तालिप्सा

मुझे सम्राट् भी बना दे। सबकुछ बन सकता हूँ, पर सांदीपनि नहीं बन सकता।''
इतना कहने के बाद वे रुके नहीं, सीधे अपने रथ पर चले आए।

आचार्यजी का प्रभाव मामाजी पर भी पड़ा। उन्होंने मुझे गले लगाया और बोले, ''शायद तुम विश्वास नहीं करोगे, कन्हैया, कि हम लोग तुम्हें कितना मानते हैं!''

इसपर मैं हँस पड़ा। मेरा अंत:करण भी हँस रहा था।

बाहर की हँसी उसके कथन पर थी और भीतर की हँसी उसके झूठ पर। मैंने हँसते हुए ही कहा, ''आज आर्यावर्त्त में विश्वास का ही तो संकट है।''

''और उस संकट को तुम्हीं दूर कर सकते हो।'' मामा थोड़ा गंभीर हुआ—''मरा घोड़ा जब घास खाता दिखाई देगा तब देगा। मेरा विश्वास है, तुम जिंदे घोड़े को जरूर घास डालोगे।'' उसने बड़ी चालाकी से कहा कि यदि असंभव भी संभव हो जाए और पांडव कहीं दिखाई पड़ जाएँ तो देखा जाएगा, पर संप्रति आपकी कृपा दुर्योधन पर होनी चाहिए।

मैंने भी व्यंजना का उत्तर व्यंजना में ही दिया—''आप तो जानते ही हैं, मामाजी, मैं जन्म से ग्वाले का बेटा हूँ। गोपाल हूँ। अब तक गायें चराता रहा, अब घोड़े भी चराऊँगा।''

वह हँस पड़ा। उसकी हँसी भी झेंप से भरी थी। शायद ऐसे सटीक उत्तर की वह आशा नहीं करता था।

□

उसी दिन संध्या को हम मंत्रणाकक्ष में मिले। चेकितान, उद्धव, कृतवर्मा, सात्यकि, गद, मणिभान आदि सभी थे। सब पर विजय का उल्लास छाया था और सब एक स्वर से इसके लिए उद्धव को बधाई दे रहे थे। इसपर चेकितान से रहा नहीं गया। उसने कहा, ''मेरे लिए तो बधाई के पहले पात्र कन्हैया हैं और दूसरे उद्धव।''

''देखना यह होगा कि मार्ग दिखानेवाला मुख्य है या मार्ग पर चलनेवाला।'' सात्यकि बोला।

''मार्ग ही नहीं रहेगा तो व्यक्ति चलेगा कैसे?'' गद बोला। पर चेकितान चुप था।

''मार्ग ही होकर क्या करेगा, जब चलने की शक्ति नहीं रहेगी?'' कृतवर्मा ने कहा।

अब मुझसे रहा नहीं गया—''मार्ग की भी आवश्यकता है और चलने की शक्ति की भी। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, एक-दूसरे से अलग नहीं।'' एक क्षण रुककर मैं मुसकराते हुए पुन: बोला, ''तुम लोग तो मुझे और उद्धव को एक-दूसरे से अलग कर देना चाहते हो।''

''ये तो वही चाहते हैं, जिन्हें आज आधा से अधिक आर्यावर्त्त चाहता है।'' उद्धव बोला, ''पर वह अभी तक कर नहीं पाया।''

''विश्वास रखो, ये भी कर नहीं पाएँगे।'' मैंने कहा और हँसा। मेरी हँसी में औरों की हँसी भी शामिल हो गई।

फिर उद्धव ने अपनी कहानी विस्तार से आरंभ की। उसने बताया—''आपका संदेश लेकर जब मैं गया तो सबसे पहले मेरी मुलाकात शकुनि मामा से हुई। उसने देखते ही बड़े व्यंग्य से पूछा, 'कहिए महाराज, आपका इधर आगमन कैसे हुआ?'

''मैंने कहा, 'कन्हैया का समाचार लाया हूँ, उनका दूत बनकर।'

'' 'दूत कर्म में तो आपकी निपुणता जगत्‌विदित है।' उसका व्यंग्य गोपियों के संदर्भ में था। पर मैं गंभीर ही रहा। वह मुझे सीधे महाराज के पास ले गया। मार्ग में दुर्योधन दिखाई भी दिया। उसने मुझे कुतूहल से देखा। पर जब मैंने उसे प्रणाम किया तो उसने मुँह फेर लिया। मुझे यह बात अच्छी नहीं लगी। मेरी रोषपूर्ण दृष्टि मामा की ओर मुड़ी। उसने तुरंत मुँह मोड़ लिया और बड़े दुःख से बोला, 'क्या करूँ? यह हस्तिनापुर का दुर्भाग्य है। जब से 'शिवम्' (लाक्षागृह) की दुर्घटना घटी है तब से दुर्योधन की मानसिकता ऐसी हो गई है। कभी-कभी तो वह एकदम संतुलन खो देता है। किस समय क्या कर देगा, कुछ कहा नहीं जा सकता।' ''

उद्धव का कहना था—''यह सुनकर मुझे मौका मिला। मैंने तुरंत कहा, 'लगता है, मन की इसी असंतुलित अवस्था में उसने पुष्कर पर आक्रमण किया होगा; क्योंकि शायद ही कोई मित्र अपने मित्र पर आक्रमण करता हो।' शकुनि मामा चुप हो गया।''

उद्धव का कहना था—''स्थिति मुझे आपका संदेश कहने के अनुकूल नहीं लगी। इसलिए महाराज धृतराष्ट्र के निकट पहुँचते-पहुँचते मैंने आपका संदेश बदल दिया और धृतराष्ट्र से बोला, 'आपके पास पांचाली के स्वयंवर का निमंत्रण तो आया होगा?'

''उन्होंने सकारात्मक ढंग से सिर हिलाया। मैंने देखा, उनकी अंधी आँखों में भी मेरे प्रति शंका ही टपक रही थी। पर मैं बोलता ही गया—'कन्हैया का कहना है कि इस निमंत्रण को आपको गंभीरता से लेना चाहिए।'

'' 'गंभीरता से लेना चाहिए!' महाराज सोचते हुए बोले, 'आखिर क्यों?'

'' 'कन्हैया का सोचना है कि द्रौपदी को आपके परिवार में आना चाहिए।'

'' 'ऐसा वे क्यों सोचते हैं? इस सोच के पीछे उनका क्या कारण है?' इस सोच के पीछे धृतराष्ट्र की शंकाकुल मनःस्थिति ही प्रकट हुई थी।

'' 'सही कारण तो वे ही बता सकते हैं, महाराज! मैं तो उनका दूत हूँ। उनका

संदेश लेकर आया हूँ।'

" 'आखिर दूत भी तो कोई समझदारी रखता होगा कि मेरा स्वामी ऐसा संदेश मुझसे क्यों भिजवा रहा है!' "

उद्धव ने बताया—"बूढ़े ने एक क्षण के लिए मुझे संकट में डाल दिया। पर मैंने शीघ्र ही सोच लिया। मैंने कहा, 'हो सकता है कि उन्हें द्रौपदी के जरासंध के परिणय में जाने का खतरा दिखाई दे रहा हो।' "

इतना सुनते ही मुझे हँसी आ गई। मैं उद्धव को बुद्धिमान तो समझता था, पर इतना कूटनीतिज्ञ नहीं मानता था। अब तक मैंने उसे दो संदर्भों में भेजा था। एक गोपियों के प्रसंग में और दूसरे पांडवों के लाक्षागृह कांड के पूर्व। और दोनों में उसका दूतत्व पराजित हुआ था। पर इस बार उसने दूत कर्म में बड़ी परिपक्वता दिखाई। मैंने इसके लिए उसे बधाई दी।

उद्धव ने बताया—"जरासंध का नाम लेते ही मामा की हँसी फूट पड़ी। महाराज के अधरों पर भी मुसकराहट उभरी। मेरे प्रति शंका का उनका भाव उसी हँसी में बह गया।

"मैंने उनके भ्रम को पुनः सहलाया—'यह मेरा सोचना है, मैं नहीं जानता कि कन्हैया ऐसा सोचते हैं या नहीं।'

" 'नहीं, कन्हैया भी ऐसा ही सोचते होंगे।' शकुनि बोला, 'पर अब ऐसी बात नहीं है।'

" 'अब अपने से बड़े शत्रु को पराजित करने के लिए मेरी ओर हाथ बढ़ा रहे हैं। नहीं तो हम लोगों के संबंध में सोचने के लिए उन्हें सुधि कहाँ है!' महाराज बोले।

" 'पहले ऐसा सोचा जा सकता था; पर अब ऐसी बात नहीं है। जब पांडव भस्म हुए, उन्हींके साथ उनके प्रति कन्हैया का स्नेह भी भस्म हो गया। अब तो उनके लिए जो कुछ हैं, आप ही लोग हैं।'

" 'सच!' मेरे कथन पर शकुनि एक सीमा तक प्रसन्न था और कुछ शंकाकुल भी—'जो भी हो, तुम्हारा कन्हैया है बड़ा छलिया! वह किस समय क्या कर देगा, कहा नहीं जा सकता।'

" 'काल किसी व्यक्ति से कम छलिया नहीं है। यदि कन्हैया ऐसे ही छलिया होते तो पांडवों को अवश्य बचा लेते।' मैं बोला।"

शकुनि मामा की निकटता और विश्वास पाने में उद्धव को अपनी वाक्पटुता काम आई। मेरे सभी मित्र साँस रोककर उद्धव की सफलता की कहानी सुन रहे थे।

उद्धव कहता जा रहा था—"कई दिनों तक किसीसे बिना मिले मैंने अतिथिभवन

में बिता दिए; क्योंकि मुझे आभास लग गया था कि मुझपर दृष्टि रखने के लिए प्रहरी बैठा दिए गए हैं।

''एक दिन विकर्ण (दुर्योधन का भाई) आया। उसने भी कहा, 'भैया, आप यहीं पड़े रहते हैं। किसीसे मिलते-जुलते भी नहीं हैं।'

'' 'और बिना किसीसे मिले, मेरा मन होता है कि लौट भी जाऊँ; क्योंकि पांडवों का अभाव मैं झेल नहीं पा रहा हूँ।'

''विकर्ण की आँखें भर आईं।''

वस्तुत: कौरवों में वही एक था, जो पांडवों का पक्षधर भी था और उनके निकट भी।

उद्धव ने आगे बताया—''वह चला तो गया; पर सुना है, उसने अपने मामा से स्पष्ट कहा कि 'अब क्या रह गया है, जिसके लिए उद्धव पर ऐसी दृष्टि रखी जा रही है?'

''इसके बाद ही प्रहरी हटा लिये गए। मैंने उस पराए प्रदेश में मुक्ति की साँस ली।...इसके बाद ही मैं पितामह से मिला। वे दु:खी तो थे ही, पर मुझे देखते ही उनकी आँखें भर आईं। उनमें विगत सपने तैरने लगे। जब पितामह थोड़े प्रकृतिस्थ हुए तब मैंने मुख्य बात छेड़ी—'कन्हैया का कहना है कि धोखा देकर और भुलावे में डालकर दुर्योधन ने पुष्कर ले लिया। जबकि पुष्करराज चेकितान ने सदा हस्तिनापुर से मित्रता निबाही है। अतएव धोखे से मित्र की पीठ में छुरा भोंकने की अनुमति न धर्मनीति देती है और न युद्धनीति। ऐसी स्थिति में कौरवों को पुष्कर चेकितान को लौटा देना चाहिए।'

''इतना सुनकर पितामह गंभीर रूप से शांत हो गए। फिर धीरे से बोले, 'इस संदर्भ में मैं क्या कर सकता हूँ?'

'' 'आप दुर्योधन पर दबाव डाल सकते हैं।'

'' 'तुम तो दुर्योधन की प्रकृति जानते हो। वह इतना जिद्दी है कि परमात्मा भी उसपर अपना दबाव नहीं डाल सकते।'

'' 'पर इतना तो सत्य है कि उसने आपके नाम के साथ आचार्य के नाम का भी दुरुपयोग किया है।' मैं बोला। फिर मैंने पितामह से सीधा प्रश्न किया—'क्या आप पुष्कर के युद्ध में जाने वाले थे?'

'' 'मुझे पुष्कर के युद्ध का पता नहीं है। यह सब तो मैं तुमसे सुन रहा हूँ।'

'' 'तब आप यह नहीं कह सकते कि युद्ध में आपके और आचार्य के नाम का दुरुपयोग हुआ है? आपके नेतृत्व में आक्रमण का प्रचार करके एक मित्र राज्य पर धोखे से कब्जा किया गया है? इस प्रकार आपके व्यक्तित्व पर कालिख पोती

गई है ?'

" 'कालिख तो रोज पोती जा रही है, वत्स! अब तो मैं उसके लिए अभ्यस्त हो गया हूँ।'

"पितामह का ऊर्जस्वित् व्यक्तित्व इतना दब जाएगा, मुझे विश्वास नहीं था।

"पितामह ने फिर कुछ सोचते हुए कहा, 'मेरे विषय में यह सत्य है, पर आचार्यजी के विषय में कैसे कहूँ ? तुमने उनसे इस संदर्भ में बातें की हैं ?'

" 'अभी तो केवल आपसे बातें कर रहा हूँ।'

" 'तो तुमने इस विषय में धृतराष्ट्र और शकुनि से भी नहीं कहा है ?'

" 'नहीं।'

" 'तब इतने दिनों से यहाँ कर क्या रहे थे ?'

"अब मैंने जो कुछ किया था, उसकी विस्तृत सूचना पितामह को दी। पितामह पहली बार मुसकराए और बोले, 'तुमने कार्यसिद्धि के लिए भूमिका अच्छी बनाई है, वत्स! और यही एक दूत की सबसे बड़ी विशेषता है।' इसी क्रम में पितामह ने बताया—'पांडवों के जाने के बाद दुर्योधन श्रीकृष्ण से मैत्री के लिए इच्छुक है— और तुमने उसके लिए आधार तैयार कर दिया।' वे मेरी सराहना करते हुए हँसे— 'तुमने बड़ी सावधानी से उसके अहं को सहलाया है। तुमने यह भी अच्छा ही किया कि मुझसे न मिलकर पहले धृतराष्ट्र और शकुनि से मिले। अब मुझे भी अपनी भूमिका निभाने में सरलता होगी। तुम जरा आचार्यजी को भी तैयार करो। मुझे पूरा विश्वास है कि तुम्हें अपने उद्देश्य में सफलता मिलेगी।' "

उद्धव का कहना था—"मुझे पितामह के आश्वासन से बड़ा बल मिला। दूसरे ही दिन मैंने आचार्यजी से भी भेंट की। जब उसने पुष्कर की चर्चा की तो वे स्वयं बोल पड़े—'मुझे सब मालूम है। यदि मेरे और पितामह के नाम का दुरुपयोग न किया गया होता, तो क्या दुर्योधन चेकितान को हरा सकता था ? मैं उसके पराक्रम को जानता हूँ।'

"आचार्यजी तो इस विषय में इतने खिन्न थे कि उन्होंने स्पष्ट कहा, 'विचित्र बात तो यह है कि जीत के बाद भी उसने मुझे कोई सूचना नहीं दी।'

" 'तब आपको पता कैसे चला ?' मैंने पूछा।

" 'तुम क्या जानते हो, कोई बात छिपी रहती है ?' आचार्य बोले, 'पर पितामह को शायद अभी तक कुछ पता नहीं चला होगा। तथ्य तो यह है कि मेरी वितृष्णा ने मेरे चारों ओर ऐसी दीवारें खड़ी कर ली हैं, जिसे सत्य अपनी शालीनता के कारण लाँघ नहीं पाता। हाँ, असत्य उसमें सेंध लगाकर कभी-कभी घुस अवश्य जाता है।'

" 'तब आपने इस विषय में दुर्योधन से कुछ नहीं कहा ?' मैंने पुनः पूछा।

'' 'उस नीच से मैं क्या कहता!' आचार्यजी बोल तो गए, पर शीघ्र ही ऐसा लगा जैसे किसीने उनकी जबान पकड़ ली हो। उनके द्वारा दुर्योधन के लिए प्रयुक्त 'नीच' शब्द ही उनके सामने फन काढ़कर खड़ा हो गया। वे बड़े भयभीत-से लगे। उन्होंने चारों ओर देखा, कोई है तो नहीं।

''मैंने पूछा, 'क्या बात है, आचार्यजी?'

'' 'कुछ नहीं। देखता हूँ कि इधर हस्तिनापुर की दीवारों को एक रोग लग गया है।'

'' 'क्या?'

'' 'उनमें कान उग आए हैं।'

''मुझे हँसी आ गई। आचार्यजी ने एकदम बात ही बदल दी—'अब तो तुमने भूमिका अच्छी बना ली है। दोनों (धृतराष्ट्र और शकुनि) से बराबर और अवसर देखकर अपना प्रस्ताव रखो। देखो, वे क्या कहते हैं! यों मेरे अनुमान से इस समय वे कृष्ण को नाराज करने की स्थिति में नहीं होंगे।' ''

उद्धव ने आगे बताया—''इन दो महापुरुषों को टटोलने के बाद अब मेरे सामने समस्या थी कि पुष्करवाला प्रस्ताव मैं धृतराष्ट्र या मामा के सामने कैसे रखूँ; क्योंकि दुर्योधन से मेरी मुलाकात बहुत कम होती थी। आते-जाते कहीं दिख गया तो सामान्य शिष्टाचार का निर्वाह हो जाता था। उसके मिलने में कहीं आत्मीयता नहीं झलकती थी। मुझे ऐसा भी भान हुआ कि मेरा हस्तिनापुर में रहना उसे अच्छा नहीं लगता था। फिर भी मैं लँगड़े बैल की तरह अपने खूँटे पर जो जमा, सो जमा रह गया।''

''पर इस बीच तुमने अपना कोई समाचार नहीं भेजा।'' कृतवर्मा बोला।

''अरे, जहाँ समाचार देना होगा वहाँ दिया होगा!'' सात्यकि ने पल्लवी और पुष्पवी के संबंध में व्यंग्य किया।

शायद वह भूल गया था कि उद्धव के श्वसुर बगल में ही बैठे हैं। उद्धव उनकी उपस्थिति से कटकर रह गया। मैंने आँखों से सात्यकि को संकेत किया कि नाजुक विषय पर इस समय व्यंग्य ठीक नहीं।

तब तक मणिभान बोल पड़े—''मेरी बेटियों को भी इसका कोई समाचार नहीं मिला।''

उनके इतना कहते ही एक सन्नाटा सबके अधरों पर रेंग गया।

मैंने तुरंत विषय बदला—''तुम भानुमती से नहीं मिले? काशिराज की वह कन्या शिष्ट भी है, समझदार भी और तुम्हारी पूर्व परिचिता भी। उसको जब मैं दुर्योधन के साथ देखता हूँ तब लगता है कि बनैले सुअर के साथ एक स्वर्ण मृगी

बाँध दी गई है।''

मेरी इस तुलना पर लोग खुलकर हँसे।

''इन लोगों के बाद तो मैं उन्हींसे मिला।'' उद्धव ने बताया—''वे आपसे बड़ी दु:खी हैं।''

''मुझसे दु:खी हैं! क्यों?'' मैंने पूछा।

उद्धव ने हँसते हुए बताया—''जो मैंने आपका नाम लेकर दुर्योधन को पांचाल के स्वयंवर में भेजने का आग्रह किया था, उसका समाचार उन्हें मिल गया। वह मुझे देखते ही बोलीं, 'आखिर मैंने कन्हैया का ऐसा क्या बिगाड़ा है कि वह मेरे सुख-चैन के संसार में आग लगा देना चाहते हैं?' ''

''तब तुमने क्या कहा?'' मैंने उद्धव से पूछा।

''मैं कुछ ठीक कह नहीं पाया। मैं बोला, 'आपकी शंका का उचित समाधान तो कन्हैया ही कर सकते हैं; पर मैं इतना जानता हूँ कि वे आपके विरोधी नहीं हैं।' तब उसने कहा, 'मैं कैसे उन्हें अपना हितैषी समझूँ! जब उन्होंने मेरे पति को स्वयंवर में चलने के लिए आग्रहपूर्वक संदेश भेजा तो यह निश्‍चित है कि द्रौपदी उन्हें ही मिलेगी; क्योंकि जो कृष्ण चाहेंगे वही होगा। मेरी छाती पर मेरी सौत बैठ जाएगी।' ''

उद्धव ने बताया—''मैं बड़ी द्विविधा में पड़ा। सबकुछ जानने के बाद भी मैं कुछ विशेष भानुमती भाभी से कहने की स्थिति में नहीं था; क्योंकि मैं यह कह नहीं सकता था कि दुर्योधन को द्रौपदी नहीं मिलेगी। ऐसा कहना मेरे सब किए-कराए पर पानी फेर सकता था। यह तो मैं बराबर कहता रहा कि कृष्ण आपके हितैषी हैं, वे कभी आपका अहित नहीं सोच सकते; किंतु परिस्थितियों ने भानुमती भाभी को इन वाक्यों का अर्थ समझने लायक ही नहीं रखा था।

''एक दिन मुझे मौका मिला। कौरवों की मंत्रिपरिषद् में मेरी बुलाहट हुई। मैंने जब पता लगाया कि ऐसी कृपा मुझपर क्यों हुई, तो पता चला कि इसके मूल में पितामह और विदुरजी की मंत्रणा थी कि 'जब पांचाल यात्रा पर ही विचार करना है तो क्यों नहीं उसमें उद्धव को भी बुला लिया जाए। कृष्ण का समाचार तो वही लाया है।' बात शकुनि के गले के नीचे उतर गई और मैं विधिवत् आमंत्रित हुआ।

''ज्यों ही उस बैठक में पांचाल चलने और आपके सहयोग की बात चली त्यों ही मैं खड़ा हुआ और बोला, 'कन्हैया का एक आग्रह और था।'

'' 'क्या?' सबके कान खड़े हो गए।

'' 'यही कि हस्तिनापुर को चाहिए कि पुष्कर चेकितान को लौटा दे।'

'' 'ऐसा वे क्यों कहते हैं?' दुर्योधन फनफनाया।

'' 'इसलिए कि कन्हैया के विचार से पुष्कर पर अधिकार के समय न तो धर्मनीति का खयाल रखा गया और न राजनीति का।'

''दुर्योधन का क्रोध और भभका—'तो क्या तुम्हारे कन्हैया धर्म और राजनीति के ठेकेदार हैं?'

'' 'तुम्हारे कन्हैया!' मैं जोर से हँसा। बोला, 'क्या वे हमारे ही हैं, आपके नहीं? जबकि वह आपको भी अब अपना ही समझते हैं!'

'' 'तू तो व्यर्थ में ही लाल-पीला हो रहा है, दुर्योधन।' इस बार शकुनि मामा बोला, 'जानता है, इस समय उद्धव कृष्ण का दूत है। उसके वचन कृष्ण के वचन हैं। बड़ों की बात में छोटों को टाँग नहीं अड़ाना चाहिए।'

'' 'यदि ऐसा है तो मैं चला जाता हूँ!' दुर्योधन बोला और बिना किसीकी परवाह किए वह एक झोंके के साथ निकल गया। इस समय उसे किसीने न तो मनाया और न किसीने रोका ही। हाँ, जाने के बाद मामा ने इतना अवश्य कहा, 'इतना बड़ा हो गया है, पर बचपना गया नहीं है। जरा-जरा सी बात पर लाल हो जाता है।'

'' 'क्या कहा जाए! यह तो बचपन से ही हठी रहा है।' धृतराष्ट्र बोले और चुप हो गए।

''इस संक्षिप्त अंतराल को पितामह ने तोड़ा।''

उद्धव का कहना था—''धृतराष्ट्र की मंत्रिपरिषद् में मैंने पितामह को पहली बार स्पष्ट कहते हुए देखा था।

''पितामह ने जो कहा, उसका सारांश था—'दुर्योधन ने पहले पुष्कर में यह प्रचारित किया कि कौरवों की सेना का नायकत्व पितामह करेंगे। आचार्य द्रोण उसकी व्यूह रचना और आक्रामक शक्ति के अधिष्ठाता होंगे। यह सब झूठ था। मुझे सूचना तक नहीं दी गई कि पुष्कर पर हम आक्रमण कर रहे हैं और विजय के बाद भी मुझे अंधकार में रखा गया। उद्धव के हस्तिनापुर में आने के पहले तक मैं कुछ नहीं जानता था।'

'' 'यही स्थिति तो मेरी है।' आचार्यजी ने कहा।

'' 'इसका तात्पर्य यह है कि हम लोगों के नाम से पुष्कर को आतंकित किया गया है और उन्होंने अपनी पराजय स्वीकार कर ली।' पितामह बोले, 'कृष्ण ठीक कहते हैं। यह धर्मयुद्ध नहीं है।'

'' 'फिर चेकितान हमारा मित्र है, पड़ोसी है। बहुत पहले से उसकी-हमारी युद्ध संधि चली आ रही है। उसने आज तक ऐसा कुछ भी नहीं किया, जिसे संधि के विरुद्ध कहा जाए।' विदुरजी बोले, 'ऐसी स्थिति में उसपर आक्रमण करना

राजनीतिक दृष्टि से भी हमारे हित में नहीं है।'

''फिर महाराज की प्रतिक्रिया जानने के लिए सभी चुप हो गए। इसी बीच में मामा शकुनि ने अपने स्थान से उठकर महाराज के कान में कुछ कहा।

'' 'तो ठीक है।' महाराज धृतराष्ट्र बोले, 'हमने गंभीरता से आप लोगों को सुना है। पर मैं अपना निष्कर्ष किसी बाहरी व्यक्ति की उपस्थिति में सुनाऊँ, यह उचित नहीं होगा।' ''

उद्धव का कहना था—''इतना सुनते ही मैं सबको अभिवादन कर चला आया। बाद में मुझे पता चला कि शकुनि मामा ने कहा, 'पितामह और आचार्य का कहना ठीक हो सकता है।'

'' 'ठीक हो सकता है नहीं वरन् ठीक है।' पितामह बोले।

'' 'मैं भी यही कह रहा था।' शकुनि ने हँसते हुए कहा, 'इस युग में अब युद्ध और प्रेम में कुछ भी उचित-अनुचित नहीं रह गया। फिर आप जैसे वरेण्य लोगों के नामों का यदि दुर्योधन ने उपयोग किया तो आपको अपना समझकर। इसके लिए आप लोगों को रुष्ट नहीं होना चाहिए। जहाँ तक कृष्ण के भेजे प्रस्ताव का प्रश्न है, यदि आप सब उसका समर्थन करते हैं, तो मैं भी उसका समर्थन करता हूँ। क्योंकि इस समय किसी भी मूल्य पर हम कृष्ण की मित्रता के आकांक्षी हैं। एक नहीं, कई पुष्कर भी हमें देने पड़ें तो राजनीतिक दृष्टि से हमें यह सौदा कर लेना चाहिए।'

''इसके बाद ही सर्वसम्मति से पुष्कर लौटाने का निर्णय लिया गया।''

उद्धव का कहना था—''फिर भी इस निर्णय के चार दिनों बाद मुझे अवगत कराया गया। शकुनि मामा ने अतिथिभवन में आकर इसकी सूचना दी और सावधान किया कि जब तक पुष्कर के लौटाने की सारी क्रिया संपन्न न हो जाए तब तक यह बात मैं अपने तक ही रखूँ।''

''ऐसा क्यों?'' अब तक चुप बैठा सात्यकि एकदम बोल पड़ा।

''मामा का तो कहना था कि बात फूट जाने से अराजकता पैदा हो सकती है।'' उद्धव बोला, ''पर मुझे सूचनाएँ मिल रही थीं कि दुर्योधन इसके लिए तैयार नहीं हो रहा था। उसे मामा ने बहुत समझाया-बुझाया। सुना है कि जब मामा ने यह कहा कि द्रौपदी को प्राप्त करने के लिए कृष्ण का सहयोग आवश्यक है, तब उसका विरोध मौन हो गया।''

''फिर पुष्कर लौटाने के लिए तुम लोगों के साथ वह क्यों नहीं आया?'' मैंने पूछा।

उद्धव हँसा—''आप तो दुर्योधन को जानते ही हैं। अंतिम दिन तक वह तैयार नहीं हो रहा था। उसका अभिमान उस पुराने वृक्ष की तरह है, जो सूखकर ठूँठ हो

जाने पर भी झुकना नहीं जानता; भले आप उसे काटकर गिरा दें। यहाँ आना तो दूर, अरे, हम लोग जब वहाँ से चले तब वह हमें छोड़ने तक नहीं आया। बल्कि उसने दु:शासन से कहलवाया कि वह जुआरी क्या, जो जीती हुई राशि लौटा दे और वह सिंह क्या, जो अपना पकड़ा हुआ शिकार छोड़ दे!''

सारी कथा सुनने के बाद मुझे हँसी आ गई। मैंने उद्धव की प्रशंसा करते हुए कहा, ''तुम भी अद्‌भुत हो! ऐसा हठी व्यक्ति भी तुम्हारे सामने एक नादान बालक हो गया। तुमने द्रौपदी का एक झूठा सपना थमाकर पुष्कर उसके हाथ से ले लिया।''

मेरी इस बात पर सभी हँस पड़े।

□

चेकितान और उसके मित्र पुष्कर की पुन: व्यवस्था में लगे। उसे मेरे साथ ही स्वयंवर में चलना था, इसलिए उसने सबकुछ बहुत जल्दी-जल्दी करना आरंभ किया। सैनिकों को विश्वास में लिया। अश्वशालाओं की नई व्यवस्था की। शस्त्रागार के लिए लौहकारों की भट्ठियाँ धधक उठीं। दिन में कई बार अमात्यों की बैठकें होने लगीं। फिर भी नगर प्रमुख से मिलना, उन्हें सांत्वना देना, जिन्होंने बीते दिनों कष्ट उठाए थे, उनकी क्षतिपूर्ति करना आदि समयसाध्य कार्य था। इसलिए हम लोगों ने कुछ दिनों तक चेकितान को वहीं छोड़ देने का निश्चय किया। हमें शीघ्र अग्रवाण पहुँचना था।

दूसरे दिन सूर्योदय के साथ ही, बिना किसी औपचारिकता के हम लोगों ने पुष्कर छोड़ दिया और उस मार्ग से आगे बढ़े, जो यहाँ से हस्तिनापुर भी जाता था। लगभग दस योजन चलने के बाद उसकी एक शाखा दाईं ओर फूटती थी। वही मार्ग अग्रवाण की ओर बढ़ता था। हमने यह लंबा मार्ग इसलिए चुना कि यह प्रशस्त था। हमारे रथ अपनी पूरी गति से चल सकते थे।

संध्या होते-होते हम उस स्थान पर पहुँच गए जहाँ से अग्रवाण के लिए रास्ता मुड़ता था। हस्तिनापुर की दिशा अब हमसे छूट चली। लगभग आधा योजन जाने के बाद अब हमने अपना शिविर डाला। स्थान काफी उन्मुक्त और जलाशय के निकट था।

पुष्कर से चलते समय हमने वहाँ से कई सुंदर वितान ले लिये थे; क्योंकि अब हमें लंबी यात्रा करनी थी। पंथागारों का भरोसा नहीं। अब उनकी व्यवस्था भी आश्रमों की व्यवस्था की तरह बिगड़ चुकी थी। कहीं राजकीय असहयोग के और कहीं जनता की उपेक्षा के वे शिकार थे।

संध्या डूबने को आई। लाली में घुली-मिली अंधकार की कालिख बिछने लगी। रथों के अश्व खोल दिए गए। सैनिकों के घोड़े भी हरी घास पर टहलते हुए

अपनी थकान मिटाने लगे। शिविरों में मशालें जलाई जाने लगीं।

जब मैं संध्या वंदन से उठा तब रात अच्छी तरह घिर आई थी। हमारे सैनिकों का विजयोल्लास खुले क्षेत्र में आकाश के तारों से किल्लोलें कर रहा था। तभी किसी अप्रत्याशित घटनेवाली घटना का पूर्वाभास होने लगा। उत्तर की ओर से दौड़ते मृग हमारे शिविर की ओर आने लगे। नीड़ों में विश्राम कर रहे पक्षियों के बीच भी कोलाहल हुआ।

मेरे साथियों को भी उत्तर से किसी सैनिक अभियान की आशंका हुई। मैं भी अपने शिविर के बाहर आया। यों अँधेरे में मामूली घटना भी भयावह हो जाती है, यह और भी भयावह लगी। परिस्थितियाँ विषम थीं; जैसे कुछ होने वाला है।

"लगता है, पुष्कर पर मँडराते संकट के ये नए बादल हैं।" यह अनुमान सात्यकि का था।

"दुर्योधन का छटपटाता अहं कुछ भी कर सकता है।" यह शंका उद्धव की थी।

मैं भी शंकाकुल था। सोचने लगा, मैं जितनी शीघ्रता में हूँ उतनी ही बाधाएँ आती जा रही हैं। एक-न-एक विपत्ति खड़ी हो जाती थी। आखिर नियति क्या करना चाहती थी?

हर व्यक्ति का चिंतन दुर्योधन के चारों ओर मँडरा रहा था। इसके मूल में हस्तिनापुर से सीधे इधर की ओर आता मार्ग था।

थोड़ी देर बाद फिर अचानक शांति हो गई। लगा, तूफान थम गया। भागकर आए मृग भी लौटने लगे। इन प्रकृति जीवों में हमसे अधिक संवेदनशीलता होती है। उनका सहज स्वभाव अपने मित्र और शत्रु की तुरंत पहचान कर लेता है। यद्यपि हमारा चिंतन पशुओं से अधिक विकसित है; पर हमारे राग-द्वेष ने हमारी संवेदनशीलता के पंख बहुत कतर दिए हैं और हम सहज प्रकृति के आकाश में उतनी सरलता से नहीं उड़ पाते और न अपने मित्र तथा शत्रु का उचित अनुमान लगा पाते हैं। वस्तुतः हम इस प्रयास में अपनी उस बुद्धि से काम लेते हैं, जो काम, क्रोध, लोभ, मोह से बेतरह घायल होती है।

मृगों ने समझ लिया कि वे हमारे शत्रु नहीं हैं; पर हम अभी भी किसी निष्कर्ष पर पहुँच नहीं पाए थे।

"लगता है, उन लोगों ने भी अपने शिविर डाल दिए हैं।" कृतवर्मा बोला।

"इस शांति को देखकर तो ऐसा ही लगता है।" सात्यकि ने उसका समर्थन किया।

"पर हमें किसी भी स्थिति के लिए तैयार रहना चाहिए।" उद्धव के स्वर में हस्तिनापुर के ताजे अनुभव की गंध थी।

“यदि तुम लोग उचित समझो तो मैं स्वयं आगे बढ़कर देखूँ कि बात क्या है!” मणिभान मामा बोले।

लोगों ने मेरी प्रतिक्रिया जानने की चेष्टा की, तब मैंने सदा की भाँति मुसकराते हुए कहा, “प्रतीक्षा कीजिए। कभी-कभी समय अपना अवगुंठन स्वयं खोल देता है।”

मामा का उत्साह ठंडा पड़ा। हमारे मित्रों के विजयोल्लास पर चिंता की एक झीनी चादर पड़ गई। हम सभी बाहर से अब अपने-अपने शिविरों में आए।

रात धीरे-धीरे खिसकने लगी। अँधेरा घना होता चला। उद्धव मेरे ही शिविर में था। वह अपनी अंतहीन बातों के क्रम में हस्तिनापुर की मन:स्थिति की परतें एक के बाद एक खोलता रहा।

इसी बीच एक प्रहरी ने प्रवेश किया।

“एक महिला आपसे मिलना चाहती है।” उसने कहा। वह बुरी तरह हाँफ रहा था।

“तुम इतने हाँफ क्यों रहे हो?” मैंने पूछा।

उसने बताया—“मैं शिविर के अंतिम छोर पर था। वहीं हस्तिनापुर से आनेवाला मार्ग इस मार्ग से मिलता है। उस महिला ने वहीं रथ छोड़ दिया और पैदल मुझ तक आई। उसने आपसे मिलने की इच्छा व्यक्त की। उसने स्पष्ट कहा, ‘मैं केवल द्वारकाधीश से मिलना चाहती हूँ और मेरे पास समय बहुत कम है।’ उस महिला को छोड़कर मैं दौड़ता हुआ पूर्व सूचना देने के लिए आपके पास आया, इसीसे हाँफने लगा।”

मैं कुछ सोचने लगा। फिर उद्धव की ओर देखा। उसने मेरी मंशा भाँप ली।

शिविर से निकलते-निकलते उसने पूछा, “वह महिला कैसी है?”

“देखने में तो पट्टमहिषी मालूम पड़ती हैं।” प्रहरी ने कहा।

मैंने उसे सम्मानपूर्वक ले आने का आदेश दिया।

इस बीच पता नहीं मैं क्या-क्या सोचता रहा।

थोड़ी देर में ही उस महिला ने मेरे शिविर में प्रवेश किया और आते ही बोली, “आप मुझे पहचानते हैं? मैं काशिराज की कन्या भानुमती हूँ।”

मैं जोर से हँसा। संयोग ऐसा कि मैं उसे पहली बार देख रहा था। मैंने हँसते हुए कहा, “तुमने तो मुझे बीती हुई पहचान बताई है। तुम्हें कहना चाहिए कि मैं हस्तिनापुर की होनेवाली पट्टमहिषी हूँ।”

“यदि आप होने देंगे तब तो!” वह बड़ी दु:खी होकर बोली, “मैं आपसे एक बात पूछने आई हूँ।”

''तो पूछिए, अवश्य पूछिए।''

''आप मुझसे इतने अप्रसन्न क्यों हैं ?''

उसने ऐसे निस्संकोच भाव से पूछा कि मैं सकपका गया।

''तुमसे अप्रसन्न होने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है।'' मैंने कहा, ''यों तुम्हारे बारे में मैंने बहुत सुना है; पर तुमसे मेरा कोई परिचय था नहीं। फिर अप्रसन्न होने की बात कहाँ उठती है ?''

''बात उठती है, तभी तो मैं यहाँ आई हूँ।'' उसकी ध्वनि में जरा भी झिझक नहीं थी—''जब आप मेरे पति के लिए दूसरी पत्नी लाने की बात सोचते हैं तब क्या यह मेरे हित के लिए है ?''

''मैंने तो कभी भी तुम्हारे पति के लिए दूसरी पत्नी की बात नहीं सोची।'' बात जो सही थी, वह मेरे मुख से निकल गई।

इतना सुनते ही बाहर खड़ा शकुनि मामा शिविर के भीतर आ गया। उसने बड़े आश्चर्य से पूछा, ''तो क्या आप दुर्योधन के विजय के आकांक्षी नहीं हैं ?''

मैंने इस स्थिति की कल्पना तक नहीं की थी। मैंने सोचा भी नहीं था कि शकुनि चोरों की तरह शिविर के बाहर खड़ा होकर मेरी बातें सुनेगा। उसकी अप्रत्याशित उपस्थिति ने मुझे सकते में डाल दिया। फिर भी मेरे मन ने मेरे कहे हुए शब्दों का संतुलन बैठाया। मैंने कहा, ''शरण में आए का मैं कभी भी अकल्याण नहीं सोचता। आज मेरी बहन शरण में आई है। मैं स्वप्न में भी उसके अहित की बात सोच नहीं सकता।''

''तो क्या हम लोग यह मान लें कि आप अब दुर्योधन के स्वयंवर विजय की कामना नहीं करते ?'' शकुनि बोला।

''यह आप कैसे कह सकते हैं!'' मैंने हँसते हुए कहा, ''आपका मस्तिष्क स्वयंवर की प्रतिस्पर्धा में विजय और द्रौपदी के विवाह—दोनों को एक-दूसरे से मिलाकर देख रहा है।''

''क्योंकि दोनों एक-दूसरे पर आश्रित हैं।''

''दोनों एक-दूसरे पर आश्रित हो सकते हैं, पर दोनों एक नहीं हैं।'' मैंने जरा जोर देकर कहा, ''स्वयंवर में विजयी होने पर भी दुर्योधन चाहे तो विवाह नहीं कर सकता। स्पर्धा जीतना तो द्रौपदी से विवाह करने की एकमात्र योग्यता प्राप्त करना है। विवाह करना या न करना तो करनेवाले पर निर्भर करता है। यदि दुर्योधन का प्रेम भानुमती से होगा तो स्वयंवर में विजयी होकर भी वह कभी द्रौपदी से विवाह नहीं करेगा।''

''फिर स्वयंवर में जाने की आवश्यकता ही क्या है ?'' शायद अंतिम प्रश्न था

शकुनि का।

"क्यों? अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए।" मैंने बड़े विश्वास से कहा, "आप जानते हैं, मामाजी, जो इस समय द्रौपदी का स्वयंवर जीत लेगा, वह आर्यावर्त्त की प्रतिष्ठा के शीर्ष बिंदु पर हो जाएगा। तब जरासंध जैसे लोग उसे आँख उठाकर देख भी नहीं सकेंगे।"

"और यदि स्वयंवर जीतने पर द्रौपदी स्वयं उनसे कहे कि अब मैं आपसे ही विवाह करूँगी, तब क्या होगा?" यह शंका भानुमती की थी।

"तब दुर्योधन विवाह की अपनी शर्त उसके सामने रख सकता है। वह द्रौपदी से कह सकता है कि मुझसे विवाह करने के बाद तुम्हें हस्तिनापुर में मेरी पत्नी की दासी बनकर रहना पड़ेगा।"

मैंने देखा, भानुमती की आकृति पर पहली बार एक हलकी सी मुसकराहट उभरी। उसका तनाव ढीला पड़ा।

"दुर्योधन का यह प्रस्ताव द्रौपदी न माने तब?" शकुनि ने फिर पूछा।

"तब तो दुर्योधन विवाह न करने के लिए परम स्वतंत्र हो जाएगा।" मैंने कहा और मुसकराते हुए बोला, "अरे मामाजी, अब तो आर्यावर्त्त की राजनीति की चौपड़ पर आपकी ही गोटी लाल होगी।"

शकुनि खिलखिलाकर हँसा।

"चलो, एक बात साफ हो गई।" वह बोला।

मैंने कहा, "क्या?"

"यही कि तुम राजनीति को चौपड़ की तरह खेलते हो और चौपड़ को राजनीति की तरह।" वह बोला।

इस बार हम दोनों हँसे और हमारा साथ भानुमती ने भी दिया। हम लोगों की हँसी इतनी प्रगल्भ थी कि वह हवा में तैरती शिविर के बाहर बहुत दूर तक चली गई।

दोनों जब बाहर आए तब चंद्रमा शिविर के द्वार से झाँकने लगा था। रात दो-तीन घड़ी आगे निकल चुकी थी।

उन लोगों के चले जाने के बाद मैं अकेला रह गया। फिर कोई और नहीं आया। मैंने दीप भी बुझा दिए। फिर भी मशाल का धुँधला प्रकाश ज्योत्स्ना से लिपटकर शिविर में ढुलक रहा था। ऐसे में मेरा ही प्रत्यय मेरे सामने खड़ा हो गया और मुझसे ही पूछने लगा—'तुम कहते कुछ और हो, करते कुछ और हो तथा सोचते कुछ और हो। क्या यही तुम्हारी राजनीति है?'

'यह मेरी नहीं, इस समय पूरे आर्यावर्त्त की राजनीति है। और आज की राजनीति की यही नियति है कि वह कार्य नहीं, परिणाम देखती है; साधन नहीं,

साध्य देखती है।'

'तब सत्य तो बहुत दूर चला जाता होगा।' मेरा प्रत्यय बोला।

'सत्य मूल्यवान् है, पर समय और परिस्थितियाँ सत्य से अधिक मूल्यवान् हैं।'

'यह तुम कहते हो, जिसके जीवन का मुख्य उद्देश्य धर्म की स्थापना है!' मेरा प्रत्यय बोला और मैं चुप हो गया। कुछ क्षणों तक सोचता रहा। 'बोलते क्यों नहीं, चुप क्यों हो गए?' उसने फिर दबाव डाला।

'सोचता हूँ, यह सब तो सांसारिकता है। इसको भोगते और झेलते हुए हमें सत्य तक पहुँचना है और लोगों को पहुँचाना है; क्योंकि अंतिम विजय तो सत्य की ही होगी—सत्यमेव जयते नानृतम्।'

मेरे इतना कहते ही मेरा प्रत्यय अंधकार में लुप्त हो गया। पर आज तक मन कहता है कि मैंने उस समय अपने से ही छल किया था।

□

दस
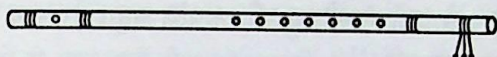
दो रात और दिन निरंतर चलने के बाद जब हम अग्रवाण पहुँचे तो सूर्य हमारे मस्तक पर चमक रहा था। हमारे आने की सूचना गुप्तचरों से शायद चारुदेष्णा को पहले ही मिल चुकी थी, तभी तो वह नगर द्वार पर हमारी अगवानी के लिए अपने पुत्र जयद को लेकर उपस्थित था। आँखों में आश्चर्ययुक्त ग्लानि, अधरों पर मुसकराहट और आकृति पर एक खिसियानी प्रसन्नता के साथ उसने स्वागत किया। उसके लिए तो वह हो चुका था, जिसकी वह कल्पना भी नहीं कर सकता था।

मैं अपने रथ से उतरा भी नहीं था कि वह अपनी सैनिक टुकड़ी छोड़कर दौड़ा हुआ आगे बढ़ा और मुझे विजय के लिए बधाई दी।

''कैसी बधाई ?'' मैंने कहा, ''मैं तो युद्ध करने गया भी नहीं था, फिर विजय का पात्र कैसे हुआ ? पुष्कर तो चेकितान का था और चेकितान का है। कुछ समय के लिए उससे छिन अवश्य गया था। सबसे बड़ी बात है कि छीननेवाले ने अपनी भूल स्वीकार की।''

''और इस स्वीकार के पीछे आपका ही हाथ है।'' चारुदेष्णा बोला।

''मेरा हाथ नहीं वरन् मेरी सलाह है।'' मैंने हँसते हुए कहा और पैदल ही चारुदेष्णा के साथ नगर में प्रवेश कर गया। मुझे पैदल चलता देखकर मेरे साथी और सैनिक भी अपनी-अपनी सवारियों से उतरकर मेरे साथ हो लिये।

भले ही हम स्वयं को विजयी न मानें, पर पूरा नगर विजयी योद्धा की तरह हमारा स्वागत कर रहा था। मार्ग में हमारे ऊपर पुष्पवर्षा हो रही थी। जय-जयकार के नारे लग रहे थे। हम उनके अभिवादन का उत्तर बड़े विनीतभाव से दे रहे थे।

इस बार मुझे राजभवन में टिकाया गया और सैनिकों को अतिथिगृह में। व्यवहार से ऐसा लग रहा था कि पहले हम उनके अतिथि थे और आज उनके पूज्य हैं।

मध्याह्न भोजन के समय जयद ने पूछा, ''क्या महाराज चेकितान आपके साथ पांचाल नहीं जाएँगे ?''

''जाएँगे क्यों नहीं!''

''तब वे यहाँ आए क्यों नहीं ?''

''अब वे यहाँ से बहुत डरते हैं—और विशेषकर तुमसे।'' मौका मिलते ही मैंने व्यंग्य बाण मारा।

जयद के सिर पर तो घड़ों पानी पड़ गया। चारुदेष्णा भी उस जल के छींटे से अछूता न रह सका। दोनों की दृष्टियाँ धरती चूमने लगीं।

लज्जा के भार से दबी चारुदेष्णा की आवाज बहुत देर बाद फूटी—''हमारी भूल के लिए आप क्षमा करें।''

''मैं तो नहीं कह सकता कि तुमने किसी प्रकार की भूल की। तुम लोगों ने परिस्थितियों को जैसा समझा, उसीके अनुसार अपनी नियति बनाई। इसमें भूल कहाँ है ?''

''हमारी भूल तो यह है कि हमने परिस्थितियों को ही समझने की कोशिश नहीं की। आपको समझने की चेष्टा नहीं की।'' चारुदेष्णा बोला।

अपराधबोध से दबे व्यक्ति को और अधिक दबाकर मैं उसमें कोई कुंठा उत्पन्न करना नहीं चाहता था, अतएव मैंने तुरंत बात बदल दी—''हमारे न रहने पर छंदक का कोई समाचार तो नहीं आया था ?''

''नहीं तो।'' चारुदेष्णा बोला।

''पर उसे अब तक आ जाना चाहिए था और भैया को भी अब तक आ जाना चाहिए। अब पौष कृष्ण की सफला एकादशी को आखिर कितने दिन रह गए! उधर पांचाल में सात दिन पूर्व से ही उत्सव आरंभ हो जाएँगे। यज्ञादि होने लगेंगे, अतिथियों का आगमन शुरू हो जाएगा।''

''किंतु भैया के आने का समाचार तो आया है।'' चारुदेष्णा ने बताया—''कल ही द्वारका से एक दूत आया था। उसका कहना था कि महाराज बलराम के प्रस्थान में एक-दो दिनों की देर हो सकती है। कन्हैया किसी प्रकार की चिंता न करें, वे आएँगे अवश्य।''

''चलिए, एक ओर से तो मैं चिंतामुक्त हुआ।'' मैंने कहा, ''पर छंदक का न आना मेरे लिए चिंता का विषय है।''

''आपका छंदक पर बड़ा विश्वास है। आप उसके बिना चिंतित हो जाया करते हैं।'' जयद बोला तो सही, पर यह न पूछ सका कि ऐसी कौन सी बात है।

इस रहस्य का उद्घाटन न करने की इच्छा होते हुए भी मैंने बहुत प्रभावशाली ढंग से कहा, ''बिना अंधकार के रात्रि की, बिना ताप के अग्नि की और बिना जल के नदी की कल्पना नहीं की जा सकती; वैसे ही बिना छंदक के मेरी राजनीति की

कल्पना नहीं की जा सकती।''

मैं कह तो बहुत कुछ गया था, पर शायद ही जयद के पल्ले कुछ पड़ा हो।

संध्या के बाद ही मैं बिना किसी पूर्व सूचना के अतिथिभवन गया। अपने मित्रों से मिला और रात्रि का भोजन भी उन्हींके साथ किया। यहाँ मुझे श्वेतकेतु दिखाई नहीं दिया। वह मणिभान के साथ मंत्रणा कर रहा था।

शीघ्र ही मणिभान भी मेरे कक्ष में पधारे। मैंने उनसे जिज्ञासा की, तब उन्होंने बताया—''मैं नागों की एक छोटी सैन्य टुकड़ी लेकर आया हूँ। छोटी-छोटी कई सैन्य टुकड़ियों से एक बड़ी सेना हो जाएगी।''

''और मेरा भी यही अनुमान था।'' मैंने कहा।

''वहाँ तो स्पर्धा में भाग लेनेवालों की आवश्यकता है; पर सेना क्या करेगी ?'' यह शंका मणिभान ने ही की।

''सेना तो वह कार्य करेगी, जो स्पर्धा में भाग लेनेवाले नहीं कर सकते।'' मैंने इतने विश्वास से कहा कि उन लोगों को ऐसा लगा जैसे मैं भविष्य को देख रहा हूँ। मेरे मित्रों के चिंतन में भी एक काल्पनिक युद्ध उतर आया।

श्वेतकेतु ने सूचना दी—''आप यदि पुनः नाग प्रदेश को देखें, तो शायद अब आप उसे पहचान नहीं पाएँगे।''

मुझे हँसी आ गई।

''भला मैं अपना ननिहाल पहचान नहीं पाऊँगा!'' मैंने कहा, ''श्वेतकेतु, मनुष्य हो या कोई समाज, वह अपनी मूल पहन्चान खोता नहीं है, उसपर अन्य पहचान ओढ़ अवश्य लेता है।''

''फिर भी मेरा प्रस्ताव है कि चलते समय यदि हम उधर से चलें तो उत्तम हो।'' उद्धव बोला।

''उधर से तो हमें अधिक समय लग जाएगा।'' मैंने कहा।

''पर आप लोगों को देखकर नाग प्रदेश का उत्साह बढ़ेगा।'' मणिभान बोल पड़े—''उनका जो आधुनिकीकरण हुआ है, उन्होंने जो नवीन सैनिक शिक्षा ली है, इससे तो उनका जीवनक्रम ही बदल गया है।''

''देखने की तो मेरी भी इच्छा है; पर मैं भैया और छंदक के आने के बाद ही कुछ निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ। यदि उनकी प्रतीक्षा में मुझे यहाँ अधिक विलंब हो गया, तब तो मैं पांचाल पहुँचना ही अधिक उचित समझूँगा।''

संयोग कुछ ऐसा था कि बातें समाप्त कर ज्यों ही मैं बाहर निकला कि उस अँधेरी रात में किसी तेज रथ के आने की घड़घड़ाहट सुनाई पड़ी। तुरंत मेरे मस्तिष्क में भैया या छंदक की छवि उभरी। पर भैया एकाकी तो नहीं चलेंगे। यह अवश्य

छंदक होगा।

मेरा अनुमान सही निकला। वह छंदक ही था। रथ से उतरते हुए वह इतना शिथिल लगा कि यदि मैंने उसे सहारा न दिया होता तो वह धराशायी हो जाता।

"तुम बड़े अस्वस्थ हो गए, छंदक!" मैंने कहा।

छंदक मुसकराया।

"अस्वस्थ तो नहीं हूँ, पर थक गया हूँ।" उसने कहा।

"क्या तुम सीधे मगध से आ रहे हो?"

"मगध से नहीं, पांचाल से आ रहा हूँ।" उसने बताया—"मगध से लौटते समय पांचाल गया था।"

मेरी जिज्ञासा तुरंत जाग उठी—"क्या समाचार है?"

"इस समय तो मैं बात करने की स्थिति में नहीं हूँ। मुझे एकांत में विश्राम करने दीजिए।" उसने कहा।

मैं उसे लेकर अतिथिभवन की ओर गया। एकांत कक्ष में उसके विश्राम की व्यवस्था की। इसी बीच उसने बताया कि स्थिति बड़ी भयावह है। मेरे मन में चिंता की नई चिनगारी बोकर वह मौन हो गया।

मैं लौटकर अपने कक्ष में आया। मन में बोई छंदक की चिनगारी अब भभकने लगी थी। अवश्य ही जरासंध और द्रुपद के बीच कोई दुरभिसंधि चल रही होगी। यदि वह सफल हो गया तो सब किए-धरे पर पानी फिर जाएगा। ऐसी स्थिति में न मैं किसी निष्कर्ष पर पहुँच पा रहा था और न मुझे नींद आ रही थी। किसी तरह आँखें लगीं; पर ब्राह्म मुहूर्त होते-होते मैं जाग गया। फिर वही जरासंध की आकृति अनेक संदर्भों में मेरे सामने आने लगी।

मैं एक विचित्र प्रकार के तनाव का अनुभव करने लगा। ऐसी स्थिति में मैं बहुधा वंशी बजाता हूँ; क्योंकि संगीत की शरण में जाते ही न किसी प्रकार का तनाव रह जाता है और न चिंता। मन एक अलौकिक आनंद का अनुभव करता है। इंद्रियों के बंधन ढीले पड़ जाते हैं।

मैंने वंशी उठाई और निकल पड़ा किसी एकांत स्थान के लिए। फिर भी मेरी जिज्ञासा नहीं मानी। मैं अतिथिभवन में छंदक के कक्ष की ओर गया। झाँककर देखा, वह अब भी खर्राटे भर रहा है। मैंने उसे जगाना ठीक नहीं समझा और राजभवन से लगे उद्यान की ओर बढ़ गया।

धीरे-धीरे भोर का तारा भी चू गया। मेरी वंशी पर भैरव की अवतारणा हुई। मेरे साथ प्रकृति भी भैरव के स्वर में डूब गई। सारा वातावरण राग-रस-गंधयुक्त हो गया। ऐसा लगा कि भैरव के स्वर डोर से खिंचा सूर्य का रथ भी चला आ रहा है।

□

क्षितिज सूर्य का लाल गोला उगलने लगा। मैं वंशी बजाता रहा। अब भैरव से भैरवी पर उतर आया था। प्रभात अभिवादन का यह राग इतना मधुर है कि मनुष्य क्या, पशु-पक्षी भी इसके स्वर की परिधि में खिंचे चले आते हैं।

मैंने देखा नहीं, छंदक कब से मेरी बगल में खड़ा वंशी का आनंद ले रहा था। उसकी उपस्थिति का जरा भी मुझे आभास नहीं था। जब मेरी दृष्टि उधर गई, वह मुसकरा रहा था।

''मैं बहुत पहले तुम्हारे कक्ष में गया था। तुम गहरी नींद में थे, इसलिए मैंने तुम्हें जगाया नहीं।'' मैंने कहा।

पर उसने इस विषय में कुछ कहा नहीं वरन् आश्चर्य व्यक्त करते हुए बोला, ''आप भी अद्‍भुत हैं। शायद इसी अद्‍भुत्व के कारण आप भगवान् दिखाई देते हैं।''

''चलो, इसी बहाने तुमने एक सत्य तो स्वीकार किया कि मैं भगवान् हूँ नहीं, भगवान् दिखाई देता हूँ।'' मैंने हँसते हुए कहा।

छंदक भी मेरे तर्क पर हँसने लगा। फिर अपनी मुख्य बात पर आया—''मैंने इसलिए आपको अद्‍भुत कहा है कि आप स्थिति की भयंकरता की सूचना पाने के बाद भी वंशी बजा रहे हैं।''

''मैं महाकाल के फन पर भी वंशी बजा रहा था। जब से यह मुझे मृत्यु के मुख से खींच लाई है तब से मैं हर स्थिति की भयंकरता इसीको सौंपता हूँ।''

वह मेरे कथन पर विस्मित था। मेरी जिज्ञासा वैसे ही आतुर थी। मैंने तुरंत पूछा, ''कल तुम किस स्थिति की भयंकरता की चर्चा कर रहे थे?''

अब उसने अपनी मगध यात्रा का विवरण सुनाना आरंभ किया।

उसने बताया—''जरासंध ने मुझे देखते ही पहचान लिया। उसका पहला प्रश्न था—'कब से यहाँ आए हुए हो?'

'' 'सीधे आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ।' मैंने कहा।

''जरासंध की तुरंत प्रतिक्रिया थी—'ऐसा कभी हो नहीं सकता कि तुम नगर में आकर बिना कुछ किए-धरे मेरे पास चले आओ।'

''इतना सुनते ही मुझे हँसी आ गई। पर वह गंभीर ही रहा। फिर उसने आपका कुशल समाचार पूछा। इसके पश्चात् उसने पांचाल स्वयंवर की चर्चा शुरू की।

''उसने पूछा, 'तुम क्या समझते हो, स्वयंवर होगा?'

'' 'मैं तो यही समझता हूँ।' मैंने कहा, 'द्रौपदी ने तो अपने विवाह के लिए स्वयंवर की इच्छा व्यक्त की है।'

'' 'उसकी इच्छा से क्या होता है!' जरासंध गरजा—'वे दिन लद गए जब

विवाह में महिलाओं की इच्छा को मान्यता दी जाती थी। अब नारी की इच्छा का कोई मूल्य नहीं है। अब तो उसके माता-पिता की इच्छा ही सर्वोपरि है।'

"'पर द्रुपद तो अपनी पुत्री की इच्छा का आदर करते हैं।' मैं बोला।

"'तो यह स्वयंवर नहीं होगा।' जरासंध ने बड़ी दृढ़ता से कहा।

"'तब क्या होगा?' मैंने पूछा।

"'वही होगा, जो रुक्मिणी के स्वयंवर में हुआ था।' यह कहते हुए आत्मविश्वास से भरी जरासंध की आवाज अहं का शिखर छू गई—'अपने कृष्ण से कह देना कि रुक्मिणी के स्वयंवर में तो बाजी उसके हाथ थी, पर द्रौपदी के स्वयंवर में बाजी मेरे हाथ रहेगी।' "

"तब तुमने क्या कहा?" मेरी जिज्ञासा बढ़ी।

छंदक बोला, "मैं कुछ कहने की स्थिति में नहीं था। चुपचाप सुनता रहा। वह बड़बड़ाता गया। आपके विरुद्ध पुराना आक्रोश उगलता गया।

"तुमने यह जानने की चेष्टा तो की होगी कि इसके लिए उसने योजना क्या बनाई है?" मैंने पूछा।

"क्या गुप्तचरी करना ही मेरा काम रह गया है?" छंदक ने हँसते हुए कहा।

"तो क्या तुम गुप्तचरी को छोटा काम समझते हो?" मैंने प्रश्न का उत्तर भी प्रश्न से ही दिया और कहा, "छोटे-से-छोटा काम भी महापुरुषों के हाथ में पड़कर बड़ा हो जाता है। शबरी के जूठे और अपवित्र बेर भी राम के हाथों जाकर पवित्र हो गए थे वैसे गुप्तचरी भी तुम्हारे पल्ले पड़कर गौरवान्वित हुई है।"

छंदक मुसकराता रहा। फिर बोला, "बातों में तो कोई आपसे जीत नहीं सकता।" उसे ऐसा लगा कि उसने जो कुछ कहा है, वह आधा-अधूरा है। उसने तुरंत स्वयं को सुधारा और बताया—"मैं जितने दिन भी मगध में रहा, एक दिन भी सहदेव (जरासंध के पुत्र) से मेरी मुलाकात न हुई। मैंने पता लगाया तो कुछ ज्ञात नहीं हुआ। इतना पता चला कि वह आजकल राजधानी में नहीं है। पर कहाँ है, यह किसीको मालूम नहीं था। जिसे मालूम था, वह भी बताना नहीं चाहता था। एक दिन मगध के महामात्य से अचानक भेंट हो गई। उसे देखते ही मैंने बड़े नाटकीय ढंग से कहा, 'अरे, आप यहाँ हैं! तब महाराजकुमार (सहदेव) के साथ कौन होगा?' महामात्य एकदम सकते में आ गया।

"फिर उसने मुझसे ही पूछा, 'कहाँ हैं महाराजकुमार?'

"'मुझे उन जैसा ही एक व्यक्ति हस्तिनापुर में दिखाई दिया था।' मैंने कहा।"

छंदक ने हँसते हुए बताया—"बस वह मेरे चकमे में आ गया। उसके मुख से तुरंत निकल पड़ा—'वे हस्तिनापुर में कहाँ होंगे, वे तो पांचाल गए हैं।' अब सही

बात मालूम हुई।''

छंदक का कहना था—''उस समय तो मैं एकदम चुप हो गया; जैसे इससे मुझको कुछ लेना-देना ही न हो। पर स्वयंवर के ठीक पहले सहदेव का पांचाल जाना अवश्य रहस्यपूर्ण लगा। मैं इस रहस्य के पीछे पड़ा; पर कहीं से कोई सूत्र मिल नहीं रहा था। मैं जिसके पास जाता, वह मुझे देखते ही चुप हो जाता। जो जानता, वह भी उसे बड़ी होशियारी से मौन के गड्ढे में गाड़ देता।

''इस तरह मैं बड़ा परेशान हुआ। अंत में एक दिन राजगिरि के किसी उत्सव में मैं जरासंध से मिला। उसने मुझे देखते ही पूछा, 'अभी तक आप यहीं विराजमान हैं?'

''मैं बड़े सहजभाव से मुसकराया। मैंने कहा, 'मेरी इच्छा तो यहाँ से सीधे पांचाल जाने की है। लेकिन अभी जाकर क्या करूँगा! अभी तो तमाशा शुरू होने में कई दिन शेष हैं।'

'' 'तो आप भी तमाशा देखनेवाले हैं!' जरासंध जोर से हँसा। इस समय तो वह कुछ और नहीं बोला। तब तक जरासंध को एक चर ने धीरे से सूचना दी कि दशार्ण से कपिल लौट आए हैं। मेरे कानों ने इसे बड़ी होशियारी से लोक लिया। मैं चुप ही रहा।

'' 'कुछ कहा है उसने?' जरासंध ने चर से पूछा।

'' 'उसने मुझसे तो कुछ नहीं कहा। लगता है, उसे जो कहना है वह आपसे ही कहेगा।' चर से इतनी सूचना पाते ही जरासंध उत्सव छोड़कर राजभवन की ओर चल पड़ा।''

छंदक ने बताया—''रथ पर चढ़ते समय उसने आशा के विपरीत मुझे भी रथ पर बैठा लिया।

''वह सीधे अपने मंत्रणाकक्ष में आया। वहाँ कपिल पहले से बैठा था। उसे देखते ही जरासंध ने पूछा, 'क्या कहा हिरण्यवर्मा ने? वह कब आ रहा है?'

'' 'अब वे नहीं आएँगे?' कपिल बोला।

'' 'क्यों?' जरासंध की त्योरियाँ चढ़ गईं।

'' 'उनका कहना है कि द्रुपद मेरे समधी हैं।'

'' 'वह तो पहले भी थे।' जरासंध का क्रोध फनफनाया—'तब उसने मेरे साथ समझौता क्यों किया?'

'' 'तब परिस्थितियाँ दूसरी थीं। अब वे बिलकुल बदल गई हैं।'

इसी प्रसंग में कपिल ने बताया कि उसकी पुत्री को द्रुपद बिदा करा ले गए हैं।

'' 'यह कैसे हो सकता है? हिरण्यवर्मा ने अपनी पुत्री को शिखंडिन के साथ

बिदा कर दिया! वह पागल तो नहीं हो गया है!'

" 'वह पागल तो नहीं, पर हाँ, अब शिखंडिन शिखंडी हो गया है। अब वह नारी नहीं रहा।'

" 'यह कैसे हो सकता है?' जरासंध के क्रोध में फिर उफान आया—'कहीं हिम ताप बन सकता है? कहीं शिखंडी में पुंसत्व आ सकता है? अवश्य इसके पीछे कृष्ण की कोई चाल है!' आवेश में उसे मेरी उपस्थिति का भी ध्यान नहीं रहा।"

छंदक ने आगे बताया—"फिर वह अप्रत्याशित रूप से गंभीर हो गया। कुछ समय तक वह चुपचाप अपने आसन पर बैठा ही रहा। अचानक उसके आवेश में उबाल आया। वह बड़बड़ाने लगा—'कुछ हो, मैं यह स्वयंवर होने नहीं दूँगा। मेरे साथ सरासर धोखा हुआ है। कुछ ही दिन हुए, द्रुपद ने मेरे पौत्र मेघसंधि से अपनी पुत्री के विवाह का प्रस्ताव भेजा था। केवल यह शर्त थी कि हम दोनों मिलकर द्रोण का पराभव करें। तब मैं हिरण्यवर्मा के चक्कर में आ गया। वह स्वयं उस समय मेरे यहाँ आया था। उसने अनुनय-विनय की कि मैं उसके साथ संधि कर लूँ। उसका कहना था कि हम दोनों मिलकर पांचाल पर आक्रमण करेंगे। हमारे साथ द्रुपद ने धोखा किया है, हम उसका बदला लेंगे। उसकी सत्ता आप लेंगे और प्रतिशोध मैं लूँगा। अब क्या हो गया उसे?' जरासंध कुछ सोचते हुए मौन हो गया।

"मैं और कपिल दोनों चुपचाप उसका मुख देखते रहे।

"वह पुनः बड़बड़ाने लगा—'इतनी जल्दी हिरण्यवर्मा पलट गया। इसकी तो मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी। यदि उसे संधि तोड़नी थी तो मुझे पहले बताना चाहिए था। बदली हुई परिस्थितियों से मुझे अवगत कराना चाहिए था। यह तो एकदम धोखा है! मेरी प्रतिष्ठा को धूल में मिलाने का कुत्सित प्रयत्न है। दोनों समधियों ने मुझे धोखा दिया है। मैं दोनों से समझूँगा—और एक साथ ही समझूँगा। दोनों का सामना पांचाल में होगा ही।' "

छंदक का कहना था—"इतना कहते-कहते आवेश में जरासंध ने अपनी तलवार खींच ली और नंगी तलवार लेकर अपने सिंहासन के सामने काफी देर तक टहलता रहा। उसकी गति में आवेग था, उसके मस्तिष्क में तूफान था और था उसके मन में जलता हुआ प्रतिशोध।

"थोड़ी देर तक तो मुझे उठने का साहस न हुआ। धीरे-धीरे जब जरासंध का आवेश थमा तब मैंने उठकर चलने के लिए अभिवादन किया। जरासंध तड़पा—'रुको, कहाँ जाते हो?'

"मैं डरा कि यह क्या करने वाला है! कहीं इसका क्रोध मुझपर ही तो नहीं उतरेगा? फिर भी मैं चुपचाप बड़े शांतभाव से बैठ गया। फिर वह मुझे एकटक

देखता रहा। अचानक बोला, 'तुम्हें इस समय मैं बंदी बना लूँ तो?'

'' 'तो मैं आपका बंदी हो जाऊँगा।' मैं एकदम शांत था।

'' 'तुम्हें ज्ञात है न कि मेरे बंदीगृह में सैकड़ों राजा अपनी यातना की घड़ियाँ गिन रहे हैं?'

'' 'हाँ, ज्ञात है।'

'' 'अब तुम भी उसीमें डाल दिए जाओगे।' वह तड़पा—'कृष्ण तुम्हारा मित्र है न! जब वह सुनेगा कि तुम मेरे बंदी हो तब वह दौड़ा हुआ चला आएगा।'

'' 'कोई आवश्यक नहीं है कि वे आ ही आएँ। नहीं भी आ सकते।'

'' 'तब वह तुम्हारा मित्र कैसा!'

'' 'मेरे मित्र ही नहीं, वे मेरे भगवान् भी हैं।' मैं बोला और जरासंध अट्टहास कर बैठा—'अच्छा, तो तुम भी उसे भगवान् मानते हो! उस समय वह तुम्हारा भगवान् कहाँ था, जब मैंने मथुरा पर चढ़ाई की थी? वह कायरों की तरह भाग खड़ा हुआ था।'

'' 'यह उनकी लीला है, जिसे समझना हमारे-आपके वश की बात नहीं है।'

''इतना सुनते ही वह तड़पा—'तुम मूर्ख हो! देखना, एक-न-एक दिन तुम्हारा भगवान् मेरे यहाँ आएगा और मेरे शरणागत होगा।'

'' 'वे एक-न-एक दिन आएँगे तो अवश्य।' मैंने कहा, 'पर कौन किसके शरणागत होगा, इसे तो भविष्य ही बताएगा।'

''बस मेरा इतना कहना था कि जरासंध की नग्न असि एकदम मेरे ऊपर तन गई। वह गिरने ही वाली थी कि मेरे पीछे से एक आवाज ढाल बनकर आई—'अरे रे, पिताजी, यह क्या कर रहे हैं?' मंत्रणाकक्ष में अचानक और अप्रत्याशित सहदेव ने प्रवेश किया।

'' 'तुझे भी इसी समय आना था!' जरासंध अपने पुत्र पर भी गरजा। किंतु तुरंत ठंडा भी हो गया; क्योंकि जिज्ञासा के धूम के उठते ही क्रोध मच्छर की तरह भाग जाता है। अब जरासंध को कुतूहल था कि सहदेव पांचाल से क्या समाचार लाया है।

''उसने तुरंत हम लोगों को वहाँ से हटाया। हम मंत्रणाकक्ष से बाहर निकले। लगा, मृत्यु मेरे सिर पर से टल गई।''

मुझे हँसी आ गई। मैंने छंदक से कहा, ''इतना घबराते हुए तो मैंने तुम्हें पहली बार देखा या सुना है। इसे अच्छी तरह समझ लो, छंदक, मृत्यु किसीके लाए नहीं आती। उसका समय होता है—और जब आती है तो खाली हाथ नहीं जाती।''

छंदक मौन हो गया।

मैं कहता गया—''यह मात्र संयोग था कि सहदेव उस समय आ गया। तुम्हें

लगा होगा कि इसे भगवान् ने ही भेजा है। ऐसे अप्रत्याशित संयोगों ने ही भगवान् की परिकल्पना मनुष्य को दी है—और भगवान् संयोग, नियति, होनी, अनहोनी का पर्याय बन गया। इससे यह भी कभी मत समझना कि मैं ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करता हूँ। उसकी हमें आवश्यकता रही है और भविष्य में भी रहेगी।''

मैंने शीघ्र ही अनुभव किया कि मैं अनावश्यक रूप से दार्शनिक होता जा रहा हूँ। मुझे तथ्य पर आना चाहिए। मैंने छंदक से पूछा, ''सहदेव के आने के बाद राजगृह की क्या स्थिति थी?''

''राजगृह आक्रोश में था। जरासंध खुलेआम कह रहा था कि पांचाली को धनुर्विद्या का क्या ज्ञान है कि उसने स्पर्धा के लिए ऐसी कठोर परीक्षा रखी है? इसके पीछे भी किसीका हाथ है। उसकी अँगुली आपकी ही ओर उठ रही है। वह यह भी कहता है कि सबके मूल में कृष्ण की ही कूटनीति है। पांचाली का हाथ किसी द्रोण शिष्य को ही थमाने की चाल है।''

छंदक ने बताया—''वह पुष्कर कांड को भी किसी विशेष रंग में ही रँगकर देखता है। उसकी स्पष्ट धारणा है कि कौरवों और आपके बीच एक दुरभिसंधि है, जिसके द्वारा आपने द्रौपदी को बड़ी नाटकीयता के साथ दुर्योधन को सौंपने की योजना बनाई है।''

''क्यों? यदि यह सब मेरी चाल है तो मैं किसी और को द्रौपदी को नहीं सौंप सकता, तुमने यह नहीं पूछा?''

''अब द्रोण के शिष्यों में और रह कौन गया है?'' छंदक ने मुसकराते हुए कहा, ''पांडव तो भस्म हो चुके हैं।''

छंदक की प्रसन्न मुद्रा यह बता रही थी कि यह भस्म होने का भ्रम पांडवों के लिए कवच बन गया है। पर वह मुसकराता हुआ चुप ही रह गया; क्योंकि हम लोगों को हर दीवार में कौरवों के उगे कान दिखाई दे रहे थे।

''क्यों? द्रोण शिष्यों में कर्ण नहीं है?'' मेरी शंका तुरंत मेरे मुख से निकल पड़ी—''इस समय आर्यावर्त्त में कर्ण के समान कोई धनुर्धर नहीं।''

''एकलव्य भी नहीं?''

''एकलव्य को छोड़ो, वह तो अद्भुत है। पर स्पर्धा के लिए उसे कोई भी अनुमति नहीं देगा।''

''क्यों?''

''क्योंकि वह राजपुत्र नहीं है।''

''पर यह स्पर्धा तो धनुर्विद्या की है, न कि राजपुत्रत्व की।''

''छंदक, तुम अभी भविष्य के प्रश्न क्यों खड़े कर रहे हो? इस समय हमारे

सामने जो विचारणीय प्रश्न है, हमें अपना चिंतन वहीं तक सीमित रखना चाहिए। पहली बात तो यह कि कर्ण की साधना इस स्पर्धा को जीत सकती है। उसपर दुर्योधन की अपार आस्था भी है। और भीतर से न होते हुए भी ऊपर से उसे द्रोण का आशीर्वाद भी मिल जाएगा। क्या उसकी ओर जरासंध का ध्यान नहीं जा रहा है ?''

''जा क्यों नहीं रहा है!'' छंदक बोला, ''उसका कहना है कि उसे तो मैं रंगमंच पर ही चढ़ने नहीं दूँगा। राजपुत्रों के बीच सूतपुत्र का क्या काम!''

यह सुनकर मैं बड़ा प्रसन्न हुआ। मैंने छंदक से कहा, ''छंदक, हमें ऐसी ही स्थिति उत्पन्न करनी चाहिए कि कर्ण के रंगमंच पर चढ़ते ही जरासंध उसका विरोध करे। फिर तो हस्तिनापुर और मगध के बीच तलवारें खिंच जाएँगी और हमारा कार्य सुकर हो जाएगा।''

''जरासंध ने वही मौलिक प्रश्न उठाया है, जिसकी शंका मुझे पहले से थी। इस शंका में दम भी है।'' मैंने कहा, ''जब कन्या स्वयं धनुर्विद्या में पारंगत नहीं है और उसके परिवार का कोई भी इस प्रतिस्पर्धा में स्वयं उत्तीर्ण नहीं हो सकता, तब ऐसी कठिन प्रतिस्पर्धा रखने का पांचाल नरेश को क्या अधिकार है ? इसकी तो स्वयं वे उद्घोषणा भी नहीं कर सकते।''

''क्यों, ऐसा कोई नियम है ?''

''ऐसा कहीं कोई लिखित नियम तो नहीं है, पर परंपरा ऐसी अवश्य है।'' मैंने कहा, ''सीता शिव के धनुष को वाम हस्त से उठा लेती थीं। उसे भंग भी कर सकती थीं। इसलिए शिव पिनाक भंग को सीता स्वयंवर की स्पर्धा रखी गई, जो हर दृष्टि से उचित थी; पर इस लक्ष्यवेध को न तो द्रौपदी कर सकती है और न द्रुपद।''

''यह सारी योजना तो आपकी ही बनाई है। सारा खोया आपका ही कूटा है।''

छंदक मुसकराया और मुझे भी हँसी आ गई। मैंने हँसते हुए ही इस सत्य को स्वीकार किया कि मनुष्य की स्वार्थ बुद्धि ऐसी ही भूल कर बैठती है।

छंदक ने मेरा संकेत अवश्य समझा होगा। फिर भी वह बात टाल गया। बोला, ''जरासंध ने बड़ा मौलिक प्रश्न उठाया है।''

मैं कुछ समय तक सोचता रहा। मेरे विचार में यह बात बार-बार आ रही थी कि जरासंध बड़ा उद्यत है। वह उत्सव आरंभ होते ही कह सकता है कि पहले राजकुमारी या राजकुमार स्वयं लक्ष्य वेधकर दिखाएँ, तभी हम लोग स्पर्धा में भाग ले सकते हैं। तब बड़ी विकट समस्या उत्पन्न होगी। मैंने छंदक को धन्यवाद दिया कि आनेवाले संकट का आभास उसने मुझे बहुत पहले करा दिया।

''तब अब क्या किया जाए ?'' छंदक ने पूछा।

''संसार में ऐसी कोई समस्या नहीं, जिसका समाधान न खोज निकाला जा

सके।'' मैंने मुसकराते हुए कहा, ''हमें पांचाल में होनेवाले स्वयंवर में स्पर्धा की घोषणा किसी मान्य आचार्य से करानी चाहिए—और वह भी धनुर्विद्या के परंपरागत आचार्य से।''

''इस समय धनुर्विद्या के परंपरागत आचार्य तो द्रोण ही हैं।'' छंदक बोला, ''किंतु उनकी उद्घोषणा विवादास्पद हो जाएगी; क्योंकि उस स्पर्धा में भाग लेनेवाले अनेक उनके शिष्य होंगे।''

''आचार्य द्रोण भला द्रुपद के यहाँ होनेवाली स्पर्धा की उद्घोषणा करेंगे! तुम भी पागल हुए हो क्या? यद्यपि यह होता तो बड़ा अच्छा होता। प्रतिशोध की अग्नि सदा के लिए बुझ जाती।'' मैंने कहा, ''पर यह होनेवाला नहीं है। आचार्य द्रोण तो द्रुपद का मुँह देखना भी पसंद नहीं करते। वह इस महोत्सव में आएँगे भी नहीं और न इसकी सफलता की कामना करेंगे।''

''तब आप इस कार्य के लिए किस आचार्य को उपयुक्त समझते हैं?'' छंदक ने पूछा।

''आर्यावर्त्त में आचार्यों की कमी नहीं है। अभी आचार्य याज ही जीवित हैं, जिन्होंने पुत्रेष्टि यज्ञ कराकर याज्ञसेनी (द्रौपदी) को जन्म दिया था। उनसे स्वर्णखंडों के बल पर कुछ भी कराया जा सकता है।'' मैंने कहा, ''पर वे भी धनुर्विद्या के लिए प्रसिद्ध नहीं हैं। फिर लोभी ब्राह्मण पर भरोसा करना विषैले सर्प पर भरोसा करना है।''

''तब?''

''हमें पूरी सावधानी बरतनी चाहिए और ऐसे आचार्य को ढूँढ़ना चाहिए, जिनपर हमारा प्रभाव हो।'' इतना कहकर मैं सोचने लगा। फिर बोला, ''इस समय आचार्य सांदीपनि होते तो काम बन जाता।''

''वे तो मुझे दिखाई पड़े थे।'' छंदक बोला, ''आपका समाचार भी पूछ रहे थे। जब मैंने बताया कि वे द्वारका से पांचाल स्वयंवर के लिए चल पड़े हैं, तब वे बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा, 'हो सकता है, वहीं उनसे भेंट हो जाए।' ''

''किधर दिखाई पड़े आचार्यजी?''

''पांचाल की सीमा के पास ही—आचार्य देवल के आश्रम में।'' छंदक ने बताया—''हो सकता है, अभी वे वहीं हों भी; क्योंकि आचार्य देवल बार-बार उनसे आतिथ्य स्वीकार करने की प्रार्थना कर रहे थे। उनका आग्रह था कि कुछ दिन यहाँ रहकर हमारे आश्रम की व्यवस्था कर दें।''

''तब तो हो सकता है कि अभी वे वहीं हों।''

मैंने कहा। मुझे विश्वास इसलिए था कि वे आश्रमों की वर्तमान अवस्था से

चिंतित थे। उनका सोचना था कि आज आश्रमों की यह दशा इसलिए हो गई है कि लगभग सभी राज्याश्रयी हो गए हैं। यदि वे समाजाश्रयी होते तो उनकी यह स्थिति न होती। समाज का अजस्त्र स्रोत उनका पेट भरता रहता। राजा भी उनके आश्रमों में प्रवेश करते समय सिर झुकाते। पर आज तो उलटी स्थिति है। आज आश्रम स्वयं राजप्रासाद के समक्ष नतमस्तक है। इस स्थिति से उस बूढ़े आचार्य को ऐसी पीड़ा है कि वे पूरे आर्यावर्त्त में घूम रहे हैं और हर आश्रम को समाजाश्रित बनाने की चेष्टा कर रहे हैं।

मैंने छंदक से कहा, ''यद्यपि तुम्हारी थकावट अभी दूर नहीं हुई होगी, फिर भी मुझे विश्वास है कि तुम्हारे सिवा यह कार्य कोई दूसरा कर नहीं सकता।''

''कौन सा कार्य?''

''आचार्य सांदीपनि से पुन: मिलने का।''

इतना सुनते ही छंदक की मुखमुद्रा बदली। उसकी वहाँ से हिलने की इच्छा नहीं थी। उसने कहा भी—''अब तो मेरा मन बैठने लगा है। सोचता हूँ, इस राजनीतिक प्रपंच से मुक्ति ले लूँ। संन्यस्त हो जाऊँ।''

''पर क्या तुम्हारे सोचने से यह होने वाला है?'' मैंने बड़े प्रभावशाली ढंग से कहा, ''यदि मनुष्य जैसा सोचता है वैसा ही होने लगता तो पांडव वास्तव में भस्म हो गए होते। मनुष्य के वश में बस सोचना है; पर करती नियति है। उसने हम सबको कार्य सौंप दिए हैं। जब तक वे कार्य पूरे नहीं होते, हमें उनसे मुक्ति नहीं मिलती।''

अंतत: छंदक जाने को तैयार हो गया। मैंने अब उसे अपनी योजना समझाई—''पहले तुम्हें पांचाल जाना होगा और महाराज से आचार्य सांदीपनि को स्वयं जाकर आमंत्रित करने के लिए कहना होगा। और यह भी कहना होगा कि वे उनसे स्वयंवर के संचालन का भी अनुरोध करें।''

''यदि मैं उन्हें ऐसा करने के लिए प्रभावित न कर सका तो?'' छंदक बोला।

''इसके लिए मैं महाराज को एक पत्र लिखकर दूँगा। उन्हें सारी राजनीति से अवगत कराऊँगा।'' मैंने कहा।

''तो उसमें आप सहदेव और जरासंध की मंशा का भी उल्लेख कर दीजिएगा।''

''किस मंशा का?''

''यही कि वे लोग स्वयंवर होने नहीं देंगे। उनकी द्रौपदी को हर ले जाने की सारी योजना होगी।''

''पत्र में इस आशंका का उल्लेख तो मैं कर ही दूँगा; पर इसके लिए अब तुम्हें स्वयंवर तक पांचाल में ही रहना होगा। इन सारी आशंकाओं पर सजग दृष्टि रखनी

पड़ेगी। उसीके अनुसार योजना बनानी पड़ेगी और इसी दृष्टि से आमंत्रित राजाओं के शिविर लगवाने पड़ेंगे। उदाहरणार्थ, जरासंध के शिविर के पार्श्व में कौरवों का शिविर होना चाहिए। सत्राजित् का शिविर चेकितान के पार्श्व में बिलकुल जरासंध की विपरीत दिशा में। इसका ध्यान रखना कि दो मित्रों का शिविर एक साथ न हो। हो सके तो कर्ण को भी कौरवों से अलग कर दो।''

''कर्णवाली बात तो मेरे लिए असंभव है।''

''तब कर्ण को मेरे साथ कर दो।''

''वह आपके साथ भी नहीं होगा। वह दुर्योधन का है और दुर्योधन के साथ ही रहेगा।'' छंदक बोला।

''कोई बात नहीं। उसे कौरवों के साथ ही रहने दो। पर इसका ध्यान रखना कि इन शिविरों की ऐसी व्यवस्था हो कि हर एक को अपना विरोधी अपनी बगल में ही दिखाई दे। इसके लिए मैं शिविर निर्माण का संभावित रेखाचित्र तुम्हें बनाकर दूँगा। एकांत में द्रुपद से मिलकर उसपर मंत्रणा कर लेना।''

छंदक मेरी योजना गंभीरता से सुनता रहा। फिर धीरे से बोला, ''यदि आचार्य सांदीपनि ने द्रुपद का निमंत्रण स्वीकार नहीं किया तो?''

''हाँ, यह स्थिति आ सकती है; क्योंकि इधर उनमें आई वितृष्णा से उनका जीवन राजनीतिनिरपेक्ष होता जा रहा है।'' मैंने कहा और सोचा कि मुझे उन्हें भी एक पत्र लिखना पड़ेगा। मैंने छंदक से कहा, ''तुम अपनी तैयारी करो। मैं अभी सभी पत्र और रेखाचित्र तैयार करे देता हूँ।''

''यदि आपकी आशा के अनुसार राजाओं की उपस्थिति न हुई तो?'' छंदक ने नई शंका उठाई।

''तुम तो वहाँ रहोगे ही। आवश्यकता के अनुसार तुरंत व्यवस्था बदलना। तुम्हारा विवेक मेरी मंशानुसार सब ठीक कर लेगा।'' मैंने कहा, ''हाँ, एक बात और है—और वह सबसे महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक है।''

''क्या?''

''क्या यह संभव है कि तुम पांचाल जाते समय पांडवों से कहीं मिलो?''

''संभव तो नहीं है, पर यदि आपका आदेश होगा तो उसे संभव करना पड़ेगा।''

''यह कार्य भी वैसा ही आवश्यक है। उन लोगों से मिलकर उन्हें स्वयंवर के समय उपस्थित होने के लिए अवश्य कहना। उन्हें स्पष्ट बता देना कि कन्हैया यह चाहते हैं कि आप सब जैसे ब्राह्मण के वेश में हैं वैसे ही वहाँ उपस्थित रहें। यद्यपि इसके संबंध में उन्हें तुमने पहले भी बताया होगा, एक बार मैंने तुम्हें यह काम सौंपा था।''

''वह तो ठीक है।'' छंदक बोला, ''प्रजाजनों के लिए महाराज की ओर से अभी कोई आमंत्रण प्रसारित नहीं हुआ।''

''तो प्रजाजनों की उपस्थिति के लिए एक निमंत्रण ससम्मान यथाशीघ्र प्रसारित कराना होगा।'' मैंने कहा, ''मैं इसके लिए भी द्रुपद के पत्र में उल्लेख करूँगा।''

फिर मेरा चिंतन दूसरी ओर उलझा। स्वयंवर का पूरा चित्र मेरे मस्तिष्क में उभरने लगा। मैंने छंदक को एक और निर्देश दिया—''देखो, रंगमंच के चारों ओर प्रजाजनों के बैठने की ऐसी व्यवस्था करना कि प्रजा में से कोई भी व्यक्ति यदि चाहे तो सरलतापूर्वक मंच पर पहुँच सके।'' मैंने उसे स्पष्ट निर्देश देते हुए कहा, ''यह कार्य उतना कठिन नहीं है, जितनी कठिन है इसकी गोपनीयता को बनाए रखना।''

छंदक भी इसकी गोपनीयता को समझता था। वह सोचते हुए बोला, ''इतनी जिम्मेदारियाँ आपने मुझपर सौंप दी है, जिनका बोझ मैं शायद सँभाल न पाऊँ। इसके लिए तो आपको भी स्वयंवर के एक-दो दिन पूर्व उपस्थित होना पड़ेगा।''

''मेरे और मित्र तुम्हारे सहयोग के लिए पहुँच जाएँगे।'' मैंने कहा, ''पर मैं भैया के साथ ठीक समय पर ही उपस्थित होना चाहूँगा।''

''क्यों ?''

''सारी बातें अभी ही मैं तुम्हें बता दूँ!'' मैंने मुसकराते हुए कहा, ''कुछ भविष्य के लिए भी रहने दो।''

वह भी मुसकराने लगा। बोला, ''हर योजना के पीछे आपकी रहस्यमयता लोगों को परेशान कर देती है।''

''और यही रहस्यमयता तो मुझे भगवान् बनाती है।'' इस बार तो मैं और खुलकर हँसा। वह मेरा मुँह देखता रह गया।

□

छंदक ऐसा गया कि किसीको पता भी नहीं चला। मेरे मित्र स्वयं उसकी इस गतिविधि से विस्मित थे। जब लोगों ने इस विषय में मुझसे पूछने की मानसिकता बनाई तब उद्धव ने बड़ी होशियारी से इस विषय को टालते हुए कहा, ''भीतर-ही-भीतर खौल रहा है। आप लोग अभी से क्यों परेशान हैं ? जब ज्वालामुखी फूटेगा तब हम सभी देख लेंगे।''

और लोगों ने समझ लिया कि कोई रहस्यमय बात अवश्य है, अन्यथा उद्धव—कन्हैया का निकटतम मित्र, उन्हें इस तरह न टाल जाता।

वस्तुत: विस्मय का यह क्षेत्र आतिथेय चारुदेष्णा को भी अपनी परिधि में ले बैठा था; पर वह मुझसे इतना झेंप रहा था कि वह कुछ पूछ नहीं पाया। दूसरे दिन प्रात: जलपान के समय जयद बोल ही पड़ा—''छंदक चाचा एक दिन पहले ही

आए और आज रात ही चले गए। आपके प्रहरियों का कहना है कि वे बहुत ही थके हैं। कुछ दिन विश्राम करेंगे।''

''रमता जोगी, बहता पानी और छंदक को तुम एक स्थान पर स्थिर नहीं देख सकते, वत्स! भले ही ये शिथिल हों, श्लथ हों! इनका अस्तित्व ही बहते रहने में है। जिस दिन ये स्थिर हो जाएँगे, ये न अपने योग्य रहेंगे और न समाज के योग्य।'' मैंने हँसते हुए बड़े नाटकीय ढंग से कहा।

शंकाओं से भरे होने पर भी पिता-पुत्र कुछ बोल नहीं पाए, केवल मेरा मुख देखते रहे।

थोड़ी देर बाद चारुदेष्णा ने एक विचित्र मुद्रा में कहा, ''इस प्रासाद में एक प्राणी और है, जो आपसे मिलने के लिए आतुर है।''

''क्या चेकितान पुष्कर से आ गया?'' मेरे अनुमान ने उस आतुर व्यक्ति की खोज में पहले चेकितान को ही पाया।

चारुदेष्णा हँस पड़ा—''चेकितान नहीं, एक दूसरा प्राणी है।''

उसने प्रहरी की ओर संकेत किया। तुरंत एक अद्भुत सुंदरी अपनी दासियों के साथ कक्ष में धीरे-धीरे आती दिखाई दी। मुझे समझते देर नहीं लगी कि यह अग्रवाण की पट्टमहिषी और चारुदेष्णा की पत्नी है। उसका संपूर्ण व्यक्तित्व धीर-गंभीर सिंधु-सा पारदर्शी और तरल था। स्वप्निल आँखोंवाली उस नवनीत पुत्तलिका की एकटक लगी दृष्टि अपनी कल्पना में बने मेरे व्यक्तित्व का यथार्थ से पहली बार मिलान कर रही थी।

आकर्षण से मेरी ओर और लज्जा से धरती की ओर उठती-गिरती उसकी चंचल दृष्टि और भी चंचल हो गई थी। जब वह मेरे निकट आई, मैं उठकर खड़ा हो गया। अभिवादन के बाद मैंने उसे अपनी बगल में ही बैठाया।

''मैंने आपके बारे में बहुत सुना था। आज पहली बार देख रही हूँ और यह अनुभव कर रही हूँ कि हम सब धन्य हैं कि आप हमारा आतिथ्य स्वीकार कर रहे हैं।''

मैं क्या कहता, केवल मुसकराकर ही अपनी कृतज्ञता व्यक्त की। मुझे तुरंत यह भासित हो गया कि रूप में ही नहीं, संस्कार में भी यह नारी संपन्न है।

''भगवान् को हम लोगों ने देखा नहीं, केवल सुना है।'' वह नारी बोली, ''पर आज देख रही हूँ।''

मैं हँस पड़ा। लगता है, यहाँ आने के पहले मेरा ईश्वरत्व यहाँ चला आया है।

मुसकराती हुई वह नीची आँखों के कोर से मुझे टटोलती रही। मैंने उसकी ओर जलपान के पात्र बढ़ाए। उसने उसमें से कुछ उठाया। उसे उठाने में भी शील में डूबी

उसकी संभ्रांतता मुझे छू गई।

कुछ देर बाद वह बहुत धीरे से बोली, ''मेरी एक जिज्ञासा है।''

''क्या?''

''आप मेरे पति को पांचाल क्यों ले जा रहे हैं?''

''स्वयंवर में भाग लेने के लिए।''

''मेरे पति पर तो आपकी कृपा है, पर मुझपर आपकी कृपा क्यों नहीं?''

मैं समझ नहीं पाया कि इसका तात्पर्य क्या है? उसके कथन में कोई तारतम्य बिठा नहीं पा रहा था। मेरा मौन उसे और स्पष्ट होने के लिए विवश कर रहा था।

वह बोली, ''यदि मुझपर कृपा होती तो आप मेरे पति के लिए पांचाली जैसी एक अनिंद्य सुंदरी लाने की बात कभी नहीं सोचते।''

मेरे मुख से सहज ही निकल पड़ा—''आपने पांचाली को देखा है?''

''देखा तो नहीं, पर सुना है। उस याज्ञसेनी में यज्ञ की प्रज्वलित अग्नि की तेजस्विता और आकर्षण है।''

अब मैं समझ गया। यहाँ भी वही आग लगी है, जिसमें भानुमती जल रही थी। नारी कहीं की हो, कोई भी हो; पर उसकी कई समस्याएँ एक जैसी होती हैं। वह किसी भी प्रकार अपने पति पर एकाधिकार बनाए रखना चाहती है। यही भारतीय नारी की अस्मिता भी है और उसकी नियति भी। इस अधिकारक्षेत्र में किसीकी संभावना मात्र से वह विचलित हो जाती है।

मैंने उसे भी भानुमती की तरह समझाया। मैं यह कहने की स्थिति में नहीं था कि स्पर्धा में तुम्हारे पति की विजय नहीं होगी; क्योंकि सबको यह विश्वास था कि जिसे मैं चाहूँगा, वही जीतेगा। मैं इस विश्वास को तोड़ना भी नहीं चाहता था; क्योंकि इसे तोड़ने पर मेरा वह ईश्वरत्व घायल हो जाता, जो पग-पग पर मेरे काम आता था। आस्था टूटते ही भगवान् भी निरर्थक हो जाता है।

मैंने पट्टमहिषी से कहा, ''यह स्पर्धा पुंसत्व का आह्वान है। इसमें भाग लेना हर पुरुष का धर्म है; पर विवाह करना या न करना उसकी इच्छा है।'' मैंने उसे थोड़ा विस्तार से समझाया—''अच्छा, तुम्हीं बताओ कि क्या यह आवश्यक है कि इस स्पर्धा में एक ही व्यक्ति सफल हो? कई भी तो सफल हो सकते हैं! ऐसी स्थिति में द्रौपदी क्या कई में विभाजित कर दी जाएगी?''

''यही तो आज की नारी की विवशता है!'' उसने कहा, ''वह कई में विभाजित हो सकती है, पर अपने प्रेम को विभाजित होने देना नहीं चाहेगी। वह आज के समाज में मात्र भोग्या है, भोक्ता नहीं।''

मैं मौन ही रहा; क्योंकि मेरे सामने नारी नहीं वरन् आज की नारी की अस्मिता

बोल रही थी।

थोड़ी देर बाद मैंने कहा, ''मैं आपकी मानसिकता समझता हूँ। मैं आपके चिंतन से भी सहमत हूँ। उस खतरे पर भी मेरी दृष्टि है, जिसे आप देख रही हैं; पर विश्वास कीजिए, ऐसा कुछ होने वाला नहीं है।'' इतना कहकर मैं एकदम उठ गया; क्योंकि अपने ही कथन से उठनेवाली जिज्ञासाओं पर मैं उत्तर देने की स्थिति में नहीं था।

संध्या हो चली थी। प्रासाद से अतिथिगृह की ओर मैं अपने मित्रों से मिलने चल पड़ा। शायद मेरे मित्र ऐसा सोचने लगे थे कि अब मैं उनसे बहुत कुछ छिपाता हूँ। यह स्थिति मेरे और उनके बीच एक दीवार खड़ी कर सकती है, भले ही वह पारदर्शी हो, पर होती तो दीवार ही न!

मुझे देखकर सबके चेहरे खिल उठे। पर सात्यकि अपनी आदत से बाज नहीं आया। वह बोल पड़ा—''मैं तो समझता था कि अब आपसे भेंट यहाँ से चलने के बाद ही होगी!''

मैंने मुसकराते हुए पूछा, ''क्यों?''

''क्योंकि यहाँ भी शायद आपको एक कुब्जा मिल गई।'' आप तो समझ ही गए होंगे कि उसका व्यंग्य किसकी ओर था।

''भाई, मिलने को तो बहुत मिलती हैं; पर मैं उद्धव जैसा भाग्यशाली थोड़े ही हूँ कि मिलनेवाली मेरी छाया ही बन जाए।'' मैंने उद्धव पर त्यंग्य तो किया, पर यह नहीं देखा कि मणिभान मेरे पीछे आ रहे हैं। लोग हँस पड़े। पर उद्धव कनखियों से मुझे देखते हुए भीतर-ही-भीतर मुसकराकर रह गया।

मैंने तुरंत बात बदल दी। अभी चेकितान भी नहीं आया और भैया भी नहीं आए। अब विलंब घातक होगा; क्योंकि मार्ग की बाधाओं के लिए हमें कुछ समय तो सुरक्षित रखना ही पड़ेगा।''

''तो आप मानते हैं कि मार्ग में बाधा पड़ेगी?''

''मैं यह नहीं मानता, पर उसके लिए हमें सावधान रहना चाहिए।''

''चेकितान को तो अब तक आ जाना चाहिए।'' उद्धव बोला।

''यही तो मैं भी सोचता हूँ।'' मैंने कहा।

''पर मेरी व्यग्रता का एक अन्य कारण भी है।'' उद्धव ने रहस्य खोला—''आज मध्याह्न के बाद चेकितान का चर यह देखने आया था कि हम लोग यहाँ से चले या नहीं!''

''यह कौन सी समझदारी है?'' मैं बोला, ''जब मैंने उससे कहा था कि मैं बिना तुम्हें लिये पांचाल नहीं जाऊँगा, तब व्यर्थ में यह सब करने से क्या लाभ?''

"तो चर समाचार लेकर चला गया?" मैंने पूछा।

"नहीं।" उद्धव ने बताया—"उसे निर्देश है कि यदि तुम तीन घड़ी के बीच स्कंधवार में नहीं मिलोगे तो मैं समझ लूँगा, अभी वे लोग नहीं गए हैं और सीधे अग्रवाण चला आऊँगा।"

"तो वह चर कहाँ है?"

"अतिथिभवन में विश्राम कर रहा है।"

"इसका तात्पर्य है कि चेकितान निकट है।" मैंने कहा, "वह आता ही होगा।"

इस बीच हम लोग उद्यान से निकलकर अरण्य की ओर काफी दूर निकल गए थे। जंगल के प्रति मुझमें एक सहज ललक थी। बचपन से ही गायें चराने के बहाने मन में बैठा यह प्रकृति मोह आज आकर्षण बन गया था और वही इस समय काफी दूर तक खींच लाया था। यहाँ एक झरना झर रहा था। उसकी फुहार मन में एक विचित्र पुलकन उत्पन्न कर रही थी। हम लोग वहीं एक विशाल शिला पर बैठ गए।

संध्या डूब चुकी थी। जंगल के पीछे से धुँधलका क्षितिज को पकड़कर धीरे-धीरे आकाश में पसरता जा रहा था। इक्के-दुक्के तारे टिमटिमाने लगे थे। मैंने अपनी वंशी निकाली और मंद-मंद गंधवाह की लहरियों पर कल्याण (संध्या का राग) गूँजने लगा। और फिर सारा वातावरण कल्याणमय हो गया।

संगीत एक स्वर्गिक कला है, जो प्रकृति और पुरुष का भेद मिटा देती है। उन स्वर लहरियों पर हमें यह पता नहीं चला कि हम प्रकृति से अलग कहीं घूम रहे हैं।

समय भी कम था। हमारी तंद्रा उस समय टूटी जब चेकितान के चर ने आकर बताया कि महाराज आ गए हैं। हम लोग तुरंत वहाँ से लौट पड़े।

"कहाँ हैं तुम्हारे महाराज?" मैंने चलते हुए चर से पूछा।

"वे राजप्रासाद में गए हैं।" उसने फिर स्वयं सुधार किया—"आए तो अतिथिभवन में ही थे, पर राजकुमार उन्हें प्रासाद में लिवा ले गए हैं।"

मैं मन-ही-मन हँसा। राजलिप्सा तू भी कितनी विचित्र है! तेरे एक हाथ में निष्ठुरता की रक्तरंजित असि होती है तो दूसरा हाथ चाटुकारिता के पग भी पखारता है। एक दिन यही जयद चेकितान की हत्या की योजना बना रहा था—और आज उसका चरण चुंबन कर रहा होगा।

मेरे अतिथिभवन में पहुँचते ही चेकितान को सूचना मिली और वह तुरंत चला आया।

"बड़ी आवभगत हो रही है तुम्हारी!" मैंने उसे देखते ही कहा।

वह हँसते हुए बोला, "यह सब आपकी कृपा है।"

''मेरी नहीं, परिस्थिति की कृपा कहो।''

''उसके बनाने में भी तो आपका ही हाथ रहा है।'' चेकितान बोला।

मैंने इस संदर्भ को आगे बढ़ाना उचित नहीं समझा। अप्रिय को रहस्य के गर्भ में ही रहने दिया। बातों के क्रम को दूसरी ओर मोड़ते हुए बोला, ''अच्छा, तो पुष्कर से मेरे आने के बाद जो भी घटा हो, सब बता जाओ।''

वह हँस पड़ा—''घटने को तो वह घटा, जिसकी मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी। एकदम अप्रत्याशित। अनहोना जैसा हो गया।''

हम सबकी जिज्ञासा अपनी चरम सीमा पर थी। पर जब उसने यह बताया कि दुर्योधन मिलने आया था, तो आश्चर्य से हम सबकी आँखें खुली-की-खुली रह गईं।

''तुमने यह सूचना चारुदेष्णा को दी?'' मैंने पूछा।

''हाँ, उन्हें भी बता दिया।''

''वे क्या बोले?''

''वे कहते क्या! चकित थे। उनकी प्रथम प्रतिक्रिया थी कि द्वारकाधीश की कृपा से ही ऐसा हो सकता है। उनका कहना था कि मुझे तो स्वप्न में भी विश्वास नहीं था कि दुर्योधन जैसा हठी, दुराग्रही, महत्त्वाकांक्षी और राज्य विस्तारवादी व्यक्ति धोखे से हड़पे राज्य को पश्चात्ताप के थाल में सजाकर ससम्मान वापस कर देगा। यह चमत्कार नहीं तो क्या है? ऐसा चमत्कार तो भगवान् की कृपा से ही संभव है।''

मैंने सोचा कि चलो, चारुदेष्णा पर भी मेरे ईश्वरत्व का पानी चढ़ा। वस्तुतः चारुदेष्णा ने ही नहीं, जिस किसीने भी इस घटना को सुना, उसीने आश्चर्य किया।

मैंने मुसकराते हुए कहा, ''चलो, एक बात तो हो गई।''

चेकितान के साथ औरों की मुद्रा भी प्रश्नवाची हुई।

''अब किसी भी स्थिति में तुम्हारे विरुद्ध जयद हत्या की योजना तो नहीं बनाएगा।''

मेरे इस कथन पर सभी हँस पड़े।

दुर्योधन के प्रसंग में मेरी जिज्ञासा बढ़ गई थी। पर मैं इस विषय में चेकितान से एकांत में ही बात करना चाहता था; क्योंकि कूटनीति जब तक रहस्य की मंजूषा में रहती है तब तक वह बहुमूल्य रत्न है, बाहर होते ही वह काँच का टुकड़ा हो जाती है। इसलिए मैं इस समय चेकितान को इधर-उधर की बातों में उलझाए रहा। फिर अवसर देखकर बोला, ''तुम दिन भर के चले हो, थके हो, आओ, तुम्हारे लिए विश्राम की उचित व्यवस्था कराऊँ।''

कितना विचित्र है कि जो इसके पूर्व कई महीने तक अग्रवाण का अतिथि रह चुका हो, जिसे यहाँ के सारे कर्मचारी अच्छी तरह जानते हों और जिसके ठहरने की उत्तम व्यवस्था मेरे कहे या किए के पहले हल कर दी गई हो, उसीकी व्यवस्था का बहाना बनाकर मैं अपने मित्रों के बीच से चेकितान को लेकर अलग हुआ।

मार्ग में चेकितान ने बताया कि इस बार उसके ठहरने की व्यवस्था महाराज ने प्रासाद में ही अपने बगल के कक्ष में की है। उनके एक पार्श्व में मैं हूँ और दूसरे में वह।

कक्ष में पहुँचते ही मैंने दुर्योधनवाला अध्याय खोला—"तुम्हें तो ज्ञात ही होगा कि वह पुष्कर प्रत्यावर्तन समारोह में भी नहीं आया था। अब तुम्हारे यहाँ आया। अवश्य इसमें कोई रहस्य है।"

"मैंने इस विषय में उससे पूछा था।" चेकितान बोला, "उसने स्पष्ट कहा, 'उस समारोह में चलने के लिए लोगों ने बहुत कहा, पर मेरा अहं तैयार नहीं हुआ; क्योंकि मेरी प्रकृति थूककर चाटने की नहीं है।' दुर्योधन को लगा कि इस कथन में भी उसका अहंकार ही दहाड़ रहा है। उसने तुरंत अपने को सँभाला और बोला, 'उस समय यही स्थिति थी; पर बाद में मैं इस विषय पर दो दिनों तक लगातार सोचता रहा। रात को सपने में भी यही संदर्भ मेरे सामने रहता। अंत में मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा कि तुम्हारे जैसे मित्र को शत्रु बनाकर मैंने बड़ी भूल की है—और वह भी एक दुरभि-योजना के द्वारा।' "

"ऐसा उसने कहा!" मुझे आश्चर्य था। मेरे मुख से तुरंत निकल पड़ा—"वह व्यक्ति ऐसा कह रहा है, जिसके लिए नैतिकता और अनैतिकता के बीच कोई दूरी ही नहीं है। उसके इस कथन के पीछे कोई दुरभि-योजना तो नहीं है?"

"दुरभि-योजना तो नहीं, पर स्वार्थ अवश्य है।" चेकितान बोला, "वह तो आपकी बड़ी प्रशंसा कर रहा था कि 'ऐन मौके पर यदि कन्हैया ने मेरी आँखें न खोली होतीं तो मुझपर से मेरे मित्रों का विश्वास ही उठ जाता। मैं तो कन्हैया का बड़ा उपकृत हूँ। अब उनकी मित्रता मुझे मिली है। देखो, मैं क्या कर डालता हूँ।' "

"पूरे आर्यावर्त्त में आग लगा देगा क्या?" मैंने हँसते हुए कहा।

"आग क्या लगाएगा! पर हाँ, आग को अपने उत्तरीय से बाँधने की चेष्टा अवश्य करेगा।" चेकितान जोर से हँसा।

"तुम्हारे कहने का तात्पर्य?"

"स्पर्धा में विजयी होने और द्रौपदी को अपनी भार्या बनाने के लिए आपकी सहायता पर बड़ा विश्वास करता है।"

"मैंने ऐसा उसे कोई वचन तो नहीं दिया है।"

"पर आपकी मित्रता को वह वचन से भी बढ़कर मानता है। उसीके भरोसे तो उसने अपने आचार्य को भी ललकार दिया।" चेकितान ने हँसते हुए एक नया प्रसंग खोला—"दुर्योधन कह रहा था कि एक दिन आचार्यजी ने ऐसी बात कह दी जैसे मैं कुछ होऊँ ही नहीं। उनका कहना था, 'वह स्पर्धा धनुर्विद्या की है और तुम पारंगत हो गदायुद्ध में।'

" 'आखिर आप चाहते क्या हैं?' दुर्योधन ने पूछा।

" 'चाहता यही हूँ कि द्रौपदी हमीं लोगों में से किसीके यहाँ आए।' आचार्यजी बोले।

" 'तब आप मुझे हतोत्साहित क्यों कर रहे हैं?' दुर्योधन बोला।

" 'मैं हतोत्साहित नहीं कर रहा हूँ वरन् वस्तुस्थिति बता रहा हूँ।' आचार्यजी बोले।

"दुर्योधन ने बताया कि इसी क्रम में आचार्यजी के मुख से निकल गया कि तुम्हारी अपेक्षा इस स्पर्धा के उपयुक्त तो कर्ण है, अश्वत्थ है। इतना सुनते ही मैं (दुर्योधन) आपे से बाहर हो गया। मुझे लगा कि कर्ण का नाम तो उन्होंने यों ही ले लिया था; क्योंकि वह उन्हें जरा भी नहीं सुहाता था। हर क्षण वह उसका अहित ही सोचते थे। इस समय भला वह उसका हित कैसे सोचने लगे!

"दुर्योधन ने बताया कि तुरंत मुझमें उबाल आया और मैं बोल पड़ा—'आप सीधे-सीधे यह क्यों नहीं कहते कि सारी उपयुक्तता तो केवल आपके पुत्र अश्वत्थामा में ही है। यह आपका स्वार्थ बोल रहा है, आपका प्रतिशोध बोल रहा है। आपने द्रुपद का आधा राज्य तो ले ही लिया, अब चाहते हैं कि दुहिता को भी अपने घर की दासी बनाकर उसकी रही-सही गरिमा को धूल-धूसरित कर दें। पर यह हो नहीं सकता। जानते हैं, मेरे पक्ष में कृष्ण हैं—और वे जो चाहेंगे वही होगा।' "

दुर्योधन का यह कथन सुनाकर चेकितान हँसने लगा। मुझे भी हँसी आ गई।

"जानते हैं, इसके बाद दुर्योधन ने क्या कहा? उसने कहा, 'मुझे एक शंका हो रही है। कहीं ऐसा तो नहीं कि धनुर्विद्या की यह परीक्षा आचार्य के मस्तिष्क की ही उपज हो!'

" 'यह कैसे हो सकता है?' मैंने कहा।

" 'रह-रहकर मेरे मन में यह बात उठती है; क्योंकि आचार्य द्रोण के अतिरिक्त इस समय आर्यावर्त्त में इस विद्या के गुर को जाननेवाला कोई और नहीं है।' दुर्योधन बोला, 'यदि ऐसा है तो उन्होंने अपने बेटे को अवश्य ही स्पर्धा का रहस्य बता दिया होगा।' "

चेकितान तो हँसते हुए कहता जा रहा था। मैं भी खुलकर हँसा। सोचने लगा

कि शंकातुर मन कहाँ-कहाँ दौड़ता है और कितनी दूर की कौड़ियाँ ढूँढ़ लाता है। द्रोण और द्रुपद की शत्रुता से हर एक परिचित है, यह कितना हास्यास्पद है।

चेकितान ने बताया—"मैंने यह शंका दुर्योधन से की थी। उसका कहना था कि जहाँ कृष्ण हैं वहाँ कुछ भी असंभव नहीं। दो खाइयों पर सेतु बना देना उनकी कूटनीति के बाएँ हाथ का खेल है।"

"क्या उसे यह नहीं मालूम है कि वह खाई इतनी बढ़ गई है कि अब उसे केवल भगवान् ही पाट सकता है?"

चेकितान हँसा—"पर वह अभी आपको भगवान् नहीं समझता।" फिर उसने बताया—"इस बार दुर्योधन खुलकर बातें कर रहा था। उसका कहना था कि एक रात मुझे सूचना मिली कि जरासंध का पुत्र सहदेव आया है और वह आचार्यभवन में ठहरा है। मुझे संदेह हुआ उसके व्यवहार पर। पहले तो वह हस्तिनापुर आकर हम लोगों के यहाँ नहीं आया। हम उसके लिए कोई अपरिचित नहीं थे। उसके पिता अनेक बार हमारे यहाँ आ चुके थे। फिर भी वह हमारे यहाँ नहीं आया। उसके न आने में कोई रहस्य अवश्य दिखा। मैंने तुरंत आचार्यभवन के चारों ओर गुप्तचर लगवा दिए।

"दुर्योधन कहता गया कि दूसरे दिन मुझे पता चल गया कि सहदेव किस नीयत से आया था। वह आचार्य को मिलाना चाहता था। वह कह रहा था, 'यदि आप मेरा साथ दें तो हम लोग द्रुपद की मर्यादा को धूल में मिला दें। द्रौपदी को हर ले आया जाए।'

" 'किसके लिए?' आचार्य ने तुरंत पूछा।

" 'मेघसंधि के लिए।' सहदेव बोला, 'इसकी पहल द्रुपद ने स्वयं की थी। उसने स्वयं द्रौपदी का विवाह मेघसंधि से करने का प्रस्ताव किया था। केवल इसलिए कि पिताजी आपकी सहायता करेंगे और वह आपसे प्रतिशोध ले सकेगा।'

"दुर्योधन का कहना था कि गुप्तचर ने बताया कि यह सुनकर आचार्यजी स्तब्ध रह गए। काफी देर तक गंभीर रहे। फिर उसी गंभीरता से बोले, 'लगता है, तुम्हारे पिताजी की मानसिकता पग-कंदुक हो गई है। इधर से मारा तो उधर चली गई, उधर से मार खाई तो इधर चली आई। पहले द्रुपद के सहायक बनकर मुझसे प्रतिशोध लेना चाहते थे। अब मेरी सहायता से द्रुपद से प्रतिशोध लेना चाहते हैं। उनकी दृष्टि में केवल अपना स्वार्थ है—और वह चाहे जैसे भी सिद्ध हो।' "

"आचार्य ने खूब कहा!" मेरे मुख से निकला।

चेकितान भी मुझसे सहमत था। उसने बताया—"दुर्योधन की दृष्टि आचार्य के उत्तर पर नहीं थी। वह तो यह सुनकर व्यग्र हो उठा था कि जरासंध द्रौपदी का हरण

करना चाहता है। यदि वह अपने षड्यंत्र में सफल हुआ तो द्रुपद का सारा सपना ही चूर हो जाएगा।''

''द्रुपद का सपना जो चूर होगा, वह तो होगा ही, दुर्योधन का सपना भी कहाँ रह जाएगा!''

मैं हँसा और मेरे साथ ही चेकितान भी हँसने लगा।

''यही तो दुर्योधन की सबसे बड़ी समस्या है।'' चेकितान बोला, ''उसका विचार है कि इस संबंध में आप ही कुछ कर सकते हैं; क्योंकि जरासंध से आपकी शत्रुता स्थायी है। कई बार उसे आपने पराजित भी किया है।''

मैं दुर्योधन के अज्ञान पर मन-ही-मन हँसा। सोचने लगा कि यदि जरासंध अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए किसीसे भी हाथ मिला सकता है तो दुर्योधन का स्वार्थ भी उससे कम महत्त्वाकांक्षी नहीं है। अब वह मुझसे हाथ मिला रहा है, जिसे वह कभी फूटी आँखों देखना पसंद नहीं करता।

इसके बाद चेकितान बोला, ''ये सारी बातें उसने आपसे कहने को कही थीं और मैंने कह दिया।''

''अच्छा किया।'' मैंने कहा, ''और जो भी कहा हो कहने को, उसे भी कह डालो।''

''बार-बार उसने एक ही बात कही थी। वह बोला कि जैसे उन्होंने मुझे शत-प्रतिशत आपके पक्ष में कर दिया वैसे ही आप शत-प्रतिशत उन्हें मेरे पक्ष में कर दीजिए।''

''इसका तात्पर्य है कि इतना सब होते हुए भी वह मुझे पूरा अपने पक्ष में नहीं समझता।'' मैंने कहा, ''एक तरह से वह ठीक ही सोचता है; क्योंकि मैं कभी किसी व्यक्ति के पक्ष में नहीं होता। यदि होता भी हूँ तो अस्थायी तौर पर; क्योंकि व्यक्ति स्वयं अस्थायी है। उसका अस्तित्व अस्थायी है। उसका मन अस्थायी है। उसका चिंतन अस्थायी है। स्थायी तो इस धरती पर केवल एक धर्म है। और मैं उसीके पक्ष में रहता हूँ। मैं नहीं जानता कि धर्म कितना दुर्योधन का साथ देगा!''

चेकितान मौन मुझे सुनता रहा। बड़े ध्यान से मुझे देखते हुए पूछा, ''आखिर स्वयंवर में होगा क्या? कुछ तो आपने सोचा होगा।''

''मैं परिणाम पर कभी नहीं सोचता और न किसीको सोचने की सलाह देता हूँ। जो अपने हाथ में नहीं है, उसपर सोचना क्या! हाँ, इतना अवश्य है कि जो होना है, वही होगा।''

फिर मैं रहस्यमय ढंग से मुसकराता रहा। चेकितान मेरी मुसकराहट में खोता रहा।

उसी रात भैया भी अपने दल-बल के साथ आ गए। मेरी प्रतीक्षा पूरी हुई। दूसरे दिन ब्राह्म मुहूर्त के बाद हम लोगों ने पांचाल के लिए प्रयाण किया। मेरे साथ चलनेवालों का अच्छा जमावड़ा हो गया। उनकी छोटी-छोटी सैनिक टुकड़ियाँ मिलकर एक विशाल वाहिनी का रूप ले बैठीं।

उसे देखकर चारुदेष्णा बोला, ''लगता है, हम लोग किसी विजय अभियान पर हैं।''

''विजय अभियान तो है ही।'' सात्यकि बोला, ''पर देखना है कि विजयश्री किसके गले में वरमाला डालती है!''

□

ग्यारह
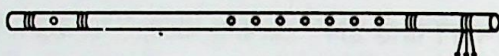
जब हम पांचाल की परिधि में पहुँचे, रात हो रही थी। पौष की थरथराती हवा हमारी शिथिलता और थकावट को झकझोर रही थी। हम लोगों ने गंगा के किनारे ही अपना शिविर डाला। चहल-पहल से भरे एक विशाल सैनिक पड़ाव की तरह यह शिविर उस अँधेरे परिवेश में ज्योति कुंभ की तरह जगमगाने लगा। रथ खोल दिए गए। अश्वों को लंबी-लंबी डोर से वृक्षों के तनों में बाँध दिया गया, जिससे अश्व बंधन में रहकर भी बंधनविहीन होने का अनुभव कर सकें। इसके बाद हम लोग विश्राम की व्यवस्था करने लगे। उसी समय हमने अपने आगमन की सूचना भी पांचाल नरेश को भिजवाई।

दूसरे दिन जब हमारी आँखें खुलीं तब शुक्र पूर्व के आकाश में चमक रहा था। हमें आश्चर्य था कि अभी तक पांचाल से कोई हमारी अगवानी के लिए नहीं आया था। हम लोग गंगास्नान से निवृत्त हो अपने नित्य पूजन की व्यवस्था में लगे। इसी समय मेरे प्रहरी ने किसीके आने की सूचना दी; पर मैं पूजन पर बैठ चुका था। मैं समझ गया कि पांचाल से कोई आया है। मैंने उसे प्रतीक्षा करने को कहा।

विधिवत् पूजन के बाद जब मैं बाहर निकला तब देखा कि एक ब्रह्मचारी अब भी मेरी प्रतीक्षा में खड़ा है। उसने मुझे देखते ही कहा, ''आचार्यजी ने आपको स्मरण किया है।''

''किस आचार्यजी ने?'' मेरी पहली जिज्ञासा थी।

''प्रातःस्मरणीय आचार्य सांदीपनि ने।''

आचार्य सांदीपनि का नाम सुनते ही मैं अवाक् रह गया। मैंने छंदक से उनको पांचाल बुलाने की व्यवस्था की थी। सोचा था, पूरे राजकीय सम्मान के साथ उन्हें राज़भवन में ठहराया जाएगा। पर यह क्या! वे अभी भी आश्रम में ही हैं—और वह भी उस आश्रम में, जिसकी इस क्षेत्र में कोई मान्यता नहीं है।

मैं कुछ संकोच का भी अनुभव कर रहा था। क्या सोचेंगे आचार्यजी! इतना महान् व्यक्ति हो गया है कि मुझसे भी प्रतीक्षा करा रहा है।

मैंने उस ब्रह्मचारी से कहा, ''आपने मेरे प्रहरी को अपना परिचय क्यों नहीं बताया? मैं तुरंत आपके साथ-साथ चल पड़ता। आपको भी इतनी परेशानी न होती और आचार्यजी भी अन्यथा न लेते।''

वह कुछ बोला नहीं। मैं उसी स्थिति में उसके साथ पैदल ही हो लिया।

आश्रम तक पहुँचते-पहुँचते सवेरा हो चला था। मैंने दूर से ही देखा, आचार्यजी आश्रम के विशाल प्रांगण में टहल रहे हैं। उनकी गति और मुद्रा में मुझे प्रतीक्षा से अधिक झुँझलाहट का भान हुआ। मैं उनके चरण छूते हुए बोला, ''विलंब के लिए क्षमा कीजिएगा। मैं भ्रम में था।''

''किस भ्रम में?''

''जब मुझे आपके ब्रह्मचारी के आगमन की सूचना मिली तब मैंने समझा कि महाराज द्रुपद ने मेरी अगवानी के लिए किसीको भेजा है। इसीलिए मैंने आपके दूत पर वह ध्यान नहीं दिया, जो देना चाहिए था।''

''तुम्हारी अगवानी—और द्रुपद करेगा!'' आचार्यजी जोर से हँस पड़े। उनके उस अट्टहास के कई झोंके उस शांत वातावरण में खिलखिलाते निकल गए।

मैं अवाक् उन्हें देखता रह गया।

वे मुझे चकित देखकर बोले, ''तुम सोचते हो कि द्रुपद तुम्हारा स्वागत करेगा! वह तुम्हारी अगवानी के लिए आएगा! शायद तुम्हें वह नगर सीमा में घुसने न दे। इस समय तुम्हीं उसके सबसे बड़े शत्रु हो।''

यह मैं क्या सुन रहा हूँ! परिस्थिति इतनी विपरीत कैसे हो गई? मैं कुछ समझ नहीं पाया। चुपचाप साश्चर्य मैं आचार्यजी को देखता रहा।

आचार्यजी बोलते गए—''द्रुपद की शिराओं में निरंतर दौड़नेवाली प्रतिहिंसा इस समय उसकी आँखों में उतर आई है। वह हर व्यक्ति और हर स्थिति को उसी दृष्टि से देख रहा है।'' फिर संक्षेप में उन्होंने चेकितान संदर्भ का वर्णन किया और कहा, ''उसका सोचना है कि पुष्कर को देकर दुर्योधन ने कृष्ण की मित्रता खरीद ली है। अब स्वयंवर की स्पर्धा में उसकी या अश्वत्थ की जीत निश्चित है। द्रौपदी अब द्रोण के शिष्यों के पास ही जाएगी। इस प्रकार हम लोग कृष्ण के षड्यंत्र में फँस गए। उस छलिया ने हमें छल लिया।''

''लगता है, यह जरासंध का कुचक्र है।'' मैंने कहा।

''कुचक्र चाहे किसीका हो, पर स्थिति यही है।'' आचार्य बोले, ''मरीचिका से ग्रसित व्यक्ति को यदि कहीं से जल दिखाई भी पड़े तो उसकी दृष्टि उधर नहीं जाती। उसकी दृष्टि तो मरीचिका की ओर ही लगी रहती है; जो वस्तुतः भ्रम है, भुलावा है, छलना है। इसी प्रकार द्रुपद का प्रतिशोध भी एक छलना है। ऐसे में उसने

सत्य की पहचान खो दी है। वह ऐसा विक्षिप्त है, जो अपने लक्ष्य के लिए व्याकुल है, पर अपने लक्ष्य को ही नहीं पहचानता।''

स्पष्ट लगा कि आचार्यजी काफी दु:खी हैं। वे कांपिल्य में अपनी निरर्थकता का भी अनुभव कर रहे हैं। बातों के क्रम में उन्होंने कई बार कहा, ''यदि तुम्हारा संदेश न मिला होता तो मैं न आता। मुझे द्रुपद और द्रोण के कलह से क्या लेना-देना है!''

''पर मुझे तो लेना-देना है, आर्यावर्त्त को तो लेना-देना है।'' मैंने कहा, ''और इस दृष्टि से आप भी इस राजनीति से मुक्त नहीं हैं।''

आचार्यजी चुप हो गए। कुछ क्षणों के बाद वे सोचते हुए बोले, ''हर मेघ में तड़ित तरंगों को बटोरकर तुम स्थायी प्रकाश का प्रयत्न करते हो, तुम्हारा साहस अद्‌भुत है।''

''और हमारा प्रयास आपके आशीर्वाद का आकांक्षी है।'' मैंने कहा और वे मुसकराने लगे। मुझे लगा कि आचार्यजी का तनाव कुछ ढीला हुआ। मैंने क़हा, ''मैं आपको कष्ट नहीं दूँगा; पर मेरे लिए तो आपको कुछ कष्ट सहना ही पड़ेगा।''

इसीके बाद मैं आश्रम से लौटा। अब भी वह ब्रह्मचारी मेरे साथ था। मेरे और आचार्य के संबंधों के बारे में कुछ पूछना चाहकर भी वह मेरी गंभीर मुद्रा देखकर कुछ पूछ नहीं पाया। अब मेरे मन में कांपिल्य के प्रति नया कुतूहल जाग उठा था। मैं सोच रहा था कि यदि वहाँ से कोई हमारी अगवानी के लिए नहीं आया तो क्या मेरा जाना वहाँ उचित होगा? क्योंकि सत्ता से अधिक सत्ता का जीवन मर्यादाओं से घिरा होता है। जरा सी मर्यादा भंग हुई कि गरिमा गिरी और राजनीति की मुद्रा बदली।

फिर सोचने लगा कि मैं आमंत्रित हूँ। मुझे बुलाया गया है और मैंने आने की सूचना भी भेजी है। फिर तो किसी-न-किसीको आना ही चाहिए। न आने का तात्पर्य है, मेरा अपमान। किंतु मैं तो मान-अपमाननिरपेक्ष जीवन जी सकता हूँ, अनेक बार जीया है, इसका मुझे अभ्यास है; पर भैया तो ऐसे नहीं हैं। उन्हें ये सब बातें बहुत लगती हैं। जहाँ उन्हें पता चलेगा कि अगवानी के लिए कोई नहीं आया, वे तुरंत कहेंगे कि लौट चलो।

फिर सोचने लगा कि मैंने अपने आने की सूचना भेजकर शायद गलती की। ऐसे ही, सहजभाव से चला जाता तो कोई बात नहीं थी। इसी उधेड़बुन में डूबा मैं अपने शिविर तक चला आया। जब ब्रह्मचारी मेरा अभिवादन करके लौटने लगा तब मेरी तंद्रा टूटी। अरे, यह तो मेरे साथ ही था। मुँह बाँधे चला आया। मैंने इससे कोई बात ही नहीं की। इसका परिचय तक नहीं पूछा। यह कोई मेरा दास या चर तो था नहीं, जो मेरे पीछे-पीछे चला आ रहा था। यह आश्रम का प्रतिनिधि है। एक

लड़खड़ाती हुई संस्कृति का जीवंत प्रतीक। मुझे इसका कुशलक्षेम पूछना चाहिए था। जब सत्ता अपने में ही डूबी रहती है तब आश्रमों की ऐसी ही उपेक्षा होती है। यही आर्यावर्त्त में हो रहा है और यही मुझमें भी हुआ। सांदीपनि के इस शिष्य से तो कोई ऐसी आशा नहीं करेगा।

मैंने तुरंत ब्रह्मचारी से क्षमा माँगी—''मैं अपने विचारों में ऐसा खोया था कि आपका कुशलक्षेम भी न पूछ पाया, इसे अन्यथा मत लीजिएगा।''

''मैं स्वयं देख रहा था कि आप अधिक व्यग्र हैं।'' उस ब्रह्मचारी ने कहा, ''कुछ जानने की इच्छा होते हुए भी मैं आपके चिंतन में व्यवधान उपस्थित न कर सका।''

''क्या थी आपकी जिज्ञासा?'' मैंने पूछा।

''आचार्यजी आपको बहुत मानते हैं।''

''यह आप कैसे कह सकते हैं?''

''आचार्य सांदीपनि जैसा तपा-तपाया व्यक्तित्व, गंगा की तरह निरंतर प्रवहमान, जो कहीं रुकना जानता ही नहीं, ऐसे व्यक्ति से मेरे आचार्यजी ने बार-बार अनुरोध किया कि आप यहाँ कुछ दिनों रहकर हमारे पाठ्यक्रम और आश्रम की व्यवस्था के संबंध में सुझाव दें; पर वे तैयार नहीं हो रहे थे। उन्होंने कहा, 'आज के युग में आप जितना कर रहे हैं, वह बहुत है। आज का समाज आपसे इतने की भी अपेक्षा नहीं करता। तब आप इतने परेशान क्यों हैं? मुझे चलने दीजिए।' ''

ब्रह्मचारी ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा, ''पर आपके कहने पर तो वे मान गए!''

''मैं उनका प्रिय शिष्य जो हूँ।'' मैंने कहा।

''सांदीपनि जैसे गुरु की आप पर ऐसी कृपा! ऐसा ममत्व! आप तो हमारी ईर्ष्या के पात्र हैं।'' इतना कहकर वह हँसा। मैंने भी हँसते हुए उसे बिदा किया।

अपने कक्ष में आकर मैंने देखा, शिखंडी बैठा है। वह मुझे देखते ही उठ खड़ा हुआ।

''सुना है, इस समय मेरा कांपिल्य में प्रवेश निषिद्ध है?'' मैंने कहा।

वह एकदम सकपका गया।

''ऐसा तो नहीं है।'' उसने दबे स्वर में कहा।

''तब कैसा है?'' मैंने पूछा, ''मेरा दूत कहाँ है?''

''उसे छंदक ने रोक लिया है।'' शिखंडी ने कहा और मेरे मस्तिष्क में कूटनीतिज्ञ छंदक का चित्र फिर उभर आया।

मैं कुछ बोला नहीं। वह भी मौन ही बैठा कुछ सोचता रहा।

"क्या सोच रहे हो?"

"कुछ तो नहीं।"

"ऐसा तो नहीं है।" मैंने कहा, "मौन के अँधेरे मेघ में गर्जन भी होता है और बिजली भी चमकती है। रात उसे अपने आँचल में छिपाना चाहे भी तो छिपा नहीं पाती। तुम भी अपने को मौन में छिपा नहीं पा रहे हो, शिखंडी।" मैंने थोड़ा और जोर देकर कहा, "तुम्हें याद है, जिस तथ्य को तुम्हारी माँ ने छिपाया, तुम्हारे पिता ने छिपाया, जिसके कारण तुम सारे पांचाल में समस्या बन गए, वह तथ्य भी यदि तुमने किसीके समक्ष खोला तो वह मैं ही था।"

मैंने देखा कि उसकी आकृति पर अनुग्रहभाव उभरने लगा। मैंने उसकी मानसिकता पर अब और प्रहार करना आरंभ किया—"जानते हो, भीतर का भाव छिपाने पर वह एक-न-एक दिन विषैले व्रण की तरह फूटता है और सारे व्यक्तित्व को घायल कर देता है।"

इसके बाद वह खुला और जो कुछ बताया उसका सारांश था कि पिताजी को यह लगने लगा है कि वे आपकी कूटनीति में फँस गए हैं। यदि उन्होंने आपकी बात न मानी होती तो शायद उनकी यह स्थिति न होती।

"ऐसा वे किस आधार पर सोच रहे हैं?" मैंने पूछा।

"दो दिन पूर्व ही दुर्योधन अपने भाइयों के साथ कर्ण और अश्वत्थामा को लेकर आ गया है। उसकी विशाल वाहिनी और उसे देखकर पिताजी के मन में यह आशंका प्रबल हो गई है कि हो-न-हो, स्पर्धा का विजेता कोई द्रोण का शिष्य ही हो जाए। हमारा आधा राज्य तो उस दुष्ट ने ले ही लिया है, अब ऐसा न हो कि हमारी दुहिता को लेकर वह हमारी प्रतिष्ठा को धूल में मिला दे।"

मैंने फिर अपनी मायावी मुसकराहट का सहारा लिया और बोला, "कुंठित प्रतिशोध आशंका की पिटारी में ही बंद रहना चाहता है और वहीं से रह-रहकर सिर निकालकर फुफकारता है। इसी मानसिकता में इस समय तुम्हारे पूज्य पिताजी जी रहे हैं। वे मेरे संबंध में कुछ भी कहें, कुछ भी सोचें, वे मेरे कृपा के ही पात्र हैं; क्योंकि वे सामान्य नहीं हैं। मनुष्य की असामान्य स्थिति को एक व्यापक करुणा और सहानुभूति चाहिए।"

"कौरवों को देखकर वे स्तब्ध रह गए हैं।" शिखंडी बोला।

"तब उन्हें आमंत्रित ही नहीं करना चाहिए था।" मैंने कहा।

"उनके आमंत्रण के लिए तो आपने ही कहा था।"

मैंने यह बताना उचित नहीं समझा कि क्यों कहा था। मैंने बात को दूसरी ओर मोड़ते हुए कहा, "वे तो निमंत्रण पत्र पर भी लिख सकते थे कि यद्यपि यह निमंत्रण

सभी राजाओं के यहाँ भेजा गया है, इसलिए आपकी राजसत्ता के सम्मान में इसे भेज रहा हूँ। बस इतना लिखना काफी होता।''

मैंने कह तो दिया, पर मन-ही-मन सोचता रहा कि इस तरह कहीं निमंत्रण पत्र पर लिखा जाता है। मेरा व्यंग्य शिखंडी समझ नहीं पाया। वह मुसकराता रहा।

थोड़ी देर बाद उसने बात फिर बढ़ाई—''कौरवों के साथ उनका मातुल शकुनि भी आया है।''

''वह तो लगा ही रहेगा।'' मैं थोड़ा गंभीर हुआ—''जैसे जीवन के साथ मृत्यु लगी रहती है, निर्माण के साथ विनाश लगा रहता है वैसे ही कौरवों के साथ शकुनि लगा है और तब तक लगा रहेगा जब तक उसका विनाश नहीं हो जाएगा।''

आती हुई झंझा के आभास से नीड़ में बैठे भयग्रस्त पक्षी की तरह विस्फारित नेत्रों से शिखंडी ने मेरी ओर देखा।

□

मेरे मित्रों को केवल शिखंडी का अगवानी के लिए आना अच्छा नहीं लगा। फिर भी उनका विरोध मन-का-मन ही में रह गया; क्योंकि मेरा रुख शिखंडी के विरुद्ध नहीं था। मैं तो किसी भी स्थिति में पांचाल पहुँचने के पक्ष में था।

जब हम लोग नगर में पहुँचे, सूर्य आकाश पर चढ़ चुका था। द्रुपद का मन हमसे भले ही चिढ़ गया हो, पर पूरा कांपिल्य हमारे आने की सूचना पाकर गद्‌गद हो गया। भीड़ मुझे और मेरे साथियों को देखने के लिए उमड़ पड़ी। लगता है, उन्हें मेरे आने की पूर्व सूचना मिल चुकी थी। समझते देर नहीं लगी कि शायद छंदक ने इसीलिए मेरे दूत को रोक लिया था।

हमारे प्रति नगरवासियों की श्रद्धा का ऐसा दबाव था कि द्रुपद परिवार को हमारे लिए अपना उपेक्षाभाव त्यागना पड़ा। धृष्टद्युम्न अपने चरों और दासियों के साथ अभिनंदन एवं पूजन का सामान लिये प्रासाद द्वार पर खड़ा दिखाई दिया।

वैदिक मंत्रों के साथ हमारा पूजन और अभिनंदन किया गया। ब्राह्मणों ने आशीर्वाद दिया। हमारे साथ आए सभी मित्र और सैनिक अपने लिए बनाए शिविरों में भेज दिए गए। अब मुझसे प्रासाद में चलने का आग्रह किया गया। मेरे साथ भैया भी थे।

''मैं तो चाहता हूँ कि अपने मित्रों के साथ इस समय शिविर में चलूँ।'' मैंने कहा।

धृष्टद्युम्न बड़ी विनम्रता से बोला, ''पिताजी से नहीं मिलेंगे क्या?''

''अवश्य मिलूँगा।'' मैंने कहा, ''बिना उनसे मिले आगे का कार्यक्रम कैसे निश्चित होगा?''

''यही तो वे भी सोचते हैं, आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।''

मैंने भैया की ओर देखा। उनके नेत्रों में स्वीकृति का भाव था। अब मैं प्रासाद के भीतर चल पड़ा। जब मैं द्रुपद के प्रकोष्ठ में पहुँचा, वे अपनी दाहिनी भुजाओं से आँखें बंद किए शय्या पर ढुलके हुए थे। लग रहा था, किसी हरे-भरे वृक्ष का बलिष्ठ तना किसी तूफान से टूटकर धराशायी हो चुका है।

पहले तो मैं उन्हें देखता रह गया। जब धृष्टद्युम्न ने धीरे से कहा, ''पिताजी सोए नहीं हैं।'' तब मैं बोला, ''मैं कृष्ण, अपने अग्रज के साथ आपको प्रणाम करता हूँ।''

मेरा स्वर इतना ऊँचा था, जैसे मैं उन्हें जगा रहा होऊँ।

उन्होंने आँखें खोलीं; पर मेरे अभिवादन का कोई उत्तर नहीं दिया।

फिर मैंने पूछा, ''आप स्वस्थ तो हैं ?''

''तुम मुझे स्वस्थ रहने दोगे, तब तो!'' वे छूटते ही बोले। निरंतर धधकनेवाली अंतर्ज्वाला का आभास मुझे लगा।

उन्होंने फिर मुझे बड़े गौर से देखा। घुटन भरे आक्रोश से बोले, ''ऐसा तो नहीं कि तुम्हारी इस सांत्वना में भी कोई छल छिपा हो ?''

''मानवीय संबंधों का एक ही आधार है—और वह है विश्वास। यदि वह आधार खिसका तो संबंध फिर वायवी ही रह जाते हैं।'' मैंने कहा, ''इस समय केवल आपके सामने विश्वास का संकट है—और कोई संकट नहीं है।''

द्रुपद मेरा मुख देखने लगे—''क्या अपने दिए वचन आपको याद हैं ?''

''मुझे अपने वचन अच्छी तरह याद हैं और उन्हींके निर्वाह के लिए आया हूँ।'' मैंने कहा, ''मुझे आश्चर्य है कि आपको मेरे वचनों पर विश्वास नहीं रहा। फिर वही विश्वास का संकट, जो रह-रहकर आपको सूचिका की तरह चुभ रहा है। ऐसी स्थिति में आप कभी शांत नहीं रह सकते!''

''यह आप मुझे शाप दे रहे हैं ?''

''नहीं, आपकी मनःस्थिति बता रहा हूँ।'' मेरी ध्वनि की रुक्षता और तेजी द्रुपद के आक्रोश पर छा गई। उनके क्रोध की आँधी तो उतर गई, पर उसकी धूल अब भी उनके मस्तिष्क में उड़ रही थी।

''मैं आपसे कुछ बातें करना चाहता हूँ!'' उनकी आवाज पहले से दबी थी।

''पहले आप मेरा विश्वास करने की स्थिति में आइए, तब बातें की जाएँगी।'' मैंने कहा और चलने को हुआ—''आप इस समय अस्वस्थ हैं, शरीर से उतने नहीं जितने मन से। आप विश्राम कीजिए और विश्वासपूर्वक सबकुछ मेरे ऊपर छोड़ दीजिए।'' मैं क्षण भर रुककर पुनः बोला, ''आप सबकुछ छोड़ सकते हैं, पर एक वस्तु नहीं छोड़ सकते।''

"क्या?"

"प्रतिशोध।"

"वह तो लगता है, अब मेरे जीवन के साथ ही जाएगा।"

"जीवन के साथ तो कुछ भी नहीं जाता, सिवा धर्म के।" इतना कहते हुए हम उनके कक्ष से निकले।

"फिर आप कब मिलेंगे?"

"स्वस्थ होते ही आप मुझे बुलवा लीजिएगा।" मैं निकलकर बाहर चल पड़ा।

शिखंडी खड़ा था। उसने हमारी गति और मुद्रा से हमारी मन:स्थिति का आभास लगा लिया। वह भी धधकती आग के पीछे हो लिया।

शिविर में आकर देखा, शकुनि मामा बैठा है। मैं क्रोध में था ही, मामा को देखते ही भीतर-ही-भीतर भभकने लगा। शीघ्र ही मेरा विवेक जागा कि क्रोध वह आग है, जो दूसरों को जलाने के पहले स्वयं को जलाती है। बस धीरे-धीरे मैं प्रकृतिस्थ होने लगा।

मुझे देखते ही शकुनि उठ खड़ा हुआ और मुसकराते हुए बड़े भाव से बोला, "कल तक तो हम लोग बहुत घबरा गए थे। हमारी-आपकी वार्त्तानुसार तो परसों आ जाना चाहिए था; पर आप जब कल तक नहीं आए तो दुर्योधन बड़ा चिंतित हुआ।"

"चिंता की कोई बात नहीं थी।" मैंने कहा, "यदि मैं न भी आता, तो भी स्पर्धा तो होती ही और स्वयंवर भी होता।"

"होता तो सबकुछ, पर तुम न होते।" मामा की कुटिल मुसकराहट अब भी अपना काम कर रही थी—"और तुम्हारे न होने का तात्पर्य था, कुछ न होना। अब दुर्योधन को आपसे बड़ी आशा हो गई है।"

"आशा ही हुई है न, विश्वास तो नहीं हुआ है!" मैंने ऐसा बाण चुभोया कि मामा तिलमिला उठा। बोला, "तुम भी कैसी बातें करते हो, कन्हैया! यदि विश्वास न होता तो वह तुम्हारे लिए इतना व्यग्र न होता।"

मुझे शीघ्रता थी। मैं व्यर्थ बातों के पक्ष में नहीं था—"तो बताइए, मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ?"

उसकी आकृति ने कई रंग बदले। फिर उसने बड़ी गंभीरता से पूछा, "क्या स्वयंवर की प्रक्रिया होगी?"

"क्यों? आपको कोई संदेह है क्या?"

"मुझे तो संदेह लगता है। मैं यहाँ जो माहौल देख रहा हूँ, उसमें स्वयंवर होता दिखाई नहीं देता।"

"अभी कैसे दिखाई देगा!" मैंने हँसते हुए कहा, "अरे, जब उसका समय

होगा तब दिखाई देगा।''

''वह समय भी लोग आने नहीं देंगे।'' उसने बताया—''संयोगवश हमारा शिविर मगधराज जरासंध की बगल में ही है। उसकी योजना पांचाली को हर ले जाने की है।''

मैं मन-ही-मन हँसा। फिर मुसकराते हुए बोला, ''यह समाचार तो पुराना हो चुका है, कोई नया समाचार बताएँ।''

''नए समाचार के लिए ही तो आया हूँ।'' उसने बड़े भाव से अपना दाहिना हाथ झटकारते हुए कहा, मानो चौपड़ का पासा फेंक रहा हो।

मेरी मूक मुद्रा ने पूछा, 'क्या हो सकता है नया समाचार?'

''नया समाचार हम लोगों को बनाना होगा।'' शकुनि बोला, ''क्यों न हमीं लोग पांचाली को ऐसा ले उड़ें कि जरासंध मुँह देखता रह जाए।''

मैंने छूटते ही कहा, ''यह तो अन्याय और अधर्म होगा।''

''तुम ऐसा कहते हो!'' इतना कहकर वह बड़ी कुटिलता से मुसकराया। उसकी मुद्रा कह रही थी कि रुक्मिणी के विषय में तुमने क्या किया था?

मैं समझ गया। मैंने तुरंत एक व्यवस्था दी—''जब स्वयंवर एक नाटक हो गया हो और नारी की इच्छा के विरुद्ध कोई षड्यंत्र किया जा रहा हो, तो उस नारी की इच्छा के अनुसार उसका हरण किया जा सकता है। याद रखिएगा, इसमें नारी की इच्छा सर्वोपरि है; पर अभी यहाँ यह स्थिति नहीं है।''

''जरासंध का षड्यंत्र तो चल ही रहा है।''

''किंतु इस षड्यंत्र के पीछे द्रौपदी या उसके घरवालों की इच्छा नहीं है।'' मैंने कहा, ''और हमें यह सब करने के लिए द्रौपदी की इच्छा भी जाननी चाहिए।''

''इसीलिए तो मैं द्रौपदी से मिलना चाहता हूँ।'' मामा ने कहा।

''तो आप द्रुपद से मिलिए।''

''मैं उनसे मिला था।'' मामा ने बताया—''वह तो एकदम मुझपर उखड़ गए—'आप स्वयंवर की स्पर्धा में भाग लेने आए हैं या मेरी पुत्री से मिलने!' मैंने उनसे कुछ कहना उचित नहीं समझा। अब तुम्हीं कोई व्यवस्था करो।''

''संप्रति मैं इस स्थिति में नहीं हूँ।'' पर मामा यह जानने को तैयार नहीं था। मैंने उसे वस्तुस्थिति बताई। मैंने जरासंध का नाम लिये बिना कहा, ''किसीने द्रुपद को समझा रखा है कि यह स्वयंवर भी कृष्ण का रचा गया कुचक्र है। धनुर्विद्या की स्पर्धा रखकर वे चाहते हैं कि द्रौपदी द्रोण के किसी शिष्य के पास चली जाए। इसलिए इस समय वे मुझसे बहुत खिंचे-खिंचे हैं।''

''चाहे वे जितना भी खिंचे-खिंचे रहें, द्रौपदी जाएगी द्रोण के किसी शिष्य के

यहाँ ही।'' शकुनि बड़े विश्वास से बोला।

कभी-कभी स्वार्थ से अंधे के हाथ में भी सत्य का पक्षी लग जाता है।

मैं मन-ही-मन बड़ा प्रसन्न हुआ। पर बोला, ''देखिए, क्या होता है!''

''तुमको इसमें कोई संदेह है क्या?'' मामा ने फिर जोर दिया—''अरे, हमारे साथ दुर्योधन है, कर्ण है, स्वयं आचार्यजी का पुत्र अश्वत्थामा है। इनमें से कोई तो स्पर्धा में सफल होगा ही।''

मैं केवल मुसकराता रहा।

''तुम हँस रहे हो!''

मुझे और हँसी आ गई—''तो क्या करूँ?''

''यह बताओ कि अब हम लोगों को क्या करना चाहिए?''

''आप लोगों को केवल एक काम करना चाहिए—और वह है जरासंध पर सजग दृष्टि रखना। यदि यहाँ कोई आपका विरोधी है तो वही है। और जैसाकि आप बता रहे हैं, मैंने सुना भी है कि वह कुछ भी कर सकता है। प्रतिशोध एक ऐसा बिंदु है, जिसका सहारा लेकर वह द्रुपद को भी मिला सकता है।''

शकुनि मामा के मन में बात बैठ गई। वह गंभीर हो गया—''तुम्हारे रहते जरासंध सफल हो जाएगा?''

''होना तो नहीं चाहिए।'' मैंने बहुत विश्वास से कहा।

मामा चिंतित लगा। वह बोला, ''तुमने दुर्योधन को वचन दिया है।''

''वचन तो मैंने नहीं दिया है, किंतु मैंने 'नहीं' भी नहीं कहा है।'' मैंने कूटनीतिज्ञ भाषा पुनः दुहराई—''मेरा अब भी विचार है कि बाजी द्रोण के किसी शिष्य के हाथ में ही जाएगी।''

वह प्रसन्न हो गया और हाथ हिलाते हुए बड़े भाव से बोला, ''यदि बाजी का प्रश्न है तो वह उधर ही रहेगी, जिधर शकुनि रहेगा।''

मामा चला तो गया, पर उसके मन में यह बात बराबर बनी रही कि उसे किसी-न-किसी तरह द्रौपदी से मिलना चाहिए।

मैं अपने कक्ष में विचार की मुद्रा में अपनी शय्या पर लेटा ही था कि शिखंडी को लेकर छंदक आ गया। मैं छंदक को देखते ही बोला, ''मैं कब से तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा था। यह सब क्या हो गया?''

वह केवल रहस्यमय ढंग से मुसकराया और तिरछी दृष्टि से शिखंडी की ओर देखा। स्पष्ट था कि वह उसकी उपस्थिति में कुछ कहना नहीं चाहता था। अतएव मैंने शिखंडी से ही कहा, ''कैसे चले?''

वह भी सकपकाया। छंदक ने स्थिति भाँपी। वह तुरंत वहाँ से हट गया।

''यदि आप पिताजी से पुनः मिलते तो कृपा होती।'' शिखंडी बोला।

''पर तुम्हारे पिताजी को मेरा मिलना बहुत अच्छा नहीं लगा।''

''वे बड़ी द्विविधा, असमंजस और अनिर्णय की स्थिति में हैं।'' शिखंडी बोला।

''पर इस स्थिति की जिम्मेदारी मुझपर तो है नहीं।'' मैंने कहा, ''उनकी उपेक्षा से मुझे लगा कि वे इन सारी स्थितियों के मूल में मुझे ही देख रहे हैं।''

''देख रहे थे, कहिए।'' शिखंडी बोला, ''आपसे मिलने के पूर्व तो उनकी वही स्थिति थी जैसा आप कह रहे हैं। इसका कारण बहुत सारी परिस्थितियाँ हैं।'' फिर शिखंडी ने वे सारी परिस्थितियाँ बताईं। उसका कहना था—''उन्हें पहला आघात तो मुझसे ही लगा, जब उन्होंने सुना कि मेरा यौन-परिवर्तन द्रोण की कृपा से ही हुआ है। यह समाचार सुनते ही वे एकदम भभक पड़े। दोनों हाथ आकाश की ओर उठाकर बोले, 'अच्छा होता भगवान् कि शत्रु का यह उपहार लेने के पहले तू मुझे धरती से उठा लेता।' ''

''मेरे पत्र का भी उनपर प्रभाव नहीं पड़ा?''

''पड़ा था न! वही बता रहा था।'' शिखंडी ने बात आगे बढ़ाई—''फिर उसी व्यग्रता में पिताजी बोले, 'यह कन्हैया हमारे साथ कोई बड़ा छल तो नहीं कर रहा है।' दूसरी ओर सहदेव ने उन्हें समझाया कि कन्हैया ने दुर्योधन को आशीर्वाद दिया है। वह किसी-न-किसी तरह उसीके गले में वरमाला डलवाएँगे। इस प्रकार आपकी बची-खुची प्रतिष्ठा को भी द्रोण के शिष्य ले जाएँगे।''

शिखंडी बोलता जा रहा था—''इतना तो पिताजी के प्रतिशोध की ज्वाला के लिए काफी था; पर उसमें अंतिम आहुति दी शकुनि ने। यों तो कौरवों की विशाल सेना देखकर ही पिताजी व्यग्र हो उठे थे। उन्हें लगा कि जिस दल में दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण, अश्वत्थामा जैसे धनुर्धारी हों, उनके पराक्रम को कैसे नकारा जा सकता है? लगता है, मेरी कृष्णा का भाग्य उन्हींके साथ लिखा है।''

वह बताता जा रहा था—''पिताजी व्यग्र थे ही कि शकुनि महाराज आ पहुँचे। आते ही उन्होंने कहा, 'अब आप घबराएँ नहीं। आपकी समस्या का समाधान निकट है। हमारे भानजे को द्वारकाधीश का आशीर्वाद मिल गया।' मैं वहीं बैठा था। इतना सुनते ही पिताजी भभक उठे—'आशीर्वाद मिल गया तो मैं क्या करूँ?'

'' 'आपको कुछ करना नहीं है। केवल मुझे द्रौपदी से मिला दीजिए।'

''मुझे तो लगा कि कहीं पिताजी कुछ अंड-बंड न कह बैठें; पर उन्होंने बड़ा नियंत्रण रखा। वे बोले, 'हमारे यहाँ यह प्रथा नहीं है कि कोई स्वयंवर के पूर्व हमारी पुत्री से मिले।' ''

''फिर क्या हुआ?'' मैंने पूछा।

''शकुनि कुछ देर तक खड़ा रहा। पिताजी ने उसे बैठने को भी नहीं कहा। वह चुपचाप चला गया।''

''वह इसीका पात्र था।'' मैंने कहा।

शिखंडी का पुनः आग्रह था—''आपको एक बार फिर पिताजी से मिलना चाहिए। उनका मन जलयान के पक्षी की तरह अनिश्चय के आकाश में मँडराकर पुनः आपकी शरण में आ गया है।''

मैं गंभीर था। फिर भी मैंने उसके आग्रह पर विचार करने का आश्वासन दिया। वह चला गया।

□

ऐसे अविश्वास से भरे और संशययुक्त द्रुपद से मिलने की मेरी इच्छा नहीं थी। फिर भी मन शिखंडी के आग्रह पर विचार कर रहा था। सारा नाटक तो मेरा ही खड़ा किया हुआ है और मैं ही दूर हट जाऊँ तो क्या होगा? मुझे स्वयं से अधिक आर्यावर्त्त की चिंता थी। जिन शक्तियों का उदय हो रहा था, वे धर्म और सामाजिक न्याय से दूर चली जा चुकी थीं। क्यों नहीं मैं अपने मित्रों से सलाह लूँ?

मैं तुरंत वहाँ से निकलकर उधर गया, जिधर मेरे मित्रों के शिविर थे। मैंने पहले कृतवर्मा, चेकितान आदि के शिविर देखे। सभी खाली थे। एक प्रहरी ने बताया कि सात्यकि के शिविर में कोई मंत्रणा हो रही है। जब मैं वहाँ पहुँचा तो देखा कि छंदक भी वहीं बैठा है।

मैं उसे देखते ही बोला, ''तो आप यहाँ विराजमान हैं!''

मेरे सभी मित्र मेरे अप्रत्याशित आगमन पर खड़े हो गए। सात्यकि बोला, ''यदि छंदक न आए होते तो शायद आप भी दर्शन न देते।''

''नहीं, ऐसी बात नहीं है। मैं तो आप लोगों से ही मिलने आया था।'' मैंने कहा।

''देखने से तो ऐसा लगा कि आप छंदक को खोजने आए हैं।'' कृतवर्मा बोला और अन्य लोगों ने उसका समर्थन किया।

''भाई, जब तुम सब एक हो गए तब इस संबंध में मेरा कुछ कहना अर्थ नहीं रखता। पर आया था तुम्हीं लोगों से मिलने। छंदक का यहाँ होना मेरे लिए अकल्पनीय था। इसीलिए मैं पहले उसीसे बोला।''

इस विषय में अधिक विवाद मुझे अपेक्षित नहीं था। मैंने तुरंत मुख्य बात शुरू की—''मैं आप लोगों से एक सलाह लेने आया था। क्या मुझे पुनः द्रुपद से मिलना चाहिए या नहीं?''

सबका मत यही था कि नहीं। जो सामान्य शिष्टाचार का भी निर्वाह न कर

सके, उसके यहाँ जाना अपनी प्रतिष्ठा को धूल में मिलाना है। राजकीय शिष्टाचार तो यह था कि हम लोगों के यहाँ आने पर द्रुपद को स्वयं अगवानी के लिए आना चाहिए था।

मेरे मित्र पांचालराज के व्यवहार से काफी दुःखी दिखे। सात्यकि ने यहाँ तक कहा कि हमें लौट चलना चाहिए। हम इसी विषय पर यहाँ विचार कर रहे थे। हम सबका निश्चय तो यही है। पर आप हमारे नेता हैं, जो कहेंगे, शिरोधार्य होगा।

''मैं अपना निर्णय किसी पर थोपना नहीं चाहता।'' मैंने मुसकराते हुए कहा, ''इसीसे मेरे नेतृत्व का स्थायित्व अस्थिर नहीं हुआ।''

''जिस धरती पर कुछ भी स्थायी नहीं है, वहाँ आप अपने नेतृत्व के स्थायित्व के संबंध में सोचते तो हैं।'' सात्यकि की यह प्रतिक्रिया उसकी रोषपूर्ण मानसिकता की द्योतक थी। द्रुपद पर खौल रहा उसका मन इस समय मुझपर ही उबल पड़ा था।

वहाँ बैठे अन्य लोग भी सात्यकि की इस प्रतिक्रिया पर अवाक् थे। मैं भी इस समय कुछ नहीं बोला। केवल मुसकराता रहा।

मैंने अपनी स्थिति के शीतल छींटे छिड़कते हुए ही कहा, ''तुम्हारे जैसे मित्रों की आस्था और विश्वास पर ही मैं अपने नेतृत्व के स्थायित्व का भ्रम पाले हुए हूँ।''

सात्यकि पर हजारों घड़े पानी पड़ गया। वह मौन ही था। मैं ही बोलता गया— ''इस बार जब मैं द्रुपद से मिला तब मैंने उनसे स्पष्ट कहा था कि आपकी मानसिकता रुग्ण है। आप विश्राम करें। मैं फिर आपसे मिलूँगा।''

''इसका तात्पर्य है कि आप उन्हें मिलने का वचन दे चुके हैं।'' छंदक बोला। उसने बड़ी योग्यता से स्थिति सँभालने में मेरा सहयोग किया।

''यही तो बात है।'' मैंने कहा, ''फिर यह राजनीति हमारी है। सारी गोटियाँ हमीं लोगों ने बिछाई हैं; फिर मैं वार्त्ता का द्वार क्यों बंद करूँ?''

स्थिति एकदम बदल गई। लोगों ने मेरा समर्थन किया; पर उनका कहना इतना ही था कि किसी तरह ऐसी स्थिति उत्पन्न की जाए कि महाराज द्रुपद आपको पुनः वार्त्ता के लिए आमंत्रित करें।

मेरी दृष्टि तुरंत छंदक की ओर गई। उसने कहा भी—''यदि भगवान् चाहेगा तो यही होगा।''

हम दोनों वहाँ से साथ ही निकले।

''छंदक, मुझे तुमसे बहुत सी बातें करनी हैं।''

''और मुझे भी आपसे!'' छंदक ने हँसते हुए कहा, ''अभी तो आप लोगों ने जो कार्य सौंपा है, मैं उसीमें लगा हूँ।'' वह अभिवादन कर मुझे छोड़ चला।

जब मैं अपने शिविर में आया तब मैंने वहाँ धरती पर बैठे एक युवक को देखा।

वेशभूषा से वह आदिवासी लगता था। मुझे देखकर वह एकदम पृथ्वी पर लेट गया और दंडवत् प्रणाम किया।

मैंने जब उसे उठाया वह मुसकराते हुए बोला, ''शायद आप मुझे पहचान नहीं रहे हैं। आपसे मिलने की मेरी बड़ी इच्छा थी; पर भगवान् ने वह अवसर आज दिया। मैं धन्य हो गया!''

मैं अब भी कुछ समझ नहीं पाया। यह प्रणतिभाव और यह विनम्रता किसी श्रद्धालु आस्थावान् में ही हो सकती है। पर यह है कौन? राक्षस प्रदेश का तो नहीं? पांडवों ने तो किसीको नहीं भेजा है? मेरा मस्तिष्क टटोलता रहा कि अचानक उसके दाएँ हाथ का कटा हुआ अँगूठा दिखाई दिया। पिछला सारा इतिहास मेरी आँखों के सामने नाच गया। मुझे हाथ जोड़े हुए वह मुसकराता रहा। भौंरे से कहीं अधिक काले रंग की आकृति पर सीपी की तरह चमकती आँखें मुझसे पूछ रही थीं कि अब भी आपने नहीं पहचाना? इस कटे हुए अँगूठे से अधिक मेरी पहचान और क्या हो सकती है?

''मैं पहचान गया। पहचान गया तुम्हें, एकलव्य।'' मैंने इतना कहते हुए उसे अपनी छाती से लगा लिया—''इस अँगूठे को कौन नहीं पहचानेगा! वर्तमान तो इसे पहचानता ही है। इससे बही रक्तधार को आर्यावर्त्त के अंतहीन भविष्य ने भी अपने लिए सुरक्षित रख लिया है और उससे भी अधिक सुरक्षित रखा है आज की व्यवस्था की सड़ी-गली गरिमा से आती हुई दुर्गंध को, जो हर भावी आचार्य को एक घुटन का अनुभव कराएगी।''

वह मौन मुसकराता हुआ बड़े विनीतभाव से खड़ा रहा। मैं भावना में बहता गया और क्या-क्या कह गया, मुझे कुछ याद नहीं।

थोड़ी देर बाद वह धीरे से बोला, ''यहाँ मैं बड़ी शीतलता का अनुभव कर रहा हूँ। मुझे लग रहा है कि मैं अक्षयवट की छाया में खड़ा हूँ।''

''तुम्हारा अक्षयवट तो तुम्हारा पुरुषार्थ है। गुरु के प्रति तुम्हारी आस्था है। इतिहास में शायद ही ऐसा आस्थावान् शिष्य हुआ हो—और शायद ही ऐसा स्वार्थी तथा विद्वेषी आचार्य भी हुआ हो।''

मैंने उसे अपनी बगल में मंचक पर बैठाया। वह बैठ नहीं रहा था। बड़े संकोच के साथ बोला, ''अंत्यज हूँ।''

''पर कर्म से तो तुम उच्च हो। जन्म से भले ही तुम स्वयं को अंत्यज समझते हो। फिर जन्म से हर व्यक्ति अंत्यज होता है। जाति का आधार तो कर्म है।''

''आप ऐसा मानते हैं!'' वह गद्गद हो गया—''आप महान् हैं! आपके सोच के अनुसार यदि समाज सोचता···!''

''उसे एक-न-एक दिन सोचना पड़ेगा। आज भले ही न सोचे, पर कर्म की गरिमा को स्वीकार किए बिना कोई समाज बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सकता।''

मेरी बात से वह इतना प्रसन्न हुआ कि मैं क्या बताऊँ!

''आप इतने विशाल हैं कि मेरी कल्पना बहुत छोटी पड़ गई।'' उसने इसी विह्वलता में बिना किसी भूमिका के सीधे-सीधे मन की बात कह दी—''क्या मैं इस प्रतिस्पर्धा में भाग ले सकता हूँ?''

अब तो मुझे सोचना पड़ गया। मेरे पूर्व कहे सारे सिद्धांत वाक्य अब तो मुझे चिढ़ाने लगे। कुछ क्षणों तक मौन उसे देखता रहा। भीतर अंतर्द्वंद्व चलता रहा—'अब दो इस प्रश्न का उत्तर। शायद तुम्हारी कथनी और करनी के बीच तुम्हारा उत्तर कोई विभाजक रेखा न खींच दे।'

''मुझे तो स्पर्धा में भाग लेने में कोई बाधा दिखाई नहीं देती।'' मुझे कहना पड़ा।

''पर मैंने बहुतों से पूछा, किसीने भी ऐसा उत्तर नहीं दिया।'' एकलव्य बोला, ''बहुत तो मेरी बात सुनकर हँस पड़े। बहुतों ने कहा, 'गर्त के कीड़े आकाश कुसुम का स्वप्न नहीं देखते।' जो भले थे वे बोले, 'अच्छा हो कि तुम यह प्रश्न द्रुपद से करो।' ''

''तब तुम द्रुपद के पास गए?''

''गया था।'' एकलव्य ने कहा, ''पहले तो उन्होंने मिलने से इनकार कर दिया। फिर मेरी धृष्टद्युम्न से विस्तार से बातें हुईं। उन्होंने कहा, 'आपको आमंत्रित तो नहीं किया गया है। आप आयोजन में प्रवेश कैसे पा सकेंगे?'

'' 'प्रवेश तो मैं गुरु के आश्रम में भी नहीं पा सका था।' मैंने हँसते हुए कहा।

'' 'तब धनुर्विद्या की शिक्षा किससे ग्रहण की?'

'' 'उसी गुरु से, जिसने मुझे आश्रम में प्रवेश नहीं दिया था।' हँसते हुए ही मैंने सारी कथा सुनाई और बताया—'मेरी साधना ने गुरु को अपने द्वार पर ही बुला लिया।' इस रहस्यमय कथा पर से आवरण उस समय एकदम उठ गया, जब उनकी दृष्टि मेरे कटे हुए अँगूठे पर गई। वे एकदम बोल पड़े—'तो तुम एकलव्य हो। द्रोण ने तुम्हारा ही अँगूठा कटवाया था?'

'' 'कटवाया नहीं था। मैंने स्वयं काटकर दे दिया था। मैं चाहता तो अँगूठा काटकर नहीं भी दे सकता था; पर मैंने सोचा कि आचार्य की माँगी हुई गुरुदक्षिणा न देकर मैं शिष्यत्व की परंपरा को क्यों कलंकित करूँ!' '' एकलव्य बड़े गर्व से बोला, ''इस देश का आचार्यत्व भले ही कलंकित हो, पर मैंने शिष्यत्व को कलंकित नहीं होने दिया।''

"तुम्हारे जैसे शिष्यों पर ही आर्यावर्त्त गर्व करेगा।" मैंने कहा, "इस देश का आचार्यत्व तो अतीत हो रहा है। इसके शिष्य ही इस देश के भविष्य हैं, और मैं भविष्य के प्रति बहुत ही आस्थावान् हूँ।" और पूछा, "फिर क्या हुआ?"

"फिर धृष्टद्युम्न ने अपने पिता से बातें कीं। उसके बाद मैं बुलवाया गया।" एकलव्य ने बताया—"महाराज द्रुपद ने मेरे प्रति बड़े सम्मान का प्रदर्शन किया और कहा, 'मुझे तुम्हारे जैसे शिष्य पर गर्व है। तुम्हें द्रोण ऐसे नीच के ईर्ष्या-द्वेष का फल भोगना पड़ा। मेरा विश्वास है कि तुम अवश्य ऐसे नीच से बदला लेना चाहोगे।' "

"तब तुमने क्या कहा?" मैंने पूछा।

"मैंने कहा, 'पहले तो मैं बदला लेने में विश्वास नहीं करता; क्योंकि प्रतिशोध की आग प्रतिशोध से बुझाई नहीं जा सकती। दूसरे, मुझे अपने आचार्य में कोई ईर्ष्या-द्वेषं दिखाई नहीं दिया। मुझे तो बस अपना कर्तव्य दिखाई पड़ा। उन्होंने मुझे भले ही अपना शिष्य स्वीकार न किया हो, पर मैंने तो उन्हें अपना गुरु माना था। मुझे तो गुरुदक्षिणा देनी ही थी।' "

एकलव्य ने बताया—"इसके बाद महाराज द्रुपद का मेरे प्रति भाव ही बदल गया। वे त्योरियाँ चढ़ाकर बोले, 'तुम्हें बुलाया किसने?'

" 'आपने महाराज!'

" 'क्या तेरे पास निमंत्रण गया है?'

" 'मेरे पास निमंत्रण तो नहीं गया है, पर पूरे आर्यावर्त्त में कराई गई आपकी मुनादी मैंने सुनी है। क्या वह मुनादी निमंत्रण नहीं थी?' " एकलव्य ने बताया—"जब मैंने यह पूछा तब उन्होंने बड़ी बेरुखाई से कहा, 'वह निमंत्रण नहीं था, मात्र सूचना थी।'

"मेरे मन में था कि मैं पूछूँ कि फिर सूचित करने की क्या आवश्यकता थी; पर बड़े के मुँह नहीं लगना चाहिए, यह सोचकर चुप रह गया।"

एकलव्य का कहना था—"महाराज द्रुपद से मिलकर मुझे बड़ी निराशा हुई। मैं लगभग टूटा-सा वहाँ से निकला। सीधे जरासंध के शिविर की ओर चला। सोचा, उनसे अंतिम बात करूँगा और लौट चलूँगा।"

उसी समय मेरी जिज्ञासा जाग उठी। मैंने एकलव्य से पूछा, "द्रुपद से मिलने के बाद तुम्हारे मन में जरासंध से मिलने की क्यों इच्छा हुई?"

"क्योंकि उन्होंने ही मुझे कांपिल्य आने के लिए प्रेरित किया था।" एकलव्य तुरंत बोला, "उन्होंने कहलवाया कि कांपिल्य में धनुर्विद्या की अद्भुत प्रतियोगिता है। तुम्हारे जैसा धंनुर्धर इस समय आर्यावर्त्त में नहीं है।" एकलव्य हँसा। उसने कहा, "आप यह मत समझिएगा कि जरासंध की प्रशंसा से मैं फूल गया; पर यह

भाव अवश्य मेरे मन में आया कि कई बार प्रयत्न करने पर भी जो अवसर अब तक नहीं मिला था, वह मिल रहा है। मेरे मन में बार-बार विचार आता था कि आचार्य के शिष्यों की किसी स्पर्धा में तो शामिल होता, देखूँ कि मैं कितने पानी में हूँ! इसीलिए मैंने इस अवसर को पकड़ लेने की भरपूर कोशिश की।''

एकलव्य की एक-एक बात मेरे मन में बैठ रही थी। इस आस्थावान् की साधना अपनी उपलब्धि के लिए उतनी चिंतित नहीं है जितनी अपने आकलन के लिए। सचमुच ऐसे साधक ही वास्तविक साधक हैं; जो फल को नहीं, केवल कर्म को देखते हैं।

मेरा यह मौन एकलव्य को भारी पड़ रहा था। उसने पूछा, ''आप क्या सोचने लगे?''

मैं मुसकराया और अपने चिंतन का राजनीतिक पक्ष प्रस्तुत करते हुए बोला, ''तुम्हें हर व्यक्ति अपने धनुष की प्रत्यंचा बनाना चाहता है। तुमपर रखकर ही वह बाण छोड़ने के लिए आतुर है।''

''मैं कुछ समझा नहीं!'' एकलव्य बोला।

''क्योंकि तुम बड़े सरल हो, सहज हो।'' मैंने कहा और उसे विस्तार से समझाया—''द्रुपद ने यह सोचा कि आचार्य द्रोण ने तुम्हारा अँगूठा कटवा लिया है, इसलिए तुम भी उनसे प्रतिशोध लेना चाहोगे और उन्हें एक ऐसा साथी मिल जाएगा, जो समान प्रकार की अग्नि में जल रहा है। दूसरी ओर जरासंध ने यह सोचा कि आचार्य द्रोण के सभी शिष्यों ने तुम्हारी उपेक्षा की है, तुम्हारा अपमान किया है। तुम स्वयं आचार्य की ईर्ष्या के शिकार हो, इसलिए तुम कौरवों के परम विरोधी होगे। उनके विरुद्ध तुम्हारा उपयोग किया जा सकता है।''

''ओ, यह बात है!'' एकलव्य की जैसे आँखें खुल गईं—''तो मैं कूटनीति का मात्र मोहरा बनाया जा रहा हूँ! बाजी तो खेलनेवालों के हाथ आएगी।'' वह क्षण भर रुककर पुनः बोला, ''फिर मैं क्या करूँ?''

''किस संदर्भ में?''

''मैं यहाँ रहूँ या जाऊँ?'' उसने पूछा, ''मुझे स्पर्धा में भाग लेने का अवसर मिलेगा?''

मैं इतने बड़े धर्म संकट में बहुत कम पड़ा था। एक ओर मेरी अपनी योजना थी, मेरा अभीष्ट था और दूसरी ओर एक साधनासंपन्न, नितांत आस्थावान् की तपस्या का आग्रह है। कैसे कहूँ कि मेरा सोचा कुछ और है? कैसे कहूँ कि मेरे रहते तुम्हारे जैसे धनुर्धर को स्पर्धा में भाग लेने का अवसर क्यों नहीं मिलेगा?

लगता है, मेरे मौन को उसने पढ़ लिया। उसने कहा, ''आप यह मत समझिए

कि मैं स्पर्धा जीतकर द्रौपदी से विवाह करना चाहता हूँ। मैं अपनी सीमाएँ समझता हूँ। मैं अंत्यज हूँ। मैं जानता हूँ कि आपका समाज इसकी अनुमति नहीं देगा। मैं तो केवल यह देखना चाहता हूँ कि आचार्य द्रोण के शिष्यों में मैं कितने पानी में हूँ!''

आप विश्वास करें, मेरे ऊपर हजारों घड़े पानी पड़ गया। धर्म की दुहाई देनेवाला और धर्म की रक्षा एवं अभ्युदय के लिए स्वयं को समर्पित समझनेवाला मैं एक युवक को सामाजिक न्याय भी नहीं दिला सकता? मेरा अहं कभी भी इतना धराशायी नहीं हुआ था।

मैं अपने लिए कोई स्पष्ट मार्ग निश्चित न कर सका।

''स्पर्धा में भाग लेने का तुम्हें अवसर मिलना ही चाहिए। पर यह सब उन लोगों की व्यवस्था पर निर्भर है।''

''इसमें आप मेरी क्या मदद कर सकते हैं?'' उसने स्पष्ट पूछा।

मेरी मूकता पर मेरी निरीहता आकर एकदम चिपक गई। वह समझ गया।

''जब पूरे समाज की यह स्थिति है, तब आप उससे अलग थोड़े ही हैं।'' उसने मुसकराते हुए मेरी असमर्थता को एक धक्का और दिया तथा चरण छूकर चल दिया।

मैं बहुत दूर तक उसे जाता देखता रहा। मुझे लगा कि वह कोई व्यक्ति नहीं, पूरे समाज के समक्ष से सामाजिक न्याय के लिए एक तपःपूत अंत्यज की छटपटाती साधना चली जा रही है।

□

इस घटना से मैं काफी उद्वेलित हो उठा। शिविर के भीतर कई बार चक्कर लगाने के बाद मैं शय्या पर ढुलक गया। अब मेरा ही प्रत्यय विचित्र भंगिमाओं में मेरी निरीहता को चिढ़ाता हुआ मेरे सामने खड़ा था। उसने मुझे प्रश्न चुभोना आरंभ किया—'तुम्हीं कहते हो न कि तुम्हारा जीवन धर्म की स्थापना के लिए है, अधर्म के नाश के लिए है; पर तुम कितने निरीह हो, असमर्थ हो! तुम साधनासंपन्न व्यक्ति को न्याय भी नहीं दिला सकते। यह स्पर्धा धनुर्विद्या की है, जातीयता के ऊँच-नीच की नहीं। क्या पराक्रम, साधना और योग्यता किसी जाति की बपौती हैं? क्या तुम भी इसको मानते हो? जरा अपनी ओर देखो। आखिर तुम क्या हो? साधारण यादव सरदार के छोकरे, गायों को लेकर दिन-दिन भर जंगलों में घूमने और वंशी बजानेवाले व्रात्य (महाभारत काल में शूद्रों जैसी नीच समझी जानेवाली जाति)!' मेरा ही प्रत्यय मुझे धिक्कारता रहा।

'नहीं, ऐसी बात नहीं है।' मेरे मुख से व्यग्रतावश निकल पड़ा—'मैंने वचन दिया है। वचन का निर्वाह भी धर्म की एक अनिवार्यता है।'

इतना सुनते ही मेरा प्रत्यय अट्टहास कर बैठा—'खूब है तुम्हारा वचन, जो दूसरे के सामाज़िक अधिकारों के चारों ओर अपनी इच्छा की दीवार खींच देता है।'

मैं एकदम घबरा गया। चिल्ला उठा—'मुझे इस तरह घेरने की कोशिश मत करो।' और दोनों हाथों से आँखें बंद कर घूम गया। मुझे इसका भान भी नहीं रहा कि द्वार पर खड़ा छंदक कब से मुझे निहार रहा है।

इस अवस्था में मुझे देखकर छंदक भी घबरा गया। वह मेरे पास आया और मेरा बदन सहलाते हुए बोला, "क्या बात है?"

छंदक को देखते ही वह मानसिकता तो खिसक गई, पर व्यग्रता अब भी नहीं छोड़ पाई थी।

"मैं बड़े संकट में था, एकदम पराजय की स्थिति में।" मैं घबराहट में बोला।

"आप और पराजय!" छंदक कुछ समझ नहीं सका। उसने पूछा, "इस एकांत में पराजय और वह भी किससे?"

"अपने से पराजय।" मैंने कहा, "किसी और से लड़कर तो मनुष्य जीत भी सकता है, पर वह जब स्वयं अपने से लड़ने लगता है तब पराजित ही होता है।"

"और यही पराजय उसकी विजय है।" छंदक बीच में ही बोल उठा— "मनुष्य जब स्वयं अपने विरुद्ध खड़ा होता है तो पराजय और विजय के लिए नहीं खड़ा होता, स्वयं को तौलने के लिए खड़ा होता है। यही उसका आत्माकलन है। यह घड़ी बड़े संकट की होती है—और महत्त्व की भी।"

मैंने छंदक को बड़े ध्यान से देखा और अपने पर बहुत कुछ नियंत्रण करते हुए बोला, "जब व्यक्ति धराशायी होता है तब उसे हर व्यक्ति ज्ञान देने लगता है।"

इतना सुनकर वह हँसने लगा। मुझे भी हँसी आ गई। उसीमें उड़ चली मेरी व्यग्रता।

प्रकृतिस्थ होते ही मैंने छंदक से कहा, "बड़ी विषम स्थिति तुमने बना रखी है।"

"यही इस समय आपके अनुकूल है।" उसने कहा और हँसते हुए बताया— "द्रुपद अपने ऊहापोह में हैं। जरासंध अपने ऊहापोह में है। दुर्योधन अपने और उस 'मामा' नाम के जीव को बस बाजी अपने हाथ ही आती दिखाई दे रही है। ऐसी अनिश्चय की ऊहापोहात्मक स्थिति ही आपके पक्ष में होगी। इसके बीच से आप अपनी गाड़ी धीरे से निकाल ले जाएँगे।"

"तुम हमारे मित्रों तक पहुँच पाए या नहीं?" मेरा संकेत पांडवों की ओर था।

"हाँ, मिला था। उनसे आपका संदेश भी कहा।" उसने बताया—"जिस काम को मैं कठिन समझता था, वह संयोग से उतना ही आसान हो गया।" फिर

वह हँसने लगा।

''हँसते क्यों हो?''

''हँसी इसलिए आती है कि हम अग्नि को छिपाकर रख नहीं सकते, फिर भी हम उसे छिपाने की मूर्खता करते हैं।''

''परिस्थितियाँ हमें ऐसी मूर्खता करने को बाध्य करती हैं।'' मैंने कहा और पूछा, ''तुम कहना क्या चाहते हो? स्पष्ट क्यों नहीं कहते? देखते नहीं हो, हर क्षण यहाँ कोई-न-कोई आता रहता है। इसलिए यह अवसर पहेली बुझाने का नहीं है।''

अब उसने बताया—''पांडव हमें पांचाल की सीमा में ही मिल गए। उन्हें खोजने के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ा। बात यह हुई कि वे ब्राह्मण के ही वेश में एकचक्रा (वैदिक इंडेक्स के अनुसार, पर शतपथब्राह्मण में 'परिवक्रा' और 'परिचक्रा' भी दिया है) नगरी में पाँचों भाई एक निर्धन ब्राह्मण के घर में रहने लगे। भिक्षाटन ही उनकी मुख्य जीविका थी। भीम को छोड़कर सभी सुखी थे।''

लगभग जानते हुए भी मैंने प्रश्न किया—''यह दुःख का पहाड़ भीम पर ही क्यों था?''

''क्योंकि भिक्षाटन से उसका पेट नहीं भरता था। उसके भाई अपने भोजन का आधा हिस्सा भी उसे दे देते थे, फिर भी वह भूखा ही रहता था।''

मुझे हँसी आ गई; पर मैंने उसे टोका नहीं।

छंदक बोलता गया—''इस बीच एक भयंकर घटना घटी।'' उसने 'भयंकर' कहते हुए अपने नेत्र इतने विस्फारित कर लिये कि मेरी जिज्ञासा प्रगल्भ हो उठी।

उसने बताया—''जिस ब्राह्मण के यहाँ वे रहते थे, एक दिन उसकी पत्नी ने सवेरे से ही रोना आरंभ कर दिया। उस समय भीम को छोड़कर सभी पांडव भिक्षा माँगने गए थे। भीम बहुधा कहीं नहीं जाता है। एक तो छोड़ा हुआ राक्षस राज्य का वैभव और सुविधा उसे सताती है, दूसरे उसे यह आशंका भी बनी रहती है कि चलने-फिरने से कहीं उसकी जठराग्नि और भी न उद्दीप्त हो जाए। अतएव वह दिन भर सोया करता है। उस समय भी सोया था।''

छंदक का कहना था—''माँ कुंती ने उसे बताया कि दो घड़ी के बाद ब्राह्मणी का रोना और भी तेज हो गया—और फिर उसका परिवार भी उसमें शामिल हो गया। कुछ ही समय बाद उनकी रुलाई के बीच से उनका विवाद भी उभरने लगा।

''माँ कुंती यह बता रही थीं कि मूल विवाद कहीं जाने के संबंध में था। पत्नी कह रही थी कि मैं जाऊँ, पति कह रहा था कि मेरा जाना उचित होगा। बालक और बालिका अपने-अपने जाने के बारे में आग्रह कर रहे थे।

''माता कुंती का कहना था कि बात कुछ मेरी समझ में नहीं आई। यदि कहीं जाना ही है तो सभी चले जाएँ। इतना रोना-धोना क्यों ? फिर ये लोग एक-दूसरे को रोकते क्यों हैं और स्वयं जाने का आग्रह क्यों करते हैं ? जिज्ञासा बढ़ने पर माँ कुंती उस ब्राह्मणी के पास गईं और उस स्थिति का रहस्य पूछा।

''उस स्त्री ने जो कुछ बताया, वह बड़ा विचित्र था।'' छंदक बोला, ''वस्तुतः एकचक्रा क्षेत्र कभी राक्षस राज्य की सीमा में था। बाद में उसे पांचाल प्रदेश में मिला लिया गया। पर उस क्षेत्र का राजा अब भी एक राक्षस है। उसका नाम है बक—और उसकी राजधानी है वेत्रकीय गृह, जो एकचक्रा से लगभग दो योजन दूर पड़ती है।''

''अरे मित्र, तुम तो पूरा इतिहास-भूगोल बताने लगे।'' मैं निष्कर्ष पर शीघ्र पहुँचना चाहता था—''केवल वह घटना बताओ, जिसके कारण तुम वहाँ पहुँच सके।''

''वही तो बता रहा था।'' छंदक बोला, ''उस राक्षस को प्रतिदिन भोजन के लिए तीस मन चावल, दो भैंस और एक मनुष्य चाहिए था। लोग इसकी व्यवस्था के लिए चिंतित थे।''

''यदि लोग उसकी व्यवस्था न करते, तो क्या होता ?''

''संपूर्ण एकचक्रा नगरी का विनाश।'' छंदक बोला, ''इसीलिए वहाँ के लोगों ने मिलकर निश्चय किया कि हम हर घर से एक व्यक्ति को भेजते रहेंगे। पूर्ण विनाश से बचने के लिए यह समझौता अच्छा था। इससे मृत्यु कुछ समय तक टाली जा सकी।''

''हो सकता है, समय इस बीच इसका हल तलाश करने की चेष्टा कर रहा हो।''

''हाँ, उसने हल निकाल भी लिया।'' छंदक ने कहा और उसने कथा आगे बढ़ाई—''माता कुंती ने उनकी समस्या सुनते ही ढाढ़स बँधाते हुए कहा, 'आप लोग बिलकुल घबराएँ नहीं। मैं सारा सामान लेकर अपने पुत्र को भेज दूँगी। वह सभी समस्याओं को हल कर देगा।'

'' 'अरे, आप अपने पुत्र को !' वे अवाक् रह गए। उन्होंने ऐसी माँ की कल्पना भी नहीं की थी, जो दूसरों की रक्षा के लिए अपने पुत्र को मृत्यु के मुख में झोंक सकती हो।''

''सचमुच कुंती बुआ बड़ी साहसी हैं !'' मेरे मुख से भी निकला।

''उन्हींका साहस तो पुत्रों ने भी पाया है।'' छंदक बोला और कथा की डोर पकड़कर फिर आगे बढ़ा—''पांडवों के आतिथेय उन्हें भेजना नहीं चाहते थे। उन्होंने कहा, 'अतिथि देवता होता है और हम देवता की बलि नहीं चढ़ा सकते।'

पर माता कुंती के समझाने-बुझाने से वे किसी तरह मान गए। उन्होंने कहा, 'संध्या को मेरा पुत्र चला जाएगा; पर इसकी जानकारी किसीको भी नहीं होनी चाहिए।' "

छंदक ने हँसते हुए बताया—"उस राक्षस के लिए जो भोजन भेजा गया था, उसका बहुत कुछ अंश भीम ने मार्ग में ही समाप्त कर दिया था। शायद इस प्रयास में पहली बार उसका पेट भरा था। दूसरे दिन एकचक्रा नगरी के लोगों को ज्ञात हुआ कि बकासुर मारा गया।"

मैंने छंदक को बीच में ही टोकते हुए कहा, "यह मेरे लिए कोई नई बात नहीं है।"

"तो क्या आप इस घटना को जानते थे?"

"घटना तो नहीं जानता था।" मैंने मुसकराते हुए कहा, "पर मैंने भी एक बकासुर की हत्या की थी।"

छंदक हँसने लगा। बोला, "बचपन जल्दी नहीं भूलता।"

अतीत में उलझते मन को धक्का मारकर मेरी जिज्ञासा ने छलाँग लगा दी—"आगे क्या हुआ?"

"एकचक्रावासियों ने पांडवों का खूब स्वागत-सत्कार किया। फिर यह छिपनेवाला समाचार तो था नहीं, लोगों में चर्चा होने लगी। आखिर बकासुर को मारनेवाला कोई साधारण व्यक्ति तो होगा नहीं। जब मुझे सूचना मिली तो मैंने तुरंत समझ लिया कि यह करतब भीम के सिवा और किसी दूसरे का तो हो नहीं सकता। मैं शीघ्र ही एकचक्रा नगरी पहुँचा। मेरी कल्पना सही निकली।"

"इसका तात्पर्य है कि तुम्हारे जैसा सोच दूसरों का भी हो सकता है?" मैंने कहा।

"अवश्य हो सकता है।" छंदक बोला, "कइयों ने तो यह आशंका मुझसे भी व्यक्त की।"

"तब पांडवों का छिपा रहना अब संभव नहीं है।"

"यही तो मैं भी सोचता हूँ। पर आप पांडवों को इतना छिपाना क्यों चाहते हैं? उन्होंने कोई अपराध तो किया नहीं है, फिर उनके अदृश्य रहने का रहस्य क्या?"

यह एक ऐसा प्रश्न था, जिसे किसीने मेरे सामने आज तक उठाया नहीं था। अतएव मैंने छंदक को विस्तार से समझाया—"देखो, लाक्षागृह से पांडवों को बचाने की सारी योजना महात्मा विदुर की थी। उन्होंने पांडवों के पास कुछ संकेतमूलक संदेश भेजे थे। उन्हींका पालन करके ही वे बच सके। उसमें अंतिम वाक्य था—'घूमने-फिरने से रास्ते का ज्ञान होता है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि तुम लोग देशाटन करो। इससे ज्ञान और अनुभव की वृद्धि होती है। यह तभी निर्विघ्न हो सकता है,

जब इसकी जानकारी किसीको न हो।' दूसरी बात यह है कि यदि पांडव लाक्षागृह से मुक्त होते ही प्रकट हो जाते तो पूरा कौरव कुल बौखला उठता और उन्हें तुरंत किसी दूसरे षड्यंत्र में फँसा देता। साथ ही, महात्मा विदुर के प्रयत्न का रहस्य भी खुल जाता और वे भी संकट में पड़ जाते। इसीसे वारणावत से निकल भागने की सारी योजना उन्होंने बड़ी योग्यता से बनाई थी। तीसरी बात यह है कि हमें देखना यह था कि इस कांड की जनता में क्या प्रतिक्रिया होती है। चौथी बात यह है कि पांडवों की मृत्यु के समाचार से कौरव उन्मुक्त हो गए हैं। निरंकुश शासन अत्याचार का ही विष उगलता है। तुमने देखा है, छंदक! आज दुर्योधन के अत्याचारों की तुलना जरासंध या शिशुपाल.से होने लगी है। प्रजा की हाय से वह घिरने लगा है। यदि पांडव अदृश्य न होते तो यह स्थिति न बन पाती। मालूम है, आज जब लोग जानेंगे कि पांडव जीवित हैं, तब चमत्कार होगा, चमत्कार! हस्तिनापुर उन्हें आँखों पर बिठा लेगा। वे मृत्युंजय कहे जाएँगे। संदिग्ध बादलों से बरसनेवाली कौरवों की घृणा तब अनभ्र आकाश से बरसने लगेगी।''

मैं बोलता गया और छंदक की मुद्रा बदलती गई।

''तुम जानते हो, छंदक, ऐसी स्थिति में हस्तिनापुर के सिंहासन पर भले ही कौरव विराजें, पर जन-मन के आसन पर पांडवों का ही राज्य होगा।''

''क्या इन सारी परिस्थितियों को पांडव समझते हैं?'' उसने पूछा।

''वे केवल विदुर का संकेत समझते हैं और कर्म करते हैं। फल तो उन्होंने मुझपर छोड़ दिया है।''

''अद्भुत है आर्यावर्त्त की राजनीति!'' इतना ही उसके मुख से निकला। फिर वह मुसकराता भी रहा और गंभीर भी हो गया।

''इस समय पांडव कहाँ होंगे?''

''यह तो मुझे भी नहीं मालूम।'' छंदक बोला, ''पर इतना निश्चित है कि वे अब एकचक्रा नगरी में नहीं होंगे। पर होंगे पांचाल की परिधि में ही; क्योंकि आपका आदेश सुनने पर उन्होंने पूछा था कि हम लोगों का उस आयोजन में प्रवेश कैसे होगा!''

''तुमने बताया नहीं कि आप लोग ब्राह्मण के वेश में ही आइएगा? आपका प्रवेश सुलभ होगा और आपके बैठने का स्थान भी निश्चित रहेगा।''

''मैंने सब समझा दिया है।'' उसने कहा और मैं आश्वस्त हुआ।

फिर मैंने अपने शिविर से बाहर झाँककर देखा, कोई हमें देख तो नहीं रहा। पर वहाँ कोई नहीं था और न दूर तक कोई दिखाई दिया। मैं इतना शंकाकुल क्यों हो गया? मुझे अपने पर ही हँसी आ गई।

कुछ समय तक छंदक मौन था। फिर उसने पुरानी पुस्तक का नया अध्याय धीरे से खोला—"कल मुझे द्रुपद ने बुलाया था। वे शायद आज आपसे मिलना चाहें।"

"पर कल जब मैं उनसे मिला था तब उनमें मैंने अपने प्रति कोई आतुरता नहीं देखी थी।"

"कल की बात कल थी, आज दूसरा दिन है। इस समय पांचाल पर छाए बादल क्षण-क्षण में अपना रंग बदलते हैं।"

"किंतु मैं स्वत: तो जाऊँगा नहीं।"

"अरे, आपको सम्मानपूर्वक बुलाया जाएगा।" छंदक बोला और मुसकराने लगा। उसकी मुसकराहट में रहस्य से अधिक राजनीति थी।

□

मध्याह्न का रवि सिर पर था। ढलते हेमंत की मुलायम धूप मेरे शिविर के सामने घास के मैदान पर पसर चुकी थी। मैंने प्रहरी से ऐसी मधुर धूप का आनंद लेने की इच्छा व्यक्त की। उसने तुरंत कुछ मंचक धूप में लगा दिए। यह मेरी सामंती प्रवृत्ति का द्योतक नहीं था। यदि मैं यहाँ सम्मानित अतिथि न होता तो मैं घास पर ही उन्मुक्त एक उपाधान (तकिया) के सहारे लेट सकता था। सोचता हूँ, जीवन मर्यादाओं, शिष्टाचारों और परंपराओं की दीवारों के बीच कितना बंदी है! और ये दीवारें भी हमने ही बनाई हैं। इसीसे इनके प्रति हमारा मोह है और इन्हें तोड़ने के लिए हमारे हाथ नहीं उठते।

थोड़ी देर बाद उद्धव के साथ बलराम भैया आ गए।

उन्होंने हँसते हुए कहा, "आज प्रात: से ही पांचाल नगरी का पर्यटन कर रहा हूँ।

"किंतु आप ही लोगों ने कहा था कि जब तक हमें ससम्मान बुलाया नहीं जाएगा तब तक हम नहीं जाएँगे।" मैंने कहा।

"हमने तो यह बात महाराज द्रुपद से मिलने के संदर्भ में कही थी।" भैया बोले, "मैं उनसे मिलने गया भी नहीं था। मैं तो बहुत कुछ देखने-सुनने और समझने गया था।"

"तो क्या आपने देखा-सुना और समझा?"

"पहली बात तो यह है कि हम दोनों मुश्किल से आधी घड़ी घूमे होंगे कि हमें मामा शकुनि ने देख लिया। वह उद्धव के पीछे ऐसा पड़ा कि इसे मुझसे अलग करके अपने शिविर में ले गया।"

अब मैंने उद्धव से पूछा, "क्या कहा मामा ने?"

"वह वही पुरांना राग अलाप रहे थे।" उद्धव बोला, "उनका कहना था कि हम लोगों ने तुम्हारी पहल पर पुष्कर लौटाया है, अन्यथा चेकितान दाँत रगड़कर मर

जाता, फिर भी वह उसे नहीं मिलता। अब मेरी ओर से तुम्हींको पहल करनी होगी।''

''किस बात की?''

''वह द्रौपदी से मिलने के लिए व्याकुल है।''

मैंने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की वरन् भैया से पूछा, ''फिर उद्धव से अलग होकर आप कहाँ पहुँचे?''

''मैं भी सहदेव द्वारा घेर लिया गया।'' भैया बोले, ''इस बार तो वह बड़े प्रेम से मिला। जरा भी ऐसा नहीं लगा कि मैं उसके पिता के परम शत्रुओं में से एक हूँ।''

''वह चाहता क्या था?'' मैंने पूछा।

''उसका कहना था कि हम आपस में क्यों लड़ते हैं! हमने आपका कुछ बिगाड़ा तो है नहीं—और न आपने हमारा कुछ बिगाड़ा है। फिर रोज-रोज का यह वैमनस्य, यह दुराव, यह घृणा किसलिए?''

मैं मन-ही-मन हँसा। हर ओर से मित्रता का प्रस्ताव, वह भी दूसरों से शत्रुता निकालने के लिए। मेरी हँसी अधरों पर भी उगने लगी।

''तुम क्या सोच रहे हो?'' भैया ने पूछा।

''जब शत्रुता मित्रता का मुखौटा लगाकर उपस्थित होती है तब वह बहुत अच्छी लगती है; क्योंकि नाटक यथार्थ से आकर्षक भी होता है और मनोरंजक भी।''

''तुम यथार्थ को भी नाटक समझते हो!'' भैया बोले।

वे बड़े सरल हैं। शीघ्र ही दूसरों के प्रभाव में आ जाते थे और उसका विश्वास कर लेते थे। सौजन्यवश मैंने उनके कथन पर कोई टिप्पणी नहीं की। केवल सोचने लगा कि जब चारों ओर से मित्रता का प्रस्ताव हो तो सावधानीपूर्वक इसका लाभ उठाना चाहिए।

इसी बीच मैंने देखा कि उत्तर-पूर्व की ओर से चार अश्वारोही आ रहे हैं। शीघ्र ही स्पष्ट हो गया कि धृष्टद्युम्न के साथ शिखंडी है और शायद महामात्य भी। मैंने भैया को संकेत किया। अब उनका अहं अपनी स्वाभाविक स्थिति में था।

वह मुसकराते हुए बोले, ''मित्रता का एक और प्रस्ताव आ रहा है। लगता है, मित्रता के अनेक आकांक्षियों के बीच ही हम आयोजन में भाग लेंगे।''

तब तक वे लोग आ गए। आते ही सभी ने अत्यंत सम्मानपूर्वक हमारे चरण स्पर्श किए। मुझे इस अभिवादन पर आश्चर्य था। यों तो शिखंडी ने मुझे भगवान् मान लिया था। उसकी बात छोड़िए; पर धृष्टद्युम्न का मन कभी भी मुझे श्रेष्ठ मानने को तैयार नहीं था। एक तो वह यज्ञपुत्र था। फिर द्रुपद का सोभक राजवेश हमारे वृष्णि

कुल से बहुत श्रेष्ठ माना जाता था। अब पहले जैसी स्थिति नहीं थी। श्रेष्ठता का आधार ज्ञान और कर्म से अधिक जन्म ने ले लिया था।

''महाराज ने क्षमापूर्वक आपको याद किया है।'' धृष्टद्युम्न बोला। शेष सभी करबद्ध खड़े रहे।

''क्षमा! किस बात के लिए?''

''महाराज ऐसा अनुभव कर रहे हैं कि उस दिन आपके साथ उनका व्यवहार उचित नहीं था।''

''वह दिन तो चला गया।'' मैंने मुसकराते हुए बड़े सहजभाव से कहा, ''आज तो दूसरा दिन है। इस बीच क्षण-क्षण परिवर्तित प्रगति वेश में बहुत कुछ बदल चुका है। उस समय महाराज से मिलते ही मैंने कहा था कि आज आप अस्वस्थ हैं, फिर मिलूँगा। आज उनकी अस्वस्थता भी स्वस्थता में बदल गई। अस्वस्थ मन के कार्य के लिए स्वस्थ मन क्षमा माँगे, बात कुछ जँचती नहीं है। महाराज हमारे लिए हमेशा से पूज्य हैं और आज भी पूज्य हैं। मैं तो उनसे मिलने ही वाला था। आप लोगों को कष्ट करने की क्या आवश्यकता थी?''

''पर छंदकजी तो कह रहे थे कि आप अपने साथियों के साथ यहाँ से लौट रहे हैं; क्योंकि आपके आगमन पर महाराज ने उचित प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की?''

मैं तो पहले से ही समझता था कि यह सब छंदक का ही किया-धरा है। पर मन-ही-मन समझकर रह गया। बोला, ''मेरे लिए ऐसी कोई बात नहीं थी। हाँ, मेरे दूसरे साथी कुछ अपमानित अवश्य अनुभव कर रहे थे।''

''तो मैं उन सबसे क्षमा माँगता हूँ। यदि आप कहें तो उनके शिविरों में भी जाकर क्षमा माँग लूँ।'' धृष्टद्युम्न बोला।

''नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है। आपके मन में क्षमा माँगने की इच्छा का उदय ही हमारे लिए काफी है। आप चलें। थोड़ी देर में हम सभी महाराज की सेवा में उपस्थित हो रहे हैं।''

फिर भी धृष्टद्युम्न मौन खड़ा रहा। उसकी मुद्रा से लगा कि जैसे वह कुछ और कहना चाह रहा है तथा संकोचवश चुप है।

मैंने सीधे-सीधे पूछ दिया—''लगता है, आप कुछ और कहना चाह रहे हैं?''

''यों आप सबके पधारने पर महाराज को प्रसन्नता ही होगी; पर आपसे वे यथाशीघ्र एकांत मंत्रणा चाहते हैं।''

''ठीक है।'' मैंने मुसकराते हुए कहा, ''मैं अपने मित्रों से मिलकर आ रहा हूँ।''

☐

जब मेरा रथ राजप्रासाद में पहुँचा तो मुझे महाराज अपने कक्ष के अलिंद में टहलते दिखाई दिए। स्पष्ट लगा कि उनकी व्यग्रता मेरी प्रतीक्षा कर रही है। तुरंत उन्होंने मुझे अपने कक्ष में बुलाया।

''सुना है, आप मुझसे अप्रसन्न हैं?'' पहुँचते ही उन्होंने कहा।

''नहीं। ऐसी बात तो नहीं है।''

''पर आप द्वारा दुर्योधन को दिए वचन से तो ऐसा ही लगता है।''

''मैंने दुर्योधन को कभी कोई वचन नहीं दिया है।'' मैंने कहा, ''केवल इतना कहा है—वह भी कहा नहीं, कहलवाया है कि जो मुझे जिस रूप में देखता है, मैं उसे उसी रूप में दिखाई देता हूँ। यह निर्भर करता है दुर्योधन की दृष्टि पर कि वह मुझे किस रूप में देखता है। यदि वह मित्र के रूप में देखता होगा तो मैं अवश्य मित्र के रूप में दिखाई देता होऊँगा।''

''लेकिन आपको वह मित्र के रूप में देखता हो, ऐसा तो मैं नहीं समझता।'' द्रुपद ने बहुत सोचकर कहा।

मैंने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की।

फिर उन्होंने अपने मन की मुख्य शंका एकदम उड़ेल दी—''आपने अपने सहचर और अनुज उद्धव को हस्तिनापुर पुष्कर लौटाने के लिए भेजा था?''

''हाँ, भेजा था।''

''मैंने सुना है कि उसने दुर्योधन से एक संधि की है, जिसके अंतर्गत यह निश्चय हुआ है कि आप पुष्कर लौटा दीजिए, हम पांचाली स्वयंवर में आपकी मदद करेंगे!''

''आपको मालूम है; पर इस संधि के संबंध में मुझे बिलकुल नहीं मालूम।'' मैंने हँसते हुए कहा।

''आपसे उद्धव ने नहीं कहा?''

''उद्धव ने ऐसी कोई बात नहीं कही है और न की है।'' मैंने कहा।

''तब शकुनि ने मुझसे कैसे कहा?'' द्रुपद बोले।

''यह तो वे ही बता सकते हैं।''

''उनका कहना था कि द्वारकाधीश से मेरी मित्रता हो चुकी है। अब यहाँ वही होगा, जो वे चाहेंगे। द्रौपदी का विवाह अब दुर्योधन से निश्चित है; फिर स्वयंवर आदि के झंझट से क्या लाभ! पर मैंने उनसे स्पष्ट कह दिया कि स्वयंवर होगा। द्रौपदी का विवाह उसीसे होगा, जो इस स्वयंवर में विजयी होगा।'' द्रुपद ने कहा।

''आपने ठीक कहा। यही होना चाहिए और यही होगा; क्योंकि यही मैंने चाहा है।'' और फिर मैं हँसने लगा।

''तुम हर बात को इतने हलके से लेते हो कि मैं भयाक्रांत हो जाता हूँ।''

''तनावमुक्त होने के लिए हर परिस्थिति को बहुत हलके से लेना चाहिए; क्योंकि मैं जिसका कर्ता नहीं हूँ, उसे गंभीरता से लेकर व्यग्र क्यों होऊँ! कर्ता तो नियति है। मैं तो उसका माध्यम हूँ, निमित्त हूँ। आप भी चिंतामुक्त होइए, जो होना है वही होगा।''

''मैं भी चिंतामुक्त होना चाहता हूँ।'' द्रुपद बोले, ''पर मैं हो नहीं पाता। कहीं शकुनि आकर कुछ कह जाता है, कहीं सहदेव आकर कुछ। तब बस एक अँधेरा मेरी आँखों के सामने उमड़ने लगता है।''

''इसके लिए आप अपने कानों को बंद रखिए, अँधेरा आपसे आप दूर हो जाएगा।'' मैं फिर मुसकराया।

द्रुपद मुझे देखते रहे। फिर बड़ी गंभीरता से उन्होंने अपने मन की गहराई में बैठी वही पुरानी आशंका व्यक्त की—''मुझे तो लगता है, द्रौपदी को द्रोण का कोई शिष्य ही ले जाएगा।''

''हो सकता है।''

मेरे इतना कहते ही वे एकदम उबल पड़े—''तुम हर बात को संभावना की झोली में डाल देते हो! तुम जानते हो, इसका परिणाम क्या होगा? द्रोण के समक्ष मैं एक बार फिर नतमस्तक हो जाऊँगा!''

मैं अपने स्वभाव से परेशान था। बहुत रोकने पर मेरी हँसी तो रुक गई, पर मुसकराहट उभर आई।

''लगता है, आप प्रतिशोध की छाया से मुक्त नहीं हो सकते।''

''कैसे मुक्त होऊँ, कन्हैया?'' वे एकदम आवेश में आ गए—''इस समय प्रतिशोध ही मुझे जिला रहा है; अन्यथा मैं कब का मर गया होता! तुम यह तो जानते ही हो कि प्रतिशोध की अग्नि से ही कृष्णा पैदा हुई है।''

मैं बीच में ही बोल पड़ा—''तो आप कृष्णा पर विश्वास कीजिए। आप क्यों सोचते हैं कि उसे द्रोण का शिष्य ले जाएगा? मुझे तो लगता है, उसकी ऊष्मा स्वयं द्रोण के शिष्य को खींचकर आपके चरणों में गिरा देगी। क्या यह नहीं हो सकता कि द्रोण के किसी शिष्य का धनुष कभी द्रोण के विरुद्ध ही उठे? न आप जानते हैं और न मैं जानता हूँ कि नियतिं के प्रकोष्ठ में कैसे-कैसे अद्‌भुत चमत्कार छिपे हैं!''

द्रुपद कुछ शांत हुए। पर उनकी सोच अब भी संभावनाओं की गलियों में भटकती रही और एक मोड़ पर आकर खड़ी हो गई—''इसीलिए मेरा मन कभी-कभी कर्ण की ओर जाता है। हो सकता है, कर्ण ही स्पर्धा में विजयी हो; क्योंकि अब पांडव तो रहे नहीं। कर्ण को छोड़कर धनुर्विद्या में उससे योग्य दूसरा दिखाई

नहीं देता।''

अब मेरे कान खड़े हुए। बनी-बनाई राजनीति दूसरी ओर ढुलकती दिखाई दी।

मैंने तुरंत कहा, ''पर मुझे तो दिखाई देता है।''

''कौन?''

''एकलव्य।'' मैंने कहा, ''जिसे द्रोण ने शिक्षा नहीं दी, पर जिसने उन्हें गुरु मानकर ऐसा अभ्यास किया कि आचार्य को ही अपने शिष्य से ईर्ष्या होने लगी। कर्ण को द्रोण ने शिक्षा अवश्य दी है, किंतु बेमन की, बाध्य होकर। इससे उन्होंने कर्ण को कभी आशीर्वाद नहीं दिया—और बिना गुरु के आशीर्वाद से विद्या कभी फलवती नहीं होती।''

''इससे क्या होता है? कर्ण के व्यक्तित्व को देखो। ऊर्जस्वित् ललाट, स्फीत शिराएँ, वृषभ कंध—जैसे देवपुरुष लगता है। तुम्हारा एकलव्य तो अंत्यज है। कहीं अंत्यज को कृष्णा ब्याही जा सकती है? विवाह तो समान स्तर पर ही उचित होता है।''

''तो क्या एक सूतपुत्र से कृष्णा ब्याही जाएगी? क्या यह समान स्तर होगा?'' मैंने कहा और महाराज सोच में डूब गए।

मैं भी सोच में डूब गया। आखिर मुझे भी एकलव्य की प्रत्यंचा पर चढ़ाकर अपना तर्क बाण मारना पड़ा।

''वह अंगराज के रूप में आया है, उसे स्पर्धा से रोका कैसे जा सकता है?'' महाराज बोले।

''जब यह स्थिति आएगी तब देखा जाएगा।'' मैंने कहा।

महाराज पुनः सोचने लगे। फिर कहा, ''अब उस शकुनि से क्या कहूँ? वह कृष्णा से मिलने के लिए व्याकुल है।''

''तो उसे मिलने दीजिए। वह क्या कर लेगा कृष्णा का?'' मैंने कहा अवश्य, पर महाराज की व्यग्रता अपने ही शंकाजाल में उलझने लगी—'वह भी कह रहा था कि कृष्ण मेरी सहायता करेंगे और इसने भी उसके मिलने का विरोध नहीं किया, इसमें कोई कूटनीति तो नहीं है?'

मैंने महाराज की मनःस्थिति भाँप ली। मैंने कहा, ''उसे मिलने न देने का परिणाम होगा कौरवों में तरह-तरह की शंकाओं को जन्म देना। जब तक मुट्ठी बंद रहेगी, हर एक को शंका होना स्वाभाविक है कि उसमें क्या है? इसलिए मुट्ठी खोलकर दिखा दीजिए।''

बात कुछ उनकी समझ में आ गई। उन्होंने तुरंत शकुनि को बुलाने के लिए प्रहरी को आदेश दिया।

“पर अभी नहीं।” मैंने महाराज को रोका—“इसके पहले मैं स्वयं कृष्णा से मिलना चाहूँगा।”

“हाँ, मैं भी यही चाहता हूँ।” महाराज बोले, “कृष्णा भी तुमसे मिलना चाहती है।”

मैं वहाँ से सीधे द्रौपदी के भवन में गया। वह अपने पर्यंक पर लेटी चिंतामग्न लगी; जैसे कोई स्थिर दीपशिखा संभावित झंझा की प्रतीक्षा कर रही हो।

मुझे देखते ही वह हड़बड़ाकर खड़ी हो गई।

“मेरी अप्रत्याशित उपस्थिति ने तुम्हें चकित कर दिया न!” मैं मुसकराते हुए बोला।

“आप इसे भले ही अप्रत्याशित कहें, पर मैं तो कब से आपको स्मरण कर रही थी।”

“जो मुझे हृदय से स्मरण करता है, मैं अवश्य उसके समक्ष उपस्थित होता हूँ।” मैंने अपना शाश्वत वचन दुहराया।

“पर आपने यह नहीं पूछा कि तुम मुझे क्यों स्मरण कर रही थीं!”

“मैंने यह पूछने की आवश्यकता नहीं समझी; क्योंकि तुम तो उसे बताओगी ही।” मैं हँसने लगा।

“तुम हँसते हो, कन्हैया!” वह बोली, “छलिया की हँसी बड़ी खतरनाक होती है।” इतना कहने के बाद भी वह रुकी नहीं—“मैं आपको ही अपना पति चुनकर इस सारी राजनीति को समाप्त कर देना चाहती थी। तब आपने मुझसे कहा था, तुम तो मेरी बहन जैसी हो। उस समय आपने मुझे कुछ वचन दिए थे। आपको याद हैं?”

“मुझे सबकुछ याद है।” मैंने कहा, “यदि मुझे याद न होता तो मैं यहाँ उपस्थित न होता। फिर भी मैं आश्चर्यचकित हूँ।”

“क्यों?”

“इतना सब होने के बाद भी तुम्हारा मेरे प्रति विश्वास क्यों डिग गया?”

“क्योंकि आपके कार्य आपके वचनों के विरुद्ध दिखाई पड़े।” उसने वही पुरानी बात दुहराई। वही पुष्करकांड और उद्धव का हस्तिनापुर जाना।

“इससे तुम्हें क्या?” मैंने कहा, “तुमने यह क्यों नहीं सोचा कि यह सब तुम्हें दिए हुए वचनों को पूरा करने के लिए भी हो सकता है?”

“पर मुझे तो ऐसा कुछ दिखाई नहीं दिया।”

“जो कुछ दिखाई देता है, वही सत्य नहीं होता, कृष्णा!” मेरी आवाज ने तेवर बदला—“उससे बड़े सत्य ऐसे भी होते हैं, जो दिखाई नहीं देते। यहाँ भी जो तुम्हें

दिखाई दे रहा है, वह उतना सत्य नहीं है जितना इसके पीछे छिपा है।''

''तो वह कब दिखाई देगा?''

''जब उसका अवसर आएगा—अर्थात् स्वयंवर की स्पर्धा के समय।''

''क्या आप समझते हैं कि स्वयंवर होगा?''

''यह होना और न होना तुम्हारी इच्छा पर निर्भर है।''

''पर आप तो कहते हैं कि हम सब माध्यम हैं, कर्ता तो नियति है?''

''यह तो मैं अब भी कहता हूँ कि यह स्वयंवर और उसकी सारी प्रक्रिया एक माध्यम है। परिणाम तो नियति ही देगी—और शायद उसने दे भी दिया हो।''

''मैं यों ही द्विविधा में थी। आपने तो मुझे गहरी द्विविधा में डाल दिया।'' पांचाली बोली, ''एक ओर मेरा भविष्य है, दूसरी ओर मेरे पिता का प्रतिशोध है। मैं केवल उस प्रतिशोध की प्रतिभागी ही नहीं हूँ वरन् उससे उद्भूत भी हूँ। इन दोनों के संधिस्थल पर खड़ा जीवन द्विविधा की मूर्ति हो गया है।''

मैंने उतनी ही गंभीरता से कहा, ''तुम्हारे भविष्य पर तो तुम्हारा कोई अधिकार नहीं। तुम्हारा अतीत तो यज्ञ की धधकती ज्वाला का पर्याय है—और तुम उसे छोड़ नहीं सकतीं। पिता के प्रतिशोध की ज्वाला तुम्हें निरंतर जलाती रहेगी। इसका यह अर्थ कदापि न समझना कि तुममें उस ज्वाला को शांत करने की क्षमता नहीं है; परंतु इसके लिए मुक्त नहीं हो।''

पांचाली गंभीर चिंतन में पड़ गई। उसने सोचते हुए ही पूछा, ''क्यों मुक्त नहीं हूँ?''

''मनुष्य जब किसी और का दास होता है तो वह मुक्त होने की चेष्टा भी करता है और मुक्त हो भी सकता है। पर वह जब स्वयं अपना ही दास हो तब प्रथम वह मुक्त होना नहीं चाहता और फिर चाहकर भी वह मुक्त हो नहीं पाता। यही संकट तुम्हारा भी है और तुम्हारे पूज्य पिताजी का भी।''

''तब मैं क्या करूँ?''

''केवल मुझपर विश्वास रखते हुए उस भविष्य की प्रतीक्षा करो, जो अपने प्रकोष्ठ में तुम्हारे जीवन का विराट् सत्य छिपाए है।''

वह एकदम चुप हो गई। मेरी मायावी मुसकराहट उसे घेरती रही।

''इसका तात्पर्य यह है कि जो कुछ हो रहा है, उसे होने दूँ?''

''होने दो। पर निरपेक्ष भाव से नहीं। हर घटना को सापेक्ष भाव से देखती रहो।''

''तब मैं शकुनि को भी क्यों रोकूँ? यदि वे मुझसे मिलना चाहते हैं तो बुला लूँ?''

''अवश्य बुला लो। पर इसका ध्यान रखना कि वह राजनीति को जुए की बाजी की तरह खेलता है। बड़े स्वागत और सम्मान के साथ सुनना कि वह क्या कहना चाहता है। ज्यों ही वह तुम्हें अपने जाल में फँसाने की चेष्टा करे, तुम अग्निशिखा की तरह उग्र हो जाना। पर याद रखना, उसके ताप से वह जले नहीं, केवल तुम्हारे धूम से वह घबरा उठे, नहीं तो वह सब जगह घूम-घूमकर अपना ज्वलित अंश दिखाएगा और तुम्हारी बदनामी में कुछ उठा नहीं रखेगा।''

पांचाली इस पूरे संदर्भ में पहली बार मुसकराई। तनावमुक्त लगी। उसका विश्वास जागा और वह बड़ी प्रसन्नता से बोली, ''द्वारकाधीश, यही होगा। मैं हर स्थिति के लिए तैयार हूँ। पर आप भी तैयार रहिएगा।''

अब मैंने भी स्वयं को थोड़ा खोला—''कृष्णा! तुम क्या समझती हो कि मैं चुप बैठा हूँ? जब से यहाँ से गया हूँ, तैयारी में लगा हूँ और उस आर्यावर्त्त को तैयार कर रहा हूँ, जिसपर तुम्हारे स्वयंवर की डोर से बँधी एक विराट् असि लटक रही है।''

पांचाली की मुद्रा से लगा कि अब वह मेरे प्रभाव में है। मैंने कहा, ''तुमने देखा होगा कि छंदक यहाँ बहुत पहले ही आ गया था। उसने सारी व्यवस्था का निर्देशन किया है। इसका तात्पर्य है कि सबकुछ मेरी दृष्टि में हो रहा है; फिर फल के लिए इतनी चिंता क्यों?''

☐

पांचाली के भवन से निकलने के बाद ही इच्छा हुई कि मैं ही क्यों न शकुनि से कहूँ कि अब वे द्रौपदी से मिल सकते हैं। इसके पीछे मेरी मंशा थी, उसपर सीधे-सीधे एहसान जताने की। इसके लिए मैंने छंदक की खोज शुरू की।

पहले मैंने अपने सारथि से कहा। उसने अपनी असमर्थता व्यक्त की—''रमता योगी और चलता छंदक मिल जाए तो यहीं मिल जाए और न मिले तो कहीं न मिले।''

''ऐसा है तो एक चक्कर समारोहस्थल पर मेरे रथ को घुमाओ।'' मैंने सारथि से कहा और उसने घुमाना आरंभ कर दिया।

छंदक तो दिखाई नहीं दिया, पर सामने से आता मामा का रथ अवश्य दिखाई पड़ा। यह मात्र संयोग था। मुझे लगा कि परिस्थितियाँ कुछ मेरा साथ दे रही हैं।

निकट आते ही हम दोनों ने रथ रोक दिए। अभिवादन करते हुए मैंने मामा से पूछा, ''आप पांचाली से मिल चुके?''

''अरे कहाँ! अनुमति देना तो दूर रहा, द्रुपद ने मुझे पूरा सुनना भी पसंद नहीं किया।'' मामा बोला।

''यह कब की बात है?''

"कल की।"

"आज मिलिए।"

"आखिर आज और कल में फर्क ही क्या है?"

"आज और कल के बीच गंगा का बहुत कुछ पानी बह चुका है।" मैंने हँसते हुए कहा।

"इसका मतलब है कि तुमने कुछ किया है।" मामा बोला।

मैंने कुछ कहा नहीं, केवल मुसकराता रहा।

मेरी यह मुसकराहट अमित प्रसन्नता बनकर मामा के मन में बैठ गई। ऐसा लगा कि उसके मस्तक पर प्रियक (एक पक्षी, जिसका सिर पर बैठना महाभारत काल में शुभ माना जाता था) बैठ गया। अब उसके पास मेरे अभिवादन का उत्तर देने का भी समय नहीं था। वह परम गद्गद था। उसने राजप्रासाद में चलने के लिए सारथि को संकेत किया। फिर उसका रथ मुड़कर हवा में उड़ने लगा। उसे देखकर इसका अनुमान लगाना स्पष्ट था कि मरीचिका के पीछे भागनेवाले मनुष्य की गति सामान्य से कितनी तेज होती होगी।

मेरा एक मंतव्य तो पूरा हो चुका था। फिर भी मुझे छंदक की खोज थी; क्योंकि समारोह के पहले ही मुझे बहुत कुछ कर लेना था। मैंने रथ को आगे बढ़ाया। हो सकता है, छंदक जरासंध के शिविर की ओर हो।

मेरा अनुमान सही था। वह उधर से आता दिखाई दिया। उसके निकट पहुँचकर मैंने कहा, "मैं तुम्हारी ही खोज में निकला हूँ।"

इतना सुनकर वह मुसकराया और बोला, "क्या राजनीति पथ से भटक गई है?"

"वह तो पथ पर ही है, पर उसे थोड़ी और गति देनी है।" मैंने उसे रथ पर बैठाकर ताजा गतिविधि से अवगत कराया और कहा, "अब तुम्हें दो काम करने हैं।"

"कौन-कौन से?"

"एक पांचाली और शकुनि मामा की गतिविधियों पर दृष्टि रखनी है और दूसरे आचार्य सांदीपनि को बुला लाने के लिए द्रुपद को तैयार करना है।"

"दूसरा काम मेरे वश का नहीं है।" छंदक की यह क्षिप्र प्रतिक्रिया थी। वह सारी स्थिति समझता था। उसने कहा, "सांदीपनि संदर्भ की राजनीति इतनी नाजुक और पारदर्शक है कि जरा सी भूल भयंकर परिणाम ला सकती है। इसके लिए तो आपको ही महाराज से मिलना होगा।"

"तो कब उनके पास चलूँ?" मैंने पूछा।

"अभी चलिए।"

"अभी तो मामा वहाँ अपना दाँव बिछा रहा होगा।"

"तो आप शिविर में चलें, यथाशीघ्र मैं भी वहाँ पहुँचता हूँ।"

मैंने शिविर में आकर देखा, मेरी सारी मित्रमंडली जुटी थी।

मुझे देखते ही सात्यकि बोला, "अरे, आप आ गए!"

"क्यों, मेरे आने में भी तुम्हें संदेह था?"

"संदेह तो नहीं था, पर हम सोचते थे कि शायद आज आप न आएँ। क्योंकि द्रौपदी के पास जाकर इतनी जल्दी वापस लौटना उस बेचारी पर...अब मैं क्या कहूँ?" सात्यकि इस ढंग से बोला कि सभी हँस पड़े।

मैंने हँसते हुए कहा, "मैं तो आप सबके लिए पांचाली को सुलभ कराने गया था।"

"हमें यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि आप किसलिए गए थे!" सात्यकि बोला। फिर सभी लोग हँसने लगे।

"आप तो कभी सफाई नहीं देते थे, आज क्यों देते हैं? दाढ़ी में तिनकेवाली बात तो नहीं है?" कृतवर्मा के कथन पर लोग और जोर से हँसे।

"यह तो वे सोचें, जिन्हें दाढ़ी हो।" मैंने कहा। पर लोगों पर इसकी प्रतिक्रिया कोई प्रभावशाली नहीं रही।

मैं छंदक की प्रतीक्षा कर रहा था। आज ही मुझे आचार्य से मिल लेना चाहिए था। मैं उनका स्वभाव जानता था। यदि संध्या तक उन्हें कोई संदेश नहीं भेजा गया तो वे लौट भी सकते हैं। उन्हें इस राजनीति से क्या लेना-देना!

मैं चुपचाप शिविर से बाहर आया और एक विश्वस्त प्रहरी को आश्रम भेजते हुए बोला, "तुम जाकर आचार्यजी के चरणों पर गिरना और मेरी ओर से विनीत निवेदन करना कि महाराज द्रुपद आपके दर्शन करना चाहते हैं। वे संध्या तक द्वारकाधीश को लेकर आएँगे।" मैंने प्रहरी को सावधान करते हुए कहा, "पर यह बात किसीको पता न चले।"

प्रहरी चला गया।

सूर्य पश्चिम की ओर ढुलकने लगा। मेरी व्यग्रता बढ़ी। अब कब मैं महाराज के यहाँ चलूँगा और कब आचार्य से मिलूँगा? समय तो रुकता नहीं, पर मैं रुक गया हूँ। अब मेरा एक क्षण के लिए भी रुक जाना मेरी योजना पर पानी फेर सकता है।

मैं तुरंत तैयार हुआ और सारथि को बुलाकर रथ पर चल पड़ा। प्रहरी को सावधान करते हुए कहा, "यदि छंदक आए तो उसे अविलंब महाराज के यहाँ भेजना।"

संयोग ने फिर मेरा साथ दिया। छंदक मार्ग में ही मिल गया। मुझे देखते ही वह अपना रथ रोककर मेरे रथ पर आ गया। उसने न तो विलंब के लिए क्षमायाचना की और न देर से आने का कारण बताया; वरन् मुझे झकझोरते हुए बोला, ''गजब हो गया!''

मेरी कुतूहलपूर्ण प्रश्नवाचक मुद्रा उस ओर मुड़ी।

''शकुनि मामा को तो पांचाली ने कुत्ते की तरह डाँटकर भगा दिया।'' उसने कहा।

मुझे हँसी आ गई—''जो जैसा रहेगा, उसके साथ वैसा ही व्यवहार किया जाएगा।''

अब उसने भी हँसते हुए सारी घटना विस्तार से बताई—''मामा जब पांचाली से मिला तब बड़ा प्रसन्न था। उसने पहले पांचाली के रूप की, सौंदर्य की और शालीनता की खूब प्रशंसा की। पांचाली ने बड़ी रुक्षता से पूछा, 'इस प्रशंसा का आपका तात्पर्य क्या है?'

'' 'तात्पर्य कुछ भी हो। मुझे तो प्रसन्नता हो रही है कि ऐसी रूपसी कुरु वंश में वधू बनकर जाने वाली है।'

'' 'समय से पूर्व की प्रसन्नता पागलों की प्रसन्नता होती है।' ''

''इसपर तो मामा भड़का होगा?'' मैंने पूछा।

''भड़का नहीं वरन् दाँत निपोरे खड़ा रहा और बोला, 'आप कैसे समझती हैं कि मैं समय के पूर्व ही प्रसन्न हो गया हूँ?'

'' 'यह प्रश्न भी कोई पागल ही कर सकता है; जबकि वह जानता है कि अभी स्वयंवर की प्रतिस्पर्धा शेष है।'

''इसपर मामा की बेहयाई और जोर से हँसी—'हो, धनुस्पर्धा! उसकी चिंता आप न करें। वह तो दुर्योधन द्वारा जीती हुई ही समझिए।'

'' 'तो मुझे भी कुरु वंश में पहुँची हुई ही समझिए।' ऐसी इठलाती हुई व्यंग्यपूर्ण ढंग से पांचाली बोली कि दूसरा कोई होता तो उसपर घड़ों पानी पड़ जाता। पर मामा फिर भी खीसें निपोरे ही रहा। बोला, 'सच! आप दुर्योधन की वधू होंगी? धृतराष्ट्र महाराज की पुत्रवधू?'

'' 'क्यों नहीं होऊँगी!'

'' 'आपके पिता का प्रतिशोध क्या आपको यह करने देगा? क्या आपके पिताजी को यह नहीं लगेगा कि उनके परम शत्रु द्रोण का वहाँ प्रभाव है। सभी उनके शिष्य हैं। वे वहाँ के राजकीय आचार्य हैं?'

'' 'इन सबसे क्या होता है! मुझे तो उनके साथ जाना ही होगा, जो स्पर्धा में

विजयी होगा। निर्णय तो निर्णय है। मैं अपनी प्रतिज्ञा को पिता के प्रतिशोध में भस्म नहीं होने दूँगी। भले ही कुरु वंश में मुझे मेरा यथोचित स्थान न मिले।'

" 'यह कैसे हो सकता है?' मामा बोला।

" 'क्यों नहीं हो सकता! यदि मुझे यथोचित स्थान मिलेगा तो बेचारी भानुमती का क्या होगा? जैसे और भी सहपत्नियाँ होती हैं वैसे मैं भी दुर्योधन के महल के किसी कोने में पड़ी रहूँगी। राजरानी तो रहेंगी मेरी सास गांधारी ही न!'

"मामा की मुद्रा अचानक बदली। वह पांचाली के और निकट पहुँचा; जैसे कोई अत्यंत गंभीर बात कहने जा रहा हो। वह धीरे से बोला, 'तुम घबराओ नहीं। तुम्हारे पहुँचते ही भानुमती तुम्हारी दासी हो जाएगी। हर क्षण तुम्हारी सेवा में रहेगी। दुर्योधन का सोचना है कि पांचाली को लेकर मैं राजसूय यज्ञ करूँगा। अपने पिता को भी गद्दी से हटाकर स्वयं सत्ता सँभालूँगा।'

"पांचाली की आकृति का रंग एकदम बदल गया—'छिः छिः, मामा! तुम कितने नीच हो! तुम अपनी बहन और बहनोई के संबंध में ऐसा सोचते हो! तुम्हारे दुर्योधन ने तो नीचता की पराकाष्ठा कर दी। अग्नि को साक्षी देकर ले आई बहू को सहपत्नी की दासी बनाने की वह सोचता है। जो अपने जनक-जननी और धार्मिक पद्धति से अपनाई हुई पत्नी के साथ विश्वासघात कर सकता है, वह मेरे साथ क्या करेगा, मैं खूब जानती हूँ।' "

छंदक बोला, "देखनेवालों ने मुझे बताया है कि इतना कहते-कहते पांचाली में कराला काली का आवेग हो आया। वह एकदम धधक उठी—'मामा, आप इस सीमा तक सोच सकते हैं, इसकी कल्पना तक मुझे नहीं थी। आप अभी मेरी आँखों से ओझल हो जाइए।'

" 'पर मैं कुछ और कहने आया था।' मामा बोला।

" 'मैं कुछ सुनना नहीं चाहती। आप इसी क्षण यहाँ से निकल जाइए।' मामा फिर भी खड़ा रहा।

" 'आप जाते हैं कि आपको धक्के देकर प्रतिहारियों से निकलवाऊँ!' पांचाली तड़पी। मामा खौहाए कुत्ते की तरह जाते हुए भौंका—'आओ कुरु वंश में, तुम्हारी यह आग मैं न बुझा दूँ तो मेरा नाम भी शकुनि नहीं।' "

शकुनि की इस बात पर मुझे भी हँसी आ गई। छंदक भी बहुत देर तक हँसता रहा।

"मामा का वहाँ भी पासा उलटा पड़ा—और वह जो कुछ कहने गया था, वह भी नहीं कह पाया।"

"क्या कहने गया था?" छंदक एकदम गंभीर हो गया। उसे लगा जैसे सबकुछ

मालूम होने के बाद भी उसे कुछ नहीं मालूम है।

तब मैंने उसे बताया—"उसका मुख्य उद्देश्य था यह कहना कि जब तुम्हें मालूम है कि दुर्योधन ही स्पर्धा में जीतेगा, उसीको तुम्हें वरमाला डालनी है तो तुम अभी से ही उसका वरण क्यों नहीं कर लेतीं और आज रात को ही हस्तिनापुर क्यों नहीं चली चलतीं। इससे कुरु वंश सदा पांचाल का ऋणी रहेगा और हस्तिनापुर पर तुम्हारा दबदबा सदा बना रहेगा।...पर मामा बेचारे को द्रौपदी ने अपनी बातों में उलझा लिया और उसकी मंशा की गोटियाँ हाथ में दबी-की-दबी रह गईं।"

"तब जरासंध का क्या होता?" छंदक ने बड़ी गंभीरता से मेरी ओर देखते हुए पूछा।

"वही होता, जो नियति को स्वीकार होता।" मैंने जोर से हँसते हुए कहा। अब हमारा रथ पांचाल प्रासाद में प्रवेश कर चुका था।

□

बिना पूर्व सूचना के हमें अप्रत्याशित रूप से असमय अपने प्रासाद में देखकर महाराज चकित हो गए। मुझे देखते ही वे बोल पड़े—"मैंने शकुनि को पांचाली से मिलने की अनुमति दे दी थी।"

"हाँ, मुझे मालूम है।" मैंने कहा।

"मुझे तो लगा कि शायद आप उसी विषय में आए हैं।" महाराज बोले।

"नहीं, मेरे आने का उद्देश्य कुछ और है।" अब मैंने उन्हें आचार्य सांदीपनि के बारे में बताया और कहा कि उन्हें मैंने ही बुलाया था।

"किंतु मुझे यह नहीं मालूम था।" महाराज बोले, "इसीलिए उनका यथोचित सम्मान यहाँ न हो पाया होगा।"

महाराज को स्थिति का ज्ञान था ही। मैंने भी हाँ में हाँ मिलाया। वे कुछ चिंतित-से दिखे। फिर उन्होंने मुझसे उनके बुलाने का कारण पूछा।

"एक संभावित आशंकावश मैंने उन्हें बुलाया था।" और फिर उस आशंका का विस्तार से मैंने वर्णन किया।

सबकुछ सुनने के बाद वे गंभीर हो गए और उन्होंने स्वीकार किया कि हाँ, यह समस्या उत्पन्न हो सकती है। उन्होंने मेरी दूरदर्शिता की सराहना करते हुए कहा कि तुमने बहुत अच्छा किया कि उन्हें बुला लिया।

"पर वे अब आश्रम छोड़कर शायद ही आएँ।"

"क्यों?"

"मैं उनके स्वभाव को जानता हूँ। उपेक्षित होने के बाद उस प्रदेश में क्या, उस समाज में भी जाना वे पसंद नहीं करते।"

"तब तो हो सकता है, वे लौट गए हों।"

"अभी उन्हें जाना तो नहीं चाहिए।" मैंने कहा, "आज प्रहरी भेजकर संध्या तक मैंने उनका दर्शन करने का समय लिया है।"

"तब तो आपको वहाँ अवश्य जाना चाहिए।" महाराज बोले।

"मेरा जाना उतना आवश्यक नहीं है जितना आपका।" मैंने कहा, "उपेक्षित तो वे आपसे हुए हैं, क्षमा तो आपको माँगनी है।"

महाराज सोच में पड़ गए। उनका विचार था कि इस समय राजभवन से क्षण भर के लिए हटना भी कोई-न-कोई समस्या उत्पन्न कर सकता है। उनको सबसे अधिक भय जरासंध से था। स्वयंवर होने के पहले ही वह कुछ-न-कुछ कर डालने के लिए योजनाबद्ध था। फिर भी उन्होंने आचार्य से मिलना आवश्यक समझा। तब मैंने उनसे कहा कि आप चिंतित न हों। घड़ी-दो घड़ी की तो बात है। छंदक को हम यहीं छोड़ देंगे, वह सब सँभाल लेगा। यदि कोई बात होगी तो वह अवश्य सूचित करेगा।

"यह सूचना तो हमारे परिजन हमें दे सकते हैं।"

"पर हमें यह योजना गोपनीय ही रखनी है।"

"क्यों?"

मेरी मायावी मुसकराहट पुनः उभर आई—"यह तो आप जानते ही हैं, महाराज, कि कूटनीति के अभिलेख गोपनीयता की मंजूषा में ही रहते हैं।"

महाराज समझ गए और तुरंत मेरे साथ हो लिये। छंदक वहीं रह गया।

मैंने मार्ग में ही महाराज को सब समझा दिया था। आश्रम के निकट पहुँचते ही मैंने देखा कि आचार्यजी आश्रम के प्रशस्त प्रांगण में मृगशावक के साथ खेल रहे हैं। निश्चित ही वे मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे।

उन्हें देखते ही हम लोगों ने रथ से उतरकर उन्हें प्रणाम किया। महाराज दौड़ते हुए गए और उनके चरणों पर सिर धर दिया। उचित सत्कार न कर पाने के लिए उन्होंने क्षमा माँगी।

आचार्य ने उन्हें वक्ष से लगाते हुए कहा, "आचार्य और आश्रम की उपेक्षा के लिए आपमें अपराधबोध तो है, यही हमारे लिए सौभाग्य की बात है। आज आर्यावर्त्त में तो धीरे-धीरे इसका भी अभाव होता जा रहा है। आज आश्रम उपेक्षित होते जा रहे हैं। न सत्ता की उनपर कृपा है और न समाज की। इस उपेक्षित स्थिति में उनका अस्तित्व ही संकट में रह गया है। कौन सुननेवाला है? जब आश्रमों की यह स्थिति है तब आचार्य किस खेत की मूली हैं!"

आचार्य के अंतःकरण की यह दाह अवसर पाते ही धुआँ उगलने लगी। पर

साथ ही उन्होंने द्रुपद की अंतर्ज्वाला का भी अनुभव किया। वे मुसकराते हुए बोले, "ज्वाला दोनों ओर जल रही है; किंतु मेरी ज्वाला में चिंता पूरे आर्यावर्त्त की है, उसके भस्म होते सामाजिक मूल्यों की है; पर तुम्हारी ज्वाला व्यक्तिगत प्रतिशोध की है। उसकी जलन का अनुभव केवल तुम ही कर सकते हो और तुम्हारे ही विवेक के बादल उसे बुझा भी सकते हैं। पर इतना समझो, राजन्, प्रतिशोध का अंत नहीं है। एक प्रतिशोध द्रोण के मन में जागा, उन्होंने तुमसे बदला लिया। अब तुम उनसे बदला लोगे। फिर वह तुमसे बदला लेने की चेष्टा करेंगे। इस बदला लेने का कोई अंत है? उसकी श्रृंखला तुमसे छूटकर तुम्हारे वंशजों के हाथों में भी जा सकती है। यह तो मरीचिका है, जहाँ संतोष का जल कहीं नहीं है—जलन-ही-जलन है।"

महाराज आचार्यजी का मुँह देखते रह गए। वे बहुत कुछ कहना चाहते थे, पर कुछ कह नहीं पाए।

अब मैंने ही पहल की। महाराज को जो निवेदन करना था, मैंने ही उसे आचार्य से कहा।

"मुझे सब ज्ञात है, राजन्! तुम चिंता मत करो। मैं समय पर उपस्थित रहूँगा। मैं तुम्हारे लिए, तुम्हारी दुहिता के लिए, आर्यावर्त्त के लिए, मानव समाज के लिए और उससे भी अधिक धर्म के लिए जो भी आवश्यक होगा, करूँगा।"